कृष्णयजुर्वेदीय-
तैत्तिरीयसंहिता

द्वितीयो भागः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
(मानितविश्वविद्यालयः)
नवदेहली - 110016

संस्कृतविद्यापीठग्रन्थमालाया एकोनचत्वारिंशं पुष्पम्

श्रीमत्–सायणाचार्य-विरचित-भाष्य-समेता

हिन्द्यनुवाद-टिप्पण्यादि-समन्विता च

कृष्णयजुर्वेदीय-तैत्तिरीयसंहिता

तस्यायं

प्रथमकाण्डस्थादिम-प्रपाठकस्य षष्ठोऽनुवाकतः चतुर्दशोऽनुवाकपर्यन्तः

द्वितीयो भागः

अनुवादकः

पं. श्रीपरमेश्वरानन्दशास्त्री

प्रधानसम्पादकः

डॉ॰ मण्डनमिश्रः

सम्पादकः

डॉ॰ देवदत्तचतुर्वेदी

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

मानितविश्वविद्यालयः

नवदेहली

प्रकाशकः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
मानितविश्वविद्यालयः
कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्,
नवदेहली-११००१६

ISBN : 81-87987-27-8

प्रथमं संस्करणम् १९८९

पुनर्मुद्रितसंस्करणम् : २००९

मूल्यम् : ३५०/- (भागद्वयम्)

मुद्रकः
अमरप्रिण्टिंगप्रेसः
विजयनगरम्, देहली - ११०००९

Sanskrit Vidyapeetha book Series 39th

Krishna-Yajurvediya-Taittiriya-Samhita

With

Sāyana's Bhāshya and Hindi Translation & Notes

Part II

(Kanda I, Prapathak 1, Anuvak 6-14)

Translator :
Pt. Sri Parameshwaranand Shastri

Chief Editor :
Dr. Mandan Mishra

Editor :
Dr. Dev Dutt Chaturvedi

Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanakrit Vidyapeetha
(Deemed University)
New Delhi

Publisher :
Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanakrit Vidyapeetha
(Deemed University)
Qutub Institutional Area, New Delhi-110016

First Edition : 1989

Re-printed edition : 2009

ISBN : 81-87987-27-8

Price : 350-00 Rs. (2 Vol.)

Printed at :
Amar Printing Press, Vijay Nagar, Delhi - 110016

सङ्केताक्षर-सूची

अ०, अनु०	अध्याय:, अनुवाक:
आ० ब्रा०	आर्षेयब्राह्मणम्
आप० श्रौ० सू०	आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्
ऋ० सं०	ऋग्वेदसंहिता
ऐ० आ०	ऐतरेयारण्यकम्
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मणम्
कण्डि०	कण्डिका
काण्डा०	काण्डानुक्रमणी
का० सं०	काण्वसंहिता
छा० उ०	छान्दोग्योपनिषत्
जै० न्या०	जैमिनीयन्यायमालाविस्तर:
जै० सू०	जैमिनिसूत्राणि .
ता० ब्रा०	ताण्ड्यब्राह्मणम्
नि०	निरुक्तम्
तै० आ०	तैत्तिरीयारण्यकम्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तै० सं०	तैत्तिरीयसंहिता
पा० म० प०	पातञ्जलमहाभाष्यपस्पशाह्निकम्
पा० सू०	पातञ्जलसूत्रम्
प्र०	प्रपाठक:
प्र० उ०	प्रश्नोपनिषद्
फि०	फिट्सूत्राणि
बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
बौ० ध० सू०	बौधायनधर्मसूत्रम्
बौ० श्रौ० सू०	बौधायनश्रौतसूत्रम्
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्रम्
म० भा०	महाभारतम्
माहे० सू०	माहेश्वरसूत्रम्
मी० सू०	मीमांसासूत्रम्

मै० सं०	मैत्रायणीसंहिता
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृतिः
वै० न्या०	वैयासिकन्यायमाला
श० ब्रा०	शतपथब्राह्मणम्
श्रीमद्० भा०	श्रीमद्भागवतम्
श्रौ० सू०	श्रौतसूत्रम्
सत्या० श्रौ०	सत्याषाढश्रौतसूत्रम्

विषयानुक्रमणिका

प्रथमप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः

प्रथमप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः

प्रथमप्रपाठके त्रयोदशोऽनुवाकः

प्रथमप्रपाठके चतुर्दशोऽनुवाकः

प्रधान-सम्पादकीय

"वेद" शब्द बहुत ही व्यापक एवं समस्त विद्याओं का मूलस्रोत है। सामान्यतया इसकी व्युत्पत्ति 'विद्' से होती है तथापि 'विद्' होना, 'विद् लृ' प्राप्त करना एवं 'विद्' मनन करना इससे भी सम्पृक्त है। जैसा कि प्रस्तुत कारिका से स्पष्ट ही है—"**विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, अथवा विन्दन्ते लभन्ते, विन्दन्ति विचारयन्ति, सर्वे मनुष्याः सत्यविद्यां यैर्येषु वा**, तथा **विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः**।"[1]

वैदिक-वाङ्मय के अन्तर्गत चारों वेद, ब्राह्मण-ग्रंथ, उपनिषद् एवं सूत्रग्रन्थों को ही मान्यता प्रदान की गयी है। वेदों के प्राचीनतम नामों[2] के सम्बन्ध में यदि दृष्टिपात करें तो इनको पूर्वकाल में "**ऋचः यजूंषि, सामानि एवं अथर्वाङ्गिरस**" नाम से जाना जाता था। ये सभी नाम विभिन्न रचना शैलियों से सम्बन्धित हैं, न कि उनकी संहिताओं के संकलित आधार पर।

'वेद' के सम्बन्ध में भगवान् मनु ने कहा है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥[3]

इसी प्रसंग में महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी प्रकाश डाला है—

यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम्।
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयस करः परः॥[4]

इस प्रकार आचार्य मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के वचनानुसार 'वेद' की धर्मविषयक प्रामाणिकता एवं महिमा का सांगोपांग विशद विवेचन समुपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत में भी वर्णित है—

वेदप्रणिहितो धर्मः ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात्स्वयम्भूरिति शुश्रुमः॥[5]

---

१. ऋ०भा०भू०।
२. अथर्व० ११।७।२४।
३. म०स्मृ० २।६।
४. या० स्मृ०।
५. श्रीमद्० म० पु० ६।१।४०।

प्रस्तुत कथनानुसार श्रीमद्भागवतकार ने तो "वेद" को साक्षात् नारायण का ही स्वरूप माना है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा है—"**अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्, अस्य परमात्मनः श्वासरूप एतत्वेदादि-शास्त्रकलापम् सर्वम्**"[1] अर्थात् 'वेद' भगवान् का श्वास रूप ही है।

भगवान् मनु ने भी कहा है—

अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः॥[2]

अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्मा ने अनादि एवं अनन्त इस दिव्य तेजरूप वाणी को प्रकट किया।

वेद शब्द का अर्थ

ऋग्वेद भाष्य भूमिका में 'वेद शब्दार्थ' के सम्बन्ध में विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥[3]

अर्थात् प्रत्यक्ष अथवा अनुमान मात्र से जिसका ज्ञान नहीं हो पाता, उसे 'वेद' से ही जाना जा सकता है और यही वेद का वेदत्व है। इसी अभिप्राय को शुक्ल यजुर्वेद में बताया गया है—

"**वेदोऽसि येन त्वं देवब्वेद देवेभ्यो वेदो भवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः।**"[4]

काशिका सूत्र में भी वर्णित है—

"**वेदोऽसीति यजमानो वेदं करोति कुशमुष्टि सव्यावृत्तं वत्सजानु वृतं मूतकार्यं वा।**"[5]

"**कुशमुष्टिस्वरूपदेव, त्वं, वेद=ज्ञाता=-ज्ञापको देवेभ्य, मह्यं ज्ञापको भूयाः।**"[6]

इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में भी 'वेद' शब्द का निर्वचन अनेक प्रकार से समुपलब्ध होता है। जैसे—विद् सत्तायाम्, विद् लृ लाभे, विद् ज्ञाने एवं विद् विचारणे इन चार धातुओं से 'वेद' शब्द निष्पन्न होता है।

वेदव्याख्याता आचार्य सायण ने कहा है कि इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहाररूप अलौकिक उपायों को जो ग्रन्थ बतलाता है वही वेद है। एतदर्थ वेद के दो भेद वर्णित हैं—(१) **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** एवं (२) **तच्चोदकेषु मन्त्राख्या शेषे ब्राह्मणशब्दः।**

इन दोनों वाक्यों का उल्लेख बौधायन एवं आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी किया गया है। इस प्रकार मन्त्रविधेय तथा

१. बृ०उ०।
२. या०स्मृ०।
३. ऋ०भा०भू०।
४. शु०य०वे०।
५. का०सू०।
६. श०ब्रा०।

ब्राह्मणग्रन्थ विधायक वाक्य कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त भी 'वेद' के तीन भेद बतलाए गये हैं—

१. **श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधिः।**
स्त्रियां ऋक्सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी।[१]

२. **ऋग्यजुः सामवेदाख्या इति वेदास्त्रयस्त्रयी।**

३. **ते सर्वे त्रयो वेदाः।**[२]

४. **त्रयी सांख्यं योगः।**[३]

५. **ऋचः सामानि यजूंषि।**[४]

वेद की त्रिविधता के सम्बन्ध में पुरुषसूक्त आदि ऋचाओं के द्वारा भी बतलाया गया है—

१. **तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि यज्ञिरे।**
छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥[५]

२. **ऋचो यजूंषि सामानि निगदा मन्त्राः।**[६]

३. **अत्र निगदानां यजुष्यन्तर्भावः। पृथग्ग्रहणं तु-उपांशु यजुषा न सम्प्रैषाः।**[७]

मीमांसा सूत्रों को आचार्य सायण ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका में प्रस्तुत किया है—"**तेषां ऋग्यत्रार्थवशेन पाद-व्यवस्था। गीतीषु समाख्या। शेषे यजुश्शब्दः।**"[८]

व्याख्याकार शबरस्वामी ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि जहाँ पादों के द्वारा व्यवस्था की जाती है उन मंत्रों को ऋक् नाम से व्यवहृत करते हैं। विशिष्ट प्रकार के गायन को साम एवं जहाँ पर पाद व्यवस्था तथा गीति व्यवस्था का उल्लेख न हो, उस भाग को यजुर्वेद माना गया है।

उपर्युक्त प्रसंग में ही 'जैमिनीय न्यायमाला' में श्रीमाधवाचार्य ने बताया है—"**पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धामन्त्राः ऋचः। प्रगीते हि मन्त्रे वाक्ये सामशब्दं अभियुक्ता वदन्ति। वृत्तिगीतविवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठितामन्त्रा यजूंषि।**"[९] अतः इन वाक्यों के द्वारा उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

पादव्यवस्था के सम्बन्ध में 'ऋग्वेदभाष्यभूमिका' एवं 'जैमिनीय न्यायमाला' में पुनः व्यवस्था स्थापित की गयी है—"**नर्क सामयजुषां लक्ष्म सांकर्यादिति शंक्यते। पादश्च गीतिः प्रश्लिष्ट पाठ इत्ययस्त्वसंकरः।**"[१०]

पुनः इसी प्रसंग में कर्काचार्य ने भी अधिक स्पष्ट समझाते हुए कहा है कि जहाँ पर नियमित अक्षरों से पाद-व्यवस्था होती है वह ऋग्वेद, अनियत अक्षर पाद वाली यजुर्वेद एवं गीतिकाव्य को सामवेद कहा गया है। इस प्रकार वेदों

---

१. अ०को०।
२. श० ब्रा०।
३. पुष्पदन्त।
४. तै० ब्रा०।
५. पु०सु०।
६. का०सू०।
७. का०सू०।
८. ऋ०भा०भू०।
९. ऋ०भा०भू०।
१०. जै०न्या०मा०।

की त्रिविधता का प्रतिपादन करते हुए पुनः इसके चार भेदों का वर्णन किया है—"**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै तंह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।**"[१]

वेद के संबंध में स्मृति एवं उपनिषदों में भी प्रचुररूप से उल्लेख प्राप्त होता है—"**चत्वारो वेदा विज्ञातानि भवन्ति ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्ववेदः ।**"[२] "**ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ।**"[३] "**ऋग्यजु सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः ।**"[४] "**ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वाणं चतुर्थम् ।**"[५] "**अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसान्यायविस्तरः । पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ।**"[६]

इस प्रकार श्रुति, स्मृति एवं पुराणों के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि परमात्मा के निःश्वासभूत ये चारों वेद ऋक्, साम, यजु एवं अथर्ववेद नाम से जाने जाते हैं।

वेद के चार विभाग करने के अनन्तर इतिहास-पुराण को भी पाँचवे वेद के रूप में ही माना गया है—"**इतिहास-पुराणं च पञ्चमं वेदानां वेदः**" ।[७] "**ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह**" ।[८] इत्यादि उद्धरणों के अनुसार पुराण को भी पांचवे वेद की ही मान्यता प्रदान की गयी है।

अतएव वेद के एक, दो, तीन, चार एवं पांच भेद करने के उपरान्त भी वेदों की बहुसंख्यात्मकता ही स्वीकार की गयी है। "**अनन्ता वेदाः**"[९] इस वाक्य से उपर्युक्त कथनों की पुष्टि होती है तथापि पतञ्जलि के महाभाष्य में वेदों की अनन्तता को स्वीकार किया गया है – "**एकशतं अध्वर्युशाखा सहस्रवर्त्मा सामवेदः। एकविंशतिधा बाह्वृचम्। नवधा अथर्वणो वेदः**"[१०] ।

चरणव्यूह में तो ऋग्वेद के आठ स्थानों का निरूपण करके इनके शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, सांख्यायन एवं माण्डूकायन ये पांच भेद ही स्वीकृत किये गए हैं । तत्पश्चात् भी वेदों के सम्बन्ध में शाखाभेद की दृष्टि से वैमत्य भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे—

(१) **यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदाः भवन्ति ।**

(२) **त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह ।**
यजुर्वेदः स विज्ञेयः शेषाः शाखान्तरा स्मृताः ॥

(३) **सामवेदः किल सहस्रभेद आसीत् ।**

(४) **अथर्ववेदस्य नवभेदा भवन्ति ।**

---

१. श्वे०उ०श्रु० ।
२. च०व्यू० ।
३. मु०उ० ।
४. वृ०ता०उ० ।
५. छा०उ० ।
६. म०स्मृ० ।
७. छा० उ० ७।२।१ ।
८. अथर्व० ११।७।२४ ।
९. तै० शा० ३।१०।११।३ ।
१०. म० भा० प० ।

इसी प्रकार यजुर्वेद में भी शुक्ल एवं कृष्ण दो भेदों पर विचार किया गया है। पूर्व में तो यजुर्वेद एक ही था, किन्तु बाद में इसके दो भेद हो गये शुक्ल एवं कृष्ण। कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता इस नामकरण में "श्रीमद्भागवत द्वादश स्कन्ध के छठें अध्याय" एवं आचार्य सायण द्वारा चतुर्वेदभाष्य भूमिका के काण्वशाखा की भूमिका के प्रारम्भ में ही विवरण समुपलब्ध होता है। अतः विशेष जानकारी तो वहीं से प्राप्त की जा सकती है यहां पर तो उसका संक्षिप्त सारांश रूप में ही प्रस्तुत है—

'एक दिन वैशम्पायन ऋषि के शिष्य याज्ञवल्क्य ने गुरु के साथ कुछ विवाद हो जाने पर—**मेरे द्वारा अधीत वेदों को त्याग कर दो** इस गुरुवाक्य से आज्ञप्त होकर गुरु द्वारा अधीत वेदाक्षरों का वमन कर दिया। तदनन्तर वैशम्पायन ऋषि की आज्ञा से उनके अन्य शिष्यों ने तित्तिर का स्वरूप धारण कर उस वेद स्वरूप वमन को ग्रहण कर लिया।" उन्हीं वेदमन्त्रों के वमन रूप में मलिन हो जाने के कारण उनकी 'कृष्ण' संज्ञा हुई जो कि कालान्तर में 'कृष्णयजुर्वेद' के नाम से विख्यात है। अतः तित्तिर बनकर शिष्यों ने यजुर्वेद का भक्षण किया एतदर्थ 'तैत्तिरीयशाखा' का नामकरण हुआ।

इस प्रकार तैत्तिरीयशाखा एवं कृष्णयजुशाखा से दो नाम प्रसिद्ध हुए। पुनः याज्ञवल्क्य ने तप के द्वारा सूर्योपासना करके शुक्ल-यजुःसंज्ञक पन्द्रह शाखाओं को प्राप्त किया।

सामान्य पाठकगण को जिज्ञासा हो सकती है कि आचार्य सायण ने सर्वप्रथम तैत्तिरीय-संहिता पर ही भाष्य क्यों लिखा? क्या सायण तैत्तिरीय शाखाध्यायी थे? अथवा यह उनकी संहिता थी? इन सभी जिज्ञासाओं के समाधानार्थ यही कहा जा सकता है कि—यजुर्वेद मूलतः अनुष्ठान परक है तथा यज्ञ-यागादि के सम्पादन में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यज्ञ सम्पादन में प्रमुख रूप से अध्वर्यु, होता, उद्गाता तथा ब्रह्मा—इन चारों में अध्वर्यु का वैशिष्ट्य है क्योंकि समग्र अनुष्ठान को यजमान द्वारा विधि-विधान पूर्वक पूर्ण कराता है। ऋग्वेद में तो अध्वर्यु की विशेषता यहां तक बतलायी गई है कि वही यज्ञ स्वरूप का निर्माण करने वाला है—"**यज्ञस्य मात्रां विनिनीत उत्वः**[१]" अतः यह कहना असमीचीन न होगा कि अध्वर्यु के लिए ही कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय-संहिता का भाष्य हुआ।

अतएव श्रीकृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय-संहिता सायण भाष्य की दुरूहता एवं क्लिष्टता को परिलक्षित करते हुए अथवा आचार्य सायण का प्रथम भाष्य होने के कारण ही वेदनिधि म० म० पं० परमेश्वरानन्द शास्त्री जी ने इस ग्रन्थ को जो कि मूलतः यज्ञ-यागादि की प्रक्रिया से सम्बद्ध है, सर्वजनोपयोगी बनाने के लिए हिन्दी में विशद एवं सारगर्भित अनुवाद किया। सम्प्रति विद्वज्जन के कर-कमलों में कृष्ण-यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता सायण भाष्य का द्वितीय भाग प्रथमकाण्ड, प्रथमप्रपाठक के छठे अनुवाक से चौदहवें अनुवाक पर्यन्त, समर्पित करते हुए परमतोष का अनुभव कर रहा हूं

इस ग्रन्थ के प्रकाशन एवं संपादन हेतु अनुसन्धान-प्रकाशन विभागीय प्राध्यापक डा० देवदत्त चतुर्वेदी एवं सहकर्मियों को साधुवाद देता हूं। साथ ही इसके मुद्रण कार्य में सतत सहयोग के लिए 'पंकज प्रिंटर्स, को धन्यवाद देता हूं।

डा० मण्डन मिश्र, प्राचार्य
(प्रधान-सम्पादक)

---

१. वे० भा० भू० पृ० १४।

सम्पादकीय

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥

महर्षि मनु ने उपर्युक्त श्लोक में धर्म का आधारभूत सम्पर्ण वेद को बताया है। जिसका सारभूत तत्व है— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। 'वेद' स्वतः प्रमाण है इसके प्रामाण्य को सभी प्राचीन स्मृति, पुराण तथा आस्तिक-दर्शनों ने स्वीकार किया है। वेद ब्रह्म के उच्छ्वास के रूप में वर्णित हुए हैं अतः उन्हीं को प्रमाण मानकर सनातन-धर्म विकसित हुआ है। महर्षि मनु ने मनुस्मृति के बारहवें अध्याय में स्पष्ट कहा है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च, वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाः, चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च, सर्वं वेदात्प्रसिद्यति ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य ने भी याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है कि वेद से बढ़कर और कोई शास्त्र नहीं है सभी शास्त्र सनातन वेद से ही निःसृत हैं। जैसा कि स्पष्ट बतलाया है—

न वेद-शास्त्रादन्यत्तु, किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते ।
निस्सृतं सर्वशास्त्रं तु, वेदशास्त्रात्सनातनात् ॥

इसी प्रकार के वचन महाभारत, पुराण एवं दर्शन आदि शास्त्रों में उपलब्ध हैं। वस्तुतः जिन चार वेदों का उल्लेख किया गया है उनमें ऋग्वेद को सर्वाधिक प्राचीन और महत्वपूर्ण संहिता माना जाता है। ऋग्वेद संहिता के मन्त्रों को वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार पुनर्नियोजित कर जब उन्हें संगीत के स्वरों से गुम्फित किया गया तो उसका नाम सामवेद हुआ। इसी प्रकार विविध प्रकार के यज्ञ के विधान आदि से संबंधित जो गद्यात्मक संहिता तैयार हुई उसे यजुर्वेद की संज्ञा दी गयी, अतः ऋक्-साम-यजुर्वेद की संहिताओं को 'वेदत्रयी' के नाम से जाना जाने लगा। वेदत्रयी के साथ-साथ अथर्ववेद संहिता को स्वीकार करने से चारों वेदों की संहिताएँ सिद्ध होती हैं जो वैदिक वाङ्मय के प्रथम चरण का प्रतिनिधित्व करतीं हैं। संहिताओं का आगे चलकर न केवल शाखाभेद विकसित हुआ अपितु प्रत्येक वेद के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी विकसित हुए। इस प्रकार चारों वेदों की संहिताएँ उनके ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् सम्पूर्ण वैदिकवाङ्मय का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यजुर्वेद का लक्षण **"गद्यात्मको यजुः"** अथवा **"अनियताक्षरावसनो यजुः"** आदि कई प्रकार से आचार्यों ने किया है। जिनका आशय है कि यजुर्वेद गद्यात्मक रचना है और उसके अवयवों में अक्षरों की स्थिति किसी नियम से बाधित नहीं है। क्योंकि यजुर्वेद में यज्ञों का क्रम प्रतिपादन किया गया है तथा यज्ञों के क्रम के अनुसार ही मन्त्रों का संकलन किया गया है इसीलिए इसे प्राचीनकाल में अध्वर वेद अथवा अध्वर्यव आदि नामों से द्योतित किया गया है।

यजुर्वेद का यज्ञ के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि वायु पुराण में इसे **"यज्ञार्थ सम्पृक्त"** कहा गया है और इसी कर्मकाण्ड के प्राधान्य के कारण यजुर्वेद को अनेक स्थानों पर **"याजुष्** अथवा **यजूंषि**" कहा गया है। स्वयं ऋग्वेद में यजूंषि शब्द का प्रयोग मिलता है जो यजुर्वेद की प्राचीनता का प्रमाण है।

विद्वानों के अनुसार यजुर्वेद, ऋग्वेद के बहुत बाद का मन्त्र संकलन है। इसमें याजुष् मंत्रों के साथ-साथ अनेक ऋग्वेद की ऋचाएँ अपने मूल प्रसंग से विच्छिन्न किन्तु यज्ञानुकूल रूप में प्राप्त होती हैं।

वैदिककाल में यजुर्वेद का पठन-पाठन और प्रभाव क्षेत्र बहुत व्यापक था। इसीलिए इस वेद की सर्वाधिक शाखाओं का उल्लेख मिलता है। वैय्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'पस्पशाह्निक' में यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाओं का उल्लेख किया है—**"एकशतं अध्वर्युशाखा"** और सूतसंहिता, ब्रह्माण्डपुराण तथा स्कन्दपुराण आदि में यजुर्वेद की एक सौ सात शाखाओं का उल्लेख है। मुक्तोपनिषद् के अनुसार यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ तथा शौनकीय चरणव्यूह के अनुसार छियासी शाखाएँ हैं।

यद्यपि पुराणों के अनुसार यजुर्वेद शाखाओं की गणना के विषय में पर्याप्त मतभेद हैं तथा भिन्न-भिन्न चरण-व्यूहों के पाठों में पर्याप्त विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है किन्तु इससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि प्राचीनकाल में याज्ञिक कर्मकाण्ड का व्यापक महत्व था इसीलिए विभिन्न ऋषि परम्पराओं के अनुसार यजुर्वेद की भिन्न-भिन्न शाखाएँ प्रचलित हुईं।

सामान्यतः शिष्य शाखा-प्रवर्तक गुरु से शाखा विशेष का अध्ययन करते थे—किन्तु इसके कुछ अपवाद भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ---कण्व, याज्ञवल्क्य के शिष्य थे जिनसे उन्होंने वाजसनेयि संहिता का उपदेश ग्रहण किया था किन्तु उसी संहिता के अनेक मंत्रों के स्वरूप तथा क्रम व्यवस्था में परिवर्तन कर उन्होंने एक नवीन शाखा का प्रवर्तन कर दिया।

यजुर्वेद के मुख्यतः दो भाग हैं—शुक्लयजुर्वेद एवं कृष्णयजुर्वेद। शुक्लयजुर्वेद की संहिता को वाजसनेयि संहिता भी कहते हैं। वाजसनेयि संहिता में व्याख्यात्मक गद्यांशों का सम्मिश्रण नहीं है और इसके सूत्रों की व्यवस्था सुव्यवस्थित है। यद्यपि प्राचीन साहित्य में अनेक शाखाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु सम्प्रति दो शाखाएँ ही जीवित हैं 'कण्व' और "माध्यन्दिन"। दोनों शाखाओं का प्रतिपाद्य विषय और स्थापनाएँ लगभग एक जैसी हैं, मात्र गद्यांशों में कहीं-कहीं पाठभेद मिलते हैं।

कृष्णयजुर्वेद की शाखाओं के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद हैं। निश्चित रूप से कुछ भी कहना दुष्कर है। प्रायः इसकी छियासी (८६) शाखाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु चरणव्यूह में सत्ताईस (२७) शाखाओं के नाम पाये जाते हैं तथापि तैत्तिरीय शाखा इन सभी से स्वतन्त्र मानी जाती है। वर्तमान में कृष्णयजुर्वेद के निम्न चार संस्करण प्रसिद्ध हैं—

(१) काठक संहिता।

(२) कपिष्ठल कठसंहिता।

(३) मैत्रायणी संहिता।

(४) तैत्तिरीय संहिता।

कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता का आज के युग में अनुष्ठानपरक होने के कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें सात (७) काण्ड हैं तथा प्रत्येक काण्ड में प्राय: पाँच से आठ (५-८) तक प्रपाठक हैं एवं कुल चौंबालीस (४४) अध्याय हैं। इन्हीं अध्यायों को अनुवाक के रूप में विभक्त किया गया है।

इस प्रकार विभिन्न मानवों के द्वारा बहुधा विचारित इस तथ्य पर यथाबुद्धि यथाशक्ति विचार प्रस्तुत कर विराम देना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

म० म० स्व० पं० परमेश्वरानन्दशास्त्री जी, जिन्होंने अपने जीवन के उत्तरवर्ती काल में सर्वजनकल्याणार्थ अथवा वेद भगवान की सेवा के निमित्त, इस दुष्कर एवं दुरूह ग्रंथ का अनुवाद करके अद्‌भुत वैदुष्य का परिचय दिया है, सर्वथा वन्दनीय हैं। इससे सम्पूर्ण विद्वन्मण्डल लाभान्वित हो सकेगा ऐसा विश्वास है।

संस्कृत-संस्कृति-संरक्षक, राष्ट्रपति-सम्मानित विद्वद्वरेण्य एवं ग्रंथ के प्रधान-सम्पादक डॉ० मण्डन मिश्र जी के अमूल्य निर्देशन के फल:स्वरूप ही यह ग्रन्थ प्रकाश्यमान है।

ग्रन्थ की पूर्णता प्राप्ति के अवसर पर शोधविभागीय व्याख्यात्री एवं सहकर्मिणी परमकल्याणी (श्रीमती) डॉ० अमिता शर्मा, वेदव्याख्याता श्री हरिहर त्रिवेदी एवं डॉ० रमेशचन्द्र दास का सहयोग प्रदान विस्मृत नहीं किया जा सकता। श्री मदनमोहन सती, शोध विभागीय सहायक, प्रूफ आदान-प्रदान के लिए साधुवाद के पात्र हैं।

डा० देवदत्त चतुर्वेदी
(सम्पादक)

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय-तैत्तिरीयसंहिता

श्रीमत्सायणाचार्यविरचितभाष्यसमेता

महामहोपाध्यायश्रीपरमेश्वरानन्दशास्त्रिविहित-हिन्द्यनुवादसमेता च

प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके

षष्ठोऽनुवाकः

ॐ अवधूतꣳरक्षोऽवधूता अरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वा पृथिवी वेत्तु ।

पञ्चमेऽनुवाके व्रीह्यवघात उक्तः । अवहतानाञ्च तण्डुलानां पेषणात्पूर्वं कपालोपधानस्य निष्प्रयोजनत्वेन तदुपधानात्पूर्वं षष्ठे पेषणमभिधीयते ।

अवधूतमिति । कल्पः—"अथ प्रोक्षितेषु[1] त्रिष्फलीकृतेषु तथैव कृष्णाजिनमवधूनोत्यूर्ध्वग्रीवमुदगावृत्यावधूतꣳरक्षोऽवधूता अरातय इति त्रिरथैनत्पुरस्तात्प्रतीचीनग्रीवमुत्तरलोमोपस्तृणात्यदित्यास्त्वगसि प्रति त्वा पृथिवी "वेत्त्विति" (बौ० श्रौ० १/७) इति ।

षष्ठ अनुवाक के सायणभाष्य का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ

पञ्चमे इति । पांचवें अनुवाक में व्रीहि का अवघात बताया गया है । अवघात से सिद्ध चावलों का चूर्ण (आटा) बनाने से पहले कपालों का उपधान[1] (स्थापन) व्यर्थ है, इसलिये उपधान से पूर्व छठे अनुवाक में पेषण (चावलों को पीसना) बताया जाएगा ।

अवधूतम् इति । बौधायन श्रौतसूत्र कहता है—व्रीहियों का प्रोक्षण और तीन बार फलीकरण[2] हो जाने के

---

१. क. ग. प्रोक्तेषु ।

१—पुरोडाश कपालों पर तैयार किया जाता है । चावल का चूर्ण बनाकर उसे गूंद कर कपालों पर रखा जाता है, आटा तैयार हो जाने पर ही कपालों को स्थापित करना चाहिए ।

२—व्रीहियों को कूट कर शूर्प में डाल देते हैं, फिर उसे ऊपर उछाल कर फटकते हैं, ऐसा करने से चावल और भूसा अलग-अलग हो जाते हैं । इसी क्रिया को 'फलीकरण' कहते हैं ।

भट्ट भास्कर ने इस अनुवाक के भाष्य का प्रारम्भ 'अवधूननोपस्तरणमन्त्रौ व्याख्यातौ (तै० सं० १/१/५) अर्थात् 'अवधूनन के मन्त्र 'अवधूतꣳ······अरातयः' और उपस्तरण के मन्त्र 'अदित्या······पृथिवी वेत्तु' दोनों की व्याख्या तैत्तिरीय संहिता के काण्ड १, प्रपाठक १ के अनुवाक ५ में की जा चुकी है ।' इस वाक्य से किया है । (सम्पादक)

पूर्ववद्व्याचष्टे—'अवधूतꣳरक्षोऽवधूता अरातय इत्याह। रक्षसामपहत्यै। अदित्यास्त्वगसीत्याह। इयं वा अदितिः। अस्या एवैनत्वचं करोति। प्रति त्वा पृथिवी वेत्त्वित्याह। प्रतिष्ठित्यै। पुरस्तात्प्रतीचीनग्रीवमुत्तरलोमोपस्तृणाति मेध्यत्वाय। तस्मात्पुरस्तात्प्रत्यञ्चः पशवो मेधमुपतिष्ठन्ते। तस्मात्प्रजा मृगंग्राहुकाः। यज्ञो देवेभ्यो निलायत। कृष्णो रूपं कृत्वा यत्कृष्णाजिने हविरधिपिनष्टि। यज्ञादेव तद्यज्ञं प्रयुङ्क्ते। हविषोऽस्कन्दाय। (तै०ब्रा०का०३प्र० २ अ०६) इति। अवघातस्येवात्र पेषणस्य विशिष्टविधिः।

दिवः स्कम्भनिरसि प्रति त्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु

दिव इति। कल्पः—"तस्मिन्नुदीचीनकुम्बाꣳशम्यां निदधाति दिवः स्कम्भनिरसि प्रति त्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्त्विति" (बौ० श्रौ० १/७) इति। गदया समानाकारो व्यामार्धपरिमितः काष्ठविशेषः शम्या। तां

अनन्तर पूर्ववत् तीन बार कृष्णाजिन (कृष्ण मृगचर्म) को 'अवधूतं रक्षो·········' इस मन्त्र से झाड़ ले। झाड़ते समय कृष्णाजिन का गर्दनवाला भाग ऊपर की ओर रहना चाहिये। झाड़ने के अनन्तर इस कृष्णाजिन को आहवनीय की पूर्व दिशा में इस तरह बिछावे कि उसकी ग्रीवा पश्चिम की ओर रहे और लोम ऊपर को रहें। बिछाने का मन्त्र है—'आदित्यास्त्वगसि·········पृथिवी वेत्तु' इति।

पूर्ववद् इति। उपर्युक्त दोनों मन्त्र पीछे पञ्चम अनुवाक में आ चुके हैं। इनकी व्याख्या भी की जा चुकी है। देखो पृष्ठ २७५ (प्र० भा०)। 'अवधूतम्······हविषोस्कन्दाय।' यह ब्राह्मणवाक्य भी भाष्य में पहले आ चुके है, इनका हिन्दी अनु[व]ाद भी किया जा चुका है। देखो पृष्ठ २७७ (प्र० भा०)। अन्तर केवल इतना है कि पहले उद्धृत **ब्राह्मण** में 'कृष्णाजिने हविरध्यवहन्ति' इस प्रकार कृष्णाजिन पर हवि का अवघात करना बताया गया है, और यहां 'कृष्णाजिने' हविरधिपिनष्टि' ऐसा कहकर कृष्णाजिन पर हवि का (चावलों का) चूर्ण करना बताया गया है। **अवघातस्येव** इति। अवघात की तरह यहां पीसने की विशिष्ट विधि है।

दिव इति। बौधायन कल्पसूत्र के अनुसार उस कृष्णाजिन पर शम्या[२] को इस प्रकार रखे कि उसका स्थूल शिरोभाग उत्तर की ओर रहे। शम्या को रखने का मन्त्र है "दिवः स्कम्भनिरसि·····वेत्तु" इति। गदा के सदृश आकार से युक्त और आधे व्याम[३] की लम्बाई वाली एक विशेष प्रकार से बनी हुई लकड़ी को शम्या कहते हैं। यह शम्या शिला के पिछले भाग की ओर उस (शिला) के नीचे रक्खी जाती है, जिससे उसका वह भाग ऊपर को उठा रहता है। **हे शम्ये** इति। हे शम्या[४]! तू द्युलोक को धारण करने वाली है। इसलिये कृष्णाजिन के रूप में यह जो भूमि की त्वचा है, वह तुझे अपने ऊपर रक्खे जाने की अनुमति दे। शम्या द्युलोक का आधार है इसका उपपादन करते हैं—'द्यावा पृथिवी······द्यावापृथिव्योर्वीत्यै'

१—कृष्णाजिन पर सिलबट्टे को रखकर उस पर अवघात से सिद्ध चावलों को पीसे।

२—शम्या का लक्षण स्वयं भाष्यकार आगे बताएंगे। यह खैर की लकड़ी से बनाई जाती है और छकड़ों में बैलों की गर्दन पर रक्खे जाने वाले जुए के छेद में डाली जाती है। इसका एक ओर का भाग गदा के जैसा स्थूल होता है।

३—दोनों बाहुओं को यदि दाएं-बाएं फैला लिया जाय तो वह एक व्याम कहलाता है उसका आधा प्रायः ३६ अङ्गुल।

४—यह मन्त्र का अर्थ है।

कृष्णाजिनस्योपर्युदीचीनशिरस्कां निदध्यात्। सा च पेषणहेतोर्दृषदः पश्चाद्भागधारणेन तद्भागस्यौन्नत्यं करोति। हे शम्ये, त्वं द्युलोकस्य धारयित्र्यसि। तस्मात्कृष्णाजिनरूपायाः भूमेस्त्वगियं त्वामभिमन्यताम्। शम्याया द्युलोकाधारत्वमुपपादयति—"द्यावापृथिवी सहाऽऽस्ताम्। ते शम्यामात्रमेकमहर्व्यैताꣳ शम्यामात्रमेकमहः। दिवः स्कम्भनिरसि प्रति त्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्त्वित्याह। द्यावापृथिव्योर्वीत्यै" (तै० ब्रा० का० ३ प्र० २ अ० ६) इति। प्रजापतिना सृष्टे द्यावापृथिव्यौ पूर्वं जतुकाष्ठवत्परस्परं संश्लिष्टे अभूताम्। ते पश्चादेकस्मिन्दिने शम्याप्रमाणेन परस्परं वियुक्ते अभूताम्। प्रतिदिनं तथेति विवक्षया वीप्सोक्ता। तयोः पुनः संश्लेषे यागस्यावकाशो न स्यात्। ततो विश्लेषार्था दिवः स्कम्भनिरित्युच्यते।

धिषणाऽसि पर्वत्या प्रति त्वा दिवः स्कम्भनिर्वेत्तु

धिषणेति। कल्पः — 'तस्यां प्राचीं दृषदमध्यूहति "धिषणाऽसिपर्वत्या प्रति त्वा दिवः स्कम्भनिर्वेत्त्विति" (बौ० श्रौ० १।७) इति।

हे पेषणसाधनभूते दृषद्रूपे, त्वं पेष्टुमभिज्ञतया धिषणाऽसि दृढतया पर्वतावस्थानमर्हसि। तादृशीं त्वां द्युलोकधारिका शम्याऽभिमन्यताम्। सेयं दृषद्दृढतया लोकद्वयधारणाय कल्पत इत्याह—"धिषणाऽसि पर्वत्या प्रति त्वा दिवः स्कम्भनिर्वेत्त्वित्याह। द्यावापृथिव्योर्विधृत्यै" (तै० ब्रा० का० ३ प्र० २ अ० ६) इति।

इति। **प्रजापतिना**[1] इति। जब प्रजापति ने पहले पहल द्युलोक और पृथ्वीलोक को उत्पन्न किया, उस समय ये दोनों लाख और लकड़ी की तरह एक दूसरे से जुड़े हुए थे। एक दिन ये दोनों एक दूसरे से पृथक् हो गए। उस समय इन दोनों के बीच में शम्या का जितना अन्तर था। 'अब भी वे प्रतिदिन पूर्ववत् शम्या के अन्तर से एक दूसरे से दूर रहते हैं'—इस बात को पुनः प्रकट करने के लिए ही भाष्योक्त ब्राह्मण वाक्य में 'शम्यामात्रम् एकम् अहः' इस वाक्य की पुनरावृत्ति की गई है। यदि वे पुनः एक दूसरे से जुड़ जाते तो याग के लिए अवकाश न रहता। दोनों को एक दूसरे से जुदा रखने के लिए ही शम्या के प्रति कहा गया है—"दिवः स्कम्भनिरसि"—तू द्युलोक को थामने वाली-बल्ली है।

धिषणा इति। बौधायन कल्प सूत्र के अनुसार उस शम्या पर "धिषणासि······वेत्तु" इस मन्त्र से शिला को रख दे, शिला का अग्रभाग पूर्व की ओर होना चाहिए। **हे इति**। प्रस्तरमयि[2] शिले! तू पीसने का साधन है, तू पीसना जानती है—इसलिये धिषणा[3] है—बुद्धिमती है। तू दृढ़ता के कारण पर्वत पर रहने योग्य है। ऐसे गुणों वाली तुझको द्युलोक को धारण करने वाली यह शम्या अपने ऊपर रखे जाने की अनुज्ञा[4] दे। यह शिला अपनी दृढ़ता के कारण दोनों लोकों को (पृथ्वीलोक और द्युलोक को) धारण करने में समर्थ है—इस बात को बताते हैं—"धिषणासि······द्यावापृथिव्योर्विधृत्यै" इति।

---

१. ख. स्थाम

१—'द्यावा पृथिवी' इत्यादि ब्राह्मण वचन का ही 'प्रजापतिना' इत्यादि से भाष्यकार ने व्याख्यान किया है।

२—पत्थर की।

३—यद्यपि 'धिषणा' शब्द का अर्थ बुद्धि है तथापि लक्षणा से धिषणावती-बुद्धिमती यह अर्थ किया गया है।

४. भट्ट भास्कर ने 'धिषणा' का अर्थ 'धृष्टा' किया है।

धिषणाऽसि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वतिर्वेत्तु

धिषणेति । कल्पः — "दृषद्युपलामध्यूहति धिषणाऽसि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वतिर्वेत्त्विति" (**बौ० श्रौ०** १।७) इति।

पूर्ववत्। पर्वतिः पर्वतसम्बन्धिनी दृषत् । तथैव व्याचष्टे—"धिषणाऽसि पार्वतेयी प्रति त्वा पर्वतिर्वेत्त्वित्याह। द्यावापृथिव्योर्धृत्यै" (तै० ब्रा० का० ३ प्र० २ अ० ६) इति।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामधि वपामि

धान्यमसि धिनुहि देवान् ।

देवस्येति । बौधायनः—"तस्यां पुरोडाशीयानुद्वपति देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टमधिवपाम्यग्नीषोमाभ्याममुष्मा अमुष्मा इति यथादेवतमधिवपति धान्यमसि धिनुहि देवानिति (बौ० श्रौ० १।७) इति।

धिषणेति इति । कल्पसूत्र कहता है कि शिला के ऊपर 'धिषणाऽसि······पर्वतिर्वेत्तु' इस मन्त्र से उपला को (बट्टे को) रख दे । **पूर्ववत्** इति । अर्थात् इस मन्त्र का अर्थ प्रायः पूर्वमन्त्र के समान ही है । मन्त्र में आए हुए 'पर्वति' शब्द का अर्थ है— पर्वत की शिला । मन्त्रार्थ यों हैं—हे उपले, (हे सिल के बट्टे) तू धिषणा[1] है— बुद्धिमती है । पार्वतेयी है— पर्वत शिला की पुत्री है । इसलिए जैसे माँ अपनी पुत्री को अपनी गोद में बैठने की अनुमति दे देती है, इसी प्रकार यह शिला भी तुझे अपने ऊपर रक्खे जाने की अनुमति दे । **तथैव** इति । ब्राह्मण भी इस मन्त्र का व्याख्यान पूर्ववत् ही करता है । "धिषणासि······द्यावा पृथिव्योर्विधृत्यै" इति । क्योंकि यह उपला पर्वत शिला की पुत्री होने के कारण दृढ़ है अतः यह भी द्युलोक और पृथ्वीलोक को धारण करने में समर्थ है ।

देवस्येति । बौधायन कहते हैं—उस शिला पर पुरोडाश-सम्बन्धी[2] चावलों को डाले । चावल डालने का मन्त्र यह है '**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टमधिवपामि**'। यद्यपि संहिता में '**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामधिवपामि**' इस प्रकार मन्त्रपाठ है अर्थात् हस्ताभ्याम् और अधिवपामि के बीच में 'अग्नये जुष्टम्' नहीं है, तथापि सूत्रकार[3] ने अग्नीषोमाभ्याममुष्मा,अमुष्मा इति यथादेवतम् अधिवपति' ऐसा लिखा है । जिसका तात्पर्य यह है कि जिस देवता के निमित्त पुरोडाश तैयार करता है उस देवता के नाम के आगे चतुर्थी विभक्ति लगा-कर और उसके (चतुर्थ्यन्त के) आगे 'जुष्टम्' यह पद जोड़े, इन दोनों पदों को ('**चतुर्थ्यन्त**' और '**जुष्टम्**' को) 'हस्ताभ्याम्' और 'अधिवपामि' के बीच में बोले । उदाहरणार्थ यदि अग्नि के लिये पुरोडाश देना है तो '**अग्नये जुष्टम्**' कहे, '**अग्नीषोम**' के लिये देना है तो '**अग्नीषोमाभ्यां जुष्टम्**' ऐसा कहे । इस प्रकार देवता के अनुसार मन्त्र के आकार में भेद हो जाता है । इस प्रकार पुरोडाशीय चावलों को सिर पर डालकर '**धान्यमसि धिनुहि देवान्**' इस मन्त्र से प्रार्थना करे ।

१—भट्ट भास्कर ने यहां भी धिषणा का अर्थ धृष्टा ही किया है । 'पर्वति' शब्द पर्व पूरणे धातु से 'अति' प्रत्यय करने पर बनता है । यद्यपि भाष्यकार ने इस मन्त्र का अर्थ नहीं लिखा तथापि उसके 'पूर्ववत्' संकेत पर हमने अर्थ लिख दिया है ।

२—जिन चावलों से पुरोडाश तैयार करना है ।

३. बौधायन ने । मूल में ही 'देवस्येति' प्रतीक में देखिये ।

आपस्तम्बस्तु धान्यमसीत्यनेन सहैकमन्त्रतामाश्रित्याऽऽह—'देवस्य त्वेत्यनु'द्रुत्याग्नये जुष्टमधिवपामीति यथादेवतं दृषदि तण्डुलानधिवपति त्रिर्यजुषा तूष्णीं चतुर्थम् (आप० श्रौ० १।२१।५) इति। अत्र वाक्यपूरणायाग्नये इत्यादिकमध्याहृतमतो यथाम्नातमेवानूद्य व्याचष्टे—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसव इत्याह प्रसूत्यै। अश्विनोर्बाहुभ्यामित्याह। अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू आस्ताम्। पूष्णो हस्ताभ्यामित्याह यत्यै। अधिवपामीत्याह। यथादेवतमेवैनानधिवपति" (तै०ब्रा० का० ३ प्र० २ अ० ६) इति। देवान्प्रीणयेति यदुक्तं तस्य नास्त्यनुपपत्तिः, आहुतिरूपस्य धान्यस्याल्पत्वेऽपि मन्त्रसामर्थ्येन तदभिवृद्धेरित्याह—"धान्यमसि धिनुहि देवानित्याह। एतस्य यजुषो वीर्येण। यावदेका देवता कामयते यावदेका। तावदाहुतिः प्रथते। नहि तदस्ति। यत्तावदेव स्यात्। यावज्जुहोति" (तै०ब्रा०का०३ प्र०२ अ०६) इति।

आपस्तम्बस्तु इति। किन्तु आपस्तम्ब ऋषि '**धान्यमसि धिनुहि देवान्**' इस वाक्य को भी पूर्वोक्त '**देवस्य त्वा**' आदि के साथ मिलाकर एक मन्त्र ही मानते[१] हैं। मन्त्र का विनियोग उनके मत से भी शिला पर चावल डालने में ही है। तीन बार पूर्वोक्त यर्जुमन्त्र पढ़कर चावल डाले और चौथी बार चुप रहकर ही (बिना मन्त्र बोले) डाले। **अत्र इति**। उपर्युक्त[२] दोनों सूत्रों में '**देवस्य त्वा**······' इत्यादि संहितोक्त मन्त्र में वाक्यपूर्ति के लिए '**अग्नये जुष्टम्**' इत्यादि[३] का अध्याहार किया गया है। अतः ब्राह्मणवाक्य, संहिता में मन्त्र जैसा पढ़ा गया है वैसा ही उसका अनुवाद करके व्याख्यान करते हैं—'**देवस्य त्वा**······यत्यै' इति। इस ब्राह्मण का पहले अनुवाद किया जा चुका है, देखो पृष्ठ २२८ (प्र० भा०)। **यथादेवतमिति**। देवतानुसार[४] ही मन्त्र पढ़कर चावलों को शिला पर डाले। '**देवस्य त्वा**······' इत्यादि मन्त्र का हिन्दी अनुवाद यद्यपि चतुर्थ अनुवाक के हिन्दी अनुवाद में आ चुका है, तथापि पुनः यहां लिख देते हैं—"सब के प्रेरक देवता की प्रेरणा में स्थित—अर्थात् उससे प्रेरित होकर ही मैं" हे तण्डुलो! तुम्हें अपनी बाहुओं से नहीं किन्तु अश्विनीकुमारों की बाहुओं से, अपने हाथों से नहीं किन्तु पुष्टिकारक पूषा देवता के हाथों से अग्नि देवता के लिये जिस तरह भी तुम प्रिय बन सको उस तरह शिला पर डालता हूं। हे चावलो! तुम धान्य[५] हो, पोषक हो, देवताओं को तृप्त करो।

देवान् इति। यह जो कहा गया है कि 'देवताओं को तृप्त करो' इसकी यहां अनुपपत्ति अथवा असम्भवता नहीं समझनी चाहिये। असम्भवता का कारण यही हो सकता है कि पुरोडाश के लिये जो अन्न लिया गया है, वह बहुत थोड़ा है, उससे देवता की तृप्ति कैसे हो सकेगी, पर बात ऐसी नहीं है। आहुति रूप जो धान्य है वह थोड़ा होने पर भी मन्त्र के

---

१. ख. नुमन्त्र्या

१—सूत्र का अक्षरानुवाद इस प्रकार है—'देवस्य त्वा' से प्रारम्भ करके 'पूष्णो हस्ताभ्याम्' तक पढ़कर उसके आगे 'अग्नये जुष्टम् अधिवपामि' ऐसा देवतानुसार पढ़े और शिला में चावल डाले, तीन बार यजुर्मन्त्र से और एक बार चुपचाप।

२—बौधायन और आपस्तम्ब दोनों सूत्रों में।

३—आदि पद से 'अग्नीषोमाभ्यां जुष्टम्' इत्यादि समझना।

४—यदि अग्नि देवता हो तो 'अग्नये जुष्टम्। कहकर, 'अग्नीषोम' देवता हों तो 'अग्नीषोमाभ्यां जुष्टम्' कहकर।

५—'धा' धातु से यत् प्रत्यय हुआ है और उसको नुट् का आगम हुआ है। दधाति पुष्णातीति धान्यम्। 'डुधाञ्' धारणपोषणयोः।' 'धा' धातु धारण और पोषण करने के अर्थ में पठित है। (सम्पादक)

वीप्सा सर्वत्रानुगमार्था। यदि द्रव्यं यावज्जुहोति तावदेव देवान्प्राप्नुयात्, तदा कथमिदमल्पं देवान्प्रीणयेदित्याशङ्क्येत, न तु तावदेवेति नियमोऽस्ति, किन्तु यावत्काम्यते तावत्प्रवर्धते। ततः सम्भवत्येव प्रीणनम्।

प्राणाय त्वाऽपानाय त्वा व्यानाय त्वा

प्राणायेति—बौधायनः—"पिंषति प्राणाय त्वाऽपानाय त्वा व्यानायत्वेति" (बौ० श्रौ० १।७) इति। आपस्तम्बः—प्राणाय त्वेति प्राचीमुपलां प्रोहत्यपानाय त्वेति प्रतीचीं व्यानाय त्वेति मध्यदेशे व्यवधारयति, प्राणाय त्वाऽपानाय त्वा व्यानाय त्वेति सन्ततं पिनष्टि" (आप० श्रौ० १।२१।६) इति।

उच्छ्वासनिःश्वासतत्सन्धिगता वृत्तयः प्राणापानव्यानाः। "अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः" (छा० उ० १.३३) इति श्रुत्यन्तरात्। हे हविर्वृत्तित्रयं यजमाने चिरं स्थापयितुं त्वां पिनष्मि। एतदेव दर्शयति—"प्राणाय त्वाऽपानाय त्वेत्याह। "प्राणानेव यजमाने दधाति" (तै०ब्रा०का०३ प्र०२ अ०६) इति।

सामर्थ्य से बढ़ जाता है। इसी को ब्राह्मणवाक्य कहता हैं। **एतस्य** इति। इस यजुर्मन्त्र के (धान्यमसि धिनुहि देवान्' इस मन्त्र के) सामर्थ्य से आहुतिरूप अन्न की वृद्धि हो जाती है। जितना एक देवता चाहता है, उतनी ही आहुति बढ़ जाती है। ऐसी कोई आहुति नहीं जो उतनी ही रहे जितनी कि वह आहुति हुई थी। 'यावदेका कामयते यावदेका' यहां 'यावदेका' इस पदसमूह की द्विरुक्ति सर्वत्र अनुगम के लिए है, अर्थात् आहुति के सम्बन्ध में यह नियम सार्वत्रिक है। जितने द्रव्य की आहुति दी जाती है यदि उतना ही द्रव्य देवताओं को प्राप्त हो तब तो यह शङ्का हो सकती है कि इतना थोड़ा द्रव्य देवताओं को कैसे तृप्त करेगा। परन्तु यह नियम नहीं है कि द्रव्य उतना ही रहे। किन्तु जितने की कामना होती है, उतना ही वह बढ़ जाता है, इसलिये देवतृप्ति सम्भव है।

प्राणायेति। बौधायन मुनि कहते हैं—"**प्राणाय त्वा······व्यानाय त्वा**" इस मन्त्र से चावलों को पीसे। आपस्तम्ब का मत है कि '**प्राणाय त्वा**' इतना मन्त्रांश पढ़कर उपला को (बट्टे को) चावलों के अग्रभाग[1] पर रखे '**अपानाय त्वा**' कहकर उसे चावलों के पिछले हिस्से पर रक्खे और 'व्यानायत्वा' कहकर मध्यभाग में रक्खे। फिर पूरा मन्त्र पढ़कर चावलो को निरन्तर (बिना रुके) पीसे। **उच्छ्वास** इति। शरीरान्तः संचारी वायु की तीन[2] वृत्तियां हैं—प्राण, अपान और

१—सिल पर रक्खे हुए चावलों के तीन भाग की कल्पना करे, पहला आगे का भाग, दूसरा पिछला भाग, और तीसरा मध्य का भाग। 'प्राणाय त्वा' कहकर अग्रभाग पर बट्टे को रखें, 'अपानाय त्वा' से पिछले भाग पर और व्यानाय त्वा' से मध्य भाग पर। क्रम यही रखना चाहिए। आप० श्रौ० सूत्र में "प्राचीम् उपलां प्रोहति' ऐसा पाठ है, वहां 'प्रोहति' का अर्थ है—'प्रापयति'—पहुंचावे। अर्थात् उपला को चावलों के अगले भाग पर पहुंचावे-रक्खे। विधि होने के कारण 'प्रोहति' का पहुंचावे यह लोट् लकार जैसा अर्थ किया गया।

२—वैसे तो शरीरान्तःसंचारी वायु के प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पांच भेद प्रसिद्ध हैं, परन्तु मुख्य उपर्युक्त तीन ही हैं। हम जो भी खाते हैं उसमें कुछ न कुछ विष की मात्रा भी रहती है। शरीर में प्रकृति ने एक ऐसा यन्त्र लगा दिया है जिसे हम टेटूं या टेटुआ कहते हैं। जो गले में बाहर की ओर निकला हुआ भी स्पष्ट दीखता है। जो उस विष को नीचे नहीं उतरने देता, वह विष इसमें ही लगा रह जाता है और पीछे से वाष्प बनकर अन्तरिक्ष में लीन हो जाता है। जो कुछ थोड़ा बहुत नीचे उतर भी जाता है उसे प्राण और अपान साफ करते रहते हैं। अपान

दी॒र्घाम॒नु॒ प्रसि॑तिमायु॑षे धां

दीर्घामिति। बौधायनः —"अथ बाहू अन्ववेक्षते दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धामिति" (बौ० श्रौ० १।७) इति। आपस्तम्बः —"प्राचीमन्ततोऽनुप्रोह्य" (आ० श्रौ० १।२१।७) इति। प्रसितिः प्रबन्धः कर्म-सन्तानः। यजमानस्याऽऽयुरभिवृद्ध्यर्थमिमामविच्छिन्नकर्मसन्ततिहेतुरूपामुपलां धारितवानस्मि। तदेतदाह—"दीर्घामनु प्रसितिमायुषेधामित्याह। आयुरेवास्मिन्दधाति" (तै०ब्रा०का० ३ प्र०२ अ०६) इति।

व्यान। हम जो सांस लेते हैं, इसे उच्छ्वास कहते हैं, यह 'प्राण' नाम की पहली वृत्ति है। सांस छोड़ने को—वायु को भीतर से ही बाहर फेंकने को निःश्वास कहा जाता है, यह वायु की दूसरी वृत्ति है। इसका नाम **'अपान'** है। एक तीसरी वृत्ति है जो प्राण और अपान की सन्धि में रहती है। इसे **'व्यान'** कहते हैं। 'अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः—प्राण और अपान की सन्धि को 'व्यान' कहते हैं, यह श्रुति है। **हे हविर्** इति। हे तण्डुल रूप हवि ! मैं तुझे पीस रहा हूं। इसलिये कि तू यजमान में चिरकाल तक प्राण, अपान और व्यान इन तीनों वृत्तियों को प्रतिष्ठित रक्खे। इसी अभिप्राय को ब्राह्मणवाक्य भी प्रकट करता है—**"प्राणायत्वा······यजमाने दधाति"** इति। 'प्राणायत्वा' इत्यादि मन्त्र पढ़कर प्राणों को यजमान में स्थापित करता है।

दीर्घाम् इति। बौधायन कहता है कि तण्डुलों को पीसने के बाद **'दीर्घाम्······आयुषेधाम्'** इस मन्त्र से अपनी बाहुओं को देखे। आपस्तम्ब कहता है कि अन्त[1] में—पहले डाले हुए समस्त चावलों के पीसे जाने पर **'दीर्घाम्······** इत्यादि मन्त्र से उपला को पूर्व भाग[2] पर रख दे। **प्रसितिः** इति। प्रसिति शब्द का अर्थ है—प्रबन्ध[3]। कर्म सन्तान अर्थात् कर्मों का तांता। यह उपला (बट्टा) अविछिन्न कर्म सन्तान का (निरन्तर होने वाले अनेक कर्मों का) हेतु है, मैंने इसे यजमान की आयु की वृद्धि के लिए धारण किया है। इसी बात को ब्राह्मण वाक्य कहता है—**दीर्घाम्······दधाति'** इति। दीर्घाम् ······इत्यादि मन्त्र पढ़कर अध्वर्यु यजमान में आयु[4] की स्थापना करता है।

देव इति। 'देवो वः सविता······प्रतिगृह्णातु' इस मन्त्र से पिसे हुए चावलों को कृष्णाजिन पर डाल दे। यहां मन्त्र के विनियोग में बौधायन और आपस्तम्ब एकमत हैं। इस मन्त्र का व्याख्यान भाष्यकार पञ्चम अनुवाक में कर चुके हैं।

उसे गुदा के मार्ग से बाहर फेंक देता है, प्राण बाहर से शुद्ध वायु लाकर शरीर को स्वच्छ रखता है। व्यान दोनों के मध्य में रहता है। नीचे से अपान का और ऊपर से प्राण का संघर्ष इसके साथ होता रहता है। इसी संघर्ष से शरीर में वैश्वानर अग्नि पैदा होती है। जो शरीर को गरम रखती है। व्यान शिलास्थानीय है और प्राण तथा अपान दोनों मिलकर लोढ़ी या बट्टे का काम करते हैं।

१—सारे चावल एक साथ नहीं पीसे जाते, किन्तु भाग करके पीसे जाते हैं।

२—जब पहली बार के चावल पिस चुके होते हैं, तब उपला को पिसे हुए चावलों के अगले भाग पर रख दे। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का अन्वय इस प्रकार है—अन्ततः उपलां प्राचीम् अनुप्रोह्य।

३—'प्र' पूर्वक षिञ् बन्धने धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर 'प्रसिति' शब्द बनता है। इसलिये 'प्रसिति' का अर्थ 'प्रबन्धन' या 'प्रबन्ध' ठीक ही है। 'प्रबन्ध शब्द का प्रयोग 'सातत्य' अर्थ में भी होता है। 'दीर्घाम्' यह 'प्रसिति' का विशेषण है, 'अनुर्लक्षणे' से यहां 'अनु' की 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा हुई है इसीलिये 'दीर्घां प्रसितिम् अनु' का अर्थ भाष्यकार ने किया है—अविछिन्न (दीर्घ) कर्म-सन्तान का हेतु। 'अनुर्लक्षणे' में लक्षण शब्द से हेतु ही लिया जाता है।

४—'आयु' का अन्न भी अर्थ होता है।

देवो वः[1] सविता हिरण्यपाणिः प्रति गृह्णातु ।६।

देव इति। कल्पः—"देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृह्णात्विति कृष्णाजिने पिष्टानि प्रस्कन्द[1]-यति" (आप० श्रौ० १।२१।७) इति।

पूर्ववद् व्याचष्टे—"अन्तरिक्षादिव वा एतानि प्रस्कन्दन्ति । यानि दृषदः । देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रति गृह्णात्वित्याह प्रतिष्ठित्यै । हविषोऽस्कन्दाय" (तै०ब्रा०का०३ प्र०२ अ० ६) इति । पत्नीं दासीं वा प्रति प्रैषमन्त्रमुत्पाद्य व्याचष्टे—"असंवपन्ती पिꣳषाणूनि कुरुतादित्याह मेध्यत्वाय" (तै०ब्रा० का० ३ प्र० २ अ० ६) इति । तथा च सूत्रितम्—"असंवपन्ती पिꣳषाणूनि कुरुतादिति सम्प्रेष्यति । दासी पिनष्टि पत्नी वाऽपि वा पत्न्यवहन्ति शूद्रा पिनष्टि" (आप० श्रौ० १।२१।७-९) इति । हे दासि, तण्डुलेष्वन्यद्रव्यं किमप्यप्रवेशयन्ती पेषणं कुरु । तानि च पिष्टानि सूक्ष्माणि कुरु । तमिमं प्रैषमध्वर्युः पठेत् । पिष्टस्य सूक्ष्मत्वे पुरोडाशद्वारा यज्ञयोग्यता भवति ।

यह मन्त्र (देवो वः) पञ्चम अनुवाक का अन्तिम मन्त्र है। अतः यहां भाष्यकार ने इसका व्याख्यान नहीं किया, केवल एतत्सम्बन्धी ब्राह्मणवाक्य उद्धृत कर दिया है। **पूर्ववद्** इति ब्राह्मणवाक्य भी उक्त मन्त्र का पूर्व के समान ही व्याख्यान करता है—**"अन्तरिक्षादिव······प्रतिष्ठित्यै हविषोऽस्कन्दाय"** इति। यह जो शिला से (दृषद् से) चावलों का चूर्ण कृष्णाजिन पर गिर रहा है, मानो यह अन्तरिक्ष से ही गिर रहा है। सब का प्रेरक देव सोने का आभूषण हाथ में पहने हुए तुम्हें (चावलों के चूर्ण को) थाम ले—अपने हाथों में ले ले। जिससे कि तुम प्रतिष्ठित रहो, तुम में स्कन्द-दोष (भूमि पर गिरने का दोष) न लगे।

पत्नीम्[1] इति। पत्नी व दासी के प्रति कहे जाने वाले प्रैषमन्त्र[2] की कल्पना करके उसकी व्याख्या[3] करते हैं—'असंवपन्ती······मेध्यत्वाय इति। कल्पसूत्र[4] में भी ऐसा ही लिखा है—**'असंवपन्ती······शूद्रापिनष्टि'** इति। हे दासी,[5] तू चावलों में दूसरी वस्तु न मिलाकर इन्हें पीस ले, और उन पिसे हुओं को बारीक कर ले। इस प्रैष मन्त्र को अध्वर्यु बोले। पिसे हुए चावलों के बारीक हो जाने से वे पुरोडाश[6] द्वारा यज्ञ के योग्य हो जाते हैं।

---

१. क. ख. ङ न्दयित्वा।

१—यह बात हम पहले बता चुके हैं कि सारे चावल एक साथ नहीं पीसे जाते, किन्तु भाग करके पीसे जाते हैं। पहले अध्वर्यु चावलों को पीसता है, शेष चावलों को यजमान की पत्नी या दासी पीसती है।

२—'असंवपन्ती पिंषाणूनि कुरुतात्' यह प्रैषमन्त्र है।

३—उपपत्ति।

४—आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में। सूत्र का अर्थ है—'संवाप न करती हुई पीस और बारीक बना' इस प्रकार दासी या यजमान-पत्नी चावलों को पीसती है। अथवा पत्नी अवघात करती है और शूद्रा पीसती है।

५—'असंवपन्ती पिंष' का अर्थ धूर्तस्वामी ने लिखा है—'न सर्वान् सह क्षिपन्ती पिंष' अर्थात् सारे चावलों को एक साथ सिला पर न गिराये थोड़ा थोड़ा करके पीसे। भाष्यकार के मत से असंवपन्ती' का अर्थ है—'दूसरी वस्तु को न मिलाते हुए।

६—बारीक आटे से पुरोडाश अच्छा बनता है।

अथ विनियोगसङ्ग्रहः—

"अवेति पूर्ववत्तत्र शम्यां स्थापयते दिवः ।
धिषणा द्वे तथाऽश्मानौ देवेत्यधिवपेद्धविः ॥१॥
प्राणायेति विधिः पिष्ट्वा दीर्घेत्यन्त उपोहति ।
देवोऽजिने स्कन्दयेत प्रोक्ता एकादश त्विह ॥२॥" इति ॥

अथ मीमांसा —

यद्यप्यत्र विशेषाकारेण विचारा बहवो नोपलभ्यन्ते, तथाऽपि सामान्यविचाराः पूर्वोक्ता अनुसन्धेयाः । इषे त्वेत्यत्र वाक्यपूर्तये यथाऽध्याहारस्तथैवाधिवपामीत्यत्राप्यग्नये जुष्टमित्यादिकमध्याहर्तव्यम् । अध्याहृतस्य चानाम्नातत्वेनामन्त्रत्वादूहादिष्विव स्वराद्यपराधो नास्ति । किञ्च

अथ इति । अब विनियोग-संग्रह लिखते हैं—**अवेति** इति । १-'**अवधूतं रक्षो**······**पृथिवी वेत्तु**' इसका विनियोग पूर्ववत्[1] है । २-'**दिवः स्कम्भनिरसि**······**त्वग्वेत्तु**' इस मन्त्र से कृष्णाजिन पर शम्या को रक्खे । ३-**धिषणासि**······**वेत्तु**' इस मन्त्र से पत्थर (सिल) को शम्या के ऊपर रख दे । ४-'**धिषणासि पार्वतेयी**······**पर्वतिर्वेत्तु**' इस मन्त्र से पत्थर को (बट्टे को) सिल पर रख दे । ५-**देवस्य त्वा**······**धिनुहि देवान्**' इस मन्त्र से हवि को (चावलों को) सिल पर डाले । ६-**प्राणाय**······**व्यानाय त्वा** इस मन्त्र से हवि को (चावलों को) पीसे । ७-**दीर्घामनु**······**मायुषेयाम्** इस मन्त्र से उपोहन करे । ८-**देवो वः**······**प्रतिगृह्णातु**' इस मन्त्र से कृष्णाजिन पर पीसे हुए चावलों को डाले । इस प्रकार इस छठे अनुवाक में ग्यारह[2] मन्त्र हैं ।

अथ इति । अब मीमांसा लिखते हैं । **यद्यप्यत्र** इति । यद्यपि इस छठे अनुवाक में विशेष रूप से मीमांसा शास्त्र सम्बन्धी कोई अधिक विचार उपलब्ध नहीं होते, तथापि पूर्वोक्त सामान्य विचार (सामान्य निर्णय) यहां भी लागू किये जा सकते हैं । उदाहरणार्थ, जैसे '**इषे त्वा' ऊर्जे त्वा**', इन मन्त्रों में वाक्यपूर्ति के लिए क्रमशः 'छिनद्मि' उन्मार्ज्मि' इन पदों का अध्याहार कर लिया जाता है, इसी प्रकार इस अनुवाक में भी 'अधिवपामि' इस पद वाले मन्त्र में भी 'अधिवपामि' इस पद से पूर्व 'अग्नये जुष्टम्' इत्यादि पदसमूह का अध्याहार कर लिया जाता है । क्योंकि अध्याहृत का संहिता में पाठ नहीं होता, इसलिये वह मन्त्र नहीं माना जाता, फलतः उसमें स्वराशुद्धिजनित दोष भी नहीं होता । जैसे ऊहादिक में (ऊहित मन्त्र आदि में) नहीं होता ।

१.—पञ्चम अनुवाक में 'अवधूतं रक्षो' से लेकर 'पृथिवी वेत्तु' तक दो मन्त्र हैं । इनमें पहला मन्त्र 'अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः' इतना है । इसका विनियोग कृष्णाजिन को झाड़ने में है । दूसरा मन्त्र है —'अदित्यास्त्वगसि प्रति त्वा पृथिवी वेत्तु' इति । इसका विनियोग कृष्णाजिन को बिछाने में है । इस छठे अनुवाक में भी इन दोनों का विनियोग इसी प्रकार है । इसीलिए कहा—पूर्ववत् ।

२—यद्यपि हमारे लगाये अङ्कों के अनुसार आपाततः मन्त्र संख्या ८ ही प्रतीत होती है । तथापि विनियोगसंग्रह के अनुसार मन्त्र संख्या ११ ही ठीक है । 'अवेति पूर्ववत्' में उन्होंने दो मन्त्रों का विनियोग बताया है । 'अवधूतम्······अरातयः' यह पहला मन्त्र है —'अदित्याः······पृथिवी वेत्तु' यह दूसरा मन्त्र है । 'देवेत्यधिवपेद्धविः' इस प्रतीक के द्वारा भी तीन मन्त्र सूचित किये गये हैं । पहला मन्त्र है—देवस्य त्वा······अग्नये जुष्टम् अधिवपामि । दूसरा है—देवस्य त्वा······अग्नीषोमाभ्यां जुष्टम् अधिवपामि । तीसरा मन्त्र है—'धान्यमसि धिनुहि देवान्' । इस प्रकार ११ संख्या पूरी हो जाती है ।

नवमाध्यायस्य प्रथमपादे चिन्तितम्—

**"नोह्य ऊह्योऽथवा धान्यशब्दो नासङ्गतोक्तितः।
ऊह्यो लक्षणयाऽर्थस्य गोपानस्येव सङ्गतेः॥" (जै० न्या० ९।१।१९) इति।**

दृषदि पेषणाय तण्डुलावापेऽयं मन्त्रो विहितः —'धान्यमसि धिनुहि देवान्' (तै०सं० १।१।६) इति। सोऽयं धान्यशब्दोऽसमवेतार्थं ब्रूते, निस्तुषाणां तण्डुलानां धान्यशब्दार्थत्वाभावात्। तदयं[1] सवित्रादिशब्दवन्नोहनीय इति चेत्। मैवम्। लक्षणावृत्त्या धान्यशब्दस्य तण्डुलरूपेऽर्थे समवेतत्वात्। यथा गावः पीयन्त इत्यत्र मुख्यवृत्त्यभावेऽपि नासमवेतार्थत्वं लोका वर्णयन्ति, किन्तु पयो लक्षयित्वाऽर्थं समवेतमेव प्रतीयन्ति तद्वत्। तस्माच्छाक्यानामयने षट्त्रिंशत्संवत्सरे धान्यशब्द ऊहनीयः। तत्र ह्येवमाम्नायते—संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स तत्र यान्मृगान्हन्ति, तेषां तरसा सवनीयाः पुरोडाशा भवन्तीति (द्र० आ० श्रौ० २३।११।१२-१३)। तत्र दृषदि पेषणाय मांसमावपन्मांसमसि धिनुहि देवानित्येवं मन्त्रमूहेत्। न च धान्यशब्दवल्लक्षको मृगशब्द ऊहे प्रयोक्तव्य इति वाच्यम्, लक्षणावृत्तेः प्रकृतावार्थिकत्वेनातिदेशानर्हत्वात्। तस्मान्मांसमित्येव धान्यशब्दस्योहः।

किञ्च इति। नवम अध्याय के प्रथम पाद में विचार किया गया है—**नोह्य**' इति। दर्शपूर्णमास-याग में सिल पर पीसने के लिये चावल डाले जाते हैं। चावल डालने का मन्त्र है—'धान्यमसि धिनुहि देवान्' – तू धान्य है, देवताओं को तृप्त कर। यहां संदेह होता है कि यह मन्त्र जब विकृति में प्रयुक्त हो तब 'धान्य' शब्द में ऊह किया जाएगा या नहीं ? पूर्वपक्षी कहता है कि कर्म सम्बद्ध अर्थ के बोधक शब्दों में ही ऊह हुआ करता है। प्रकृति में कर्मसम्बद्ध अर्थ है चावल, न कि धान। धान्य शब्द की शक्ति तुषसहित (छिलका सहित) चावलों में है अर्थात् धान को धान्य कहते हैं, न कि चावलों को। अतः धान्य शब्द कर्मसम्बद्ध (कर्मसमवेत) अर्थ का बोधक नहीं है, अतः इसमें (धान्य शब्द में) ऊह नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, जैसे '**देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि**' इस ऋचा में सवितृ, अश्विन् और पूषन् शब्दों में ऊह नहीं होता, क्योंकि इनके अर्थ हैं सवितृ आदि देवता, जो कर्म समवेत नहीं हैं। कर्मसमवेत (कर्म सम्बद्ध) अर्थ तो अग्नि देवता[2] है।

अब सिद्धांत बताते हैं—**मैवम्** इति। उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि लक्षणावृत्ति से धान्य शब्द तण्डुलरूप अर्थ का बोधक हो जाता है। जैसे जहां गौ का दूध पिया जा रहा हो, वहां कोई यदि यह कह दे कि 'गावः पीयन्ते' अर्थात् गौएं पी जा रही हैं, तो लोग इसे ऐसा नहीं समझते कि यह असम्बद्ध (असमवेत) बात कह रहा है, क्योंकि गो शब्द यद्यपि मुख्यवृत्ति से (अभिधावृत्ति से) दूध रूप अर्थ को नहीं बताता, तथापि लक्षणा से तो दूध को बताता ही है। इसलिये जैसे 'गावः पीयन्ते' में गो शब्द लक्षणा से सम्बद्ध अर्थ का ही प्रतिपादक माना जाता है, इसी प्रकार 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' इस मन्त्र का धान्यशब्द भी लक्षणा से कर्मसम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादक माना ही जाना चाहिए। अतः विकृतियाग में जब उक्त मन्त्र का प्रयोग होगा और वहां धान्यातिरिक्त हवि होगी तो धान्य शब्द में ऊह करना ही पड़ेगा। अब धान्य शब्द के

---

१. ख. ततः।

१—यह जैमिनीयन्यायमाला-विस्तर' में और 'मीमांसादर्शन' में नवें अध्याय के प्रथम पाद का १४वां अधिकरण है।

२—यह निर्णय मीमांसादर्शन के नवें अध्याय के प्रथम पाद के बारहवें अधिकरण में किया गया है, इसलिये इसे 'द्वादशाधिकरणन्याय' भी कहते हैं।

अथ व्याकरणम् —

अवधूतमित्यादयो गताः ।

ऊह का उदाहरण देते हैं— **तस्माद्** इति । इसलिये 'शाक्त्यों'[1] के अयन' में अर्थात् 'शाक्त्यानामयनम्' नामक सत्र में जो कि ३६[2] वर्ष में पूरा होता है, 'धान्य' शब्द का ऊह करना ही पड़ता है । वहां एक विधि है कि दिन के समाप्त होने पर (सायं काल) यजमान शिकार के लिये जावे । वह वहां जिन मृगों को मारे, उनके तरस (मांस) से सवनीय (पशुयाग-सम्बन्धी) पुरोडाश तैयार करे-अर्थात् मृगयाहत मृगमांस से सवनीय याग करे । वहां जब पीसने के लिए सिल पर मांस डाले, उस समय 'धान्यम्' के स्थान में 'मांसम् बोले—अर्थात् यों बोले—'मांसमसि धिनुहि देवान् । कदाचिद् कोई कहे कि यहां धान्य शब्द में ऊह किया गया है, धान्य शब्द क्योंकि लाक्षणिक है अतः उसके स्थान में ऊहित शब्द भी लाक्षणिक ही होना चाहिये । अर्थात् 'मृगोऽसि धिनुहि देवान्' इस प्रकार ऊह में मृग शब्द [1] का ही प्रयोग करना चाहिये । यह कथन ठीक नहीं है । प्रकृतियाग में तो बिना लक्षण किये 'धान्य' शब्द में कर्मसमवेतार्थबोधकत्व अर्थात् अनुष्ठानगत अर्थ को बताने की क्षमता नहीं आ सकती थी इसलिये लक्षणा की गई, परन्तु ऊह में भी मुख्य शब्द की विद्यमानता में लक्षक शब्द को लेने में कोई प्रमाण नहीं है । इसलिये लक्षणावृत्ति का अतिदेश नहीं हो सकता । 'मांसम्' शब्द का ही 'धान्यम्' शब्द के स्थान में ऊह उचित है ।

अब व्याकरण लिखते हैं—

अवधूतम् इति । 'अवधूतम्' इत्यादि शब्दों में स्वरसंचार-प्रकार पहले[3] बता दिया गया है । तात्पर्य यह है— 'अवधूतम्' में गतिरनन्तरः' से आदि अक्षर 'अ' उदात्त है । शेष 'व', 'धू', 'त' तीनों शेषनिघात से अनुदात्त हैं । 'व' को स्वरित हो गया, 'धू' को प्रचय हो गया, 'त' को अनुदात्ततर हो गया, क्योंकि उसके बाद 'र' उदात्त है । संहिता में स्वर चिह्न क्रम यों रहेगा—अर्वधूतम् । पद पाठ में—अर्वधूतमित्य वंधूतम् ।

इत्यादि पद से 'रक्षो' 'अरातयो' आदि शब्द लेना । 'रक्षो' में मूल शब्द 'रक्षस्' है, जो नब्विषयस्यानिसन्तस्य' से आद्युदात्त है, 'क्षस्' शेषनिघात से अनुदात्त रहा । 'रक्षस्' ऐसी स्थिति में 'स्' को क्रमशः रुत्व, उत्व और गुण होने पर 'रक्षो' बन गया, वहां भी 'क्षो' शेष निघात से अनुदात्त ही रहा । परन्तु उसके आगे संहिता में 'अवधूताः' शब्द का आदि 'अ' उदात्त है, उसके साथ पूर्वरूप सन्धि होने पर 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से 'ओ' उदात्त हो गया । अतः संहिता में 'रक्षो' यह पद द्व्यनुदात्त रहा । पदपाठ में 'क्षस्' को स्वरित हो जायेगा अतः वहां स्वर स्थिति यों रहेगी—'रक्षः' ।

'अराति'[4] शब्द में नञ् तत्पुरुष है, अतः 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ······'इस सूत्र से अव्यय पूर्वपद प्रकृति स्वर हो गया अर्थात् 'अराति' शब्द का आदि 'अ' निपातत्वाद् उदात्त है । शेषनिघात से 'रा' और 'ति' दोनों अनुदात्त रहे । 'ति' को गुण और अयादेश होने पर 'तय्' बन गया, वह भी अनुदात्तस्थानिक होने से अनुदात्त ही रहा । स्वरस्थिति यों रही । अरातयः । यः के आगे संहिता में 'अदित्याः' का 'अ' है जो उदात्त है । उसके साथ 'यः' की स्वादिसन्धि होने पर 'योऽ' बन गया ।

१— वेद में कई प्रकार के यागों का विधान है जो याग दो दिन से लेकर बारह दिन तक होते हैं उन्हें 'अहीन' कहते हैं उससे आगे तेरह दिन से लेकर हजार वर्ष तक के याग सत्र कहलाते हैं । शाक्त्यानामयन भी एक सत्र है । जिसमें प्रतिवर्ष एक सुत्या होती है । यह सत्र ३६ वर्ष में पूरा होता है ।

२—षट्त्रिंशत्संवत्सरं शाक्त्यानां तरसमयाः पुरोडाशाः (कात्यायनश्रौतसूत्रम् अ० २४ कं० ५)

३—देखो पञ्चम अनुवाक का 'अथ व्याकरणम्' ।

४—देखो चतुर्थ अनुवाक का 'अथ व्याकरणम्' ।

पर्वत्येत्यत्र पर्वतमर्हतीत्यस्मिन्नर्थे छन्दोविषये तकाररहितस्य यप्रत्ययस्य विधानात्प्रत्यय-स्वरः। पार्वतेयीत्यत्र ङीषुदात्तः।

जो 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' के अनुसार संहिता में उदात्त हो गया। फलतः उदात्तपरक होने से 'त' को प्रचय नहीं हुआ, अनुदात्ततर हो गया। अतः संहिता में स्वरक्रम यों रहा —अरा॑तयोऽ। पद पाठ में स्वरक्रम यों रहेगा—अरा॑तयः। नञ्-समास में अवग्रह नहीं होता। अतः 'त' और 'य' दोनों ही प्रचित हो गये।

पर्वत्या इति। 'पर्वत्या' शब्द में 'पर्वतमर्हति-पर्वत के योग्य है' इस अर्थ में छन्द में तकाररहित 'य' प्रत्यय के विधान से प्रत्यय स्वर हुआ, अर्थात् 'य' को उदात्त हो गया। भाष्यकार का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि यहां 'छन्दसि च' सूत्र से होनेवाला प्रत्यय 'यत्' नहीं है किन्तु 'य' है, क्योंकि 'यत्' प्रत्यय मानने से 'तित् स्वरितम्' से स्वरित हो जायेगा जो कि 'आद्युदात्तश्च' इस प्रत्यय स्वर का अपवाद है। यद्यपि पूर्व सूत्र से 'यत् की ही अनुवृत्ति आ रही है, तथापि 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' के अनुसार उसे छन्दोविषय में 'तित्' नहीं मानेंगे, 'य' ही मानेंगे। यद्यपि भट्टोजिदीक्षित ने 'छन्दसि च' के 'सादन्र्यम्, त्रिदुध्यम' ये दो उदाहरण दिये हैं। इनमें 'य' मानने से स्वरित नहीं होगा, जबकि इनमें 'य' को स्वरित हुआ है। इसलिए यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रत्यय तो 'तित्' ही होता है। हां कहीं कहीं छन्द में स्वरव्यत्यय भी हो जाता है, जैसाकि 'पर्वत्या' में हुआ। कोई 'दण्डादिभ्यो यः' ऐसा सूत्र मानकर उससे 'छन्दसि च' में 'य' की अनुवृत्ति मानते हैं, परन्तु दीक्षित और शेखरकार दोनों ने ही 'दण्डादिभ्यः' इतना ही सूत्र माना है, और 'दण्डादिभ्यो यः' को अपवाद कहा है। अपवादत्व में 'भाषाविरोध ही मुख्य हेतु है' देखो शेखर मनोरमा। अस्तु। पर्वत्या में आद्युदात्त ही शेष रहा, शेषनिघात व्यवस्था उसी के अनुसार हुई, फलतः पदपाठ में स्वरचिह्न क्रम यों रहा—**पर्वत्या** हां, संहिता में पूर्वोत्तर पदान्तर के साथ संहिता की विवक्षा में स्वरभेद हो जाएगा। 'प' से पूर्व 'धिषणा' शब्द का 'णा' स्वरित है, उससे परे रहने के कारण 'प' को प्रचय हो गया। 'व' को प्रचय नहीं हुआ क्योंकि उसके आगे 'त्या' उदात्त है, अतः 'व' प्रचित न होकर सन्नतर हो गया। फलतः संहिता में स्वरक्रम यों रहा—**पर्वत्या।**

पार्वतेयी इति। 'पार्वतेयी' शब्द में ङीष् (ई) प्रत्यय उदात्त है तात्पर्य यह है कि 'पर्वति' शब्द से 'पर्वतेरपत्यं स्त्री पार्वतेयी' इस अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय हुआ है, 'ढक्' को 'एय' हो गया, आदिवृद्धि हो गई। स्त्रीत्वविवक्षा में 'टिड्ढाणञ्…' इस सूत्र से 'ङीप् हो गया, 'यस्येति च' से 'अ' का लोप होकर 'पार्वतेयी' बन गया। 'पार्वतेय' में एयादेश स्थानिवद्भाव से 'कित्' है, अतः 'कितः' सूत्र से अन्तोदात्त है। 'पार्वतेय+ई' इस अवस्था में 'एय' के उदात्त आकार का 'यस्येति च' से लोप हो गया। ङीप् (ई) यद्यपि पित्त्वादनुदात्त है, तथापि 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः'-जिस अनुदात्त के परे रहते पूर्व उदात्त अक्षर का लोप होता है उस अनुदात्त को उदात्त हो जाता है। इस सूत्र से ङीप् (ई) को उदात्त हो गया। सतिशिष्ट होने से यही शेष रहेगा। शेषनिघात व्यवस्था इसी के अनुसार हुई। प्रारम्भिक स्वरस्थिति यों रही—पार्वतेयी। संहिता में स्वरित से परे रहने के कारण 'पा' और 'व' को प्रचय हो गया। 'ते' को उदात्तपरक होने से प्रचय नहीं हुआ किन्तु सन्नतर (अनुदात्ततर) हो गया। फलतः संहिता में स्वरक्रम यों रहा—पार्वतेयी। पदपाठ में—'पार्वतेयी' ऐसी ही स्थिति रही।

पर्वति शब्द में 'तदर्हति-उसके योग्य है' इस अर्थ में पर्वत शब्द से छान्दस 'इ' प्रत्यय हुआ है। यह प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त है। सतिशिष्ट होने से यही शेष रहेगा। तदनुसार पदपाठ में स्वरस्थिति यों रहेगी—**पर्वतिः**। संहिता में 'प' स्वरित से परे रहने के कारण प्रचित हो गया, 'व' सन्नतर हो गया, क्योंकि उसके आगे 'ति' उदात्त है। फलतः स्वरचिह्नक्रम यों रहा—**पर्वतिः।**

पर्वतिरित्यत्र तदर्हतीत्यस्मिन्नर्थे छान्दस इकारप्रत्ययोऽप्युदात्तः। धान्यशब्दस्य तिल्यशिक्य-मर्त्यकाश्मर्यधान्यकन्याराजन्यमनुष्याणाम् (फि० ७६) इत्यन्त-स्वरितत्वम्। **धिनुही**त्यत्र 'सेर्ह्यपिच्च' (पा० ३।४।८७) इति सिपः स्थान आदिष्टस्य हि शब्दस्य पित्त्वनिषेधात्प्रत्ययस्वरः। यद्यपि विकरणप्रत्यय-स्योकारस्य स्वरः सतिशिष्टस्तथाऽपि व्यत्ययो द्रष्टव्यः।

प्रसितिमित्यत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते तदपवादः 'तादौ च निति कृत्यतौ' (पा० ६।२।५०) तुप्रत्ययव्यतिरिक्ते तकारादौ निति कृति प्रत्यये परतः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुर्वेदीय-तैत्तिरीयसंहिताभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके षष्ठोऽनुवाकः।

धान्य इति। 'धान्य' शब्द में 'तिल्य-शिक्य-मर्त्य-काश्मर्य-धान्य-कन्या-राजन्य-मनुष्याणामत्यन्तस्वरितत्वम्' इस फिट्सूत्र (४।७६) से अन्तिम अक्षर 'र्य' स्वरित है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' से 'धा' अनुदात्त हो गया, अतः संहिता में और पदपाठ में स्वरस्थिति एक जैसी ही रही—**धान्यम्**।

धिनुहि इति। तिङन्त से परे रहने के कारण 'तिङतिङः' से निघात नहीं हुआ। सिप् के स्थान में आदेश 'हि' यद्यपि स्थानिवद्भाव से पित् है, तथापि 'सेर्ह्यपिच्च' में 'अपिच्च' इस निषेध से 'हि' को पित् नहीं माना गया, अतः पित्त्व-मूलक अनुदात्तत्व भी 'हि' को नहीं हुआ। फलतः प्रत्ययस्वर से 'हि' उदात्त हो गया। अतः यही शेष रहेगा और उसी के अनुसार शेषनिघात व्यवस्था होगी। यद्यपि 'धिनुहि' में 'उ' विकरण 'हि' के बाद हुआ है, वह भी प्रत्ययस्वर से उदात्त है, अतः सतिशिष्ट होने से 'हि' में होने वाले प्रत्ययस्वर को बाध लेगा, फलतः 'धिनुहि' यह पद मध्योदात्त सिद्ध होता है, तथापि यहां भाष्यकार के मत से छान्दस स्वरव्यत्यय हो गया, अर्थात् 'उ' विकरण अनुदात्त माना गया। वस्तुतस्तु 'सतिशिष्ट-स्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः' इस वार्तिक में विकरणातिरिक्त सतिशिष्ट को बलवान् माना गया है। अतः विकरणस्वर प्रत्ययस्वर का बाधक नहीं होगा।' 'तास्यनुदात्तेन ङिददुपदेशात् सार्वधातुकमनुदात्तम्' इस सूत्र से ल सार्वधातुक को अनुदात्तत्व विधान करना ही इस बात का ज्ञापक है कि विकरणस्वर प्रत्ययस्वर का बाधक नहीं होता। अन्यथा 'तासि' स्वर से ही लसार्वधातुक को अनुदात्तत्व सिद्ध था, पुनर्विधान क्यों किया? अस्तु, कुछ भी मानो, सर्वथा 'हि' प्रत्यय का स्वर ही शेष रहेगा, तदनुसार ही शेषनिघात-व्यवस्था होगी। फलतः पदपाठ में स्वर क्रम यों रहा—**धिनुहि**। संहिता में 'धि' स्वरित से परे है, इसलिये उसे प्रचय हो गया, 'नु' को सन्नतर हो गया क्योंकि उसके आगे 'हि' उदात्त है। फलतः स्वरक्रम यों रहा—**धिनुहि**।

प्रसितिम् इति। 'प्रसितिम्' प्रसिति शब्द का द्वितीया का एकवचन है। 'षिञ् बन्धने' से क्तिन् हुआ है। यहां सिति' इस क्तिन्नन्त को नित्वात् आद्युदात्त हो गया। 'प्र' निपातत्वात् आद्युदात्त है, दोनों को बांधकर समासस्वर से अन्तोदात्तत्व प्राप्त हुआ उसको बाधकर अव्यय पूर्वपद प्रकृतिस्वर से आद्युदात्तता प्राप्त हुई, उसको भी बाधकर 'कृदुत्तर-पदप्रकृति स्वर से मध्योदात्तता प्राप्त हुई, उसको भी बाधकर 'तादौ च निति कृत्यतौ' तकारादि नकारेत्संज्ञक तु प्रत्यय भिन्न कृत् प्रत्यय यदि परे हो तो अव्यवहित पूर्वगतिसंज्ञक को प्रकृतिस्वर हो जाता है, इस सूत्र से गतिसंज्ञक 'प्र' को प्रकृतिस्वर हो गया अर्थात् आद्युदात्तत्व हो गया। शेषनिघात से स्वर स्थिति यों रही—प्रसितिम् 'सि' को स्वरित हो गया, 'ति' को प्रचय प्राप्त था परन्तु संहिता में उससे परे 'मा' उदात्त है, अतः प्रचय न होकर सन्नतर हो गया। फलतः संहिता में स्वर-स्थिति यों रही—**प्रसितिम्**। पदपाठ में—**प्रसितिमिति प्र-सितिम्**।

कृष्णयजुर्वेदीय-तैत्तिरीय-संहिता के प्रथम-काण्ड में प्रथम-प्रपाठक के षष्ठ अनुवाक पर श्रीसायणाचार्यकृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

॥ श्रीः ॥

कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिता

सायणभाष्यसमेता हिन्द्यनुवादसमेता च

प्रथमाष्टके प्रथमप्रपाठके

सप्तमोऽनुवाकः

ओम् धृष्टिरसि ब्रह्म यच्छ

षष्ठानुवाके पेषणमुक्तम्। यद्यप्यनन्तरं पुरोडाशो निष्पादनीयस्तथाप्यतप्तेषु कपालेषु पुरोडाशस्य श्रपयितुमशक्यत्वात्सप्तमे कपालोपधानमभिधीयते ।

धृष्टिरिति । कल्पः—"धृष्टिरसि ब्रह्मयच्छेत्युपवेषमादाय" (आप० श्रौ० १/२२/२) इति। पलाशशाखामूले छिन्नः प्रादेशमात्र उपवेषः। हे उपवेष त्वमङ्गाराणां घर्षणे समर्थोऽसि। अतो ब्रह्मशब्दोदितं पुरोडाशरूपं देवान्नं प्रयच्छ। धृष्टिशब्दो धैर्यद्योतनायेत्याह—'धृष्टिरसि ब्रह्मयच्छेत्याह धृत्यै' (तै० ब्रा० का० ३/प्र० २/अ० ७) इति।

अपाग्नेऽग्निमामादं जहि निष्क्रव्याद ँ सेधाऽऽदेवयजं वह

अपाग्न इति । कल्पः—'अपाग्नेऽग्निमामादं जहीति गार्हपत्यादाहवनीयाद्वा प्रत्यञ्चावङ्गारौ

सप्तम अनुवाक के सायणभाष्य का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ

षष्ठानु इति । छठे अनुवाक में हवि का पीसना बता दिया गया। यद्यपि हवि के पिस जाने के अनन्तर पुरोडाश निर्माण की बारी आती है, तथापि जब तक कपाल गरम नहीं होंगे तब तक पुरोडाश पकाया नहीं जा सकता, इसलिए सप्तम अनुवाक में पहले कपालोपधान (कपालों का स्थापन) बताया जाता है।

धृष्टिरिति इति । 'धृष्टिरसिब्रह्मयच्छ' इस मन्त्र से उपवेष का ग्रहण करे, पलाश शाखा का निचला भाग काट दिया जाता है। उसे ही उपवेश[1] कहते हैं। यह परिमाण में प्रादेश[2] जितना होता है। **हे इति ।** हे उपवेष ! तू अङ्गारों का घर्षण करने में (इधर उधर फैलाने में) समर्थ है, अतः ब्रह्मशब्द से प्रतिपादित पुरोडाशरूप देवान्न (देवताओं के योग्य अन्न) को हमें दे। 'धृष्टि' शब्द धैर्य को द्योतन करने के लिए है, इसीलिए ब्राह्मण कहता है—'धृष्टिरसि···धृत्यै' इति।

अपाग्ने इति। कल्पसूत्र कहता है कि गार्हपत्य अथवा आहवनीय से दो अंगारों को 'अपाग्ने···मामादं जहि' इस

१—उपवेष से अङ्गारों को इधर उधर सरकाते हैं।

२—अंगूठे और तर्जनी के फैलाने पर अंगूठे के सिर से तर्जनी के सिर तक का प्रदेश 'प्रादेश' कहलाता है।

निर्वर्त्य निष्क्रव्यादꣳसेधेति तयोरन्यतरमुत्तरमपरमवान्तरदेशं वा निरस्याऽऽदेवयजं वहेति दक्षिणमवस्थाप्य' (आप० श्रौ० १/२२/२) इति।

हे गार्हपत्याग्ने योऽग्निः शास्त्रीयं पाकमन्तरेणाऽऽमं द्रव्यमत्ति न तु पाकार्थस्थापितस्य पाकं करोति तमपनय मारय। यश्च लौकिकं मांसमत्ति तमपि निषेधय। यस्तु देवान्यजति तमावह। यथोक्तस्याग्न्यानयनस्य कपालोपधानार्थतां दर्शयन्प्रशंसति—'अपाग्नेऽग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादꣳसेधाऽऽदेवयजं वहेत्याह। य एवाऽऽमात्क्रव्यात्। तमपहत्य। मेध्येऽग्नौ कपालमुपदधाति' (तै० ब्रा० का० ३/प्र० २/अ०७) इति।

नि॑र्दग्ध॒ꣳरक्षो॒ नि॑र्दग्धा॒ अरा॑तयो ध्रु॒वम॑सि पृथि॒वीं दृ॒ꣳहाऽऽयु॑ र्दृ॒ꣳह प्र॒जां दृ॒ꣳह सजा॒तान॒स्मै यज॑माना॒य पर्यू॒॑ह

निर्दग्धमिति। 'निर्दग्धꣳरक्षो निर्दग्धा अरातयो' 'ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳहाऽऽयुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह

मन्त्र से पश्चिम भाग की ओर करके, उनमें से एक को 'निष्क्रव्यादं सेध' इस मन्त्र से उत्तर, पश्चिम अथवा किसी कोने में फेंककर, शेष को 'आ देवयजं वह' इस मन्त्र से दक्षिण की ओर स्थापित करे।

हे इति। हे गार्हपत्य अग्नि! तू इस अग्नि को मार दे—दूर हटा दे, जो शास्त्रबोधित पाक न करके—पाक के लिए स्थापित द्रव्य को न पकाकर—कच्चे द्रव्य को ही खा जाता है और जो अग्नि लौकिक मांस (कच्चे मांस) को खा जाता है उसको भी दूर कर दे, किन्तु जो अग्नि देवताओं का यजन करता है, उसको यहां ले आ।'[1] पूर्वोक्त अग्नि का आनयन (लाना) कपालस्थापन के लिए है—यह दिखाते हुए उसकी (अग्नि के आनयन की) प्रशंसा करता है—'अपाग्ने···कपालोमुपदधाति'। अपाग्ने···इत्यादि ब्राह्मणवाक्य है। इसका तात्पर्य है कि उपवेष के द्वारा गार्हपत्य या आहवनीय कुण्ड से जो अग्नि निकाली गई है, उस पर कपाल रखे जाएंगे, जिससे वे गरम हो जाएं और उन पर रखा हुआ पुरोडाश अच्छी तरह पक जाये और जले नहीं। मेध्य (यज्ञ के योग्य) अग्नि में ही कपाल रखे जाने चाहियें। 'आमाद्' (कच्चा ही अन्न खा जाने वाली) और 'क्रव्याद' (कच्चा मांस खा जाने वाली) अग्नि (अतितेज अग्नि) अमेध्य है—यज्ञ के योग्य नहीं होती।

निर्दग्धमिति इति। संहिता में 'निर्दग्धम्' से लेकर 'पर्यूह' तक दो मन्त्र हैं। पहला मन्त्र 'निर्दग्धम्' से लेकर 'अरातयः' तक है। दूसरा मन्त्र 'ध्रुवमसि से लेकर 'पर्यूह' तक है। इन दोनों मन्त्रों का विनियोग अर्थ[2] क्रम से कल्पसूत्र में

१—वास्तव में मन्त्र का हार्दिक अभिप्राय यह है कि अग्नि अत्यधिक तेज नहीं होनी चाहिये, अत्यधिक तेज अग्नि वस्तु को पकाने के बजाय जला देती है। कपाल इतने ही गरम होने चाहियें कि उन पर रखी हुई हवि जरा भी जले नहीं और अच्छी तरह पक जाये, जला पुरोडाश देवताओं के अयोग्य माना जाता है। पुरोडाश जल जाने पर प्रायश्चित्त भी करना पड़ता है। मन्त्र के तीनों भागों का अन्वय इस प्रकार है—'हे अग्ने! (त्वम्) आमादम् अग्निम् अप जहि। क्रव्यादं निःसेध। देवयजम् आवह।'

२—यद्यपि नियमानुसार जो मन्त्र संहिता में पहले पढ़ा गया है, उसका ही विनियोग पहले बताया जाना चाहिये। 'निर्दग्ध···' इत्यादि मन्त्र ही पहला मन्त्र है, उसका विनियोग ही पहले बताया जाना उचित है, तथापि पाठबोधित क्रम से अर्थबोधितक्रम बलवान् माना जाता है। उपहित (स्थापित) कपाल पर ही तो अग्नि रखी जाती है, इसलिये पहले कपालोपधान होना चाहिये, कपालोपधान समन्त्रक होता है अतः पहले उसी के मन्त्र का विनियोग बताया गया है भले ही पाठ में वह द्वितीय है।

सजातानस्मै यजमानाय पर्यूह्।' इत्येतयोर्मन्त्रयोरर्थक्रमेण विनियोगः कल्पे दर्शितः—'ध्रुवमसीति तस्मिन्मध्यमं पुरोडाशकपालमुपदधाति निर्दग्धꣳरक्षो निर्दग्धा अरातय इति कपालेऽङ्गारमत्याधाय' आप० श्रौ० १/२२/२-३ इति।

हे कपाल त्वं दृढ[1]मस्यतः पृथिव्यादीन्दृढीकुरु। अस्य यजमानस्य ज्ञातीन्परितः सेवकान् कुरु। अस्मिन् कपालेऽवस्थितं रक्षो निःशेषेण दग्धम्। आम्नानक्रमेण निर्दग्धमन्त्रमादौ व्याचष्टे—'निर्दग्धꣳरक्षो निर्दग्धा अरातय इत्याह रक्षाꣳस्येव निर्दहति' (तै० ब्रा० का० ३/प्र० २/अ० ७) इति। कपालानामुपधानं विधत्ते—'अग्निवत्युपदधाति। अस्मिन्नेव लोके ज्योतिर्धत्ते' (तै० ब्रा० का० ३/प्र० २/अ० ७) इति। यथोक्ताङ्गारयुक्ते प्रदेशे कपालमुपदध्यात्[2]। कपालोपर्यन्यस्याङ्गारस्य स्थापनं विधत्ते—'अङ्गारमधिवर्तयति। अन्तरिक्ष एव ज्योतिर्धत्ते' (तै० ब्रा० का० ३/प्र० २/अ० ७) इति। कपालस्याध ऊर्ध्वं च स्थिताभ्यामङ्गाराभ्यां लोकद्वयस्य ज्योतिष्मत्त्वे ततोऽप्यूर्ध्वमङ्गारस्य स्थापनासम्भवाद्दिवो ज्योतिर्न स्यादिति न शङ्कनीयमित्याह—आदित्यमेवा-

बताया गया है। पहले ध्रुवमसि'''पर्यूह' इस मन्त्र से मध्यम[1] पुरोडाश कपाल को रखे। तदनन्तर निर्दग्धं'''अरातयः' मन्त्र से उस कपाल पर अग्नि का अंगारा रखे।

हे कपाल इति। हे कपाल, तू दृढ़ है, इसलिए पृथिवी आदि को दृढ़ बना। आदि पद से यहां मन्त्रोक्त आयु और प्रजा ली गई हैं। अर्थात् पृथिवी की तरह यजमान की आयु और प्रजा (सन्तति) को भी दृढ़कर। इस यजमान की जाति के लोगों को चारों ओर सेवा करने वाला बना। अर्थात् इसके (यजमान के) सजातीय इसके सहायक हों। इस कपाल में अवस्थित राक्षस बिलकुल दग्ध हो जायें। शत्रु[2] भी दग्ध हो जायें।

आम्नान इति। संहिता के क्रम के अनुसार पहले 'निर्दग्धम्' इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान करते हैं। निर्दग्धं[3]''' निर्दहति' इति। 'निर्दग्धम्'''इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करके राक्षसों को जला देता है। कपालों के स्थापन का विधान करते हैं—'अग्नि वत्युप[4]'''ज्योतिर्धत्ते' इति। यथोक्त अङ्गारयुक्त स्थान पर कपालों का स्थापन करे। ऐसा[5] करके (अध्वर्यु) इसी लोक में (पृथ्वी पर) ज्योति का स्थापन करता है। कपाल के ऊपर दूसरे अङ्गार के रखने का विधान करते हैं अङ्गारम्[6]'''ज्योतिर्धत्ते' इति। आग के अंगारे को कपाल के ऊपर रखे। ऐसा[7] करके (अध्वर्यु) अन्तरिक्ष में ज्योति का स्थापन करता है।

कपालस्य इति। कल्पना के नीचे और ऊपर अंगारों का स्थापन करने से दो लोक (पृथ्वी और अन्तरिक्ष) तो ज्योतिष्मान् बन गए, परन्तु उसके[8] भी ऊपर अंगारे की स्थापना की संभावना न होने से, तीसरा द्युलोक तो ज्योतिष्मान्

१. ख. त्वं ध्रुवम २. ख. दधाति। क।

१—अनेक कपाल होते हैं, बीच के कपाल को मध्यम कपाल कहते हैं, सबसे पहले उसी की स्थापना होती है।

२—यह निर्दग्धा अरातयः' का अर्थ है। भाष्यकार ने सुगम होने के कारण नहीं लिखा। कपालों को सूक्ष्म कृमिप्रभाव से शून्य करना भी उन पर अंगारों को रखने का एक प्रयोजन है। वही सूक्ष्म कृमि यहां राक्षस या अराति माने गए हैं।

३—यह ब्राह्मण वाक्य है।

४—'अग्निवत्युपदधाति' इतना अंश तो विधिवाक्य है, शेष अर्थवाद है।

५—'अंगारों के ऊपर कपालों को रखकर—अर्थात् कपालों के नीचे अंगारे रखकर।'

६—'अङ्गारमधिवर्तयति' इतना अंश विधिवाक्य है, शेष अर्थवाद है।

७—कपाल के ऊपर अंगारे को रखकर।

८—कपाल के ऊपर रखे हुए अंगारे के ऊपर।

मुष्मिँल्लोके ज्योतिर्धत्त' (तै० ब्रा० ३/२/७) इति। एतद् वृत्तान्तज्ञानं प्रशंसति—'ज्योतिष्मन्तोऽस्मा इमे लोका भवन्ति। य एवं वेद' (तै० ब्रा० ३/२/७) इति।

धर्त्रम॑स्यन्तरि॑क्षं दृꣳह प्राणं दृꣳहापानं दृꣳह सजातानस्मै यज॑मानाय पर्यू॑ह धरुण॑मसि दिवं॑ दृꣳह चक्षुः॑ (१) दृꣳह श्रोत्रं॑ दृꣳह सजातानस्मै यज॑मानाय पर्यू॑ह धर्मा॑सि दिशो॑ दृꣳह योनिं॑ दृꣳह प्रजां दृꣳह सजातानस्मै यज॑मानाय पर्यू॑ह चित॑ः स्थ प्रजामस्मै रयिमस्मै स॑जातानस्मै यज॑मानाय पर्यू॑ह

धर्त्रमिति। बौधायनः—'अथ पूर्वार्ध्यमुपदधाति धर्त्रमस्यन्तरिक्षं दृꣳह प्राणं दृꣳहापानं दृꣳह सजातानस्मै यजमानाय पर्यूहेत्यथ पराध्यर्मुपदधाति धरुणमसि दिवं दृꣳह चक्षुर्दृꣳह श्रोत्रं दृꣳह सजातानस्मै यजमानाय पर्यूहेत्यथ दक्षिणार्ध्यमुपदधाति धर्मासि दृशो दृꣳह योनिं दृꣳह प्रजां दृꣳह सजातानस्मै यजमानाय पर्यूहेत्यथ पूर्वार्ध्यमुपदधाति चितः स्थ प्रजामस्मै रयिमस्मै सजातानस्मै यजमानाय पर्यूहेति' (बौ० श्रौ० १/८) इति।

नहीं बन सकेगा—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्यों? इसका उत्तर देते हैं—'आदित्यमेव[1]...' इति। द्युलोक में तो आदित्यरूप ज्योति को ही स्थापित करा है। अर्थात् वह द्युलोक आदित्य से ही ज्योतिष्मान् है, अतः[2] तीनों ही लोक ज्योतिष्मान् हैं।

एतद् इति। इस वृत्तान्त के ज्ञान की ब्राह्मण वाक्य प्रशंसा करता है—ज्योतिष्मन्तो इति। जो इस तरह[3] समझता है, उसके लिए तीनों लोक ही ज्योतिष्मान् हो जाते हैं।

धर्त्रमिति इति। बौधायन कहता है मध्यम कपाल की स्थापना के बाद 'धर्त्रमसि···पर्यूह' इस मन्त्र से[4] पूर्व की ओर दूसरा कपाल रक्खे। उसके अनन्तर 'धरुणमसि······पर्यूह' इस मन्त्र से पश्चिम[5] की ओर तीसरा कपाल रक्खे। उसके बाद 'धर्मासि······पर्यूह' इस मन्त्र से दक्षिण की ओर चौथा कपाल रक्खे। उसके अनन्तर इसी चतुर्थ कपाल के पूर्व में 'चितः स्थ······पर्यूह' इस मन्त्र से पांचवां कपाल रक्खे।

आपस्तम्ब कहता है—'धर्त्रमसि ·····' इस मन्त्र से द्वितीय कपाल को मध्यम कपाल के पूर्व की ओर रक्खे और इस तरह रक्खे कि वह पहले रक्खे हुए कपाल से सटा रहे। 'धरुणमसि······' इस मन्त्र से तृतीय कपाल को मध्यम कपाल के पश्चिम की ओर रक्खे। 'धर्मासि······' इस मन्त्र से सातवें कपाल को रक्खे। 'चितः स्थ······' इस मन्त्र से आठवें कपाल को रक्खे।

१—यह ब्राह्मण वाक्य है।

२—कपालों के नीचे ऊपर अग्नि रखने से यज्ञसम्बन्धी प्रयोजन तो सिद्ध होता ही है साथ ही इससे यह बात भी सूचित होती है कि एक ही अमृताग्नि तीनों लोकों में व्याप्त है, कार्यभेद से जिसके अग्नि, वायु और आदित्य ये तीन नाम हो गये हैं। निरुक्त में इनके कामों का विवरण दिया गया है। समस्त वेद इसी अमृताग्नि का विवरण है। समस्त सृष्टि-चक्र इसी पर आधारित है।

३—'तीनों लोक ही ज्योतिष्मान् हैं' ऐसा समझने वाला व्यक्ति।

४—मध्यम कपाल के पूर्व की ओर।

५—मध्यम कपाल के पश्चिम की ओर।

आपस्तम्बः—'धर्त्रमसीति पूर्वं द्वितीयꣳसꣳस्पृष्टं धरुणमसीति पूर्वं तृतीयमिति धर्मासीति सप्तमं चितः स्थेत्यष्टमम्' (आप० श्रौ० १/२२/३) इति।

अग्नि के लिये अष्टाकपाल पुरोडाश तैयार किया जाता है। भाष्यकार ने जो बौधायन और आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र उद्धृत किये हैं, उनसे आठों कपालों को रखने का क्रम स्पष्ट नहीं होता और उद्धृत सूत्रों से यह भी विदित होता है कि सब कपालों का उपधान समन्त्रक नहीं होता, क्योंकि कुछ के लिए न तो संहिता में ही मन्त्र दिये गये हैं और न ही उद्धृत सूत्रों में। हमने आपस्तम्ब श्रौतसूत्र उठाकर देखा तो विदित हुआ कि भाष्यकार ने कपालोपधान सम्बन्धी सूत्र पूरा उद्धृत नहीं किया है। सूत्र का कुछ आदि का भाग और कुछ अन्त का भाग उद्धृत किया है, मध्य का भाग छोड़ दिया है। जो अंश छोड़ा गया है, वह यह है—'विदसि विश्वासु दिक्षु सीदेति मध्यमाद् दक्षिणम्, परिचिदसि विश्वासु दिक्षु सीदेति मध्यमाद् उत्तरम्, यथायोगमितराणि, मरुतां शर्धोऽसीति षष्ठम्' इति। इसे छोड़ने का कारण यह प्रतीत होता है कि इन सूत्रों में अवशिष्ट तीन कपालों के लिये मन्त्र दिये गये हैं जो कि संहिता में नहीं हैं। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र से और बौधायन श्रौतसूत्र से कम-से कम प्रथम पांच कपालों के उपधान का क्रम तो प्रतीत हो जाता है। शेष छठे, सातवें और आठवें के लिये आपस्तम्ब ने कह दिया है कि 'यथायोगमितराणि' अर्थात् इनको पुरोडाश निर्माण की सुविधा को ध्यान में रखकर जहां जैसे चाहो रख लो। कपालोपधान के क्रम में बौधायन और आपस्तम्ब में थोड़ा मतभेद भी है, जिसे हम चित्र द्वारा नीचे प्रकट करते हैं। बौधायन पञ्चम को चतुर्थ के पूर्व में बताता है। जब कि आपस्तम्ब पञ्चम को मध्यम के उत्तर में बताता है।

बौधायन के मत से पांच कपालों का क्रम

पूर्व

		२	५	
उत्तर		मध्यम १	४	दक्षिण
		३		

पश्चिम

आपस्तम्ब के मत से पांच कपालों का क्रम

पूर्व

		२		
उत्तर	५	मध्यम १	४	दक्षिण
		३		

पश्चिम

यद्यपि आपस्तम्ब ने द्वितीय तृतीय कपाल के लिये लिखा है 'धर्त्रमसीति पूर्वं द्वितीयं' धरुणमसीति पूर्वं तृतीयम्। हमें इस पाठ में संदेह होता है, दोनों के लिये पूर्वं लिखने का तात्पर्य होगा कि 'मध्यम से पूर्व द्वितीय' और द्वितीय से पूर्व तृतीय। ऐसा मानने पर प्रथम कपाल मध्यवर्ती नहीं रह सकता। प्रथम कपाल के मध्यवर्ती होने में सबका ऐकमत्य है। इस-लिये 'धरुणमसीत्यपरं तृतीयम्' ऐसा पाठ रहा होगा। ऐसा मान लेने से द्वितीय तृतीय और चतुर्थ के सम्बन्ध में बौधायन और आपस्तम्ब में ऐकमत्य हो जाता है। विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा ने कपालोपधान का क्रम इस प्रकार लिखा है। यह क्रम शतपथ और कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार है।

तत्र धर्त्रधर्मधरुणशब्दा धारकत्वं ब्रुवन्तो दृढत्वं लक्षयन्ति। हे अष्टम कपाल, त्वमुपचित रूपोऽसि। ततो यजमानस्य प्रजादिकं परितः सम्पादय। प्रजादेः प्रत्येकमुपचयविवक्षया पृथग्वाक्यत्वं द्योतयितुमस्मा इति पदस्याऽऽवृत्तिः। चितः स्थेति बहुवचनमादरार्थम्। क्रमेण मन्त्रान् व्याचष्टे—

पूर्व

उत्तर				दक्षिण
		३	५	
उत्तर	८	मध्यम १	४	दक्षिण
	७	२	६	

पश्चिम

आपस्तम्ब के मत से चौथे कपाल के लिये मन्त्र है—'चिदसि विश्वासु दिक्षु सीद'—इति। पांचवें के लिये है—'परिचिदसि विश्वासु दिक्षु सीद'—इति। छठे कपाल का मन्त्र है 'मरुतां शर्धोऽसि'—इति। आगे चलकर पक्षान्तर बताते हुए आपस्तम्ब ने लिखा है—'धर्त्रमसीति तस्मादपरम्' 'धरुणमसीति तस्मात् पूर्वम्।' अर्थात् 'धर्त्रमसि' से द्वितीय को मध्यम के पश्चिम में और 'धरुणमसि' से तृतीय को मध्यम के पूर्व में रक्खे। इससे 'अपरम्' यही पाठ ठीक प्रतीत होता है।

तत्र इति। पूर्वोक्त[1] मन्त्रों में धर्त्र, धरुण और धर्त्र शब्द वस्तु की धारकता को बताते हुए उसकी (वस्तु की कपाल की) दृढता को लक्षित करते हैं—जो दृढ है, वही धारक हो सकता है।

हे इति। हे अष्टम कपाल! तू उपचित रूप वाला है अर्थात् तेरा शरीर बृहत् और परिपुष्ट है। इसलिये यजमान की प्रजा (सन्तति) आदि का चारों ओर से सम्पादन कर आदि पद से मन्त्रोक्त धन (रयि) और सजाति (सजात) लिए गये हैं। अर्थात् यजमान के धन की और उसके सजातीय लोगों की भी चारों ओर वृद्धि कर। मन्त्र में "अस्मै" पद अनेक बार आया है, उसका प्रयोजन बताते हैं—**प्रजादेः** इति। प्रजा आदि में प्रत्येक के उपचय (वृद्धि) की विवक्षा से मन्त्र में पृथक् पृथक् वाक्य-कल्पना करनी चाहिये इस बात को सूचित करने के लिए "अस्मै" इस पद की आवृत्ति की गई है। तात्पर्य यह है कि मन्त्र में—"अस्मै यजमानाय प्रजां पर्यूह, 'अस्मै यजमानाय रयिं पर्यूह' "अस्मै यजमानाय सजातान् पर्यूह', इस प्रकार अनेक वाक्यों की कल्पना करो। इस पृथक् वाक्य कल्पना से प्रतीत होता है कि कपाल से (कपाल के अधिष्ठातृ देवता से) यह प्रार्थना की गई है कि यजमान सम्बन्धी इस सब वस्तुओं की पृथक्-पृथक् वृद्धि करो। 'चितः स्थ' यह बहुवचन आदर के लिये

१—'धर्त्रमसि', 'धरुणमसि'······धर्मासि···' इन तीनों मन्त्रों का व्याख्यान भाष्यकार ने नहीं किया। इन मंत्रों में 'धर्त्र', 'धरुण' और 'धर्मन्' शब्द ही कठिन थे, उनका अर्थ बता दिया, शेष को सुगम समझकर छोड़ दिया। इन मन्त्रों का अर्थ 'ध्रुवमसि' इस मन्त्र के समान ही है, जिसका व्याख्यान भाष्यकार पहले कर चुके हैं। आपस्तम्ब के मत से 'धर्त्रमसि' 'धरुणमसि' ये दोनों मन्त्र क्रमशः द्वितीय और तृतीय कपालों के और 'धर्मासि, 'चितः स्थ' ये दोनों मन्त्र क्रमशः सप्तम और अष्टम कपालों के लिए हैं।

'ध्रुवमसि पृथिवीं दृꣳहेत्याह पृथिवीमेवैतेन दृꣳहति । धर्त्रमस्यन्तरिक्षं दृꣳहेत्याह। अन्तरिक्षमेवैतेन दृꣳहति। धर्मासि दिशो दृꣳहेत्याह। दिश एवैतेन दृꣳहति। (तै० ब्रा० ३/२/७) इति। उपसंहरति— 'इमानेवैतैर्लोकान् दृꣳहति' (तै० ब्रा० ३/२/७) इति।

एतद् वेदनं प्रशंसति— 'दृꣳहन्तेऽस्मा इमे लोकाः प्रजया पशुभिः। य एवं वेद' (तै० ब्रा० ३/२/७) इति। सर्वत्र विधेयार्थं केनापि प्रकारेण स्तुत्वा श्रद्धोत्पादनीयेति व्युत्पादयितुं कपालोपधानं बहुधा स्तौति तत्रायमेकः प्रकारः—'त्रीण्यग्रे कपालान्युपदधाति। त्रय इमे लोकाः। एषां लोकानामाप्त्यै' (तै० ब्रा० ३/२/७) इति। मध्यमपूर्वापरकपालगतं त्रित्वमपि प्रशस्तम्। अथापरः प्रकारः—'एकमग्रे कपालमुपद-

---

है। तात्पर्य यह है कि जिस कपाल को संबोधन करके मन्त्र पढ़ा जा रहा है, वह तो केवल एक है, एक के लिये एक वचन का ही प्रयोग होना चाहिये। परन्तु मन्त्र में 'चितः[1] स्थ' यह बहुवचन है, ऐसा क्यों? इसका ऊत्तर है—जहां आदर का भाव प्रकट करना होता है, जैसे—'गुरवः आगताः'—'गुरु जी आ गए हैं'—इस वाक्य में 'गुरवः' बहुवचन है, गुरु तो एक ही है, एक वचन होना चाहिये था—'गुरु आगतः'—'गुरु आ गया'—ऐसा कहना चाहिये था, परन्तु एक वचन नहीं कहा गया। गुरु के प्रति आदर का भाव प्रकट करने के लिये बहुवचन का ही प्रयोग किया गया।

क्रमेण इति। क्रमशः मन्त्रों का व्याख्यान[2] करते हैं—ध्रुवमसि पृथिवीं······दिश एवैतेन दृ...हति' इति। अर्थात् 'ध्रुवमसि······' इत्यादि चार मन्त्रों का उच्चारण करके पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और दिशाओं को दृढ़ किया जाता है।

उपसंहरति इति। उपसंहार में कहते हैं—'इमाने······दृ···हति' इति। इन (पूर्वोक्त) मन्त्रों से इन्हीं (पृथिव्यादि) लोकों को दृढ करता है।

एतद् इति। पूर्वोक्त मन्त्रों के अभिप्राय को जानने वाले की प्रशंसा करते हैं—'दृꣳहन्ते······य एवं वेद' इति। जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है—अर्थात् मन्त्राभिप्राय को जानकर कपालोपधान करता है उसके (यजमान के) ये लोक प्रजा और पशुओं के साथ दृढ होते हैं।

सर्वत्र इति। सब स्थलों में विधेय अर्थ की किसी भी प्रकार से स्तुति करके श्रद्धा का उत्पादन करना चाहिये, इस बात को समझाने के लिये कपालोपधान की अनेक प्रकार से ब्राह्मण ग्रन्थों में स्तुति की गई है। **तत्र** इति। उन प्रकारों में एक प्रकार यह है—'त्रीणि······आप्तयै' इति। ये तीन ही लोक हैं, इनकी प्राप्ति के लिये पहले तीन कपालों का उपधान करता है। मध्यम[3], पूर्व और पश्चिम तीनों कपाल प्रशस्त हैं। अब दूसरा प्रकार सुनिये—'एकम······पुरुषस्य शिरः' इति। पहले एक (मध्यवर्ती) कपाल का उपधान (स्थापन) करता है, क्योंकि पहले (उत्पत्ति के समय) पुरुष का एक ही कपाल संभव है, अनन्तर क्रमशः दो, तीन, चार और आठ हो जाते हैं।

१—तकारान्त 'चित्' शब्द का प्रथमा का बहुवचन है। 'स्थ' अस् धातु का वर्तमान काल में मध्यम पुरुष का बहुवचन है।

२—यद्यपि मन्त्रों का व्याख्यान भाष्यकार ने कर दिया, तथापि वह व्याख्यान कपोल कल्पित नहीं है, अपितु ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार हैं, इस बात को बताने के लिये ब्राह्मण वाक्य उद्धृत करते हैं।

३—ऊपर के वाक्य में जो तीन कपाल बताये गये हैं, वे ही ये मध्यम, पूर्व और पश्चिम कपाल हैं।

४—यद्यपि प्रत्यक्ष में उत्पत्ति से लेकर अन्त तक कपाल एक ही दीखता है, तथापि क्रमशः उन्हें दो, तीन, चार आदि बताने का तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति के समय कपाल (खोपड़ी) का चमड़ा पृथक् करके देखा जाए तो साधारणतया कपाल

धाति । एकं वा अग्रे कपालं पुरुषस्य संभवति । अथ द्वे । अथ त्रीणि । अथ चत्वारि । अथाष्टौ । तस्मादष्टाकपालं पुरुषस्य शिरः' (तै० ब्रा० ३/२/७) इति । प्रथमं ध्रुवमसीत्येकं कपालमुपधीयते । ततो धर्त्रमसीत्यनेन सह द्वे । धरुणमसीत्यनेन सह त्रीणि । धर्मासीत्यनेन सह चत्वारि । ततः केषाञ्चिन्मते चितः स्थेत्यनेनैवोपरितनानि चत्वारीत्यष्टौ भवन्ति । पुरुषस्यापि गर्भे प्रथमं शिरोरूपमखण्डं कपालमुत्पद्यते । पश्चात्क्रमेण

प्रथमम् इति । पहले 'ध्रुवमसि' इत्यादि मन्त्र से केवल एक (मध्यम) कपाल का उपधान किया जाता है । तदनन्तर 'धर्त्रमसि······' इस मन्त्र से दूसरे कपाल का उपधान होता है, वे दोनों मिलकर दो हो जाते हैं । 'धरुणमसि······' इस मन्त्र से उपहित होने वाले कपाल के साथ तीन हो जाते हैं । 'धर्मासि······' इस मन्त्र से उपहित होने वाले कपाल के साथ चार हो जाते हैं । तदनन्तर किन्ही के मत में आगे (अवशिष्ट) चार कपालों का उपधान 'चितः स्थ' इसी एक मन्त्र से कर दिया जाता है, इस प्रकार सब मिलकर आठ हो जाते हैं । पुरुष का भी गर्भ में शिरः कपाल पहले एक ही होता है, उसमें खण्ड प्रतीत नहीं होते । पीछे से क्रमशः रेखाओं के द्वारा उसमें आठ खण्ड हो जाते हैं ।

कपालेषु इति । इस प्रकार कपालगत संख्या की स्तुति करके अब कपालोपधान की स्तुति करते हैं—'यदेवं[1]······परैति' इति । उपधानेन इति । उपाधान के द्वारा कपालों के संस्कृत हो जाने पर उन संस्कृत कपालों के द्वारा उनसे (संस्कृत कपालों से) साध्य यज्ञ भी संस्कृत हो जाता है । यज्ञ के द्वारा यज्ञ को उत्पन्न करने वाले प्रजापति का भी संस्कार हो जाता है । उस कपाल, यज्ञ और प्रजापति के संस्कार से स्वयं यजमान भी संस्कृत हो जाता है, तब फल देने के लिए उसके पीछे-पीछे यज्ञ प्रजापति का रूप धारण करने वाला कोई देवता जाता है । **अपर** इति । कपालोपधान की स्तुति का दूसरा प्रकार बताते हैं—'यदष्टा······बहुलान् करोति' इति । आग्नीध्र[2] जो आठ कपालों का उपधान करता है, वह इस कपालोपधान को गायत्री[3] छन्द के समान करता है । इसी प्रकार जो नौ कपालों का उपधान करता है, वह उसको त्रिवृत्-स्तोम के समान बनाता है । त्रिवृत्' शब्द 'स्तोम'[4] का वाचक है । और वह 'स्तोम' ''उपास्मै गायतानर······' इत्यादि नौ ऋचाओं

चारों ओर से एक ही दीखता है, परन्तु ध्यानपूर्वक पीछे से देखने पर क्रमशः रेखाओं द्वारा आठ तक विभाग हो जाता है । ऐसा प्रतीत होता है कि सिर में आठ जोड़ हैं, आठ कपालों से यह एक सिर बना है । यद्यपि प्रत्यक्ष में यज्ञ संबंधी मिट्टी के कपालों का और मनुष्य के कपालों का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, तथापि यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि वेदविहित सकल यज्ञ प्राकृत यज्ञ के अनुकरण रूप हैं । प्राकृत यज्ञ तीन प्रकार का है—प्राणयज्ञ, प्राणियज्ञ, और भूतयज्ञ । प्राणयज्ञ को आधिदैविक यज्ञ, प्राणियज्ञ को आध्यात्मिक यज्ञ और भूतयज्ञ को आधिभौतिक यज्ञ भी कहते हैं ।

१—इस ब्राह्मण का व्याख्यान माधवाचार्य ने स्वयं किया है । व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद हम कर ही रहे हैं अतः उसी अनुवाद में इन ब्राह्मण वाक्यों का अनुवाद भी आ जाता है ।

२—कपालोपधान आग्नीध्र नामक ऋत्विज् का काम है—ऐसा कात्यायन श्रौतसूत्र में लिखा है ।

३—गायत्री छन्द के प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर होते हैं, इसलिये आठ कपालों का उपधान गायत्री छन्द के समान है ।

४—वस्तुतस्तु त्रिवृत् शब्द स्तोम विशेष का वाचक है । स्तोम त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश आदि भेद से अनेक प्रकार का है । स्तोमों का विस्तृत विवरण इस महाग्रन्थ की भूमिका में पढ़िये या स्वर्गीय विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा जी के यज्ञ सम्बन्धी ग्रन्थ देखिये । त्रिवृत् शब्द का मौलिक अर्थ है त्रिगुणित तीन (३ × ३) । अर्थात् नौ । इसलिए त्रिवृत् शब्द का अर्थ है 'नवस्तोम' । यह 'नवस्तोम' वेद में त्रिवृत् शब्द से व्यवहृत हुआ है । संक्षेप में स्तोम के स्वरूप को यों समझ सकते हैं—वैदिक परिभाषा के अनुसार प्रत्येक वस्तुपिण्ड से किरणों के रूप में वाक्तत्त्व निकला करता है, वह अपनी सहस्र (१०००) किरणों से एक मण्डल बनाता है । इस मण्डल को तीस तीस किरणों से तेंतीस भागों में

रेखाभिरष्टधा भिद्यते। कपालेषु संख्यां स्तुत्वा तदुपधानं स्तौति—'यदेवं कपालान्युपदधाति। यज्ञो वै प्रजापतिः। यज्ञमेव प्रजापतिꣳसꣳस्करोति। आत्मानमेव तत्सꣳस्करोति। तꣳसꣳस्कृतमात्मानम्। अमुष्मिल्लोकेऽनुपरैति" (तै० ब्रा० ३/२/७) इति।

उपधानेन कपालेषु संस्कृतेषु तद् द्वारा तत्साध्यो यागः संस्क्रियते। यज्ञद्वारा तत्स्रष्टुः प्रजापतेः संस्कारः। तेन कपालयज्ञप्रजापतिसंस्कारेण तेषां संस्कृतत्वाद्यजमानः स्वयं संस्कृतो भवति। तं च संस्कृतं स्वर्गे[1] लोके गच्छन्तमनु फलदानाय यज्ञः प्रजापतिरूपधारी कश्चिद्देवो गच्छति। अपरः प्रकारः- 'यदष्टावुपदधाति। गायत्रिया तत्समितम्। यन्नव। त्रिवृता तत्। यद्दश। विराजा तत्। यदेकादश। त्रिष्टुभा तत्। यद्द्वादश जगत्या तत्। छन्दः सम्मितानि स उपदधत्कपालानि। इमाँल्लोकाननुपूर्वं दिशो विधृत्यै दृꣳहति। अथाऽऽयुः प्राणान् प्रजां पशून् यजमाने दधाति। सजातानस्मा अभितो बहुलान् करोति' (तै० ब्रा० ३/२/७) इति।

त्रिवृच्छन्दः स्तोमवाची। स च स्तोम उपास्मै गायता नर इत्याद्यृग्भिर्नवभिः सम्पद्यते। छन्दः

के द्वारा सम्पन्न होता है। जो दस कपालों का उपधान करता है, वह उसे विराट्[1] छन्द के समान बनाता है। जो ग्यारह कपालों का उपधान करता है, वह उसें त्रिष्टुप्[2] छन्द के समान बनाता है। जो बारह कपालों का उपधान करता है, वह उसे जगती[3] छन्द के समान करता है। छन्दों के समान कपालों का उपधान करते हुए वह दिशाओं को धारण करने के लिए अथवा दिशाएं थमीं रहें इसलिये—क्रमशः इन (पृथिवी आदि) लोकों को दृढ बनाता है। 'छन्दः'[4] शब्द स्तोम का भी उपलक्षक है और यजमान को आयुष्मान्, प्राणवान् (शक्तिवान्) प्रजावान् (पुत्रपौत्रादियुक्त) और पशुमान् बनाता है। और चारों ओर उसके सजातियों की वृद्धि करता है।

त्रिवृत् शब्द स्तोम का वाचक है और वह 'उमास्मै गायतानर······इत्यादि नौ ऋचाओं सें सम्पन्न होता है छन्द शब्द भी स्तोम का उपलक्षक है। **गायत्री** इति। गायत्री, विराट्, त्रिष्टुप् और जगती इन छन्दों के साथ आठ आदि[5] अक्षर संख्याओं का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। उस संख्या के कारण ही कपालोपधान में छन्दों की समानता है।

---

१. **क. स्वर्गलोकं ग ग. स्वर्गलोके**

विभक्त कीजिये। प्रत्येक भाग अहर्गण कहलाता है। इस प्रकार नौ सौ नव्वे (९९०) किरणों के ३३ अहर्गण बनते हैं। शेष दस किरणों का चौतीसवाँ न्यून अहर्गण है, जिसे चौतीसवाँ प्रजापति भी कहते हैं। इनमें नौ अहर्गणों का पहला गण त्रिवृत् स्तोम कहलाता है, नौ में तीन तो मूलाधार हैं उनमें क्रमशः छह छह अहर्गण और मिलाते जाइये और त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश आदि स्तोम बना लीजिये।

१—विराट् छन्द के एकपाद में दस अक्षर होते हैं।

२—त्रिष्टुप् छन्द के एक पाद में ग्यारह अक्षर होते हैं।

३—जगती छन्द के एक पाद में बारह अक्षर होते हैं।

४—उपक्रम में 'यन्नव त्रिवृता तत्' इस वाक्य से कपालोपधान में त्रिवृत् स्तोम सादृश्य भी बताया गया है परन्तु उपसंहार में 'छन्दः सम्मितानि' इस वाक्य में केवल छन्दों की ही चर्चा की गई है, ऐसा क्यों? उपक्रम और उपसंहार में एकता होनी चाहिये। इसी शङ्का का समाधान करने के लिये लिखा गया कि छन्दः शब्दश्च······इति। अर्थात् छन्दः शब्द भी स्तोम को उपलक्षित करता है।

५—आदि पद से दस, ग्यारह और बारह संख्याएँ ली जाती हैं।

शब्दश्च स्तोममप्युपलक्षयति। गायत्रीविराट् त्रिष्टुब्जगतीनां चाष्टत्वाद्यक्षरसंख्या प्रसिद्धा। तया संख्यया छन्दः सादृश्यम्।

नन्वत्राग्नेयस्याष्टौ कपालान्यग्नीषोमीयस्य चैकादश न तु नवादिसंख्या लभ्यत इति चेद्बाढम्। तथाऽपि संख्याऽन्यत्र विद्यमाना प्रसङ्गादिह स्तूयते। त्रयोदशादिसंख्या न क्वाप्यस्ति। एकादिका सप्तपर्यन्ता संख्याऽन्यत्रास्तीति चेत्तर्हि तस्या अप्यनेन न्यायेन स्तुतिरुन्नेया।

ईदृशानि कपालान्युपदधानोऽध्वर्युरनुक्रमेण। पृथिव्यादि लोकान् प्रागादिदिशश्च दृढीकरोति। लोकबुद्ध्या कपालानां स्थापितत्वात्। अत इदमुपधानं लोकवृद्ध्यै भवति। किञ्चाऽऽयुरादीन् भ्रातृ-पुत्रांश्च यजमाने सम्पादितवान् भवति। क्रमप्राप्ते मन्त्रे स्पष्टार्थत्वं दर्शयति—'चितः स्थेत्याह। यथा यजुरेवैतत्' (तै० ब्रा० ३/२/७) इति।

नन्वत्र इति। शङ्का—यहां प्रकृत में आग्नेय[1] याग में आठ कपाल, अग्नि और सोम-सम्बन्धी (अग्निषोमीय) याग में ग्यारह कपाल तो श्रुतिविदित हैं, किन्तु नौ आदि संख्या की तो यहां चर्चा ही नहीं है, अर्थात् उसको स्तुति तो यहां सर्वथा अप्रासङ्गिक है। समाधान—ठीक है, यद्यपि प्रकृत में कपाल सम्बन्ध से नौ, दस और बारह संख्याएँ नहीं बताई गई हैं, तथापि वे अन्यत्र श्रुत हैं, यह संख्या की स्तुति का प्रसंग था, इसलिये उनकी भी स्तुति कर दी गई। त्रयोदश (तेरह) आदि संख्या कपाल सम्बन्ध से कहीं भी नहीं बताई गई, अतः उसकी स्तुति यहां नहीं की गई। **एका** इति। शङ्का—यदि अन्यत्र विद्यमान संस्थाओं की स्तुति है तो एक[2] से लेकर सात तक की भी संख्या अन्यत्र कपाल की बताई गई है, इसलिए उन संख्याओं की भी स्तुति यहां की जानी चाहिये थी, क्यों नहीं की गई? **तर्हि** इति। उत्तर—इसी न्याय से उन संख्याओं की भी स्तुति की कल्पना कर लेनी चाहिये। अर्थात् यह मान लो कि आठ आदि संख्याओं की स्तुति एकादि सप्तपर्यन्त संख्या की स्तुति को भी सूचित करती है।

ईदृशानि इति। ऐसे कपालों का उपधान करके अध्वर्यु[3] क्रमशः पृथिवी आदि लोकों को और पूर्व आदि दिशाओं को दृढ करता है। क्योंकि लोकवृद्धि से ही कपालों का स्थापन किया गया है। इसलिए यह उपधान लोकवृद्धि के लिए ही होता है। इतना ही नहीं, अध्वर्यु ऐसा करके यजमान की आयु[4] आदि को और भाइयों तथा पुत्रों को भी सम्पादित करता है—अर्थात् यजमान को आयुष्मान्, प्राणवान्, पशुमान्, भ्रातृमान् और पुत्रवान् बनाता है।

क्रम इति। क्रम प्राप्त मन्त्र में स्पष्टार्थता दिखाते हैं—'चितःस्थ···यजुरेवैतत्' इति। चित.स्थ···इत्यादि मन्त्र[5] के विषय में कोई विशेष वक्तव्य नहीं है, यजु के (मन्त्र के) शब्दों से जो बात प्रतीत होती है, वही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है।

१—'आग्नेयोऽष्टा कपालो भवति—'अग्निषोमीय एकादश कपालो भवति'—इत्यादि वचनों के आधार पर पौर्णमासेष्टि में दो ही हवि होती हैं एक अग्नि देवताक दूसरी अग्नीषोम देवताक अग्निदेवताक पुरोडाश आठ कपालों में पकाया जाता है और अग्नीषोम देवताक पुरोडाश ग्यारह कपालों में पकाया जाता है।

२—यहीं 'प्रथमं ध्रुवमसीत्येकं कपालमुपधीयते, ततो धर्त्रमसीत्यनेन सह द्वे, धरुणमसीत्यनेन सह त्रीणि, धर्मासीत्यनेन सह चत्वारि' इत्यादि विनियोगों में एकादि संख्याएँ कपाल की बताई गई हैं।

३—तैत्तिरीय शाखा सम्बन्धी सूत्रों के अनुसार कपालोपधान अध्वर्यु का ही कार्य है।

४—आदि पद से पूर्वोक्त प्राण आदि लेना।

५—मन्त्र का अर्थ पहले लिखा जा चुका है।

भृगू॑णामङ्गि॑रसां तप॑सा

भृगूणामिति । कल्पः—'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमिति वेदेन कपालेष्वङ्गारानध्यूह्य' (आप० श्रौ० १/२३/६) इति । हे कपालानि, देवतातपोरूपेणा नेनाग्निना तप्तानि भवत । इममेवार्थं दर्शयति—'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमित्याह । देवतानामेवैनानि तपसा तपति' (तै० ब्रा० ३/२/७) इति) ।

यानि॑ घ॒र्मे क॒पाला॑न्युपचि॒न्वन्ति॑ वे॒धसः॑ इ॒न्द्रवा॒यू वि मु॑ञ्चताम् ॥२॥

यानीति । अयं मन्त्रो यद्यपि याग समाप्तौ पठनीयस्तथापि कपाल प्रसङ्गादिहाम्नातः । तद्विनि-

---

भृगूणामिति इति । कल्प[1] इति । भृगूणाम्'''तप्यध्वम्' इस मन्त्र से वेद के (कुशमुष्टि के) द्वारा कपालों पर अङ्गारों को रक्खे । हे कपालानि[2] इति । हे कपालो ! तुम भृगु और अङ्गिरस्[3] देवताओं के तपरूपी इस अग्नि से तप जाओ—खूब गरम हो जाओ ।

इममेव इति । इसी तात्पर्य को ब्राह्मण वाक्य भी स्पष्ट करता है—'भृगूणां'''तपसातपति' इति । 'भृगूणाम्' इ''' इस मन्त्र का उच्चारण करके देवताओं के ही तप से इन (कपालों) को तपाता है ।

यानीति इति । यह मन्त्र[4] यद्यपि यज्ञ की समाप्ति पर पढ़ा जाता है तथापि कपालों का प्रसङ्ग होने से इसे भी

१—भाष्यकार श्रौतसूत्र और ब्राह्मण के आधार पर ही मन्त्र का अर्थ लिखते हैं । सबसे पहले वे मन्त्र का विनियोग लिखते हैं, विनियोग को भी वे अपने शब्दों में नहीं लिखते । किन्तु 'कल्पः' लिखकर बौधायन अथवा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र को उद्धृत कर देते हैं, उस सूत्र का तात्पर्य विनियोग बताने में ही होता है । इसलिए जहां भी 'कल्पः' आवे तो वहां पाठक समझ लें कि भाष्यकार बौधायन अथवा आतस्तम्ब श्रौतसूत्र को उद्धृत कर रहे हैं । श्रौतसूत्र को ही कल्प कहा जाता है ।

२—यह मन्त्रार्थ है ।

३—'भृगु' शब्द का अर्थ है 'सोम' और 'अङ्गिरा' का अर्थ है 'अग्नि' । अग्नि शब्द का यहां उस स्थूल अग्नि में तात्पर्य नहीं है जो हमारे दैनिक व्यवहारों का अङ्ग है, किन्तु यह सूक्ष्म प्राण-विशेष है । इस समस्त जगत् की उत्पत्ति अग्नि और सोम के संयोग से ही होती है । वेद में प्राणों को देवता शब्द से ही कहा गया है, इसीलिये भाष्यकार ने इन्हें देवता शब्द से ही कहा है । इनका तप क्या है ? इसका उत्तर यह है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है—**एतद् वै तप इत्याहुर्यत्स्वं ददाति**—'अपने को अर्पण कर देना ही तप है ।' कायक्लेश रूप तप से यहां तात्पर्य नहीं है । ओषजन (औक्सिजन) और अब्जन (हाइड्रोजन) के परमाणुओं के संयोग से जल बनता है—इसका तात्पर्य यही है कि ओषजन और अब्जन ने जल की उत्पत्ति के लिये अपने को अर्पण कर दिया । वैदिक परिभाषा के अनुसार हम कह सकते हैं कि ओषजन और अब्जन के तप से जल की उत्पत्ति हुई । इसी प्रकार अङ्गिरा (प्राणरूप अग्नि) और भृगु (सोम) के संयोग से स्थूल रूप अग्नि की उत्पत्ति हुई है । अर्थात् प्राणरूप अग्नि और सोम ने इस स्थूल अग्नि की उत्पत्ति के लिये आत्मार्पण रूप तप किया । इसीलिये भाष्यकार ने इस स्थूल रूप अग्नि को देवताओं का तप कहा ।

४—यानि धर्मे कपालानि'''इन्द्रवायू विमुञ्चताम्' यह सप्तम अनुवाक का अन्तिम मन्त्र ।

योगः सूत्रे दर्शितः—'यानि धर्मे कपालानीति चतुष्पदयर्चा कपालानि विमुच्य संख्यायोद्वासयति संतिष्ठेते दर्शपूर्णमासौ' (आप० श्रौ० ३/१४/४-५) इति। अध्वर्युरूपा वेधसो यानि धर्मे कपालान्यादीप्ते वह्नौ ध्रुवमसीत्यादि मन्त्रै रुपस्थापितवन्तः। पूजार्थं बहुवचनम्। तादृशान्यपि कपालानि विमोक्तुं समर्थाविन्द्र वायू पोषकस्य यजमानस्य यागरूपे व्रते समाप्ते सति विमुञ्चताम्। अनेक गुण विशिष्टं विमोकं विधत्ते—'तानि ततः संस्थिते। यानि धर्मे कपालान्युपचिन्वन्ति वेधस इति चतुष्पदयर्चा विमुञ्चति। चतुष्पादः पशवः। पशुष्वेवोपरिष्टात्प्रतितिष्ठति' (तै० ब्रा० ३/२/७) इति।

यहां ही (सप्तम अनुवाक में ही) लिख दिया गया। तात्पर्य यह है कि सप्तम अनुवाक में कपालोपधान के मन्त्र लिखे गये हैं, प्रकृत मन्त्र कपाल[1] विमोक का है। कपालविमोक यज्ञ की समाप्ति पर किया जाता है, अतः दर्शपूर्णमासेष्टि प्रकरण जहां समाप्त होता है, वहीं इसे लिखना चाहिये था। तथापि कपाल सम्बन्धी होने के कारण कपालोपधान के मन्त्रों की तरह इसे[2] भी यहीं[3] पढ़[4] दिया गया।

तदिति। यानि···'इत्यादि मन्त्र का विनियोग कल्पसूत्र में बताया गया है—यानि···इति। जब दर्श और पूर्णमास इष्टियां समाप्त हो चुकी हैं, तब अध्वर्यु 'यानि धर्मे कपालानि···'इत्यादि चतुष्पाद् (अनुष्टुप् छन्द की) ऋचा से कपालों को पृथक् करके गिनकर बाहर निकाल लेता है। **अध्वर्यु इति।** अध्वर्यु[5] रूप ब्रह्मा ने जिन कपालों को 'ध्रुवमसि' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा प्रदीप्त आग पर रखा था, उन कपालों को भी—विमुक्त[6] करने के लिये (अग्नि से छुटकारा दिलाने के लिए) समर्थ इन्द्र और वायु देवता पोषक यजमान के यज्ञरूपी व्रत के समाप्त हो जाने पर विमुक्त कर दें।

पूजार्थम् इति। भाष्यकार ने मन्त्र का व्याख्यान करते हुए 'पूजार्थं बहुवचनम्'-बहुवचन आदर के लिये है, यह वाक्य लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि मन्त्र में 'वेधस् उपचिन्वन्ति' यह बहुवचनान्त वाक्य है। 'वेधस्' शब्द से यहां अध्वर्यु लिया गया है। क्योंकि वही कपालोपचयन (कपालोपधान) करता है, परन्तु अध्वर्यु तो एक ही है, अतः 'वेधा उपचिनोति' इस प्रकार एक वचनान्त ही प्रयोग करना चाहिये था। तथापि अध्वर्यु के प्रति आदर का भाव सूचित करने के लिए बहुवचनान्त पद का प्रयोग किया गया है।

अनेक इति। अनेक गुण विशिष्ट कपालविमोक का विधान करते हैं—'तानि···प्रतितिष्ठति' इति। तब इष्टि की समाप्ति होने पर उन कपालों को 'यानि धर्मे कपालानि···' इस चार[7] पाद-वाली (अनुष्टुप्) ऋचा से विमुक्त करे अर्थात् अग्नि

१—अग्नि से कपालों को पृथक् करने का।

२—उक्तमन्त्र को।

३—सप्तम अनुवाक में ही।

४—सप्तम अनुवाक का अन्तिम मन्त्र—'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' के अनन्तर पढ़ा गया है—यानि धर्मे कपाला-न्युपचिन्वन्ति वेधसः। पूष्णस्तान्यपि व्रत इन्द्रवायू विमुञ्चताम्' इति।

५—यह मन्त्रार्थ है।

६—भाष्य में 'विमोक्तुं समर्थौ' यह पाठ है, उसका ही 'विमुक्त···समर्थ' यह हिन्दी अनुवाद है, परन्तु मूलग्रन्थ में विमोक्तुं समर्थौ' इस अर्थ का बोधक कोई शब्द नहीं है। स्यात् मन्त्र में आये हुए 'अपि' शब्द के आधार पर भाष्यकार ने ऐसा लिखने की आवश्यकता समझी हो, अर्थात् 'वेधा' के कार्य को भी इन्द्र और वायु पलट सकते हैं।

७—वैदिक छन्दों की गणना में सबसे पहले 'गायत्री' का नाम आता है। उसमें आठ-आठ अक्षरों के केवल तीन पाद होते हैं। उसके बाद दूसरे नम्बर पर 'अनुष्टुभ्' छन्द की गणना होती है। इसमें आठ-आठ अक्षरों के चार पाद होते हैं।

अत्र विनियोग सङ्ग्रहः—

धृष्टिरादायोपवेषमपाङ्गारौ वियोजयेत्।
निष्क्रापसारये देकमा देवान्यं तु शेषयेत् ॥१॥

ध्रुवं कपालमाधाय निर्दाङ्गारं तथोपरि।
धर्त्रं द्वितीयं धरुणं तृतीयं धर्मं सप्तमम् ॥२॥

चितोऽष्टमं भृगू तेषु सर्वेष्वङ्गाररोपणम्।
यानि स्वकाले सम्प्राप्ते कपालानि विमुञ्चति।
अनुवाके सप्तमेऽस्मि न्नुक्ता द्वादश मन्त्रकाः ॥३॥' इति।

से बाहर निकाल ले। चतुष्पाद्[1] पशु होते हैं। वह—जो उक्त मन्त्र से इष्टि के अन्त में कपालविमोक करता है—पशुओं में सबसे ऊपर प्रतिष्ठित होता है—अर्थात् वह बहुत पशुओं का स्वामी बनता है।

अत्र इति। अब सप्तम अनुवाक के मन्त्रों का विनियोग—संग्रह लिखते हैं—धृष्टिरा इति। 'धृष्टिरसि···' इस मन्त्र से उपवेष को पकड़कर २. 'अपाग्ने···' इस मन्त्र से दो अङ्गारों को पृथक् करे। ३. 'निष्क्रव्यादं सेध' इस मन्त्र से उनमें से (अङ्गारों में से) एक को फेंक दे। और ४. दूसरे को 'आदेवयजम्···' इस मन्त्र से बचा ले। ५. 'ध्रुवमसि···' इस मन्त्र से मध्यम कपाल का उपधान करके, ६. 'निर्दग्धम्···' इस मन्त्र से कपाल के ऊपर अङ्गारे को रक्खे। ७. 'धर्त्रमसि···' इस मन्त्र से द्वितीय कपाल का ८. 'धरुणमसि···' इस मन्त्र से तृतीय कपाल का, ९. 'धर्मासि···' इस मन्त्र से सप्तम कपाल का और १०. 'चित स्थ' इस मन्त्र से अष्टम कपाल का उपधान करे। ११. 'भृगूणाम्···' इस मन्त्र से उन सब कपालों के ऊपर अङ्गारों को रक्खे। १२. 'यानि···' इस मन्त्र से अपने समय पर—अर्थात् इष्टि के अन्त में—कपाल विमोक करे। इस प्रकार सप्तम अनुवाक में बारह मन्त्र कहे गये हैं।

निरुक्त में 'अनुष्टुभ्' शब्द का निर्वचन करते हुए यास्क ने लिखा है - 'गायत्रीमेव त्रिपदां चतुर्थेन पादेन अनुष्टोभति (योजयति) इति' त्रिपाद् गायत्री को ही यदि चौथे पाद से युक्त कर दिया जाये तो 'अनुष्टुभ्' छन्द बन जाता है, इस हिसाब से 'अनुष्टुभ्' में बत्तीस अक्षर होते हैं और गायत्री में चौबीस। इसलिए मूलोक्त श्रौतसूत्र में और ब्राह्मण वाक्य में 'चतुष्पदया' पद का अनुवाद हमने 'अनुष्टुभ् छन्द की' ऐसा किया है।

यद्यपि 'यानि धर्मे कपालानि···' इस ऋचा में दो अक्षर कम हैं अर्थात् तीस ही अक्षर हैं, तथापि 'इयादिः पूरणः' 'जहां अक्षर की कमी हो जाये वहां 'इ, य' आदि से पूर्ति कर लेनी चाहिये इस पिङ्गलसूत्र के अनुसार 'कपालान्युपचिन्वन्ति में कपालानि उपचिन्वन्ति' और तान्यपि' में 'तानि अपि' इस प्रकार सन्धिच्छेद करके 'इ' के द्वारा बत्तीस अक्षर पूरे कर लेने चाहिये। श्रीभट्ट भास्कर ने भी यही कहा है—'यणादेशाकरणेन प्रथम-तृतीयौ पूरणीयौ इति। 'यण्' आदेश न करके प्रथम और तृतीय पाद की पूर्ति कर लो।

१—उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्यों में 'चतुष्पादः से प्रतितिष्ठति' तक का अंश अर्थवाद है।

अथ मीमांसा

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे चिन्तितम्—

"श्रपणं तुषवापश्च कपालस्य प्रयोजकौ।
उत श्रपणमेवाऽऽद्यो वापार्थत्वात्तृतीयया॥
पुरोडाशकपालेति नाम्ना स्याच्छ्रपणार्थता।
प्रयुक्तस्य प्रयुक्तिर्नो तस्य वापे प्रसञ्जनम्॥"

(जै० न्या० ४/१/२२-२३) इति।

कपालेषु श्रपयतीति श्रपणं पुरोडाशस्य श्रुतम्। तथा पुरोडाश कपालेन तुषानुपवपतीति कपाले तुषधारणं श्रुतम्। ते चतुषाः सकपाला रक्षसां भागोऽसीति मन्त्रेण कृष्णाजिनस्या धस्तादवस्थापनीयाः। तत्र श्रपणं यथा कपाल सम्पादनस्य प्रयोजकं तथा तुषवापोऽपि प्रयोजकः। एकहायन्येति तृतीयया यथा गोः क्रयार्थत्वं तथा कपालेनेति तृतीयया कपालस्य तुषवापार्थ त्वावगमादिति चेन्मैवम्। नात्र कपालमात्रस्य

अथ इति। मीमांसा लिखी जाती है—

चतुर्था इति। चतुर्थाध्याय के प्रथमपाद में विचार किया[1] गया है—श्रपणम् इति। दो श्रुतियां[2] हैं, जिनमें पहली श्रुति यह विधान करती है कि पुरोडाश को कपालों पर पकावे। और दूसरी श्रुति कहती है कि पुरोडाश पाकार्थ जो कपाल है, उससे तुषों को नीचे गिरावे। कपाल से तुषों को नीचे गिराना तभी सम्भव है, जब कपाल पर तुष रक्खे गये हों, इसलिये इस श्रुति से यह भी सिद्ध है कि कपाल[3] पर तुष रक्खे जाते हैं। अस्तु, कपाल[4] सहित वे तुष 'रक्षसां भागोऽसि'—'तू राक्षसों का भाग है' इस मन्त्र से कृष्णाजिन के नीचे रक्खे जाते हैं। इस उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि पुरोडाश का श्रपण (पाक) और तुष[5] का उपवाप ये दोनों ही कपाल सम्पादन के प्रयोजक हैं—अर्थात् इन दोनों कामों के लिये ही यज्ञ में कपालों का संग्रह किया जाता है। जैसे 'एक हायन्या गवा सोमं क्रीणाति'—एक वर्ष की आयु वाली गौ को मूल्य-रूप में देकर 'सोम को खरीदे' इस श्रुति में 'एक हायन्या'[6] इस तृतीया विभक्ति से यह सिद्ध होता है कि गौ क्रयणार्थ है—खरीदने का साधन है, इसी प्रकार मूलोक्त 'पुरोडाशकपालेन तुषान् उपवपति' 'पुरोडाश कपाल[7] से तुषों को नीचे (कृष्णाजिन के नीचे) गिरावे' इस श्रुति में कपालेन इस तृतीया के द्वारा यह प्रतीत होता है कि कपाल तुषोपवाप के लिए है। यह पूर्वपक्ष है।

१—विचार का स्वरूप यह है कि कपालों का सम्पादन किसलिए हैं क्या वे पुरोडाश पकाने के लिए हैं अथवा तुषों का उपवाप करने के लिए हैं अथवा दोनों कार्यों के लिए हैं?

२—दोनों श्रुतियां मूल में दी गई हैं।

३—'मध्यमे पुरोडाश कपाले तुषान् ओप्य···अधस्तात्कृष्णाजिनस्योपवपति। इस आपस्तम्ब सूत्र से भी यही सिद्ध होता है।

४—विदित होता है कि मूल में 'कपालस्थिताः'—'कपाल पर रखे हुए' यह पाठ रहा होगा, क्योंकि कृष्णाजिन के नीचे कपाल नहीं रक्खा जाता, तुष या भूसी ही रक्खी जाती है।

५—चावल निकालने के लिये धानों को कूटा जाता है, उससे निकलने वाली भूसी को यहां 'तुष' कहा गया है।

६—'एक हायनी' शब्द का तृतीया विभक्ति एकवचन में यह रूप बनता है।

७—पुरोडाश पाक के लिए गृहीत कपाल से।

तुषोपवाप साधनत्वं श्रुतं किं तर्हि यत्कपालं पुरोडाश श्रपणायोपात्तमासादितं च तस्यैव कपालस्य साधनत्वम्। एतच्च पुरोडाश कपालेनेति सविशेषण नाम्ना तद्विधानादवगम्यते। तथा सति प्रथमं श्रपणेन कपालं प्रयुज्यते। न च प्रयुक्तस्य पुनस्तुषवापेन प्रयुक्तिः सम्भवति। तस्माच्छ्र पणेनैव प्रयुक्तं कपालं तुषोपवापेऽपि प्रसङ्गात्सिध्यति। ईदृशमेवाङ्गत्वं तृतीयाश्रुत्या बोध्यते।

अथ व्याकरणम्—

धृष्टि शब्दः क्तिन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तः। आमाच्छब्दे कृत्स्वरः। तथैव देवयज्शब्दः। निर्दग्धमिति

मैवम् इति। सिद्धान्त यह है—उपर्युक्त तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति में कपाल सामान्य को तुषोपवाप का साधन नहीं बताया गया है किन्तु वहां कहा गया है कि जो कपाल पुरोडाश को पकाने के लिए लिया गया है और जिसका आसादन (अङ्गारों पर स्थापन) हुआ है, वही कपाल तुषोपवाप का साधन है। यह बात[1] 'पुरोडाशकपालेन' इस विशेषण सहित नाम के साथ तुषोपवाप का विधान करने से प्रतीत होती है। ऐसा[2] होने पर पहले पुरोडाश श्रपण ही (पुरोडाश पाक ही) कपाल-सम्पादन का प्रयोजक[3] सिद्ध होता है, तुषोपवाप नहीं। और एक बार पुरोडाश श्रपण से प्रयुक्त (प्रयोज्य) कपाल फिर तुषोपवाप से प्रयुक्त नहीं माना जा सकता, इसलिये श्रपण ही कपाल-सम्पादन का प्रयोजक है। प्रसङ्गवश तुषोपवाप भी उसका (कपाल सम्पादन का) प्रयोजक बन जाता है। अर्थात् कपाल-सम्पादन तुषोपवाप का प्रासङ्गिक अङ्ग है, मुख्य अङ्ग नहीं है। मुख्य अङ्ग तो वह पुरोडाश श्रपण का ही है। ऐसे ही (उपर्युक्त प्रकार के ही) प्रासङ्गिक अङ्गत्व को 'पुरोडाशकपालेन' यह तृतीया श्रुति बताती है।

अब व्याकरण सम्बन्धी विचार लिखते हैं—

धृष्टि शब्द ञिधृषा प्रागल्भ्ये धातु से स्त्रियां क्तिन् ३-३-९४ से क्तिन् प्रत्यय करके बना है। इसलिए ञित् होने से ञ्नित्यादिर्नित्यम् ६-१-१९ से आद्युदात्त हुआ है। 'आमात्' शब्द आमम् अत्ति इस विग्रह में अदोऽनन्ने ३-२-६८ से आम अम् पूर्वक

१—यहां कपाल विशेष का ग्रहण है, कपाल सामान्य का नहीं—यह बात विशेषता मूल और अनुवाद दोनों जगह बता दी गई है।

२—'पुरोडाश कपालेन' इस तृतीया विभक्ति के आधार से कपाल विशेष के (श्रपणार्थक कपाल विशेष के) द्वारा ही उपवाप का विधान होने पर।

३—प्रयोज्य प्रयोजक भाव विचार भी मीमांसा का एक विषय है। जिसकी चर्चा मीमांसा दर्शन के चतुर्थ अध्याय में हुई है। किसी भी कर्म का फल उस कर्म का प्रयोजक माना जाता है और वह कर्म उस फल का प्रयोज्य या उस फल से प्रयुक्त कहलाता है—उदाहरणार्थ—स्नानरूप कर्म का फल शरीर शुद्धि है, इसलिए शरीर शुद्धि स्नान की प्रयोजिका है और स्नान शरीर शुद्धि का प्रयोज्य है या शरीर शुद्धि से प्रयुक्त है। 'स्नान किं प्रयुक्त है?' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर दिया जाता है—'स्नान शरीर शुद्धिप्रयुक्त है।' इसी प्रकार 'स्नान किं प्रयोज्य है'? इस प्रश्न का उत्तर है—'स्नान शरीर शुद्धि प्रयोज्य है'। प्रकृत में भी ऐसा ही प्रश्न उठता है कि 'कपालसम्पादन किं प्रयुक्त है?' अथवा कपाल सम्पादन का क्या फल है? अथवा कपाल सम्पादन का प्रयोजक कौन है? इन तीनों प्रश्नों का क्रमशः उत्तर यह है—'कपाल सम्पादन पुरोडाश श्रपण प्रयुक्त है। कपाल सम्पादन का फल पुरोडाश श्रपण है। कपाल सम्पादन का प्रयोजक पुरोडाश श्रपण है। प्रश्नों और उत्तरों का आकार यद्यपि भिन्न-भिन्न है, तथापि उनके तात्पर्य में जरा भी अन्तर नहीं है। प्रयोजक अङ्गी होता है प्रयोज्य अङ्ग। अतः हम यह कह सकते हैं कि कपाल सम्पादन पुरोडाश श्रपण का अङ्ग है। इस टिप्पण को ध्यान में रखने से मीमांसा दर्शन के चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद को समझने में विशेष कष्ट नहीं होगा।

प्रत्युष्टवत्। सजातानित्यत्र समानं जातं जन्मयेषां ते सजाताः। 'वाजाते' (पा० ६/२/१७१) जातशब्द उत्तर पदे बहुव्रीहौ समासे विकल्पेनान्तोदात्तोभवति।

भृग्वङ्गिरः शब्दौ वृषादी। उपचिन्वन्तीत्यत्र यानीत्यनेन यच्छब्दयोगान्निघाताभावः। विकरण-प्रत्ययस्वरस्य सतिशिष्टस्याप्यबलीयस्त्वेन'उदात्तयणः' (पा० ६/१/१७४) इत्युपरितनस्याकारस्योदात्तः। नात्र नदी नवा शसादि विभक्तिः, इत्यसङ्गतम् इति न भ्रमितव्यम् "उपचिन्वन्ति" इत्यस्य शतृप्रत्ययान्तस्य नपुंसकलिङ्गे शसि निष्पन्नत्वात्।

पूष्ण इत्यत्र 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' (पा० ६/१/१६१) इति विभक्तिरुदात्ता। इन्द्रवायू इत्यत्र 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० ६/२/१४१) इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते तदपवादः—'नोत्तरपदेऽनुदात्तादाव-

---

अद् धातु से विट् प्रत्यय करके बना है, उत्तरपद कृदन्त है अतः 'गतिकारकोपपदात् कृत् ६-२-१३९ से प्रकृतिस्वर हुआ है। देवयज् शब्द में भी (आमात्) शब्द की तरह कृदुत्तर पद प्रकृतिस्वर हुआ है। निर्दग्ध का स्वर 'प्रत्युष्ट' शब्द की तरह समझना चाहिए। यहां समासस्य ६-१-२२३ से अन्तोदात्त प्राप्त हुआ; उसे बाधकर तत्पुरुषे तुल्यार्थ—६-२-२ से अव्ययपूर्वपद प्रकृतिस्वर प्राप्त हुआ, उसका भी अपवाद गतिकारकोपपदात्कृत् ६-२-१३९ से कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर प्राप्त हुआ, उसका भी अपवाद गतिरनन्तर ६-२-६ से निर् को प्रकृतिस्वर हुआ। निर् उपसर्गाश्चाभिवर्जम् से आद्युदात्त है अतः प्रकृतिस्वर आद्युदात्त हुआ। सजातानिति समानं जातं (जन्म) येषाम् इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होने पर समान को 'समानस्य च्छन्दस्यमूर्धं प्रभृत्युदर्केषु' ६-३-८४ से 'स' आदेश हुआ, सजात बना, उसका द्वितीया बहुवचन में 'सजातान्' रूप बना है। यहां 'वा जाते' ६-२-१७ जात शब्द उत्तरपद में रहने पर बहुव्रीहि समास में विकल्प से अन्तोदात्त होता है, इस नियम से विकल्प से अन्तोदात्त होता है। भृगु और अङ्गिरस् शब्द वृषादि गण में पठित हैं। अतः 'वृषादीनां च' ६-१-२०३ से इनमें आद्युदात्त हुआ है।

'उपचिन्वन्ति' का सम्बन्ध 'यानि' के साथ है। यानि यत् शब्द से बना है। अतः निपातैर्यद् यदि—८-१-३० सूत्र से निघात का निषेध हो गया। यहां विकरण प्रत्यय 'उ' को आद्युदात्तश्च ३-१-३ से आद्युदात्त हुआ है यद्यपि सति शिष्ट स्वर बलवान् होता है परन्तु 'सति शिष्ट स्वरबलीयस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्य इति वाच्यम्' इस वार्तिक ने विकरणभिन्न 'सति शिष्टस्वर' को बलवान् बताया है अतः उस विकरण ओकार के स्थान में जब यण् हुआ तब उदात्त यणो हल् पूर्वात् ६-१-१७४ से यण् के आगे का आकार उदात्त हुआ। (सायण ने यहां जो उदात्तयणो—का उपयोग किया है वह चिन्त्य है; क्योंकि वह हल् पूर्वक उदात्तयण् के आगे विद्यमान नदी (ई ऊ) और शसादि विभक्ति को ही उदात्त करता है। उपचिन्वन्ति में न नदी है और न शसादि विभक्ति) यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'उपचिन्वन्ति' यह पद शतृ प्रत्ययान्त उपचिन्वत्' शब्द से नपुंसकलिङ्ग में शस् के स्थान में 'शि' आदेश करके बना है अतः यहां 'शस्' विभक्ति स्थानिवद्भाव से है। 'उपचिन्वन्ति' कपालानि का विशेषण है। विमोक्तुं के कर्म कपालानि में जब शस् विभक्ति मानी जायेगी तो उसके विशेषण "उपचिन्वन्ति" में भी वही विभक्ति होगी।

पूषन् शब्द से सम्बन्धसामान्य विवक्षा में षष्ठीविभक्ति एकवचन में 'ङस्' और अनुबन्ध-लोप करने पर पूषन्-अस्' ऐसी अवस्था में संज्ञा के बाद 'अल्लोपोऽनः' सूत्र से अन् के अ का लोप हो जाता है, यह 'अ' उदात्त था। जिस अनुदात्त अक्षर के परे रहते उदात्त अक्षर का लोप होता है उसको उदात्त हो जाता है। इस नियम के अनुसार विभक्ति के (अस् का) अनुदात्त 'अ' उदात्त हो गया। अब शेष निघात व्यवस्था इसी के अनुसार होगी। अतः पदपाठ और संहितापाठ

पृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु' (पा० ६/२/१४२) अनुदात्तादौ पृथिव्यादिव्यतिरिक्त उत्तरपदे देवताद्वन्द्व स्वरो न भवति। ततः समासस्येत्यन्तोदात्तः।

में स्वरचिह्न क्रम यों रहेगा-पूषणः। **इन्द्रवायू** इति। इस पद में 'देवता द्वन्द्वे च' इस सूत्र से उभयपद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, परन्तु 'नोत्तरपदेऽनुदात्तादौ' इस सूत्र से उसका निषेध हो गया। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि इन्द्रवायू शब्द में—'इन्द्रश्च' वायुश्च—इस प्रकार द्वन्द्व समास है। प्रथमतः 'समासस्य' से अन्तोदात्तत्व प्राप्त हुआ। उसको बाधकर 'देवता द्वन्द्वे च' उभयपद प्रकृतिस्वर प्राप्त हुआ—अर्थात् इन्द्र शब्द में वृषादित्वात् आद्युदात्तत्व प्राप्त हुआ और वायु शब्द में प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्तत्व प्राप्त रहा। परन्तु क्योंकि वायु शब्द में अन्तोदात्तत्व के कारण 'वा' अनुदात्त है अतः वायु शब्द अनुदात्तादि हो गया, अनुदात्तादि शब्द परे रहते 'नोत्तरपदे…' इस उक्त सूत्र से उभयपदप्रकृतिस्वर का निषेध हो गया, फलतः उपसर्ग स्वर 'समासस्य' से होने वाला अन्तोदात्तत्व ही शेष रहा, शेष निघात से स्वरचिह्न व्यवस्था यों बनी—इन्द्रवायू। संहिता में 'इ' उदात्त त से परे है, अतः उसको स्वरित हो गया। स्वरित से परे रहने के कारण 'न्द्र' को प्रचय हो गया। 'वा' को सन्नतर हो गया क्योंकि इससे परे 'यू' उदात्त है, फलतः संहिता में स्वरचिह्न यों रहे—ईन्द्रवायू। पदपाठ में—इन्द्रवायू इतीन्द्रवायू।

**कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता के प्रथमकाण्ड में
प्रथम प्रपाठक के सप्तम अनुवाक पर
श्रीसायणाचार्य कृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद
समाप्त हुआ।**

॥ श्रीः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता

सायणभाष्यसमेता हिन्द्यनुवादसहिता च

प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके

अष्टमोऽनुवाकः

ओम् सं वपामि समापो अद्भिरग्मत समोषधयो रसेन सꣳरेवतीर्जगतीभिर्मधुमतीर्मधुमतीभिः सृज्यध्वमद्भ्यः परिप्रजाताः स्थ समद्भिः पृच्यध्वं जनयत्यै त्वा संयौम्यग्नये त्वाऽग्नीषोमाभ्यां मखस्य शिरोऽसि घर्मोऽसि विश्वायुरुरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतां त्वचं गृह्णीष्वान्तरितꣳ रक्षोऽन्तरिता अरातयो देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठे अधिनाकेऽग्निस्ते तनुवं माऽति धागग्ने हव्यꣳरक्षस्व सं ब्रह्मणा पृच्यस्वैकताय स्वाहा द्विताय स्वाहा त्रिताय स्वाहा ॥८॥

सप्तमे कपालोपधानमुक्तम्, ततस्तप्तेषु कपालेषु लब्धावसरत्वादष्टमे पुरोडाशश्रपणमभिधीयते ।

समिति । संवपामीत्यस्याऽऽम्नातस्य मन्त्रस्य शेषं पूरयित्वा विनियोगः कल्पे दर्शितः—अथोत्तरेण गार्हपत्यमुपविश्य वाचं यमं तिरःपवित्रं पात्र्यां कृष्णाजिना पिष्टानि संवपति देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टꣳसंवपाम्यग्नीषोमाभ्याममुष्मा अमुष्मा इति' (बौ० श्रौ० १।६) इति ।

सप्तमे इति । सातवें अनुवाक में कपालोपधान बताया गया है । अब आठवें अनुवाक में तप्त कपालों पर पुरोडाश का श्रपण (पाक) बताया जाएगा, क्योंकि कपालोपधान के अनन्तर उसका ही (पुरोडाश श्रपण का ही) अवसर प्राप्त है ।

समिति इति । यद्यपि अष्टम अनुवाक में पहला मन्त्र 'संवपामि' इतना ही दिया गया है । तथापि कल्प[1] सूत्र में शेषांश की पूर्ति करके इसका (इस मन्त्र का) विनियोग बताया गया है । **अथ**[2] इति । कपालोपधान के अनन्तर गार्हपत्य के उत्तर की ओर बैठकर मौन होकर 'देवस्यत्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं संवपामि' इस मन्त्र से पात्री[3] में कृष्णाजिन से पिष्टों को (चावल के आटे को) डाले । डालने से पूर्व पात्री में पवित्र को तिरछा (उत्तर-दक्षिण) रख दे । यदि अग्नि और सोम देवता के उद्देश्य से पुरोडाश तैयार करना हो तो 'हस्ताभ्याम्' और 'जुष्टं संवपामि' के बीच में 'अग्नी षोमाभ्याम्' ऐसा[4] बोले, इसी प्रकार किसी दूसरे देवता के उद्देश्य से यदि पुरोडाश तैयार करना हो तो उस देवता का चतुर्थ्यन्त नाम 'हस्ताभ्याम्' और 'जुष्टं निर्वपामि' के बीच में बोले ।

---

१. बौधायन श्रौत सूत्र में । २. मूल में 'अथ' से लेकर 'अमुष्मा अमुष्मा इति' तक बौधायन श्रौतसूत्र का वचन है ।
३. वह पात्र जिसमें आटा गूंदा जाएगा । ४. 'देवस्यत्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो···'

अपोक्षितस्थाने प्रयोक्तव्य इत्येतमर्थं दर्शयितुमेव निर्वापपेषणयोर्देवस्य त्वेति मन्त्रो द्विराम्नातः। अत्रानाम्नातमप्यनेनैवाभिप्रायेण व्याचष्टे—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसव इत्याह प्रसूत्यै। अश्विनोर्बाहुभ्या-मित्याह। अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू आस्ताम्। पूष्णो हस्ताभ्यामित्याह यत्यै। संवपामीत्याह। यथादेवत-मेवैनानि संवपति" (तै० ब्रा० ३।२।८) इति।

समाप इति। बौधायनः—'प्रणीताभ्यः स्रुवेणोपहत्य वेदेनोपयम्य पाणिं चान्तर्धायैव मदन्तीभ्य-स्ता उभयीरानीयमानाः प्रतिमन्त्रयते समापो अद्भिरग्मत समोषधयो रसेन सꣳरेवतीर्जगतीभिर्मधुमतीर्मधु-मतीभिः सृज्यध्वमिति' (बौ० श्रौ० १।६) इति। पूर्वं चमसे संगृहीता आपः प्रणीताः। तप्ता आपो मदन्त्यः। आपस्तम्बेन तु प्रणीतामात्रेऽयं मन्त्रो विनियुक्तः 'स्रुवेण प्रणीताभ्य आदाय वेदेनोपयम्य समापो अद्भिरग्म-

---

अपेक्षित इति। अपेक्षित स्थान में उक्तरीति से मन्त्र प्रयोग करना चाहिये—इस अभिप्राय को बताने के लिए ही हविनिर्वाप[1] के और हवि को[2] पीसने के प्रसङ्ग में 'देवस्य त्वा' यह मन्त्र दो बार पढ़ा गया है। इस (आठवें) अनुवाक में यद्यपि यह मन्त्र ('देवस्यत्वा' इत्यादि मन्त्र) नहीं पढ़ा गया है, तथापि उपर्युक्त बौधायन सूत्र के अनुसार पिष्ट को पात्री में रखते समय इस मन्त्र को बोलना ही चाहिये, इस अभिप्राय से ब्राह्मण वाक्य इसका पुनः व्याख्यान करता है—'देवस्य त्वा···यत्यै' इति।

संवपामीत्याह इति। इन पिष्टों को (इस चावल के आटे को) देवतानुसार ही पात्री में डाले। तात्पर्य यह है कि पात्री में हवि को डालते समय 'संवपामि' यह मन्त्र बोलना पड़ेगा, मन्त्रोच्चारण से पूर्व यह स्मरण रहना चाहिये कि हम किस देवता के उद्देश्य से हवि संवाप कर रहे हैं। तदनुसार देवता का चतुर्थ्यन्त नाम और उसके अन्त में 'जुष्टम्' को 'संवपामि' इस मन्त्र से पूर्व बोलना होगा। उदाहरणार्थ – यदि अग्नि के लिए हवि संवाप करना है तो 'अग्नये जुष्टम् संवपामि' ऐसा बोलना होगा। यदि अग्नि और सोम दोनों के लिए एक साथ हवि संवाप करना है तो 'अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं संवपामि' इस प्रकार उच्चारण करना होगा। यह भी नहीं भूलना चाहिये कि 'अग्नये' और 'अग्नीषोमाभ्याम्' से पहले 'देवस्य त्वा··· हस्ताभ्याम्' यह बोलना भी आवश्यक है।

समाप इति। बौधायन कहता है—प्रणीता नामक जल में से ठण्डा जल लेकर और 'मदन्ती' नामक जल में से गरम जल लेकर दोनों को मिलावे। मिलाने से पूर्व "समापोः···सृज्यध्वम्" यह मन्त्र बोले। 'चमस' नामक पात्र में पहले से रक्खे हुए शीतल जल को वैदिक परिभाषा में 'प्रणीता' कहते हैं, इसी प्रकार वैदिक परिभाषा के अनुसार गरम जल को 'मदन्ती' कहते हैं। दोनों जलों के लेने का प्रकार यह है—स्रुव[4] से जल लेवे। वेद से (कुशमुष्टि से) उसे थामे रहे। अर्थात् स्रुव के नीचे कुशमुष्टि (वेद) रखे और उसके ऊपर दूसरा हाथ रक्खे। यही प्रकार मदन्ती (गरम जल) लेने का है।

आपस्तम्बेन इति। किन्तु आपस्तम्ब ने केवल प्रणीता नामक जल के लेने में ही इसका 'समापो···' इत्यादि मन्त्र का विनियोग बताया है। वे कहते हैं—प्रणीता में स्रुव के द्वारा जल लेकर नीचे से कुशमुष्टि द्वारा उसे थामे, थामे हुए उस जल

१—देखो चौथा अनुवाक दूसरी कण्डिका। २. देखो छठा अनुवाक।

३—इसका हिन्दी अनुवाद पहले (चतुर्थ अनुवाक में) किया जा चुका है, वहीं देखिए।

४—स्रुव यज्ञ का एक पात्र है, जो खैर की लकड़ी का बनाया जाता है, एक हाथ लम्बा होता है, उसका अगला भाग गोल (गेंद जैसा) होता है और उसमें अंगूठे की पहली पोरी जितना गढ़ा होता है।

तेति पिष्टेष्वानयति' (आप०श्रौ० १।२४।५) इति। प्रणीता आपो मदन्तीभिरद्‌भिः सङ्गच्छन्ताम्। पिष्टरूपा ओषधयो द्विविधोदकरसेन सङ्गच्छन्ताम्। किञ्च। हे आपो यूयं सर्वसस्या[1]भिवृद्धिहेतुत्वात्तद् द्वारा धनवत्यः स्वभावतो माधुर्यवत्यश्च। ओषधयोऽपि जङ्गमरूपपश्वभिवृद्धिहेतुतया पशुरूपधनयुक्ताः स्वभावसिद्धस्वादुत्वेनमाधुर्यवत्यश्च। ततः पिष्टरूपाभिस्ताभिरोषधीभिः संसृष्टा भवत। मन्त्रस्य पूर्वभागे जलौषधिसङ्गमस्य फलमाह—"समापो समोषधयो रसेनेत्याह। आपो वा ओषधीर्जिन्वन्ति। ओषधयोऽपो जिन्वन्ति। अन्या वा एतासामन्या जिन्वन्ति। तस्मादेवमाह" (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। जिन्वन्ति प्रीणयन्ति। यद्यप्यचेतनानामपामोषधीनां च नास्ति प्रीतिस्तथापि पुरोडाशरूपेण देवप्रियहेतुत्वात्तदुपचारः। नहि केवलेन जलेन पिष्टेन वा पुरोडाशः संभवति किन्त्वन्योन्यमेलनरूपेण प्रीणनेन। यस्मात्तासामपामोष-

---

को पिष्ट में (आटे में) डाल दे। जल लेने और उसे आटे में डालने से पूर्व उपर्युक्त मन्त्र ('समापो···सृज्यध्वम्' यह मन्त्र) बोले। **प्रणीता**[1] इति। प्रणीता नामक जल मदन्ती नामक जलों से मिल जावें। आटे के रूप में विद्यमान ओषधियाँ (व्रीहि, यव, आदि) दो प्रकार के (शीतल और गरम) जलरूपी रस से मिश्रित हो जावें। और भी।

हे आपः। हे जलो, तुम सब प्रकार से अन्नों की अभिवृद्धि (बढ़ती) के हेतु हो, इसलिए उनके (अन्नों के) द्वारा तुम धनवती हो, और स्वाभाविक मिठास वाली हो। ओषधियाँ भी जङ्गम (चलनशील) पशुओं की अभिवृद्धि का हेतु होने के कारण पशुरूप धन से युक्त हैं और स्वभाव से ही स्वादु (सरस) होने के कारण मिठास वाली हैं। इसलिये हे आपः, तुम आटे के रूप में विद्यमान उन (धनवती और मिठास वाली, ओषधियों से मिल[2] जाओ।

मन्त्रस्य इति। मन्त्र के पूर्व भाग[3] में जल और ओषधि का संगम (सम्मिश्रण) बताया गया है, उसका फल ब्राह्मण वाक्य बताता है—'समापो······तस्मादेवमाह' इति। इस ब्राह्मण का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं—जिन्वन्ति इति। 'जिन्वन्ति' शब्द का अर्थ है—प्रीतिमान् बनाते हैं। तृप्त करते हैं। यद्यपि अचेतन जलों और ओषधियों में प्रीति नहीं होती तो भी पुरोडाश का हेतु होने के कारण वे देवताओं का इष्ट सम्पादन तो करते ही हैं, इसलिए उनमें भी (अचेतन जलों और ओषधियों में भी) लक्षणा से प्रीतिमत्त्व का व्यवहार हो जाता है। केवल जल से अथवा केवल आटे से पुरोडाश नहीं बन सकता, किन्तु परस्पर के मिश्रण रूप प्रीति सम्पादन से ही बनता है। क्योंकि जलों में और ओषधियों में कोई जल किन्हीं ओषधियों को और कोई ओषधि किन्हीं जलों को प्रीतिमान् बनाती हैं—तृप्त करती हैं—सब-सब को नहीं। मन्त्र कहता है—'समोषधयो[4] रसेन' इति। मन्त्र के उत्तर[5] भाग में भी जलौषधि संगम बताया गया है, उसका फल

---

१. क. ग. सर्वस्या

---

१. यहां से मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ होता है। यह व्याख्यान बौधायन श्रौतसूत्र दर्शित विनियोग के आधार पर है।

२. मन्त्र का अन्वय इस प्रकार है—

आपः (प्रणीताः) अद्‌भिः (मन्दतीभिः) सम् अग्मत। ओषधयः (पिष्टरूपाः) रसेन (शीतोष्णाभ्यां जलाभ्यां सह) समग्मत। रेवतीः (रेवत्यः) मधुमतीः (मधुमत्यश्च) आपः, जगतीभिमर्धुमतीभिः (ओषधिभिश्च) सृज्यध्वम्।

३. 'समापो अद्‌भिरग्मत समोषधयो रसेन' यह मन्त्र का पूर्व भाग है।

४. 'समोषधयो रसेन' इस मन्त्रांश का व्याख्यान पहले हो चुका है, देखो मूलभाष्य और उसका हिन्दी अनुवाद।

५. 'म१७रेवतीर्जगतीभिर्मधुमतीभिः सृज्यध्वम्' यह मन्त्र का उत्तर भाग है।

धीनां च मध्येऽन्या आपोऽन्या ओषधीः प्रीणयन्ति। अन्याश्चौषधयोऽन्या अपः प्रीणयन्ति। तस्मान्मन्त्रः समोषधयो रसेनेत्येवं ब्रूते। उत्तरभागे माधुर्यसम्पादनं फलमाह—'सꣳरेवतीर्जगतीर्मधुमतीर्मधुमतीभिः सृज्यध्वमित्याह। आपो वै रेवतीः। पशवो जगतीः। ओषधयो मधुमतीः। आप ओषधीः पशून्। तानेवास्मा एकधा सꣳसृज्य। मधुमतः करोति' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

अद्भ्य इति। बौधायनः—'अथानुपरिप्लावयत्यद्भ्यः परिप्रजाताः स्थ समद्भिः पृच्यध्वमिति' (बौ०श्रौ० १/६) इति। आपस्तम्बः—'अद्भ्यः परिप्रजाता इति तप्ताभिरनुपरिप्लाव्य' (आप० श्रौ० १/२४/५) इति। परिप्लावनं पिष्टस्य सर्वत आर्द्रीकरणम्। हे पिष्टरूपा ओषधयो यूयं पूर्वमद्भ्य उत्पन्नाः स्थ। ततोऽद्याप्यद्भिः संपृक्ता भवत। मन्त्रेण परिप्लावनं विधत्ते—'अद्भ्यः परिप्रजाताः स्थ समद्भिः पृच्यध्वमिति पर्याप्लावयति। यथा सुवृष्ट इमामनुविसृत्य। आप ओषधीर्महयन्ति। तादृगेव तत्' (तै०ब्रा० ३/२/८) इति। यथा पर्जन्ये सुवृष्टे सत्यापो भूमिमनुप्रविश्यौषधीर्वर्धयन्ति तथाविधमिदं परिप्लावनं जलेन पिष्टेसर्वतः प्लाविते सति पुरोडाशनिष्पत्तेः[२]।

माधुर्य सम्पादन है, जिसका वर्णन ब्राह्मण यों करता है—संरेवती······मधुमतः करोति इति। मन्त्र में रेवती शब्द से जल, जगती शब्द से पशु और मधुमती शब्द से ओषधियां ली[१] गई हैं। अध्वर्यु एक प्रकार से इन सब को मिलाकर यजमान के लिये मधुमान्—माधुर्ययुक्त-बनाता है।

अद्भ्य इति। बौधायन कहते हैं कि 'प्रणीता' जल और 'मदन्ती' जल के मिश्रण के अनन्तर उस मिश्रित जल से आटे को गीला करे। आटे पर जल डालने से पूर्व 'अद्भ्यः परि······पृच्यध्वम्' इस मन्त्र को पढ़े। परन्तु[२] आपस्तम्ब कहता है कि उक्त मन्त्र से गरम जल आटे में डाले।

परिप्लावनमिति। बौधायन और आपस्तम्ब दोनों के सूत्रों में 'परिप्लाव्य' शब्द आया है, जिसका अर्थ होता है 'परिप्लावन' करके। 'परिप्लावन' शब्द का तात्पर्य यहाँ है—पिष्ट को (आटे को) पूरी तरह गीला करना। हे इति[३]। आटे के रूप में विद्यमान हे ओषधियो, तुम पहले जल से उत्पन्न हुए हो। इस लिये आज भी (यज्ञ के समय) जल से संपृक्त हो जाओ। मन्त्रेण इति। ब्राह्मण वाक्य मन्त्र के साथ परिप्लावन का (आटे को गीला करने का) विधान करता है और उसकी[४] स्तुति भी करता है—'अद्भ्यः······तादृगेव तत्' इति। 'अद्भ्यः' से लेकर 'पर्याप्लवति' तक विधिवाक्य है। जिसका अर्थ है—'अद्भ्यः······पृच्यध्वम्' इस मन्त्र से पिष्ट को (आटे को) पूरी तरह गीला करे। 'यथा' से लेकर 'तादृगेव तत्' तक अर्थवाद है—परिप्लावन कर्म की स्तुति है। अर्थवाद का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं कर रहे हैं—'यथा' इति। जैसे मेघों के अच्छी तरह बरसने पर जल भूमि के अन्दर प्रविष्ट होकर ओषधियों की वृद्धि करता है, इसी प्रकार यह परिप्लावन है, क्योंकि जल के द्वारा पिष्ट के अच्छी तरह गीला होने पर पुरोडाश निष्पन्न (तैय्यार) होता है।

---

१. ख. मिह। प। २. ख. पत्तिः। क।

---

१. इसकी उपपत्ति मन्त्र के भाष्य और उसके हिन्दी अनुवाद में देखिये।
२. बौधायन के मत से शीत और उष्ण जल मिलाकर उससे आटा गूंदा जाता है। आपस्तम्ब के मत में पहले आटे में ठण्डा जल डालते हैं, फिर गरम जल से उसे गूंदते हैं।
३. यहां से मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ होता है। ४. परिप्लावन की।

जनयत्या इति। कल्पः—'संयौमि जनयत्यै त्वा संयौमीति' (बौ० श्रौ० १/६) इति। हे परिप्लावित पिष्ट त्वां हस्ताङ्गुलिमर्दनेन सम्यङ् मिश्रीकरोमि। एतच्च यजमानस्य शुक्रशोणितमिश्रणेनैव प्रजोत्पत्त्यै सम्पद्यते। एतदेव विशदयति—'जनयत्यै त्वा संयौमीत्याह। प्रजा एतेनैव दाधार' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

अग्नय इति। कल्पः—'संयुत्य व्यू(व्यु)ह्याभिमृशत्यग्नये त्वाऽग्नीषोमाभ्याममुष्मा अमुष्मा इति यथादेवतम्' (बौ० श्रौ० १।६) इति। त्वामहं स्पृशामीति शेषः। असाङ्कर्यं मन्त्रद्वयप्रयोजनमित्याह—'अग्नये त्वाऽग्नीषोमाभ्यामित्याह—व्यावृत्त्यै' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

जनयत्या इति। कल्प सूत्र (बौधायन कृत) कहता है कि 'जनयत्यै ······संयौमि' इस मन्त्र से आटे को गूंदे। हे इति। जल से आर्द्र (गीला) किये हुए हे पिष्ट (आटे)! मैं तुझे हाथ की उँगलियों से मर्दन करके अच्छी तरह मिलाता हूं—गूंदता हूं। ऐसा करना शुक्र और शोणित के मिश्रण की तरह यजमान की संतानोत्पत्ति के लिये होगा। इसी अभिप्राय को ब्राह्मण वाक्य में स्पष्ट करते हैं—जनयत्यै ······दाधार' इति। इस संयवन कर्म (अच्छी तरह मिश्रण क्रिया अथवा गूंदना क्रिया) से अध्वर्यु प्रजाओं का ही धारण करता है—अर्थात् यजमान को सन्ततिमान् बनाता है।

अग्नय इति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि संयवन (मिश्रण) और व्यूहन (पृथक्करण) करके 'अग्नये अग्नीषोमाभ्याम्' इस मन्त्र से अभिमर्शन (स्पर्श) करे। अभिमर्शन का मन्त्र देवतानुसार होना चाहिये। यदि इन्द्र और अग्नि-देवता के लिये पुरोडाश तैयार करना हो तो 'इन्द्राग्निभ्याम्' ऐसा बोलना चाहिये, इसी प्रकार देवतान्तर के सम्बन्ध में भी चतुर्थ्यन्त पद की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिये। सूत्र में 'अमुष्मा अमुष्मा इति यथा देवतम्' इस वाक्य का यही (पूर्वोक्त) अभिप्राय है। त्वाम् इति। भाष्यकार कहते हैं कि 'अग्नये त्वाऽग्नीषोमाभ्याम्' इस मन्त्र का 'त्वामहं स्पृशामि' यह शेष वाक्य है—अर्थात् 'अग्नीषोमाभ्याम्' के अन्त में वाक्य पूरा करने के लिये 'त्वामहं स्पृशामि' इस वाक्य का अध्याहार कर लेना चाहिये। भाष्यकार का एक अभिप्राय और भी है, वह यह कि 'अग्नये त्वाग्नीषोमाभ्याम्' ये दो मन्त्र हैं। 'अग्नयेत्वा' यह पहला मन्त्र[1] है और 'अग्नीषोमाभ्याम्' दूसरा[2]। असाङ्कर्यम् इति। पुरोडाश का साङ्कर्य (मिश्रण) न हो जाये इसलिये दो मन्त्र पृथक्-पृथक् पढ़े गये हैं। इसी बात को ब्राह्मण वाक्य से प्रमाणित करते हैं—'अग्नये ······व्यावृत्त्यै' इति। व्यावृत्ति (असाङ्कर्य) के लिये ही अग्नये त्वाग्नीषोमाभ्याम्' ऐसा[3] कहा गया है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि दर्शपौर्णमासेष्टि में दो पुरोडाश होते हैं। एक 'आग्नेय' दूसरा 'अग्निषोमीय'। आग्नेय का अभिमर्शन (स्पर्श) 'अग्नयेत्वा'

---

१. इसका शेष 'अहं स्पृशामि' इतना ही है।

२. किसी-किसी आचार्य ने 'अग्नये त्वा' इस मन्त्र के 'त्वा' पद का अनुषङ्ग (संबन्ध) 'अग्नीषोमाभ्यां त्वा' इस मन्त्र के साथ भी माना है, उनके मत से मन्त्र का आकार होगा 'अग्नीषोमाभ्यां त्वा' इति। देखो आपस्तम्ब श्रौत सूत्र का धूर्तस्वामी का भाष्य और उसकी वृत्ति। भट्ट भास्कर ने भी ऐसा ही माना है। इस मत में भी 'अहं स्पृशामि' इतना ही वाक्य शेष होगा।

३. 'व्यावृत्त्यै' इस ब्राह्मण वाक्य का तात्पर्य धूर्तस्वामिभाष्य की वृत्ति में इस प्रकार लिखा है—भिन्न देवता सम्बधितयाभिमर्शनेन शास्त्रीय पृथक्करणं भवति, न दृष्टरूपविभागमात्रेण' इति। इसका अर्थ यही है कि वस्तु के दो या तीन विभाग कर देने मात्र से शास्त्रीय (शास्त्राभिमत) पृथक्करण नहीं होता, शास्त्रीय पृथक्करण तो तभी होता है, जब 'इदमग्नये' 'इदमग्नीषोमाभ्याम्' इस प्रकार पृथक् पृथक् देवता सम्बन्ध बता कर अभिमर्शन (स्पर्श) किया जाता है।

मखस्येति। कल्पः—'पिण्डं करोति मखस्य शिरोऽसीति। (बौ० श्रौ० १।६) इति। विशदीकृत्य व्याचष्टे—'मखस्य शिरोऽसीत्याह। यज्ञो वै मखः। तस्यैतच्छिरः। यत्पुरोडाशः। तस्मादेवमाह' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

घर्म इति। कल्पः—'घर्मोऽसि विश्वायुरित्याग्नेयं पुरोडाशमष्टासु कपालेष्वधिश्रयत्येवमुत्तर-मुत्तरेषु' (आप० श्रौ० १।२४।६-७) इति। हे पुरोडाश, त्वं तप्तकपालावस्थानेन दीप्तो देवतायोग्यत्वेन कृत्स्नायुः प्रदश्चासि। विश्वमायुर्यस्येति बहुव्रीहेरायुष्प्रदस्त्वमित्येवात्रार्थ इत्याह—'घर्मोऽसि विश्वायुरि-त्याह। विश्वमेवायुर्यजमाने दधाति' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

उर्विति। कल्पः—'उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामिति पुरोडाशं प्रथयन्सर्वाणि कपालान्यभिप्रथ-यत्यतुङ्गमनपूपाकृतिं कूर्मस्येव प्रतिकृतिमश्वशफमात्रं करोति' (आप० श्रौ० १।२५।३-४) इति। हे पुरोडाश

इस मन्त्र से किया जाता है, दूसरे का 'अग्नीषोमाभ्याम्' इस मन्त्र से अथवा 'अग्नीषोमाभ्यां त्वा' इस मन्त्र से। यदि दो मन्त्र नहीं माने जाएंगे—अग्नये त्वाग्नीषोमाभ्याम्' यह एक ही मन्त्र होगा—तो पृथक्करण न होने से आग्नेय और अग्नि-षोमीय पुरोडाश सङ्कीर्ण (मिश्रित) हो जायँगे। भाष्यकार ने सुगम होने के कारण मन्त्र का अर्थ नहीं लिखा है। हम लिख देते हैं—हे संयुत पिष्ट (गूंदे हुए आटे) मैं अग्नि के लिये[1] और अग्नि सोम के लिये[2] तेरा स्पर्श[3] करता हूं।

मखस्य इति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है—'मखस्य शिरोऽसि' इस मन्त्र से उस गूंदे हुए आटे का पिण्ड[4] बनावे। ब्राह्मण उक्त मन्त्र का विशद रूप से व्याख्यान करता है—'मखस्य······तस्मादेवमाह' इति। यज्ञ ही मख है। पुरोडाश उसका सिर है। इसलिये कहा गया 'मखस्य शिरोऽसि'—तू यज्ञ का सिर है।

घर्म इति। 'घर्मोऽसि विश्वायुः' इस मन्त्र से आग्नेय पुरोडाश[5] (हवि) को आठ कपालों के ऊपर रक्खे। इसी प्रकार उसके आगे के हवि को (अग्निषोमीय पुरोडाश को) आगे के कपालों में (एकादश कपालों में) रक्खे। हे इति। हे पुरोडाश[6] (हवि) तू गरम कपालों पर अवस्थित रहने के कारण दीप्त है और देवताओं के उपयोग के योग्य होने के कारण पूर्ण आयु देने वाला है। मन्त्र में आए हुए 'विश्वायुः' इस शब्द का 'विश्वं सकलम् आयुः जीवनकालो यस्य' इस बहुव्रीहि समास के आधार पर 'तू सम्पूर्ण आयु का देने वाला है' यही अर्थ है—इस बात को ब्राह्मण वाक्य से प्रमाणित करते हैं—'घर्मोऽसि······दधाति' इति। 'घर्मोऽसि······इत्यादि मन्त्र बोलकर अध्वर्यु यजमान में पूर्ण आयु की स्थापना करता है—अर्थात् यजमान को पूर्ण आयु वाला (सौ वर्ष जीने वाला) बनाता है।

उर्विति। बौधायन कहता है कि पूर्वोक्त पुरोडाश पिण्ड को कपालों पर रखने के अनन्तर अध्वर्यु 'उरु प्रथस्व···

१. अग्नि के उद्देश्य से।
२. अग्नि सोम के उद्देश्य से।
३. गूंदे हुए आटे के दो भाग कर लिये गये हैं। पहले का स्पर्श 'अग्नये त्वा' मन्त्र से करो। दूसरे का 'अग्नीषोमाभ्याम्' से।
४. पृथक् पृथक् दो पिण्ड बनावे। एक अग्नि के लिये दूसरा अग्नीषोम के लिये। आपस्तम्ब ने इन्हीं पिण्डों का अभिमर्शन (स्पर्श) करना लिखा है।
५. यद्यपि हवि के पक जाने पर ही उसकी पुरोडाश संज्ञा होती है, तथापि भविष्यत् संज्ञा के आधार पर उसे पहले ही पुरोडाश कह दिया गया। 'ओदन पकाओ' की तरह।
६. यहां से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है।

त्वं बहु यथा भवसि तथा विस्तीर्णो भव। त्वदीयो यजमानोऽपि प्रजादिभिः प्रथितोऽस्तु। यज्ञपतेर्विस्तारं दर्शयति—'उरुप्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामित्याह । यजमानमेव प्रजया पशुभिः प्रथयति' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

त्वचमिति। कल्पः—'त्वचंगृह्णीष्वेत्यद्भिः श्लक्ष्णीकरोत्यनतिक्षारयन्' (आप० श्रौ० १।२५।७) इति।

हे पुरोडाश, त्वमद्भिः श्लक्ष्णीभूतां त्वचं स्वीकुरु। निम्नोन्नतभाव परिहारेण त्वक्सादृश्ये सति पुरोडाशः सदेहो भवतीत्याह—'त्वचं गृह्णीष्वेत्याह। सर्वमेवैनं सतनुं करोति' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। श्लक्ष्णीकरणं विधत्ते—'अथाप आनीय परिमार्ष्टि। मा॑ꣳस एव तत्त्वचं दधाति। तस्मात्त्वचा मा॑ꣳसं छन्नम्' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। तत्तेन मार्जनेन पिष्टरूपे मांस एव श्लक्ष्णत्वरूपत्वचं स्थापयति। ततो लोके साऽपि तथा दृश्यते।

प्रथताम्' इस मन्त्र से उस पुरोडाश को प्रथित करता हुआ—हाथ से फैलाता हुआ—सब कपालों[1] की ओर प्रथित करे। प्रथन करते समय इस बात का ध्यान रक्खे कि पुरोडाश की आकृति न तो ऊँची नुकीली हो और न अपूप की तरह बिलकुल चपटी ही हो। वह तो कछुए की शक्ल का होना चाहिये, जो बीच में ऊँचा और चारों ओर ढलान लिये हुए हो। इसका परिमाण घोड़े के खुर जितना होना चाहिये।

हे[2] इति। हे पुरोडाश ! तुम जितना अधिक विस्तीर्ण हो सकते हो विस्तीर्ण हो जाओ। तुम्हारा[3] यजमान भी प्रजा आदि से खूब बढ़े। ब्राह्मण वाक्य के द्वारा यजमान के विस्तार को दिखाते हैं। 'उरु प्रथस्व······प्रथयति' इति। अध्वर्यु पुरोडाश का प्रथन करके प्रजा और पशुओं से (प्रजा और पशुओं की वृद्धि के द्वारा) यजमान को ही प्रथित करता है।

त्वचमिति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि पुरोडाश प्रथन के अनन्तर 'त्वचं गृह्णीष्व'। इस मन्त्र से जल के द्वारा (गीले हाथ से) उस पुरोडाश को श्लक्ष्ण[4] (विषमता रहित) बना दे, इतना अधिक जल न लगावे कि पुरोडाश का आटा ही बहने लगे।

हे[5] इति। हे पुरोडाश, तू जल के द्वारा कोमल त्वचा को ग्रहण कर। पुरोडाश को फैलाते समय उँगलियों के दबाव के कारण उसमें जो विषमता—ऊँचा नीचापन—आ गया था, उसको इस श्लक्ष्णीकरण क्रिया के द्वारा दूर किया जाता है। निम्नोन्नत इति। ऊँचे नीचेपन को (विषमता को) हटाने से पुरोडाश का धरातल जरा मसृण हो जाता है, उसमें त्वचा की समानता आ जाती है, इसलिये वह (पुरोडाश) सदेह सा बन जाता है। इसी बात का ब्राह्मण वाक्य से समर्थन करते हैं—'त्वचं······ सतनुं करोति' इति। 'त्वचं गृह्णीष्व' ऐसा कहकर अध्वर्यु मानो उस पुरोडाश को सदेह बनाता है, क्योंकि त्वचा देह में ही होती है। पुरोडाश के श्लथीकरण का विधान करते हैं—'अथ ·····छन्नम्'[6] इति। कपालों पर

---

१. इस तरह फैलावे कि पुरोडाश सब कपालों के ऊपर आ जावे।

२. हे इति। यह मन्त्र का अर्थ है।

३. तुम्हारे द्वारा देवता का यजन करने वाला-आहिताग्नि।

४. कोमल, समतल।

५. यहां से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है।

६. ब्राह्मण वाक्य में 'अथाप आनीय परिमार्ष्टि' इतना अंश विधि है। शेष 'मांस एव···इत्यादि' अर्थवाद है।

अन्तरितमिति। कल्पः—'अन्तरितꣳरक्षोऽन्तरिता अरातय इति सर्वाणि हवीꣳषि त्रिः पर्यग्नि कृत्वा' (आप० श्रौ० १।२५।८) इति।

दर्भैर्दीप्तैः पुरोडाशस्य परितो रक्षसां संशोधनं पर्यग्निकरणम्। अनेन पर्यग्निकरणेन राक्षसजाति-र्व्यवहिता। शत्रवोऽपि व्यवहिताः। तदेतद्विधत्ते—'घर्मो वा एषोऽशान्तः। अर्धमासेऽर्धमासे प्रवृज्यते। यत्पुरोडाशः। स ईश्वरोयजमानꣳशुचाऽप्रदहः। पर्यग्नि करोति। पशुमेवैनमकः। शान्त्या अप्रदाहाय' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। पुरोडाशो योऽस्ति स एव दीप्यमानोऽग्निर्भूत्वा कदाचिदपि न शाम्यति। प्रतिपक्षं तप्तकपालैः सन्तप्यमानत्वात्। स च तापेन यजमानं प्रदग्धुं समर्थः। तत्र[1] पशु[2]प्रचारेण पर्यग्निकरणेन

पुरोडाश का प्रथन करने के अनन्तर जल डाल कर पुरोडाश का परिमार्जन करे—अर्थात् गीले हाथों से पुरोडाश को समतल बनावे उसका ऊँचा नीचापन दूर कर दे। यही श्लक्ष्णीकरण है, यही पुरोडाश का त्वचा-ग्रहण है। माँस[1] के ऊपर ही त्वचा को रखते हैं, इसीलिये माँस त्वचा से ढका रहता है। तत्तेन इति। उस (उपर्युक्त) परिमार्जन के द्वारा पुरोडाश के पिष्ट रूप (आटे के रूप वाले) मांस के ऊपर श्लक्ष्णता (मसृणता-समतलता) रूपी त्वचा का स्थापन करता है। इसीलिये लोक में त्वचा भी श्लक्ष्ण ही दीखती है।

अन्तरितमिति। बौधायन कहता है कि 'अन्तरितम्……अरातयः' इस मन्त्र से सब हवियों का तीन बार पर्यग्नि[2] करण करे—अर्थात् जलती हुई कुशाओं को हवि के चारों ओर घुमा दे।

दर्भैरिति। जलती हुई कुशाओं से चारों ओर राक्षसों का संशोधन (निवारण) करना ही पुरोडाश का पर्यग्नि-करण है। अब मन्त्र का अर्थ बताते हैं—अनेन इति। इस पर्यग्निकरण के द्वारा राक्षस[3] जाति को व्यवहित[4] कर दिया गया—अर्थात् पुरोडाश के समीप आने से रोक दिया गया। शत्रु भी व्यवहित कर दिये गये। उपर्युक्त पर्यग्निकरण का ब्राह्मण वाक्य विधान करता है—'घर्मोवा…अप्रदाहाय' इति। इस ब्राह्मण वाक्य में 'पर्यग्नि करोति' यह मध्यवर्ती अंश विधिवाक्य है, शेष अर्थवाद है। यह जो पुरोडाश है वह दीप्यमान अग्नि बनकर कभी भी शान्त नहीं होता है, क्योंकि यह प्रत्येक पन्द्रह दिन के बाद (प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा के दिन) गरम कपालों के द्वारा तप्त किया जाता है। वह अपने

---

१. ख. ततश्च। २. ख. पशूपचा।

१—हम पहले बता चुके हैं कि मनुष्य द्वारा किये जाने वाले यज्ञ प्राकृत यज्ञ के अनुकरण हैं, प्राकृत यज्ञ आध्यात्मिक आदि भेद से तीन प्रकार का है। पुरोडाश को त्वचा मांस युक्त देहवान् बनाना, प्रकृति के आध्यात्मिक यज्ञ की ओर संकेत है।

२—जलते हुए उल्मुक को किसी वस्तु के चारों ओर घुमाना ही 'पर्यग्निकरण' कहलाता है…परितः अग्नेः करणम्-भ्रामणम्। सब हवियों का 'पर्यग्निकरण करे' का तात्पर्य यह है कि यदि दुग्ध, दधि आदि और भी हवि हों तो उनका भी पर्यग्निकरण करे।

३—मन्त्र में रक्षस् शब्द राक्षस जाति का बोधक है—इस बात को बताने के लिये ही भाष्यकार ने 'रक्षस्' शब्द का अर्थ 'राक्षस' जाति किया।

४—पुरोडाश के चारों ओर जलते हुए कुशों को घुमाना मानो पुरोडाश के चारों ओर अग्निमय चारदिवारी बनाना है। चारदिवारी के कारण अतिसूक्ष्म कीटाणु पुरोडाश के पास नहीं आते—दूर ही रहते हैं—कीटाणु ही यहाँ राक्षस माने गये हैं।

पुरोडाशे पशौ कृते सति प्रदीप्ताग्निरूपपरित्यागेन शान्तो भूत्वा यजमानं न प्रदहति। आवृत्तिं विधत्ते—'त्रिः पर्यग्नि करोति।त्र्यावृद्धि यज्ञः। अथो रक्षसामपहत्यै' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। मन्त्रं व्याचष्टे—अन्तरित्ꣳरक्षोऽन्तरिता अरातयइत्याह। रक्षसामन्तर्हित्यै' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

देव इति। बौधायनः—'पुरोडाशꣳश्रपयति देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठे अधि नाकेऽग्निस्ते तनुवं माऽति धागिति' (बौ० श्रौ० १।१०) इति। आपस्तम्बो मन्त्रभेदमाह—देवस्त्वा सविता श्रपयत्विति-त्युल्मुकैः प्रतितपत्यग्निस्ते तनुवं माऽति धागिति दर्भैरभिज्वलयति' (आप० श्रौ० १।२५।८-९) इति।

हे पुरोडाश प्रवृद्धे नाकनाम्न्यग्नौ त्वामधिश्रित्य सविता देवः पक्वं करोतु। अयमग्निस्तव शरीरस्य भस्मी भावरूपमतिदाहं मा करोतु। सवितृपदस्य नाकपदस्य मातिधागित्यस्य चाभिप्रायमाह—'पुरोडाशं

ताप से यजमान को दग्ध करने में समर्थ है। इसलिए पर्यग्निकरण करे। इस पशु प्रचार रूप पर्यग्निकरण से पुरोडाश को पशु बना दिया जाता है, जिससे वह प्रदीप्ताग्निरूपता का परित्याग करके शान्त हो जाता है, और यजमान को नहीं जलाता है। आवृत्तिम् इति। ब्राह्मणवाक्य पर्यग्निकरण की आवृत्ति का विधान करता है—'त्रिः पर्यग्निकरोति—तीन बार पर्यग्निकरण करे'। क्योंकि यज्ञ त्र्यावृत्[1]—तीन आवृत्ति वाला—है। यह तीन बार पर्यग्निकरण राक्षसों के अपघात के लिये है। मन्त्रम् इति। ब्राह्मण वाक्य मन्त्र का व्याख्यान करता है—'अन्तरितम्…अन्तर्हित्यै'[2] इति। राक्षसों को अन्तर्हित करने के लिये (पुरोडाश से दूर रखने के लिये) ही अध्वर्यु 'अन्तरितम्…' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करता है।

देव इति। बौधायन कहता है—'देवस्त्वा…धागिति'। इस मन्त्र से पुरोडाश का श्रपण करे—पुरोडाश को पकावे। परन्तु आपस्तम्ब यहाँ दो मन्त्र मानता है, पहला—देवस्त्वा सविता श्रपयतु' इतना है। दूसरा—'अग्निस्ते तनुवं माऽतिधाक्' यह है। आपस्तम्ब कहता है कि 'देवस्त्वा…' इस मन्त्र से उल्मुक द्वारा (जलती हुई लकड़ी के द्वारा) पुरोडाश को सामने[3] से तपावे, और 'अग्निस्ते…' इस मन्त्र से पुरोडाश के ऊपरले भाग को जलते हुए कुशों से अभिज्वलित करे।

हे इति।[4] हे पुरोडाश, तुझको सविता देवता खूब दहकते हुए 'नाक' नाम की अग्नि पर रखकर पकावे। यह अग्नि तेरे शरीर को इतना अधिक न जलावे कि उसका भस्म बन जाय। मन्त्र में आए हुए 'सविता, अधिनाके, और माऽतिधाक्' इन शब्दों का अभिप्राय ब्राह्मण वाक्य यों बताता है—'पुरोडाशम्…अनतिदाहाय' इति। कपालों पर रक्खे हुए पुरोडाश को राक्षसों ने ध्वस्त करना चाहा। परन्तु द्युलोक में राक्षसों का नाश करने वाला 'नाक' नाम का अग्नि है, उसने

---

१. 'त्र्यावृत्' का तात्पर्य पहले लिख चुके हैं।

२. अन्तर्पूर्वक धा धातु से क्तिन् प्रत्यय करके 'धा' को 'हि' आदेश हुआ है। अन्तर् पूर्वक 'धा' धातु का अर्थ है 'अन्तर्धान' अर्थात् छिपना। इसलिये मन्त्रार्थ हुआ रक्षः—राक्षसजातिः-अन्तरितम्—अन्तर्हितम्भवतु इति शेषः। अरातयः—रक्षोरूपाः शत्रवोऽपि, अन्तरिताः-तिरोहिता भवन्तु।

३. कहीं सूत्र में 'परितपति' ऐसा पाठ है, उसका अर्थ है—चारों ओर तपावे।

४. यह मन्त्र का व्याख्यान है। भट्ट भास्कर के मत से इस मन्त्र का अर्थ है—हे पुरोडाश, सबका प्रेरक सविता देव तुझे अत्यधिक सुख स्वरूप स्वर्ग के लिये पकावे। अथवा द्युलोक में जो 'नाक' नाम का अग्नि है, जो राक्षसों का घातक है, उस ईश्वररूप अग्नि की संरक्षकता में तुझे पकावे—अर्थात् पकाते समय नाक नाम की अग्नि तेरी रक्षा करे, अग्नि कृशावस्था का अतिक्रमण करके अर्थात् अधिक तेज होकर तेरे शरीर को न जलावे।

वा अधिश्रितꣳरक्षाꣳस्यजिघाꣳसन्। दिवि नाको नामाग्नी रक्षोहा। स एवास्माद् रक्षाꣳस्यपाहन्। देवस्त्वा सविता श्रपयत्वित्याह। सवितृप्रसूत एवैनꣳश्रपयति। वर्षिष्ठे अधि नाक इत्याह। रक्षसामपहत्यै। अग्निस्ते तनुवं माऽति धागित्याहाऽनतिदाहाय' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

अग्न इति। बौधायनः—'गार्हपत्यमभिमन्त्रयतेऽग्ने हव्यꣳ रक्षस्वेति' (बौ० श्रौ० १।१०) इति। आपस्तम्बस्तु पूर्वमन्त्रस्यैव शेषं मन्यते। पूर्ववद् व्याचष्टे—'अग्ने हव्यꣳ रक्षस्वेत्याह गुप्त्यै' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। आग्नीध्रं प्रति प्रैषमन्त्रमुत्पाद्य व्याचष्टे—'अविदहन्तः श्रपयतेति वाचं

ही इस पुरोडाश से राक्षसों को हटाकर उनका (राक्षसों का) नाश किया। 'देवस्त्वा···' इस मन्त्र के उच्चारण का अभिप्राय यह है कि सविता देवता की आज्ञा से ही—''आग्नीध्र'—इस पुरोडाश का श्रपण (परिपाक) करता है। 'वर्षिष्ठे अधिनाके' का उच्चारण राक्षसों के अपघात के लिए है। 'अग्निस्ते···' इस वाक्य का उच्चारण अतिदाह (अत्यधिक आँच) से बचाने के लिये है।

अग्ने इति। बौधायन कहता है कि 'अग्ने···रक्षस्व' इस मन्त्र से गार्हपत्य अग्नि को अभिमन्त्रित करे। परन्तु आपस्तम्ब कहता है कि 'अग्ने···रक्षस्व' यह वाक्य पूर्वमन्त्र का (अग्निस्ते तनुवं माऽतिधाक्—इस मन्त्र का) ही शेष है—अंश है।[1] अर्थात् आपस्तम्ब के मत से पूरा मन्त्र यों है—'अग्निस्ते तनुवं माऽतिधाग्, अग्ने हव्यꣳ रक्षस्व' इति।

पूर्ववद् इति। ब्राह्मण वाक्य पहले की तरह मन्त्र का व्याख्यान करता है—'अग्ने हव्यम्···गुप्त्यै' इति। 'हे अग्ने, तुम 'हव्य'[2] की रक्षा करो'। यह कथन हव्य के गोपन (रक्षण) के लिये है। आग्नीध्रमिति। आग्नीध्र नामक ऋत्विज् के प्रति जो प्रैषमन्त्र[3] बोलना है, उसकी कल्पना करके उसका (कल्पित प्रैष मन्त्र का) व्याख्यान करते हैं—'अविदहन्तः···श्रुत्यै करोति' इति। आठवें अनुवाक के भाष्य के प्रारम्भ में ही हवि संवाप के समय मौनव्रत ग्रहण करना बताया गया है, प्रैष मन्त्र का उच्चारण करके उस व्रत को यहाँ समाप्त कर दिया जाता है। यही बात 'अविदहन्तः श्रपयतेति वाचं विसृजेत्'—'हे आग्नीध्र! तुम पुरोडाश को इस प्रकार पकाओ कि वह जले नहीं' ऐसा कहकर मौनव्रत[4] का त्याग कर दे।' इस विधिवाक्य से बताई गई है। भाष्यकार 'अविदहन्तः ' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य की व्याख्या स्वयं करते हैं—'संवपनकाले' इति। हवि संवपन के समय जो मौनव्रत लिया था उसको अब छोड़ दे। 'विशेषरूप[5] से दाह' का तात्पर्य है—भस्म (राख) बना देना। इससे उसे बचाते हुए ही श्रपण करे—अच्छी तरह पाक करे। इसीलिये श्रुति में कहा गया है कि जो बिलकुल जल गया है, वह निर्ऋति देवता का भाग है। जो पका नहीं है, कच्चा रह गया है वह रुद्र का भाग है। जो

---

१. आपस्तम्ब के मत से अभिमन्त्रण नहीं किया जाता केवल परितपन और अभिज्वलन होता है।

२. देवता के उद्देश्य से जो द्रव्य दिया जाता है, उसे 'हव्य' कहते हैं।

३. 'प्रैष' मन्त्र संहिता में नहीं पढ़े गए हैं, वे ब्राह्मण ग्रन्थ में ही उपलब्ध हैं।

४. यद्यपि 'वाचं विसृजेत्' का शब्दार्थ यह है कि जो वाणी अब तक रोकी हुई थी, उसे छोड़ दे, बोलना प्रारम्भ कर दे। तथापि तात्पर्यार्थ यही है कि मौन व्रत भङ्ग कर दे।

५. मूल में 'अविदहन्तः' शब्द है, 'वि' पूर्वक 'दह्' धातु से शतृ प्रत्यय करने पर 'विदहत्' शब्द बनता है, फिर उसका 'नञ्' के साथ समास करने पर 'अविदहत्' शब्द बन जाता है। विपूर्वक दह् धातु का अर्थ होता है 'विशेष रूप से दाह'। वह 'विशेष रूप से दाह' क्या वस्तु है, इसी बात को बताने के लिये यह पङ्क्ति लिखी गई है।

विसृजते। यज्ञमेव हवीꣳष्यभिव्याहृत्य प्रतनुते। पुरोरुचमविदाहाय शृत्यै करोति' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। संवपनकाले यो वाङ्नियमस्तमिदानीं परित्यजेत्। विशेषेण दाहो भस्मीभावस्तं परित्यज्य सम्यक् पाकं श्रपणं कुरुत। अत एवाम्नायते 'यो विदग्धः स नैर्ऋतो योऽशृतः स रौद्रो यः शृनः स सदेवस्तस्माद-विदहता शृतं कृत्यः सदेवत्वाय' (तै० सं० २।६।३) इति।

अविदहन्त इति बहुवचनं पूजार्थम्। अस्मिन् काले वाग्विमोके सति यज्ञमेवाभिलक्ष्य तत्रापि प्रधानभूतानि हवीꣳष्यभिलक्ष्य वाचमुच्चार्य यज्ञं विस्तारितवान् भवति। किञ्च विशेषेण दाहनिवृत्त्यै सम्यक्-पाकगुणसिद्धये चैनं प्रैषमुच्चारयन् हविः स्वीकारात्पुरैव देवेभ्यो रुचिं कृतवान् भवति।

पुरोडाशाच्छादनं विधत्ते—'मस्तिष्को वै पुरोडाशः। तं यन्नाभिवासयेत्। आविर्मस्तिष्कः स्यात्। अभिवासयति तस्माद्गुहा मस्तिष्कः' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। मस्तिष्कः शिरस्यवस्थितो मेदसः

भाग पक गया है वह सदेव है—देवता के साथ उसी का सम्बन्ध है—देवभोग्य वही है। इसलिए दाह न करके पकाया गया हवि सदेवत्व के लिये—देव संबन्ध प्राप्ति के लिये होता है। 'अविदहन्तः' यह बहुवचन आदरार्थ है। क्योंकि आग्नीध्र के प्रति उक्त प्रैष कहा गया है। आग्नीध्र एक है, एक के लिये एकवचन का ही प्रयोग होना चाहिये। आग्नीध्र के प्रति आदर भाव का प्रदर्शन करना ही बहुवचन का प्रयोजन है। अस्मिन्निति। इस[1] समय (प्रैष के उच्चारण के समय) मौनव्रत तोड़ने पर यज्ञ को अभिलक्षित करके उसमें भी प्रधानभूत हवियों को अभिलक्षित करके वाणी के उच्चारण[2] से अध्वर्यु ने यज्ञ को ही विस्तृत[3] बनाया।

किञ्च इति।[4] इसके अतिरिक्त, पुरोडाश में विशेषरूप से दाह की (भस्मता की) निवृत्ति और उसमें अच्छी तरह परिपाक रूपी गुण की सिद्धि के लिये इस[5] प्रैष का उच्चारण करके अध्वर्यु ने हवि के स्वीकार से पहले ही देवताओं में

---

१. ऊपर की पंक्तियाँ 'इस समय' (प्रैष के उच्चारण के समय) से लेकर 'बनाया' तक सायणाचार्य की उन पंक्तियों का हिन्दी अनुवाद हैं जो उन्होंने 'यज्ञमेव हवीꣳष्यभिव्याहृत्य प्रतनुते' इस ब्राह्मण वाक्य के व्याख्यान के रूप में लिखी हैं। सायणाचार्य की पंक्तियाँ मूल में 'अस्मिन् काले' से लेकर 'विस्तारितवान् भवति' तक हैं। श्रीसायण ने अभिव्याहृत्य के अभि का संबन्ध 'यज्ञम्' और 'हवींषि' दोनों के साथ किया है। इसीलिये उन्होंने लिखा है 'यज्ञमभिलक्ष्य तत्रापि प्रधानीभूतानि हवींष्यभिलक्ष्य'। 'प्रतनुते' इस क्रियापद की आकांक्षा के लिये उन्हें 'यज्ञम्' पद की सावृत्ति करनी पड़ी है। इसीलिए उन्होंने 'प्रतनुते' की व्याख्या की 'यज्ञं विस्तारितवान् भवति'। हमें यहाँ यह कहना है कि 'अभि' का सम्बन्ध केवल हवींषि के साथ ही करना उचित है, वही सन्निहित हैं। 'अविदहन्तः श्रपयत' यह व्याहरण (उच्चारण) पुरोडाश आदि हवि को ही लक्ष्य करके कहा गया है, श्रपण हवियों का ही हुआ करता है। ऐसा करने से 'यज्ञम्' इस पद की आवृत्ति की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। 'यज्ञम्' का सम्बन्ध केवल 'प्रतनुते' के साथ ही मानना उचित है। 'यज्ञमेव' में 'एव' शब्द का स्वारस्य भी इसी में है। अङ्ग की पूर्ति का तात्पर्य अङ्गी की पूर्ति में ही होता है। पुरोडाशश्रपणरूप अङ्ग की पूर्ति से यज्ञरूप अङ्गी की पूर्ति का अवधारण करने में ही 'एव' का तात्पर्य है। वाक्य में पदों का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए 'हवींषि अभिव्याहृत्य यज्ञमेव प्रतनुते' इति।

२. 'अविदहन्तः श्रपयत' इस मन्त्र के उच्चारण से।

३. विधि पूर्वक सम्पन्न किया। प्रतनुते में प्र का तात्पर्य प्रकर्ष बताने में है। विधिपूर्वकता ही यज्ञ का प्रकर्ष है।

४. यह मूल में 'पुरोरुचम्···' इस ब्राह्मणांश के व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद है।

५. 'अविदहन्तः श्रपयत' इस प्रैष का।

खण्डो गुहा गूढ आच्छादित इत्यर्थः । छादनयोग्यं द्रव्यं विधत्ते—'भस्मनाऽभिवासयति । तस्मान्मा७-सेनास्थि छन्नम्' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। यस्मान्मेदः-स्थानीयः पुरोडाशो मांसस्थानीयेन भस्मनाऽऽच्छादितस्तस्माल्लोकेऽप्यस्थिसंश्लिष्टं मेदो मांसेन छन्नं भवति।

पुरोडाशस्योपरि भस्मनोऽध्यूहने[1] साधनं विधत्ते—'वेदेनाभिवासयति । तस्मात् केशैः शिरश्छन्नम्' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। दर्भमुष्टिनिर्मितो वेदिसम्मार्जनहेतुर्वेदः' । तस्मिन् दर्भाणां केशैः साम्यम्। एतद्वेदनं प्रशंसति—"अखलति भावुको भवति। य इदं वेद" (तै० ब्रा० ३/२/८) इति । केशरहितशिरोयुक्तः

हवि के प्रति रुचि उत्पन्न की।

पुरोडाश इति। अब ब्राह्मण पुरोडाश के आच्छादन का विधान करता है—'मस्तिष्को वै पुरोडाशः'''गुहा मस्तिष्कः' इति[1]। पुरोडाश मस्तिष्क (भेजा) है। यदि उसको अध्वर्यु ढकेगा नहीं, तो मस्तिष्क उघड़ा हुआ (खुला हुआ) रह जायगा। इसलिये पुरोडाश को ढक दे[2]। इसीलिये मस्तिष्क गुहा है—छिपा हुआ अङ्ग है। भाष्यकार मस्तिष्क शब्द का अर्थ लिखते हैं—मस्तिष्क इति। सिर में अवस्थित कपालों से आच्छादित मेद का खण्ड ही मस्तिष्क कहलाता है[3]। पुरोडाश को किस वस्तु से आच्छादित करे, इसीलिये शरीर में भी हड्डी मांस से ढकी रहती है। क्योंकि यज्ञ में—पुरोडाश मेदः स्थानीय है—अर्थात् पुरोडाश को मेद के समान माना गया है और उसको मांस स्थानीय भस्म से आच्छादित किया जाता है। इसीलिये लोक में भी (लौकिक शरीरों में भी) हड्डियों में चिपका हुआ मेद का भाग भी मांस से ढका हुआ होता है।

पुरोडाश इति। पुरोडाश के ऊपर भस्म डालने के साधन का (उपकरण का) विधान करते हैं—'वेदेना'''छन्नम्' इति। वेद के द्वारा भस्म पुरोडाश पर डाले। इसीलिये सिर केशों से ढका रहता है। यहाँ वेद शब्द का क्या अर्थ है? यह बताते हैं—दर्भ इति। मुट्ठी भर कुशों से बनाया गया यज्ञ का एक उपकरण 'वेद' कहलाता है, उनकी केशों से समता है। कुशों में केश सादृश्य के ज्ञान की प्रशंसा करते हैं—'अखलतिः, य एवं वेद' इति। जो इस बात को जानता है, वह कभी खलति (गञ्जा) नहीं होता। केशरहित सिर वाले व्यक्ति को 'खलति'[4] कहते हैं, जिस व्यक्ति के सिर के बाल किसी कारण से झड़ते रहते हैं, उसको 'खलति भावुक'[5] कहते हैं, जो 'खलति भावुक' नहीं होता उसे 'अखलति भावुक' कहते हैं।

---

१. ख. नोद्धूनने।

---

१. इस ब्राह्मणवाक्य में 'अभिवासयति' यह मध्यवर्ती अंश विधिवाक्य है, शेष अर्थवाद है।

२. जैसे शरीर में भेजा कपालों से आवृत होता है, ऐसे ही यज्ञों में भी पुरोडाश को भेजा माना गया है और उसे भी ढका हुआ होना चाहिये, अतः उसे भस्म से ढक देते हैं।

३. शरीर में सात धातु हैं, रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। इनमें चौथा मेद एक चिकना-चिकना-सा पदार्थ है, जिसके अधिक हो जाने से मनुष्य अधिक मोटा हो जाता है।

४. गञ्जा।

५. 'खलति' पूर्वक भू धातु से ताच्छील्य अर्थ में औणादिक 'उकञ्' प्रत्यय हो जाता है। 'खलतिर्भवितुं शीलमस्य' इति खलतिभावुकः।

खलतिस्तद्भवनशीलो न भवति।

समिति। कल्पः—'सं ब्रह्मणा पृच्यस्वेति वेदेन पुरोडाशे साङ्गारं भस्माध्यूहति' इति। (आप० श्रौ० १।२५।१२) हे पुरोडाश, मन्त्रेण सम्पृक्तो भव। समन्त्रकत्वप्रकाशकं मन्त्रमन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याचष्टे। पशोर्वै प्रतिमा पुरोडाशः। स नायजुष्कमभिवास्यः। वृथेव स्यात्। ईश्वरा यजमानस्य पशवः प्रमेतोः। सं ब्रह्मणा पृच्यस्वेत्याह। प्राणा वै ब्रह्म। प्राणाः पशवः। प्राणैरेव पशून् संपृणक्ति। न प्रमायुका भवन्ति' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

पर्यग्निकरणेन पुरोडाशस्य पशूकृतत्वात् पशोश्च मन्त्रसंस्कार्यत्वाद्यजुषा विनाऽभिवासनमनर्थकं स्यात्। न केवलं वैयर्थ्यं किन्तु यजमानस्य पशवश्च मर्तुं समर्था भवन्ति। सोऽयं व्यतिरेकः। उक्तदोष-परिहाराय मन्त्रेण संपृच्यस्वेत्येवमयं मन्त्रो ब्रूते। तत्र सम्पर्कप्रतियोगी मन्त्रः। पशून् मरणात्पालयतीति प्राणस्वरूपः। पशवश्च प्राणाधारत्वात्प्राणस्वरूपाः। अतो योग्यत्वात्सम्पर्के सति पशवो मरणशीला न भवन्ति। सोऽयमन्वयः। मन्त्रेण यथा सम्पर्कस्तथा भस्मनापि सम्पर्को युक्त एवेत्याह—'यजमानो वै पुरोडाशः, प्रजाः पशवः पुरीषम्। यदेवमभिवासयति। यजमानमेव प्रजया पशुभिः समर्धयति' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति। पुरीषं भस्म।

समिति।[१] 'सं ब्रह्मणा पृच्यस्व' इस मन्त्र से वेद (कुशमुष्टि निर्मित यज्ञोपकरण) के द्वारा पुरोडाश के ऊपर अङ्गारसहित भस्म डाले—अर्थात् अङ्गारसहित भस्म से पुरोडाश का आच्छादन करे। **हे इति**।[२] हे पुरोडाश! तू मन्त्र से संबद्ध हो जा। **समन्त्रक इति**। 'संब्रह्मणा पृच्यस्व' यह मन्त्र पुरोडाश के साथ मन्त्र सम्बन्ध का प्रकाशक है, ब्राह्मणवाक्य इस मन्त्र का अन्वयव्यतिरेक प्रदर्शनपूर्वक व्याख्यान करता है—'पशोर्वै'''न प्रमायुका भवन्ति' इति। पुरोडाश पशु की प्रतिमा है अर्थात् पुरोडाश पशु के सदृश है। बिना यजु के (यजुर्वेद के मन्त्र के) उसका आच्छादन नहीं करना चाहिये। यदि यजुर्मन्त्र के बिना आच्छादन किया जाएगा तो वह व्यर्थ जैसा ही होगा। ब्रह्म (मन्त्र) प्राणस्वरूप है। पशु भी प्राण स्वरूप है। समन्त्रक आच्छादन से मानो पशुओं को प्राणों से संयुक्त करता है, जिससे वे मरते नहीं हैं।

पर्यग्नि इति। पर्यग्निकरण[३] के द्वारा पुरोडाश[४] में पशुभाव उत्पन्न किया गया था। पशु (पुरोडाश) का मन्त्र द्वारा संस्कार करना आवश्यक होता है, इसलिये यजुर्मन्त्र के बिना अभिवासन (आच्छादन) व्यर्थ होगा। केवल अभि-वासन की व्यर्थता होगी, इतना ही नहीं, किन्तु मन्त्ररहित अभिवासन से यजमान के पशु प्राण भी छोड़ सकते हैं। यही

---

१. यह वचन आपस्तम्ब का है।

२. यह मन्त्र के भाष्यकार कृत व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद है। 'ब्रह्मणा (मन्त्रेण) सम्पृच्यस्व' यह मन्त्र का अन्वय है। श्री भट्ट भास्कर ने यहाँ 'ब्रह्मणा' को भस्म का विशेषण मानकर 'बृहता'।

३. जलती हुई लकड़ी को किसी वस्तु के चारों ओर घुमाना ही पर्यग्निकरण है।

४. पर्यग्निकरण से पुरोडाश में पशुभाव पैदा होता है। देखो 'पर्यग्निकरोति' पशुमेवैनमकः' इत्यादि तैत्तिरीय ब्राह्मण, तीसरा काण्ड, दूसरा प्रपाठक, आठवाँ अनुवाक। मूलोक्त ब्राह्मण के उद्धरण में 'प्रमेतोः' और 'प्रमायुक' ये दो शब्द आए हैं। 'प्रमेतोः' में प्रपूर्वक 'मीञ्हिंसायाम्' धातु से 'ईश्वरेतोसुन्कसुनौ' इस मन्त्र से 'तोसुन्' प्रत्यय हुआ है तुमुन् के अर्थ में। छान्दस प्रयोग होने से 'आत्व' नहीं हुआ। गुण होकर 'प्रमेतोः' हो गया। 'प्रमायुकः' में पूर्वोक्त धातु से 'उकञ्' प्रत्यय हुआ है, आत्व होकर 'युक्' का आगम हो गया है—मरणधर्मा या मरणशील इसका अर्थ है।

एकतायेति। कल्पः—'अत्रैतत्पात्री संक्षालनं गार्हपत्यादङ्गारेणाभितप्य हुत्वाऽन्तर्वेदि प्रतीचीनं तिसृषु लेखासु निनयत्येकताय स्वाहा द्वितायस्वाहा त्रितायस्वाहेति (बौ० श्रौ० १।१०) इति। तेभ्य इदं पात्रीप्रक्षालनोदकं हुतमस्तु। एकतादीनामुत्पत्तिप्रकारमाह—'देवा वै हविर्भूत्वाऽब्रुवन्। कस्मिन्निदं म्रक्ष्यामह इति। सोऽग्निरब्रवीत्। मयि तनूः सन्निदध्वम्। अहं वस्तं जनयिष्यामि। यस्मिन् म्रक्ष्यध्व

व्यतिरेक है[१]।

उक्त इति। उक्त[२] दोष के परिहार के लिये ही—'संब्रह्मणा पृच्यस्व' यह मन्त्र कहता है कि 'हे पुरोडाश, तुम मन्त्र से संपृक्त (संबद्ध) हो जाओ। संपर्क (संबन्ध) का प्रतियोगी[३] मन्त्र पशुओं को मौत से बचाने के कारण प्राणस्वरूप है, पशु भी प्राणों का आधार होने के कारण प्राणस्वरूप[४] ही है। अतः परस्पर[५] सम्बन्ध के (संपर्क) के योग्य होने के कारण, दोनों[६] का परस्पर सम्बन्ध होने पर पशु मरणशील नहीं होते। यही अन्वय है।[७]

मन्त्रेण इति। पुरोडाश का संपर्क जैसे मन्त्र के साथ युक्त है, उसी प्रकार भस्म के साथ भी युक्त ही है—इस बात को ब्राह्मण वाक्य बताता है—'यजमानो···समर्धयति' इति। यजमान ही प्रजा है, पशु है और पुरीष (भस्म) है। इस प्रकार जो अध्वर्यु पुरोडाश को भस्म से आच्छादित करता है वह यजमान को ही प्रजा से और पशुओं से समृद्ध करता है। **पुरीषम् इति।** पुरीष का अर्थ है 'भस्म'।

एकताय इति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है—इस अवसर पर—जबकि पुरोडाश को भस्म से आच्छादित कर दिया गया है—उस पात्री को—जिसमें आटा गूँदा था—धो ले। उस धोवन को गार्हपत्य के अङ्गारे से तपाकर और उठाकर वेदि के मध्य में बनाई हुई तीनों रेखाओं पर पूर्व से पश्चिम की ओर 'एकताय स्वाहा' इस मन्त्र से गिरावे। एकत[८] आदि तीनों देवताओं के लिए यह पात्री की धोवन का पानी हुत होवे। एकत आदि की उत्पत्ति का प्रकार बताते हैं—

---

१. यद्यपि अन्वय और व्यतिरेक का स्वरूप हम पहले भी बता चुके हैं तथापि दोबारा भी यहां संक्षेप से लिख देते हैं। तत्सत्त्वे सत्सत्त्वमन्वयः। अर्थात् उसके होने पर उसका होना अन्वय कहलाता है। तदभावे तदभावो व्यतिरेकः। अर्थात् उसके अभाव में उसका भी अभाव व्यतिरेक माना जाता है। यहाँ पहले व्यतिरेक बताया गया है, मन्त्र के अभाव में अभिवासन के सार्थकत्व का अभाव होगा और यहाँ यजमान के पशुओं का भी अभाव होगा। क्योंकि वे मर जायँगे। अन्वय का समन्वय आगे भाष्यकार स्वयं करेंगे।

२. अभिवासन (आच्छादन) का व्यर्थ होना और पशुओं का मर जाना रूप दोष।

३. जिस सम्बन्ध को बताया जाय वह सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है, जिसमें या जिसके साथ सम्बन्ध बताया जाता है वह सम्बन्ध का अनुयोगी होता है, यहां मन्त्र का सम्बन्ध (सम्पर्क) पुरोडाश के साथ बताया गया है। इसलिये मन्त्र के सम्बन्ध (सम्पर्क) का प्रतियोगी है और पुरोडाश उसका अनुयोगी है।

४. जैसे 'अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः' इत्यादि स्थल में प्राणों के हेतु (प्राणों के रक्षक) अन्न को भी 'प्राण' कह दिया जाता है, इसी प्रकार यहाँ प्राणों के हेतु (रक्षक) मन्त्र को भी प्राण कह दिया गया है।

५. दोनों के प्राणस्वरूप होने के कारण।

६. मन्त्ररूप और पशुरूप प्राणों का।

७. यहाँ मन्त्र की सत्ता से पशुओं की सत्ता बताई गई है—इसलिये अन्वय है।

८. यह मन्त्र का अर्थ है। एकत, द्वित, त्रित ये तीन देवताओं की तीन संज्ञाएँ हैं। इनकी यह संज्ञाएँ क्यों हुईं, यह बात आगे बताई जायेगी।

इति। ते देवा अग्नौ तनूः संन्यदधत। तस्मादाहुः। अग्निः सर्वा देवता इति। सोऽङ्गारेणापः अभ्यपातयत्। तत एकतोऽजायत। स द्वितीयमभ्यातयत्। ततो द्वितोऽजायत। स तृतीयमभ्यपातयत्। ततस्त्रितोऽजायत। यद्‌भ्योऽजायन्त। तदाप्यानामाप्यत्वम्। यदात्मभ्योऽजायन्त। तदात्म्यानामात्म्यत्वम् (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

देवाः पूर्वं व्रीह्यवघातादिना हविः सम्पाद्य बीजवधादिपापलेपः कस्मिन् पुरुषे[1] मार्जनीय इति विचार्याग्निवचनेन स्ववीर्यमग्नौ स्थापितवन्तः। ततः सोऽग्निः सर्वदेववीर्यधारिणाऽङ्गारेणाब्देवतामभिलक्ष्य तद्वीर्यमपातयत्। तस्मादुत्पन्नानामेकतादि नामकानां देवविशेषाणामापो मातरो देवा आत्मानः पितर इत्याप्यनामकत्वमात्म्यनामकत्वं च युक्तम्।

स च लेपः परम्परया व्रीह्यवघातिनि पुरुषे पर्यवसित इत्याह—'ते देवा आप्त्येष्वमृजत। आप्त्या

'देवाः[1]···आत्म्यत्वम्' इति। देवों[2] ने पहले व्रीहि के अवघात आदि के द्वारा हवि का सम्पादन करके कहा कि यह बीज वध[3] आदि से होने वाले पाप का लेप किस पुरुष पर पोंछा जाय (डाला जाय) अग्नि ने कहा कि तुम सब अपने शरीरों को—अपने वीर्य को—मुझमें स्थापित कर दो, मैं तुम्हारे लिए उस पुरुष को पैदा कर दूंगा जिसमें तुम बीज वधादिजन्य पाप के लेप को पोंछ सकोगे। उन देवों ने अग्नि के कहने से अपने शरीरों को—अपने वीर्य को—अग्नि में स्थापित कर दिया। इसीलिये विद्वान् लोग कहते हैं कि 'अग्नि ही सारे देवता हैं'। उस अग्नि ने सब देवों के वीर्य को धारण करने वाले अङ्गारे से जल देवता को अभिलक्षित करके—अर्थात् जल देवता में—प्रथम वीर्य को डाल दिया। उससे एकत का जन्म हुआ, उसने (अग्नि ने) दूसरे वीर्य को जल में डाला उससे 'द्वित' की उत्पत्ति हुई, उसने तीसरे को जल में डाला तब 'त्रित' का जन्म हुआ। एकत[4] आदि तीनों आप्त्य हैं इनका आप्त्यत्व यही है कि ये अप् से (जल से) पैदा हुए हैं। ये तीनों 'आत्म्य' भी हैं, इनका आत्म्यत्व यही है कि ये आत्माओं से (आत्मरूप देवों से) पैदा हुए हैं। इन एकत आदि नाम वाले देवविशेषों की माताएँ अप् हैं और आत्मरूप देव इनके पिता हैं। इसलिये इनके 'आप्त्य' और 'आत्म्य' यह दोनों नाम युक्तियुक्त हैं।

---

१. क. ग. पुरोडाशे मा।

---

१. यह ब्राह्मण ग्रन्थ का उद्धरण है।
२. यह मूलोक्त ब्राह्मण ग्रन्थ का और श्री सायणाचार्य कृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद है।
३. अवघात करने से (कूटने से) व्रीहि, यव आदि के ऊपर का छिलका अलग हो जाता है, जिससे उसमें अङ्कुरोत्पादन की शक्ति नहीं रहती। यही बीजवध है। इसे भी शास्त्र में पाप माना गया है।
४. श्री भट्टभास्कर ने 'एकत आदि शब्दों की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है—पहले एक, द्वि और त्रि शब्द से सार्वविभक्तिक तसिल् हुआ। जिससे एकतः, द्वितः और त्रितः ये तीनों शब्द बने। ये तीनों अव्यय हैं। इसमें 'बहुलं छन्दसि' के आधार पर 'एकतः अभिपाताद् अस्यास्ति जन्म' इत्यादि विग्रह करके मत्वर्थीय 'अर्श आद्यच्' प्रत्यय किया, 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' से 'अस्' टि का लोप हो गया। इस प्रकार एकत आदि की सिद्धि हो जाती है। वस्तु तस्तु एक आदि शब्दों को पूरणार्थक मानकर उनसे भाव में 'तल्' प्रत्यय करके एकता, द्विता और त्रिता शब्द बनाए जायें। फिर उनसे 'एकता (प्रथमता) स्यास्तीति' इस विग्रह के अनुसार अर्श आद्यच् किया जाय, 'यस्येति च' से आ का लोप होकर 'एकत' आदि आसानी से बन जायेंगे।

अमृजत सूर्याभ्युदिते। सूर्याभ्युदितः सूर्याभिनिम्रुक्ते । सूर्याभिनिम्रुक्तः कुनखिनि। कुनखी श्यावदति। श्यावदन्नग्रदिधिषौ। अग्रदिधिषुः परिवित्ते। परिवित्तो वीरहणि। वीरहा ब्रह्महणि । तद् ब्रह्महणं नात्यच्यवत' (तै० ब्रा० ३/२/८) इति।

आप्या एकतादयः । उदयास्तमयकालयोः सुप्तौ पुरुषा (सूर्या)वभ्युदिताभिनिम्रुक्तौ तथा चोक्तम्—

'सुप्ते यस्मिन्नस्तमेति सुप्ते यस्मिन्नुदेति च।
अंशुमानभिनिम्रुक्ताभ्युदितौ तौ यथाक्रमम् ॥' (अ० को० का २ ब्र० व० ५) इति।

नखवक्रत्वं दन्तमालिन्यञ्चात्र रोगविशेषकृतम् । ज्येष्ठायामनूढायां कनिष्ठामूढ्वाऽवस्थितोऽग्रदिधिषुः। ऊढवति कनिष्ठे सति विवाहरहितो ज्येष्ठः परिवित्तः । वीरस्य क्षत्रियस्य हन्ता वीरहा। ब्राह्मणस्य हन्ता ब्रह्महा। एतेष्वाप्यानामेकतादीनां देवानां पापलेपमार्जनायैव सृष्टत्वात्तेषु तन्मार्जनमुचि-

सच इति'। और वह (पूर्वोक्त) बीजवध आदि से होने वाले पाप का लेप अन्त में परम्परा से ब्रह्महत्या करने वाले पुरुष पर पड़ता है। इस बात को ब्राह्मणवाक्य बताता है—'ते देवा···नात्यच्यवत' इति। अर्थात् 'उन देवों ने उस बीजवधादिजन्य पाप के लेप को अप् से उत्पन्न होने वाले एकत आदि आप्य देवताओं पर पोंछा (डाला) आप्यों ने (एकत आदि देवताओं ने) उसे 'सूर्याभ्युदित' (सूर्योदय तक सोने वाले व्यक्ति) पर फेंका, सूर्याभ्युदित ने उसे 'सूर्याभिनिम्रुक्त' (सूर्यास्त तक सोने वाले व्यक्ति) पर डाल दिया। 'सूर्याभिनिम्रुक्त' ने कुनखी पर (बुरे नाखून वाले पर) कुनखी ने श्यावदन्त पर (मैले दान्त वाले व्यक्ति पर) श्यावदन्त ने अग्रदिधिषु पर (बड़ी कन्या के अविवाहित रहते हुए जो छोटी कन्या से विवाह करता है, उस व्यक्ति पर) अग्रदिधिषु ने परिवित्त पर (छोटे भाई के विवाहित हो जाने पर अविवाहित बड़े भाई पर) परिवित्त ने वीरघाती (क्षत्रिय की हत्या करने वाले व्यक्ति पर) डाल दिया और वीरघाती ने उसे ब्रह्महा (ब्रह्महत्या करने वाले पर डाल दिया। उस पाप ने ब्रह्महा का अतिक्रमण नहीं किया, अर्थात् वह पापलेप ब्रह्मघाती को छोड़कर दूसरी जगह नहीं गया।

मूलोक्त 'ते देवा आप्येष्वमृजत' इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ में जो आप्य, सूर्याभ्युदित, सूर्याभिनिम्रुक्त आदि शब्द आए हैं, उनका विवरण भाष्यकार स्वयं करते हैं—'आप्या इति।' आप्य शब्द से पूर्व चर्चित एकत आदि देवता लिये गये हैं। सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सोते रहने वाले पुरुषों को क्रमशः सूर्याभ्युदित और सूर्याभिनिम्रुक्त कहते हैं। जैसा कि कहा भी है—सुप्ते[2] इति। जिनके सोते रहते सूर्य अस्त या उदित हो जाता है। उनको क्रमशः 'अभिनिम्रुक्त' और 'अभ्युदित' कहते हैं।

नखवक्रत्वम् इति। नाखूनों का टेढ़ापन और दाँतों की मलिनता रोग विशेष के कारण होते है। ज्येष्ठ कन्या के अविवाहित रहते कनिष्ठ कन्या के साथ विवाह करके गृहस्थी बना हुआ व्यक्ति 'अग्रदिधिषु' कहलाता है। छोटे भाई के विवाहित हो जाने पर अविवाहित बड़ा भाई 'परिवित्त' कहलाता है। क्षत्रिय को मारने वाला 'वीरहा' और ब्राह्मण को मारने वाला 'ब्रह्महा' कहा गया है। एतेष्वा इति। इनमें (पूर्वोक्त आप्य आदियों में) 'एकत' आदि आप्य देवों की

१. मूल में 'व्रीह्यवघातिनि' ऐसा पाठ है, वह अशुद्ध है, 'ब्रह्मघातिनि, ब्रह्महणि, ब्रह्मघ्नि' इत्यादि में से कोई एक पाठ होना चाहिए या इनके स्थान में इनका समानार्थक कोई अन्य शब्द होना चाहिये।

२. यह श्लोक कहाँ का है यह भाष्यकार ने नहीं लिखा। इसका अन्वय इस प्रकार है—यस्मिन् सुप्ते अंशुमान अस्तम् एति, किञ्च यस्मिन् सुप्ते अंशुमान् उदेति, तौ यथाक्रमम् अभिनिम्रुक्ताभ्युदितौ कथितौ।

तम् । सूर्याभ्युदितादीनां ब्रह्महान्तानां पापप्रवणत्वान्निम्नगामिनो जलस्येव लेपस्यापि तेषु प्रवाहो युक्तः। ब्रह्महत्यायाः पापाधिक्यतारतम्यविश्रान्ति भूमित्वाल्लेपो ब्रह्महणं नातिक्रामति।

प्रक्षालनोदकस्य लेखासु निनयनं विधत्ते—'अन्तर्वेदि निनयत्यवरुद्ध्यै' (तै० ब्रा० ३।२।८) इति। एतेन निनयनेन कर्मफलप्रतिबन्धकपापलेपस्यापनीतत्वात्फलसम्पादनायेदं निनयनं सम्पद्यते। तस्य जलस्य वह्नितापं विधत्ते—'उल्मुकेनाऽभिगृह्णाति शृतत्वाय। शृतकामा इव हि देवाः' (तै० ब्रा० ३।२।८) इति। शृतं पक्वम्। यः शृतः स सदेवः (तै० सं० २।६।३) इति पूर्वमुदाहृतम्। अत्र विनियोग सङ्ग्रहः —

'संवपामि हविर्वापः समा तत्र जलं क्षिपेत्।
अद्भ्यः संप्लाव्य तप्ताभिर्जलं(न)संयौत्यशेषतः ॥१॥
अग्नाग्नी निर्दिशेद्भागौ मखपिण्डं करोति हि ।
घर्मः कपाले निक्षिप्य प्रथयेदुरुमन्त्रतः ॥२॥

उत्पत्ति पापलेप को धोने के लिए ही हुई है, इसलिये उनमें पापको धो देना उचित ही है। 'सूर्याभ्युदित' से लेकर 'ब्रह्महा' तक सबका पाप की ओर ही झुकाव होता है, अतः उनमें भी नीचगामी[1] जल की तरह पाप लेप का प्रवाहित होना ठीक ही है। अर्थात् जैसे जल नीची जगह में ही बहा करता है, इसी प्रकार पाप भी नीच व्यक्तियों में ही हुआ करता है। अतः 'सूर्याभ्युदित' आदि नीच व्यक्तियों में पाप को पोंछ देना ठीक ही है। पापों की महत्ता के तारतम्य की शृङ्खला ब्रह्महत्या[2] पर ही विश्रान्त होती है—रुकती है। अर्थात् यह विचार करने पर कि 'कौन सा पाप बड़ा है, कौन सा उससे भी बड़ा है और कौन सा सबसे बड़ा है? ब्रह्महत्या ही सबसे बड़ा पाप ठहरती है, अतः पापलेप ब्रह्मघाती का अतिक्रमण नहीं करता। ब्रह्मघाती से अतिरिक्त और कोई बड़ा पापी हो तो पापलेप ब्रह्मघाती को छोड़कर वहाँ जावे, परन्तु ऐसा है नहीं, इसलिये यह पापलेप ब्रह्मघाती में ही ठहरता है, उसे छोड़ कहीं नहीं जाता। पात्री की धोवन के जल को रेखाओं[3] पर डालने का विधान करते हैं—'अन्तर्वेदि······अवरुद्ध्यै' इति। यज्ञ फल की सिद्धि के लिये पात्री की धोवन को वेदि के बीच में खिंची हुई तीनों रेखाओं पर डाले। पात्री की धोवन को रेखाओं पर डालने से यज्ञ फल की प्राप्ति होती है—इसका उपपादन करते हैं—एतेन इति। इति निनयन से (पात्री की धोवन को रेखाओं पर गिराने से) कर्मफल में रुकावट डालने वाले पापलेप को हटा दिया जाता है। अतः यह (निनयन) यज्ञफल प्राप्ति का साधन बन जाता है। धोवन के जल को आग से गरम[4] करने का विधान करते हैं—'उल्मुकेन······देवाः' इति। उल्मुक से उस निनीत (रेखाओं में डाले हुए) जल को अभिगृहीत करे। 'अभिग्रह' से यहाँ यही तात्पर्य है कि उल्मुक को रेखाओं पर पड़े हुए जल पर घुमावे, जिससे कि वह जल शृत (पक्व-गरम) हो जाए, क्योंकि देवता शृत की ही इच्छा करते हैं। उन्हें अपक्व या अनुष्ण वस्तु पसंद

१. नीच गामी पद के दो अर्थ हैं—पहला नीचों (बुरे काम करने वालों) में रहने वाला; दूसरा नीची (ढलवां) जगह पर बहने वाला। इसलिये इसका सम्बन्ध जल और सूर्याभ्युदित आदि जन दोनों से ही है।

२. ब्रह्महत्या, सुरापान, सोना चुराना, गुरु पत्नी से व्यभिचार, और ऐसा करने वालों की संगति करना ये पाँच महापाप हैं। इनमें भी सबसे बड़ा महापाप ब्रह्महत्या है, क्योंकि धर्मशास्त्रों में सबसे पहले उसी का नाम लिया गया है।

३. 'स्फ्य' से वेदि के बीच में जो तीन रेखाएं खींची गई हैं, उन पर।

४. गरम करने के सम्बन्ध में दो मत हैं—रेखाओं पर डालने से पूर्व ही गरम कर ले अथवा रेखाओं पर डालने के बाद गरम करे। देखो आपस्तम्ब श्रौत सूत्र 'निनीय वा अभितपेत्'।

त्वचं श्लक्ष्णी करोत्यद्भिरन्तः पर्यग्नये कृतिः।
श्रपयत्युल्मुकं देवो ह्यग्निस्ते ज्वाल्यते कुशैः ॥३॥
सं वेदेन च साङ्गार-भस्मनाऽऽच्छादये द्धविः।
एकान्तर्वेदि लेखासु क्षालनं निनयेत्त्रिभिः।
अनुवाकेऽष्टमे सप्तदश-मन्त्राः प्रकीर्तिताः ॥४॥' इति।

अथ मीमांसा

अत्र 'अविदहन्तः श्रपयतः' (तै० ब्रा० ३।२।८) इति कश्चिन्मन्त्र उक्तः। 'शृतकामाइव हि देवाः' (तै० ब्रा० ३।२।८) इत्यर्थवादश्च। एतद्विषये ब्राह्मणान्तरवाक्यमपि 'यो विदग्धः' (तै० सं० २।६।३) इत्यादिकमुदाहृतम्। तत्र किञ्चित्तृतीयाध्यायस्य चतुर्थपादे चिन्तितम्—

'परुषिच्छिन्नमित्युक्त्या बर्हिषस्तु समूलताम्।
घृतं देवमस्तु पित्र्यमित्युक्त्या नवनीतकम् ॥
यो विदग्धः स इत्युक्त्या पुरोडाशस्य पक्वताम्।
स्तौति पूर्वोत्तरौ पक्षौ योजनीयौ निवीतवत् ॥'

(जै० न्या० ३।४।१२-१३) इति।

नहीं है। शृत का अर्थ 'पक्व'[1] है। जो शृत है वह देव सहित है अर्थात् शृत का ही देवता के साथ सम्बन्ध होता है, यह पहले बता दिया गया है।

अत्र इति। इस आठवें अनुवाक में आए हुए मन्त्रों के विनियोगों का सङ्ग्रह इस प्रकार है—'संवपामि' इति। १. 'संवपामि' इस मन्त्र से पात्री में हवि डाले। २. 'समापो अद्भिरग्मत' इस मन्त्र से उसमें प्रणीता जल डाले। ३. 'अद्भ्यः परिप्रजाताः स्थ' इस मन्त्र से उसमें गरम जल भी मिलाले। ४. 'जनयत्यै त्वा'······इस मन्त्र से आटे को अच्छी तरह गूँद ले। ५,६. 'अग्नयेत्वा······' इस मन्त्र से अग्नि का भाग निर्दिष्ट करे और 'अग्नीषोमाभ्याम्······' इस मन्त्र से अग्नि और सोम का भाग निर्दिष्ट करे। ७. 'मखस्य शिरोऽसि'—इस मन्त्र से पिण्ड बनावे। ८. 'घर्मोऽसि······' इस मन्त्र से उप पिण्ड को कपालों पर रखदे। ९. 'उरु प्रथस्व'······इस मन्त्र से उसे फैलावे। १०. 'त्वचं गृह्णीष्व' इस मन्त्र से जल के द्वारा उसको श्लक्ष्ण बनावे। ११. 'अन्तरितं रक्षो······' इस मन्त्र से पर्यग्निकरण करे। १२. 'देवस्त्वा······' इस मन्त्र से उल्मुक द्वारा उसे तपावे। १३. 'अग्निस्ते तनुवम्······' इस मन्त्र से उसे कुशों द्वारा अभिज्वलित करे। १४. 'संब्रह्मणा पृच्यस्व' इस मन्त्र से वेद द्वारा अङ्गार सहित भस्म से हवि को आच्छादित करे। १५-१६-१७. 'एकताय स्वाहा, द्विताय स्वाहा, त्रितायस्वाहा' इन तीन मन्त्रों से पात्री की धोअन को वेदि के मध्य में बनाई गई रेखाओं पर क्रमशः गिरावे। इस प्रकार आठवें अनुवाक में सत्रह मन्त्र पढ़े गये हैं।

अत्र 'अवि' इति। इस आठवें अनुवाक के भाष्य में 'अविदहन्तः[2] श्रपयत' यह एक प्रैषमन्त्र बताया गया है और 'शृतकामा[3] इव हि देवाः' यह अर्थवाद वाक्य पढ़ा गया है। इस[4] विषय में 'यो विदग्धः'[5] इत्यादि दूसरे ब्राह्मण का

१. शृतया पक्व से तात्पर्य यहाँ गरम से ही है।
२,३. इन दोनों वाक्यों का हिन्दी अनुवाद पहले किया जा चुका है।
४. पुरोडाश को जलना नहीं चाहिये, देवता पके हुए की ही इच्छा करते हैं—इस विषय में।
५. पूरा वाक्य इसी आठवें अनुवाक में 'अग्न इति' प्रतीक के सायण भाष्य में देखो।

चातुर्मास्येषु महापितृयज्ञे श्रूयते—'यत्परुषि दितं तद्देवानाम्, यदन्तरा तन्मनुष्याणाम्, यत्समूलं तत्पितृणाम्, समूलं बर्हिर्भवति व्यावृत्त्यै' (तै० ब्रा० १।६।८) इति । परुः पर्व । दित खण्डितम् । ज्योतिष्टोमे दीक्षाभ्यङ्गे श्रूयते—'घृतं देवानां मस्तुपितृणां निष्पक्वं मनुष्याणां तद्वा एतत्सर्वदेवत्यं यन्नवनीतं यन्नवनीतेनाभ्यङ्क्ते सर्वा एव देवताः प्रीणाति' (तै० सं० ६।१।१) इति । मस्तु दधिभवं मण्डम् । निष्पक्वं शिरसि प्रक्षेप्तुमीषद् विलीनं नवनीतं तक्रं वा । दर्शपूर्णमासयोः पुरोडाशश्रपणे श्रूयते—

वाक्य भी उद्धृत किया गया है।

तत्र इति। इन उपर्युक्त अर्थवादों के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय के चतुर्थपाद में कुछ विचार किया गया है, उसे यहां उद्धृत करते हैं—परुषि[1] इति। इन कारिकाओं का व्याख्यान श्री सायण ने स्वयं किया है—**चातुर्मास्येषु[2] इति।** चातुर्मास्ययाग सम्बन्धी महापितृ यज्ञ प्रकरण की श्रुति है—'यत्परुषि······व्यावृत्त्यै' इति। जो सन्धि स्थल में कटा हुआ भाग है, वह देवताओं का है, जो बीच से कटा हुआ है वह मनुष्यों का है, जो जड़ सहित उखाड़ा गया है वह पितरों का है। समूल कुशा होनी चाहिये, इसलिये कि देवता आदि की व्यावृत्ति हो सके। परुष् शब्द का अर्थ पर्व है, अर्थात् सन्धि स्थल है और दित शब्द का अर्थ खण्डित है। **ज्योतिष्टोम इति।** ज्योतिष्टोम के प्रकरण में दीक्षाभ्यङ्ग[3] सम्बन्धी श्रुति है—'घृतं······प्रीणाति' इति। घृत देव सम्बन्धी है, मस्तु (दही में मथते समय उत्पन्न होने वाला फेन) पितृ सम्बन्धी है, निष्पक्व (कुछ थोड़ा-सा पिघला हुआ मक्खन या तक्र) मनुष्य सम्बन्धी है, जो नवनीत (जमा हुआ मक्खन) है, वह सर्व देव सम्बन्धी होता है। जो नवनीत से अभ्यङ्ग करता है वह सब देवताओं को तृप्त करता है, प्रसन्न करता है। मस्तु शब्द का अर्थ है, दधि से उत्पन्न हुआ मण्ड[4]। निष्पक्व शब्द का अर्थ है सिर में डालने के लिये थोड़ा पिघला हुआ मक्खन या तक्र (मट्ठा)। दर्श पूर्णमास के प्रकरण में पुरोडाश श्रपण (पुरोडाश परिपाक) सम्बन्धी श्रुति है 'यो विदग्धः······सदेवत्वाय' इति। विदग्ध शब्द का अर्थ है अत्यन्त पका हुआ अर्थात् जला हुआ, अशृतः का अर्थ है अपक्व अर्थात् कच्चा। इन सब श्रुतियों में क्रमशः कुशा में समूलोच्छेदन मात्र, अभ्यङ्ग में नवनीत मात्र और पुरोडाश में यथोचित पाकमात्र विधेय है। शेष सब अंश स्तावक है अर्थात् विधेय की स्तुति करने वाला अर्थवाद है।

इस अधिकरण[5] में पूर्व पक्ष[6] और उत्तर पक्ष नहीं बताये गये हैं। इसी पाद[7] के प्रथम अधिकरण में निवीत

---

१. ये दोनों कारिकाएँ 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तर' की हैं।
२. साकमेध, सुनासीरीय वैश्वदेव और वरुण प्रघास ये चार प्रधान रूप से चातुर्मास्य याग कहलाते हैं।
३. ज्योतिष्टोम यज्ञ में दीक्षा के समय यजमान को अभ्यङ्ग करना पड़ता है, अभ्यङ्ग का तात्पर्य है शरीर में तैलादि कुछ लगाना, यहां मक्खन से अभ्यङ्ग किया जाता है।
४. दही को बिलोते समय जो उसमें झाग पैदा हो जाते हैं उसे मस्तु या मण्ड कहते हैं।
५. तृतीय अध्याय के चतुर्थपाद के तृतीय अधिकरण में। प्रकृत अधिकरण तृतीय अध्याय के चतुर्थपाद का तृतीय अधिकरण है। देखो मीमांसा दर्शन उक्त अध्याय के उक्त पाद का १७वां सूत्र।
६. विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और निर्णय यह पांच अधिकरण के अङ्ग माने गये हैं, इन पांच बातों से ही पूरा अधिकरण बनता है। यहां संशय, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष कुछ भी नहीं बताया गया है। इसलिये इसको अधिकरण नहीं कहना चाहिये। इसका समाधान करने के लिये ही उक्त पंक्तियां लिखी गई हैं।
७. चतुर्थ पाद के।

'यो विदग्धः स नैर्ऋतो योऽशृतः सरौद्रो यः शृतः स सदेवस्तस्मादविदहता शृतं कृत्यः सदेवत्वाय' (तै० सं० २।६।३) इति। विदग्धोऽतिपक्वः। अश्रुतोऽपक्वः। तत्र बर्हिषि समूलच्छेदस्याभ्यङ्गे नवनीतस्य पुरोडाशे यथोचितपाकस्य च विधेयतया सर्वमवशिष्टं स्तावकम्। अत्र पूर्वोत्तरपक्षौ न प्रपञ्चितौ। अस्यैव पादस्य प्रथमाधिकरणे निवीतवाक्ये प्रोक्तयोरेवात्रापि योजनीयत्वात्।

तस्यैवाधिकरणस्योदाहरणबाहुल्यमनेनैवाधिकरणेन प्रपञ्च्यते।

वाक्य में बताये गये पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष की ही यहाँ भी योजना कर लेनी चाहिये[1] उस अधिकरण[2] के उदाहरणों की अधिकता ही इस अधिकरण के द्वारा बताई गई है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि वस्तुतः तृतीय अध्याय के चतुर्थपाद के इस अधिकरण की कोई आवश्यकता नहीं है, तृतीय अध्याय के चतुर्थपाद के प्रथम अधिकरण से ही यह गतार्थ है। इस अधिकरण के निर्माण का उद्देश्य केवल यही बताना है कि प्रथम अधिकरण के वेद में बहुत उदाहरण हैं, उन सब में विषय, संशय आदि की योजना प्रथम अधिकरण के अनुसार स्वयं कर लेनी चाहिये।

१. 'निवीतं मनुष्य धर्मः। प्राचीनावीतं पितृणाम्। उपवीतं देवानाम्। उपव्ययते देवलक्ष्यमेव तत्कुरुते।' यही निवीतवाक्य है। इसका अर्थ है—निवीत मनुष्यों का धर्म है, माला की तरह ग्रीवा पर यज्ञ सूत्र, वस्त्र आदि को धारण करना ही 'निवीतम्' कहलाता है। प्राचीनावीत पितरों का धर्म है, अपसव्य होना। अर्थात् यज्ञ सूत्र, वस्त्र आदि को दाहिने कन्धे पर रखना उपवीत कहलाता है, यज्ञ में यजमान को उपवीती रहना चाहिये और वस्त्र को बाएं कन्धे पर ही लपेटना चाहिये, दाहिना हाथ कार्य करने के लिये बाहर निकला हुआ रखना चाहिये। ऐसा करने से यजमान देव चिह्न को ही धारण करता है। यहां विषय, संशय आदि की योजना इस प्रकार है। 'निवीतं मनुष्य धर्मः' इत्यादि श्रुति विषय है। यह वाक्य विधिवाक्य है या अर्थवाद वाक्य है? यह पहला सन्देह है, यदि यह विधिवाक्य है तो क्या यहां निवीत का मनुष्यधर्मत्वेन विधान किया गया है? अथवा कर्माङ्गत्वेन विधान किया गया है? यह दूसरा सन्देह है। यह विधिवाक्य है अर्थात् यहां निवीत का विधान किया गया है—यह पूर्वपक्ष है। उत्तरपक्ष यह है कि 'निवीतं मनुष्य धर्मः' इत्यादि वाक्य अर्थवाद वाक्य है विधिवाक्य नहीं है। और 'उपव्ययते' इत्यादि विधि के द्वारा विहित उपवीत की स्तुति करते हैं। इसी प्रकार प्रकृत में भी संशय, पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष की योजना कर लेनी चाहिये। जैसे पहला वाक्य है—'यत्परुषिदितं तद्देवानाम्……' इत्यादि। यह विषय है, इसमें सन्देह होता है कि यह विधिवाक्य है या अर्थवाद वाक्य है? यदि यह विधिवाक्य है। तो क्या पर्वच्छेद का देवसम्बन्धित्वेन विधान है अथवा कर्मसम्बन्धित्वेन? पूर्वपक्ष है कि यह विधि है क्योंकि यहां 'देवानाम्' इस सम्बन्ध बोधक षष्ठी के द्वारा पर्वच्छेद में देवसम्बन्ध का विधान किया गया है। उत्तर पक्ष यह है कि यह अर्थवाद वाक्य है और 'समूलं बर्हिर्भवति' इस विधि से विहित बर्हि के समूलोच्छेद की स्तुति करता है। इसी प्रकार 'घृतं देवानाम्…' इत्यादि भी विधिवाक्य नहीं है, केवल विधेय रूप अभ्यङ्ग साधन नवनीत की स्तुति करते हैं। प्रकृत 'यो विदग्धः स नैर्ऋतः' इत्यादि भी अर्थवाद वाक्य ही है, जो पुरोडाश के यथोचित् पाक की स्तुति मात्र करता है। यहां पर संशयादि की योजना इस प्रकार करना—'यो विदग्धः स नैर्ऋतः' यह विधि है या अर्थवाद है? यदि विधि है तो क्या यह विदग्ध में निर्ऋति सम्बन्धित्व का विधान करता है या प्रकरणादिवशात् कर्माङ्गत्व का विधान करता है? यह सन्देह है। 'नैर्ऋतः' में शैषिक अण् प्रत्यय है, इसलिये उसके सामर्थ्य से यहां विदग्ध में निर्ऋति सम्बन्धित्व का विधान मानना चाहिये अर्थात् यह निर्ऋति सम्बन्धित्व की विधि है। यह पूर्व पक्ष है। उत्तरपक्ष या सिद्धान्त यह है कि यही अर्थवाद है और पुरोडाश के यथोचित् पाक की स्तुति करता है।

२. प्रथम अधिकरण के।

अथ व्याकरणम्

संवपामीत्यादौ स्वरा गताः । आप इत्यत्र फिट्स्वरः । अद्भिरित्यत्र 'ऊडिदंपदाद्यप्पुंरैद्युभ्यः (पा० ६।१।१७१) इति ऊडादेशादिदं शब्दात् 'पद्दन्'(पा० ६।१।६३) इत्याद्यादेशेभ्योऽप्शब्दात् पुंशब्दाद्

अब व्याकरण सम्बन्धी विचार लिखते हैं—

'संवपामीत्यादौ' इति। 'संवपामि' इत्यादि में स्वर सञ्चार पहले बता दिया गया है। तात्पर्य यह है कि 'सम्' उपसर्ग है, 'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' इस सूत्र से वह आद्युदात्त है। उदात्त का कोई चिह्न नहीं है अतः संहिता में 'सं' यही रूप रहा। पदकार 'इति' लगा कर ही असमस्त उपसर्गों का निर्देश करते हैं जैसे—समिति। यहाँ 'सम्' और 'इ' दोनों ही उदात्त हैं 'ति' शेष निघात से अनुदात्त था उसे स्वरित हो गया है। 'वपामि' तिङन्त पद है और अतिङन्त से परे है। अतः 'तिङ्ङतिङः' से निहत 'सर्वानुदात्त' हो गया और 'व॒पा॒मि॒' यों रहा। संहिता में उदात्त 'सं' से परे रहने के कारण 'व' को स्वरित हो गया। 'पा' प्रचित हो गया और 'मि' उदात्त परक होने के कारण सन्नतर हो गया। अतः संहिता में स्वर चिह्नक्रम यों रहा—वंपामि॒। पदपाठ में—'व॒पा॒मि॒' ऐसी स्थिति रहेगी। संहिता के अभाव से संहिताधिकार के स्वर यहाँ संचरित नहीं हुए, केवल 'सं' से परे रहने के कारण निघात मात्र रहा। प्रश्न—यदि 'किंकरोषि' इस प्रश्न के उत्तर में 'वपामि' बोला जाए तो वहां स्वरस्थिति क्या होगी? वहाँ कोई पदान्तर ही नहीं है यन्मूलक परत्व या संहिता की विवक्षा हो अतः पूर्वोक्त स्वर संचार व्यवस्था वहाँ नहीं मानी जा सकती। उत्तर—वहाँ धातुस्वर ही शेष रहेगा कारण कि 'मि' और विकरण दोनों ही पित्त्वाद् अनुदात्त हैं। फलतः शेष निघात व्यवस्था धातु स्वर के अनुसार रहेगी और 'पा' और 'मि' दोनों ही अनुदात्त रहेंगे। स्वर चिह्न क्रम यों रहेगा—वर्पामि। 'पा' को स्वरित हुआ 'मि' को प्रचय हुआ।

आप इति। 'आपः' में फिट् स्वर है। तात्पर्य यह है—मूल शब्द 'अप्' है जो प्रातिपादिक होने से अन्तोदात्त है। आगे 'जस्' (अस्) विभक्ति है, वह सुप्त्वाद् अनुदात्त है। प्रातिपादिक का 'अ' 'अप्तृन् तृच्······' से दीर्घ हो गया। उदात्तस्थानिक होने से वह दीर्घ भी उदात्त ही रहा। अस् विभक्ति स्वर सन्धि क्रम से 'ओ' रूप में परिणत हुई है, वह 'ओ' भी अनुदात्त स्थानिक होने से अनुदात्त ही रहा और अन्त में 'उदात्तादनुदात्तस्य' से उसको स्वरित हो गया। स्वर संचार पद और संहिता पाठ में एकसा ही रहा—आर्पः, आपो॑।

अद्भिः इति। 'अद्भिः' इस पद में 'ऊडिदंपदाद्यप्पुंरैद्युभ्यः' 'ऊठ्' इस आदेश से, इदं शब्द से, 'पद्दन्नोमास्······' इत्यादि सूत्र से होने वाले पदादि आदेशों से तथा 'अप् पुंस्, रै और दिव्' इन चार शब्दों से परे असर्वनाम स्थान (शसादि) विभक्ति को उदात्त हो जाता है।' इस सूत्र से तृतीया विभक्ति को उदात्त हो गया है। फलतः शेष निघात व्यवस्था सतिशिष्ट होने के कारण विभक्ति स्वर से ही होगी। अतः संहिता में स्वर चिह्न व्यवस्था यों रही—अ॒द्भिः। पदपाठ में कुछ भेद होगा, कारण कि पदकार हलादि विभक्त्यन्त पदों में भी अवग्रह करते हैं, क्योंकि हलादि विभक्ति परे रहते पूर्वांश 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इस सूत्र के अनुसार पद कहलाता है। अतः वहां भी अवग्रह का अभिनय 'इति' शब्द के प्रयोग से ही किया जाता है—अ॒द्भिरित्य॑त्-भिः। 'त्य' के 'अ' को उदात्त से परे रहने के कारण स्वरित हो गया।

शङ्का-'ऊडिदं······' इत्यादि सूत्र व्यर्थ है, 'सावेकाचस्तृतीयादिः' इस सूत्र से ही 'अद्भिः' में 'भिस्' को उदात्त हो सकता है। समाधान—'ऊडिदं······' इत्यादि सूत्र व्यर्थ नहीं है, 'सावेकाचः······' की प्रवृत्ति उन्हीं शब्दों में होती है जो सप्तमी के बहुवचन में 'एकाच्' रहते हैं, परन्तु प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति अनेकाचों में भी होती है। इसके अतिरिक्त 'सावेकाचः······' की प्रवृत्ति शस् विभक्ति में नहीं होती परन्तु प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति 'शस्' विभक्ति में भी होती है। हाँ,

रैशब्दाद् दिव् शब्दाच्चोत्तरमसर्वनामस्थानमुदात्तं भवति। यद्यपि 'सावेकाचस्तृतीयादिः' (पा० ६।१।१६८) इति सूत्रेणैतत्सिद्धम्, तथापि द्वितीयाबहुवचनार्थमस्य सूत्रस्य वक्तव्यत्वादनेन विशेषसूत्रेणोदात्तो विधेयः। रेवतीरित्यत्र रेशब्दाच्चोपसंख्यानम् (पा० ६।१।१७६ वा०) इति मतुबाद्युदात्तः।

प्रजाता इत्यत्रान्तर्भावितण्यर्थात्कर्मणि निष्ठायां 'गतिरनन्तरः' (पा० ६।२।४९) इति पूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्वम्। 'जनयत्या' इत्यत्र क्तिन्प्रत्ययान्तत्वेन 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा० ६।१।१९७) इत्याद्युदात्तः।

'अद्भिः' में 'सावेकाचः······' से भी काम चल सकता था, परन्तु शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार यहाँ परत्वात् 'ऊडिदं······' इस सूत्र से ही उदात्तत्व का विधान किया गया है।

रेवती इति। रेवतीः शब्द में 'रेशब्दाच्चोपसंख्यानम्' इस वार्तिक से मतुप् को आद्युदात्तत्व हो गया। तात्पर्य यह है—'रयिर्विद्यते यासां ता रेवतीः' इस विग्रह के अनुसार यहां रयि शब्द से 'मतुप्' हुआ है। 'रयेर्मतौ बहुलम्' इस वार्तिक से 'य' को सम्प्रसारण हो गया 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप हो गया और 'आद्गुणः' से गुण होकर 'रेमत्' शब्द बना 'छन्दसीरः' से 'म्' को 'व्' हो गया। स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् हुआ, आगे जस् (अस्) विभक्ति है, 'दीर्घाज्जसिच' से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध प्राप्त हुआ 'वाछन्दसि' से दीर्घ होकर 'रेवतीः' बन गया। यद्यपि 'मतुप्' प्रत्यय पित् होने से **'अनुदात्तौ सुप्पितौ'** से सर्वानुदात्त है तथापि उक्तवार्तिक से मतुप् का म (व) उदात्त हो गया। ङीप् (ई) पित्त्वात् और **'जस्' सुप्त्वात्** अनुदात्त है। 'म' का ('व' का) स्वर उदात्त ही शेष रहेगा। स्वर स्थिति यों रहेगी — रे॒वतीः॑। 'तीः' यद्यपि शेष निघात से अनुदात्त था, तथापि उसको स्वरित हो गया। पद पाठ में स्वर चिह्न स्थिति उक्त प्रकार से ही रहेगी। हाँ संहिता में कुछ परिवर्तन होगा। 'तीः' को स्वरित न होकर अनुदात्त ही रहेगा क्योंकि संहिता में उसके आगे उदात्त है—रे॒वती॒ः।

प्रजाता इति। 'प्रजाता' में **अन्तर्भावितण्यर्थ जन् धातु से क्त प्रत्यय कर्म में हुआ है**—प्राजनिषत इति प्रजाताः। तात्पर्य यह है कि **जन् धातु वस्तुतः अकर्मक है उससे निष्ठा यदि हो सकती है तो कर्ता या भाव में हो सकती है, कर्म में कदापि** नहीं हो सकती। अतः उसको सकर्मक बनाने के लिए अन्तर्भावितण्यर्थ माना। मूलतः उसका अर्थ उत्पत्ति था, परन्तु अब उसका अर्थ उत्पादना मान लिया गया है 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' के आधार पर। अतः अब उससे कर्म में प्रत्यय हो सकता है। यहाँ 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से कृदुत्तर पद प्रकृति स्वर प्राप्त था, उसको बाधकर थाथादि स्वर से अन्तोदात्तत्व प्राप्त हुआ, उसको भी बाधकर 'गतिरनन्तरः' से गतिस्वर आद्युदात्तत्व हो गया। शेष निघात व्यवस्था गतिस्वर के अनुसार होगी। अतः प्राथमिक स्वरस्थिति यों रही—प्रजा॒ता॒ः।' 'जा' को स्वरित हो गया और 'ता' को प्रचय हो गया। फलतः संहिता में स्वरस्थिति यों रही—प्र-जा॒ता॒ः। पदपाठ में प्रजा॑ता॒ इति॒ प्रजा॒ता॒ः। 'ति' को स्वरित नहीं हुआ **'नोदात्तस्वरितोदयम्'** से निषेध हो गया।

जनयत्या इति। 'जनयत्यै' यहां क्तिन् प्रत्ययान्त होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इस सूत्र से आद्युदात्त स्वर हो गया। तात्पर्य यह है कि भाष्यकार के मत से यहाँ णिजन्त जन् धातु से क्तिन् हुआ है। क्तिन् नित् है, अतः उक्तसूत्र से निदन्त 'जनयति' को आद्युदात्त स्वर हो गया, अर्थात् 'ज' उदात्त हो गया, शेष निघात व्यवस्था से 'न य ति' तीनों अनुदात्त रहे। न को स्वरित हो गया य को प्रचय हो गया ति के आगे 'ऐ' चतुर्थी विभक्ति का चिह्न है, वह सुप्त्वात् अनुदात्त है, इ को य होकर 'त्यै' बन गया। यह त्यै भी अनुदात्त है, इसको भी प्रचय हो गया, फलतः संहिता और पदपाठ दोनों जगह स्वरचिह्न व्यवस्था यों रही—जन॑यत्यै।

शङ्का—णिजन्त जन् धातु का क्तिन् प्रत्यय परे रहते 'जनयत्यै' रूप नहीं बन सकता। पहले तो यहाँ क्तिन्

उरुशब्दस्य नित्यनपुंसकत्वाभावात्फिट्स्वरः । यज्ञपतिरित्यत्र 'पत्यावैश्वर्ये' (पा० ६।२।१८)

हो ही नहीं सकता, 'अप्रत्ययात्' सूत्र क्तिन् का अपवाद है, अप्रत्यय को बाधकर 'ण्यास श्रन्थोयुच्' से युच् प्राप्त होता है, 'वा सरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र स्त्र्यधिकार में नहीं लगता। 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' के अनुसार यहां मान लो 'क्तिन्' आदि सब कुछ हो गया, परन्तु यकारोत्तरवर्ती 'अ' कहाँ से आया। हमारी समझ में इसका समाधान अभी तक कुछ नहीं आया। जो कुछ थोड़ा बहुत आया है वह हम आगे लिखेंगे।

श्री भट्ट भास्कर ने 'अमेरतिः' (औणा० ४६६) इस सूत्र से होने वाला अति प्रत्यय बाहुलकात् णिजन्त जनि से भी मानकर 'जनयति' बनाया है। उन्होंने 'छन्दस्युभयथा' से अति की सार्वधातुक संज्ञा मानकर णिलोप का वारण किया है। इस तरह रूप तो बन जाता है परन्तु 'जनयति' में 'ज' को उदात्त नहीं होगा।

अथवा 'रमेर्नित्' (औणा० ५०३) इस सूत्र से होने वाला अति प्रत्यय बाहुलकात् णिजन्त जनि धातु से भी मान लिया जाय और इसी सूत्र से उसको 'नित्' भी स्वीकार कर लिया जाये 'छन्दस्युभयथा' से सार्वधातुक संज्ञा तो माननी ही होगी अन्यथा णि का लोप हो जायगा। फलतः 'जनयति' रूप भी बन जायगा और अभीप्सित स्वर भी सिद्ध हो जायगा।

अथवा श्रीसायण के मत से क्तिन् प्रत्यय करके 'छन्दस्युभयथा' से उसकी सार्वधातुक संज्ञा करके 'कर्तरिशप्' से शप् कर लिया जाये। यद्यपि क्तिन् प्रत्यय भाव में या अकर्तरि कारक में होता है, तथापि जैसे धातु निर्देश में विधीयमान श्तिप् प्रत्यय परे रहते शप् मान लिया जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी मान लिया जाना चाहिये। कदाचित् कहो कि वहाँ तो शित्वसामर्थ्यात् शप् हो सकता है अन्यथा शित्व व्यर्थ होगा, यहाँ तो शप् करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। यह कथन ठीक नहीं। वहां भी कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि पिबति, ग्लायति इत्यादि में क्रमशः पिबादि आदेश और आदादेशाभाव के लिये शित्व चरितार्थ है, अतः श्तिप्-स्थल में कर्त्रर्थ के अभाव में भी जैसे शप् प्रत्यय मान लिया जाता है। इसी प्रकार क्तिन्-स्थल में भी मान लेना चाहिये। इस प्रकार क्तिन् प्रत्यय परे रहते भी 'जनयति' रूप बन सकता है। स्वर भी सिद्ध हो ही जाता है।

यह समाधान ठीक नहीं, क्तिन् को सार्वधातुक मान लेने पर भी शप् नहीं हो सकता शप् को बाधकर 'सार्वधातुके यक्' से यक् हो जायगा। अतः 'रमेर्नित्' वाला समाधान ही ठीक है।

उरु इति। उरु शब्द नपुंसक नहीं है, अतः यह फिट्स्वर से अन्तोदात्त है। तात्पर्य यह है कि 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' इस सूत्र से नित्यनपुंसक शब्द को ही आद्युदात्त होता है, 'उरु' शब्द विशेष्यनिघ्न है, नित्यनपुंसक नहीं है। अतः यहां फिट्स्वर से 'रु' उदात्त है, शेष निघात से 'उ' अनुदात्त हो जाएगा। अतः संहिता और 'पद' दोनों पाठों में स्वरचिह्न व्यवस्था यों रहेगी—उ॒रु।

यज्ञपतिरिति। यज्ञपति शब्द में 'पत्यावैश्वर्ये' इस सूत्र से पूर्व पद प्रकृतिस्वर हो गया। तात्पर्य यह है कि यज्ञपति शब्द में षष्ठी तत्पुरुष है, अतः यहां 'समासस्य' से अन्तोदात्तस्वर प्राप्त होता है। उसको बाधकर यहां पूर्वोक्त सूत्र से पूर्वपद-प्रकृतिस्वर हो गया। पूर्वपद यहां यज्ञ शब्द है, वह प्रातिपादिक स्वर से अन्तोदात्त है अर्थात् उसमें 'ज्ञ' उदात्त है, वही यहां शेष रहेगा। शेष 'य' 'प' और 'ति' अनुदात्त हो जाएंगे। 'प' को स्वरित हो जायगा और 'ति' प्रचित हो जायगा। फलतः संहिता में स्वरचिह्न व्यवस्था यों रहेगी – य॒ज्ञ प॑तिः। पदपाठ में—य॒ज्ञ प॑ति॒रिति॑ य॒ज्ञप॑तिः।

इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अन्तरितमित्यत्रान्तः शब्दस्य गतित्वात् 'गतिरनन्तरः' (पा० ६।२।४९) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्।

वर्षिष्ठ इत्यत्रेष्ठन्प्रत्ययस्य नित्त्वादाद्युदात्तः। एवं सर्वमुन्नेयम्।

इतिश्रीमत्सायणाचार्यविरचिते कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिताभाष्ये

प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठकेऽष्टमोऽनुवाकः।

अन्तरितमिति। यहां अन्तर् शब्द के गति संज्ञक होने के कारण 'गतिरनन्तरः' से पूर्वपद प्रकृति स्वर हो गया। तात्पर्य यह है कि अन्तर् शब्द का यद्यपि प्रादि में पाठ नहीं है तथापि 'अन्तरपरिग्रहे' इस सूत्र से 'अन्तर्' की गति संज्ञा है। यहां पहले 'गतिकारकोपपदात् कृत्' से कृदुत्तरपद प्रकृति स्वर प्राप्त था, उसको बाधकर 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' इस सूत्र से अन्तरितम् के अन्तिम त को उदात्त-स्वर प्राप्त हुआ। उसको बाधकर 'गतिरनन्तरः से पूर्वपद गतिस्वर स्थिर रहा। पूर्वपद प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है और वह गतिसंज्ञक भी है। अ : उसका स्वर ही यहां शेष रहेगा, अतः प्रारम्भिक स्वरचिह्न यों होंगे—अन्तरितम्। रि को स्वरित हो गया। त को प्रचय प्राप्त था, परन्तु संहिता में उसके आगे 'रक्षस्' शब्द का 'र' है जो कि 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' से उदात्त है। अतः 'त' को अनुदात्ततर हो गया। फलतः संहिता में स्वरचिह्न व्यवस्था यों रही—अन्तरितम्। पद पाठ में—अन्तरितमित्यन्तरितम्। 'त्य' को स्वरित इसलिए नहीं हुआ कि उसके आगे 'न्तः' उदात्त है। 'नोदात्तस्वरितोदयम्' से स्वरित का निषेध हो गया।

वर्षिष्ठइति। 'वर्षिष्ठे' इस पद में 'इष्ठन्' प्रत्यय के नित् होने से आद्युदात्तस्वर हुआ है। तात्पर्य यह है—'अतिशयेन वृद्धः' इस विग्रह में 'वृद्ध' शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इस सूत्र से इष्ठन् प्रत्यय हुआ है। इष्ठन् में न् इत् है। 'प्रियस्थिर......' इत्यादि सूत्र से 'वृद्ध' के स्थान में 'वर्षि' आदेश हो गया, वर्षि में इकार उच्चारणार्थ है, इस प्रकार 'वर्षिष्ठ' रूप बना। आगे सप्तमी विभक्ति है, 'वर्षिष्ठे' में 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त हो गया। अर्थात् 'व' उदात्त हो गया शेष सब अनुदात्त रहे। 'षि' को स्वरित हो गया। 'ष्ठे' को प्रचय प्राप्त था, परन्तु संहिता में उसके आगे 'अधि' शब्द का उदात्त अकार है, अतः उसको प्रचय न होकर अनुदात्ततर हो गया। संहिता में स्वरचिह्न व्यवस्था यों रही—वर्षिष्ठे। पद पाठ में—वर्षिष्ठे यहां 'ष्ठे' को प्रचय हो ही जायगा। इसी प्रकार सब स्थलों पर स्वरविचार कर लेना चाहिये।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता के प्रथम काण्ड में प्रथम प्रपाठक के अष्टम अनुवाक पर

श्री सायणाचार्यकृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।

⁂

॥ श्रीः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता

सायणभाष्यसमेता हिन्द्यनुवादसहिता च

प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके

नवमोऽनुवाकः

अष्टमेपुरोडाशश्रपणमुक्तम् । अथ पक्वस्य हविषो वेद्यामासादनीयत्वान्नवमे वेदिरुच्यते ।

आ द॑दे ।

आददे इति । आददे इत्याम्नातस्य मन्त्रस्य शेषं पूरयित्वा विनियोगः कल्पे दर्शितः—'अथ जघनेन वेद्यैस्तिष्ठन्स्फ्यमादत्ते देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामाददे इति' (बौ० श्रौ० १।११) इति ।

यथोक्तमादानं विधत्ते—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसव इति स्फ्यमादत्ते प्रसूत्यै । अश्विनोर्बाहुभ्यामित्याह । अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू आस्ताम् । पूष्णो हस्ताभ्यामित्याह यत्यै' (तै० ब्रा० ३।२।६) इति ।

प्रथम काण्ड में प्रथम प्रपाठक के नवम अनुवाक के सायणभाष्य का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ

अष्टमे इति । आठवें अनुवाक में पुरोडाश श्रपण बता दिया गया । पक्व हवि को वेदि पर रखना पड़ता है, इसलिये पुरोडाश श्रपण के अनन्तर नवम अनुवाक में वेदि (वेदि-रचना) बताई जाएगी ।

आददे इति । संहिता[1] में यद्यपि 'आददे' इतना ही मन्त्र पढ़ा गया है, तथापि बौधायन कल्पसूत्र में शेष पूर्ति करके उस (मन्त्र) का विनियोग बताया गया है—'अथ······माददे' इति ।

पात्री की धोअन के निनयन के अनन्तर वेदि के पृष्ठभाग में खड़ा होकर अध्वर्यु 'देवस्य······माददे' इस मन्त्र से 'स्फ्य'[2] का आदान (ग्रहण) करे—उसे पकड़े । 'देवस्य त्वा······' मन्त्र का अर्थ भाष्यकार ने नहीं किया, क्योंकि इसका 'हस्ताभ्याम्' तक का अंश पहले कई बार आ चुका है, वहाँ इसकी व्याख्या भी कर दी गई है, तथापि हम यहाँ भी इसका हिन्दी अनुवाद कर देते हैं । 'हे स्फ्य' ! मैं सवितृदेव से प्रेरित होकर तुझे अश्विन् देवता के बाहुओं से और पूषा देवता के हाथों से पकड़ता हूं । अब पूर्वोक्त आदान की ब्राह्मणोक्त विधि बताते हैं— देवस्य······यत्यै' इति । यह ब्राह्मणवाक्य

---

१. संहिता के नवम अनुवाक के आरम्भ में ।

२. 'स्फ्य' दुधारे खड्ग के आकार का यज्ञ का एक काष्ठमय साधन है ।

इन्द्र॑स्य बा॒हुर॑सि॒ दक्षि॑णः स॒हस्र॑भृष्टिः श॒तते॑जा वा॒युर॑सि ति॒ग्मते॑जाः ।

इन्द्रस्येति। बौधायनः –'आदायाभिमन्त्रयत इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजा इत्यथैनं बर्हिषा सं॑श्यति वायुरसि तिग्मतेजा, इति' (बौ० श्रौ० १।११) इति । संश्यति सम्यक्तनू करोति।

एकमन्त्रत्वमाहाऽऽपस्तम्बः—'इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इत्यभिमन्त्रयते" (द्र० आप० श्रौ० २।१।१) इति। हे स्फ्य त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरिव समर्थोऽसि। कीदृशो बाहुः। सहस्रसंख्याकानां शत्रूणां भृष्टिः पाको मारणं यस्यासौ सहस्रभृष्टिः। पुनः कीदृशः। शतसंख्याकान्यायुधानि तेजोयुक्तानि यस्यासौ शत-तेजाः। न केवलमिन्द्र बाहुसदृशः किन्तु वायुसदृशोऽप्यसि । यथा वायुस्तीक्ष्णामग्निज्वालामुत्पादयं-

---

भी पहले कई बार आ चुका है और इसका व्याख्यान भी किया जा चुका है।

इन्द्रस्येति। बौधायन कहता है कि 'स्फ्य' को पकड़कर 'इन्द्रस्य······शततेजाः' इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करे, तदनन्तर 'वायुरसि तिग्मतेजाः' इस मन्त्र से उसे कुशा के द्वारा तेज करे। बौधायन श्रौतसूत्र में 'संश्यति'[1] पद का अर्थ है—तेज करता है। तेज करने का तात्पर्य यहां सम्मार्जन मात्र से है अर्थात् कुश से उसको[2] स्वच्छ कर ले।

एक इति। आपस्तम्ब कहता है कि 'इन्द्रस्य बाहुरसि' से लेकर 'तिग्मतेजाः' तक एक ही मन्त्र है। इस मन्त्र से 'स्फ्य' को अभिमन्त्रित करे। हे इति। हे स्फ्य[3] तू इन्द्र के दाहिने बाहु की तरह समर्थ है—शक्तिशाली है। इन्द्र का दाहिना बाहु कैसा है? वह 'सहस्रभृष्टि' है—सहस्रों शत्रुओं को मर्जन कर देता है – पका देता है—मार डालता है। और कैसा है वह बाहु? वह शततेजा है—तेज से युक्त सैकड़ों उसके आयुध हैं। तू इन्द्र के बाहु के ही सदृश नहीं है, किन्तु वायु के सदृश भी है। जैसे वायु तीव्र अग्निज्वाला को पैदा करने के कारण तिग्मतेजा है—तीक्ष्ण तेज वाला है, इसी प्रकार 'स्फ्य' भी आगे बताये जाने वाले स्तम्ब[4]च्छेद (कुशमुष्टिच्छेदन) रूप तीव्र कर्म करने के कारण तिग्मतेजा है।

मन्त्रस्य इति। मन्त्र के प्रथम भाग में 'इन्द्र' शब्द किस अभिप्राय से पढ़ा गया है? इस बात को ब्राह्मणवाक्य बताता है—'आददे इन्द्रस्य ····· दधाति' इति। 'इन्द्रस्य बाहुरसि······' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करके अध्वर्यु यजमान में इन्द्रिय को स्थापित करता है अर्थात् यजमान को इन्द्रियवान् बनाता है। इस[5] ब्राह्मणवाक्य में 'आददे' यह पद पहले

---

१. 'संश्यति' शब्द सम् पूर्वक 'शोतनू करणे' धातु से बना है जिसका अर्थ है—धार को पतला करना, तेज बनाना।

२. स्फ्य को।

३. यह मन्त्रार्थ है।

४. शतपथ ब्राह्मणमें 'स्तम्ब' को 'स्तम्बयजु' भी कहा गया है। वस्तुतस्तु कल्पसूत्रों के अनुसार तृणसहित धूलि ही स्तम्ब या स्तम्बयजु है।

५. 'आदद इन्द्रस्य······' इत्यादि मूलोक्त ब्राह्मण वाक्य में जिस मन्त्र का व्याख्यान करना होता है अथवा जिस मन्त्र के किसी पदविशेष का अभिप्राय बताना होता है—ब्राह्मण ग्रन्थ उसी को उद्धृत करके तब उसके विषय में कुछ कहता है। यह ब्राह्मण ग्रन्थों का साधारण नियम है। प्रकृत में ब्राह्मण ग्रन्थ 'आदद इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इत्याह। इस प्रकार मन्त्र को उद्धृत करता है, इससे यह सन्देह हो जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ की दृष्टि से 'आददे' यह पद 'इन्द्रस्य······' इत्यादि वाक्य का ही आदि अवयव है। परन्तु सूत्र में 'आददे' को पृथक् मन्त्र माना है। इस सूत्र और ब्राह्मण के विरोध को दूर करने के लिये ही मूल में 'अत्राददे' इत्यादि पंक्ति लिखी गई है।

स्तिग्मतेजास्तथा स्फ्योऽपि वक्ष्यमाणस्तम्बच्छेदरूपं तीव्रं कर्म कुर्वंस्तिग्मतेजा इत्युच्यते। मन्त्रस्य प्रथमभाग इन्द्रशब्दविवक्षामाह—'आदद इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इत्याह। इन्द्रियमेव यजमाने दधाति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। अत्राऽऽदद इति पदं पूर्वमन्त्रस्वरूपम्। तच्च स्पष्टार्थम्। इन्द्रस्येति मन्त्रादिः। द्वितीयभागे मन्त्रगतशब्दस्वरूपमेव बाहुसदृशस्य स्फ्यस्य महिमानं ख्यापयतीत्याह—'सहस्रभृष्टिः शततेजा इत्याह। रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। तृतीयभागे तेजोजनकतया तेजोरूपेण वायुना स्फ्यरूप उपमिते सति यजमाने तेजो भवतीत्याह—'वायुरसि तिग्मतेजा इत्याह। तेजो वै वायुः। तेज एवास्मिन्दधाति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति।

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिंꣳसिषमपहतोऽररुः पृथिव्यै व्रजं गच्छ गोस्थानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां परावति शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्।

पृथिवीति। कल्पः—अथान्तर्वेद्युदीचीनाग्रं दर्भं निधाय तस्मिन्स्फ्येन प्रहरति 'पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषमिति' (द्र० बौ० श्रौ० १।११) इति। हे देवयागाश्रयभूते पृथिवि

मन्त्र का स्वरूप है, उसका अर्थ स्पष्ट है।[1] 'इन्द्रस्य' यह पद द्वितीय मन्त्र का आदि भाग है। मन्त्र के द्वितीय[2] भाग में मन्त्रगत शब्द का स्वरूप ही 'स्फ्य' की महिमा को बता रहा है—इस बात को ब्राह्मण वाक्य कहता है—'सहस्रभृष्टि······व्याचष्टे' इति। अर्थात् सहस्रभृष्टि'[3] और 'शततेजा' इन शब्दों के अक्षर ही 'स्फ्य' की महिमा को बता रहे हैं। तृतीय भाग में यह कहा गया है कि वायु तेज का उत्पादक होने के कारण तेजः स्वरूप है और वहीं मन्त्र के तृतीय भाग में तेजः स्वरूप वायु के साथ स्फ्य की उपमा भी दी गई है। इस[4] से यजमान में तेज उत्पन्न होता है—'वायुरसि[5]······दधाति' इति।

पृथिवीति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है—स्फ्य को अभिमन्त्रित करने के अनन्तर वेदि (पृथ्वी) पर कुशा को इस प्रकार रक्खे कि उसका अगला भाग उत्तर की ओर रहे, फिर उस[6] पर 'पृथिवि······माहिंसिषम्' इस मन्त्र के द्वारा प्रहार करे। हे इति। हे पृथिवि, तुझ पर देवताओं का यजन किया जाता है, तेरी ओषधि के मूल को मैं नष्ट न करूँ। अत्र इति। प्रकृत मन्त्र में 'देवयजनि' इस विशेषण से वान्ति (कै) और रुधिर से हुई पृथिवी की अपवित्रता को दूर करते हैं—यह बात ब्राह्मण वाक्य बताता है—'विषाद्वै······देवयजनीं करोति' इति। 'विषाद्' नाम का एक असुर था। वह डरा कि यज्ञ से देवता मेरा अभिभव करेंगे। उसने पृथिवी पर कै कर दी। इससे पृथिवी अमेध्य (यज्ञ करने के अयोग्य—

१. 'आददे' का अर्थ है गृह्णामि ग्रहण करता हूं।
२. 'सहस्रभृष्टिः शततेजाः' यह मन्त्र का द्वितीय भाग है।
३. भट्ट भास्कर ने भृष्टि का अर्थ परिवार किया है अर्थात् सहस्र परिवारः। मोतीलाल जी ने भृष्टि का अर्थ कोण या कोर किया है अर्थात् सहस्र कोणों या सहस्र कोरों वाला।
४. तेजः स्वरूप वायु के साथ 'स्फ्य' की उपमा से।
५. क्योंकि वायु तेजः स्वरूप है अतः 'वायुरसि' इस मन्त्र को बोलकर ऋत्विज् यजमान में तेज का ही आधान (उत्पादन) करता है।
६. कुश पर।

त्वदीयाया ओषध्या मूलं मा विनाशयामि। अत्र देवयजनीति विशेषणेन वाग्तिलोहिताभ्यामापादितम-शुचित्वं निवारयतीत्याह—"विषाद्वै नामासुर आसीत्। सोऽबिभेत्। यज्ञेनमादेवा अभिभविष्यन्तीति। सपृथिवीमभ्यवमीत्। साऽमेध्याऽभवत्। अथो यदिन्द्रो वृत्रमहन्। तस्य लोहितं पृथिवीमनु व्यधावत्। साऽमेध्याऽभवत्। पृथिवि देवयजनीत्याह। मेध्यामेवैनां देवयजनीं करोति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। विषमत्तीति विषात्। इतरभागप्रयोजनमाह—ओषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषमित्याह। ओषधीनाम-हिꣳसायै' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति।

अप॑हतोऽररुः पृथि॒व्यै दे॑वयज॑न्यै ।

अपहत इति। कल्पः—अपहतोऽररुः पृथिव्या इति स्फ्येन सतृणान्पाꣳसूनपादाय' (आप० श्रौ० २।१।५) इति। अररुर्नामकोऽसुरः। सोऽत्र रजोपनयनेन पृथिव्याः सकाशादपहतः।

व्र॒जम् (१) ग॑च्छ गोस्था॑नं ।

व्रजमिति। कल्पः—'व्रजंगच्छगोस्थानमिति हरति' (आप० श्रौ० २।१।५) इति। अस्तु श्रौषडि-त्यनेन मन्त्रेणाग्नीध्रः प्रत्याश्रावणं वक्ति। सेयं वागत्र गोशब्देन विवक्षिता। तस्या वाचः स्थानभूत उत्कर-देशो व्रजः। हे तृणसहितपांसो, तं व्रजं गच्छ। अपहतोऽररुः पृथिव्या इत्येवं पूर्व मन्त्रं स्पष्टार्थत्वादुपेक्ष्योत्तरं

अपवित्र) हो गई। इसी प्रकार इन्द्र ने जब वृत्र को मारा, तब उसका रुधिर पृथिवी पर बहने लगा। इससे भी पृथिवी अमेध्य हो गई। 'पृथिवि ! देवयजनि' इस प्रकार संबोधित करके अध्वर्यु इस पृथ्वी को मेध्य-यज्ञ के योग्य, पवित्र बनाता है। 'विषाद्' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हैं—विषमत्तीति विषात्—जो विष खाता है उसे 'विषाद्' कहते हैं। मन्त्र के अन्य भाग का प्रयोजन बताते हैं—ओषध्या······अहिंसायै' इति। 'ओषध्यास्ते······' मन्त्र के इस अंश का उच्चारण इसलिये किया जाता है कि ओषधियों की हिंसा न हो।

अपहत इति। आपस्तम्ब[1] कहता है कि 'अप······पृथिव्या' इस मन्त्र से स्फ्य के द्वारा तृण सहित धूलि को उठा ले। अररु[2] नाम का कोई असुर है, वह इस यज्ञ में धूलि को हटाने से पृथ्वी से दूर हो जाये।

व्रजमिति। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र कहता है कि 'व्रजं गच्छ गोस्थानम्' इस मन्त्र से उसको (धूलि को) ले जावे। अस्तु इति। यज्ञ[3] में अध्वर्यु 'ओ श्रावय' इस मन्त्र से आश्रावण[4] करता है और आग्नीध्र 'अस्तु श्रौषट्' इस मन्त्र से प्रत्या-श्रावण करता है। आग्नीध्र की यह प्रत्याश्रावणरूपा वाक् बाणी) ही प्रकृत मन्त्र में 'गोस्थानम्' शब्द के गोशब्द से विवक्षित है—अभिप्रेत है। उस वाणी का स्थान रूप उत्कर[5] देश ही व्रज कहलाता है।

---

१. बौधायन का भी यही मत है।
२. यहां से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है।
३. यह 'व्रजं गच्छ' इस मन्त्र के व्याख्यान का उपोद्घात है।
४. 'ओ श्रावय' इस मन्त्र का प्लुतस्वर से उच्चारण करना ही आश्रावण है।
५. यज्ञ भूमि में एक छोटा सा गढ़ा होता है, जिसमें यज्ञ स्थल की धूल तृण आदि डाले जाते हैं। वस्तु तस्तु मन्त्र के व्रज और गोस्थान का रहस्य इस ग्रन्थ की भूमिका में देखें।

मन्त्रं व्याचष्टे—'व्रजं गच्छ गोस्थानमित्याह । छन्दाꣳसि वै व्रजो गोस्थानः । छन्दाꣳस्येवास्मै व्रजं गोस्थानं करोति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति ।गायत्र्यादीनि च्छन्दांस्येव गोशब्दाभिधेयानां वाचामवस्थानयोग्यो व्रजशब्दाभिधेयो देशविशेषः। तत्रार्थद्वय साधारणशब्दोपेतं मन्त्रं पठन्नुत्करदेशं छन्दोरूपं सम्पादितवान् भवति ।

वर्षतु ते द्यौः

वर्षत्विति । कल्पः—'वर्षतु ते द्यौरितिवेदिं प्रत्यवेक्षते' (आप० श्रौ० २।१।५) इति । हे वेदे, तवाऽऽप्यायनाय द्युशब्दोपलक्षितः पर्जन्यो वर्षतु । पर्जन्याधारतया तद्रूपत्वोपचारो दिव इत्याह – 'वर्षतु ते द्यौरित्याह । वृष्टिर्वै द्यौः । वृष्टिमेवावरुन्धे' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति । वर्षतीति वृष्टिः पर्जन्यः ।

हे इति । हे तृणसहित धूलि ! तू व्रज (उत्कर) में चली जा । अपहतो इति । 'अपहतोऽररुः[1] पृथिव्यै' इस पूर्वोक्त मन्त्र की व्याख्या ब्राह्मण ने नहीं की । क्योंकि इसका अर्थ स्पष्ट है । इससे अगले मन्त्र की ('व्रजम्······' इसकी) व्याख्या ब्राह्मण ने की है—'व्रजं······गोस्थानं करोति' इति । गायत्री आदि छन्द ही गोशब्द वाच्य वाणियों के अवस्थान के योग्य 'व्रज' शब्द वाच्य स्थान विशेष हैं—अर्थात् गायत्री आदि छन्द ही व्रज हैं, यही गोशब्द वाच्य वाणियों का निवास स्थान है ।

तत्र इति । द्व्यर्थक शब्द युक्त इस मन्त्र के पाठ से अध्वर्यु 'अररु' असुर के लिये छन्दोरूप उत्कर देश का निर्माण करता है । संक्षेप में तात्पर्य यह है कि प्रकृतमन्त्र में 'गोस्थान' शब्द श्लिष्ट है— द्व्यर्थक है । जहां गउएं बंधती हैं या रहती हैं उसे भी व्रज या गोस्थान कहते हैं । गो शब्द का अर्थ वाणी भी है, इसलिये वाणियों का स्थान भी गोस्थान या व्रज कहलाता है । वाणीरूपी गउओं का स्थान या व्रज गायत्री आदि छन्द हैं । पशु रूप गउओं का स्थान गोशाला है । मथुरा, वृन्दावन, गोकुल आदि प्रदेशों को भी जो 'व्रजमण्डल[2]' शब्द से कहा जाता है, वह भी इसीलिये कि वहां भगवान् कृष्ण के युग में गोपाल लोगों की (अहीरों की —ग्वालों की) अधिक वस्ती थी, वे अच्छी गौओं के साथ वहां रहते थे, गौओं का आधिक्य था । गौओं का व्रजन या विचरण वहां होता था, गउएं ही गउएं नजर आती थीं । गोकुल, गोवर्धन आदि शब्द भी इसी ओर संकेत करते हैं ।

वर्षत्विति । कल्पसूत्र कहता है कि 'वर्षतु ते द्यौः' इस मन्त्र से वेदि (पृथ्वी) को देखे । **हे इति ।** हे वेदि, तेरे आप्यायन[3] के लिये 'दिव्'[4] शब्द के द्वारा बोधित (उपलक्षित) पर्जन्य बरसे । पर्जन्य[5] का आधार होने के कारण द्युलोक में

---

१. 'अररु' यह शब्द 'ऋ गतौ' इस धातु से बना है--इसका अर्थ है···छिपकर विचरने वाला असुर । 'पृथिव्यै' में पञ्चमी के अर्थ में चतुर्थी है । वेद में इस प्रकार का विभक्ति व्यत्यय साधारण बात है ।

२. 'व्रज मण्डल' की गौएं और गोपियां गायत्री आदि छन्दों वाली श्रुतियां होती हैं, अतः दोनों में अभेद है ।

३. 'स्फ्य' से पृथ्वी पर प्रहार किया गया था, तज्जन्य क्षतिपूर्ति ही यहां आप्यायन' है ।

४. यद्यपि मन्त्र में 'द्यौर्वर्षतु'···'द्युलोक बरसे' ऐसा कहा गया है, परन्तु वर्षा करना तो प्रत्यक्ष रूप से पर्जन्य (मेघ) का कार्य है, द्युलोक का कार्य नहीं है । तथापि द्युलोकस्थ सूर्य रश्मियां ही समुद्र आदि से वाष्परूप में जल लेकर पर्जन्य (मेघ) रूप में परिणत होती हैं, इसीलिये मन्त्र में 'द्यौर्वर्षतु' ऐसा कहा गया । कार्य के लिये कारण शब्द का प्रयोग हो जाता है, द्युलोक (सूर्य) कारण है, पर्जन्य (मेघ) कार्य है ।

५. ब्राह्मण ग्रन्थों में द्युलोक को भी पर्जन्य कहा गया है, इसकी उपपत्ति के लिये और तत्सम्बन्धी ब्राह्मण वचन के उद्धरण की अवतरणिका के रूप में 'पर्जन्याधारतया' इत्यादि पंक्ति मूल में लिखी गई है ।

ब॒धा॒न दे॑व सवितः पर॒मस्यां॑ परा॒वति॑ श॒तेन॒ पाशै॒र्योऽ॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मस्तम॒तो मा मौ॑ग् ।

बधानेति। कल्पः—'हृत्वोत्करे निवपति बधान देव सवितः परमस्यां परावतिशतेन पाशैर्यो-ऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति' (बौ० श्रौ० १।११) इति । हे सवितर्देवानेन सतृणपांसु-रूपेणावस्थितं द्वेष्टारं द्वेष्यं च पाशशतेनात्यन्तदूरदेशेबधान तं पुरुषद्वयमतो बन्धनान्मा मुञ्च । अत्र

भी पर्जन्य रूपता का व्यवहार होता है—यह बात ब्राह्मण में बताई गई है—'वर्षतु······वृष्टि मेवावरुन्धे इति । द्युलोक वृष्टि (पर्जन्य) है । 'वर्षतु ते द्यौः' इस मन्त्र का उच्चारण करके अध्वर्यु वृष्टि का ही (पर्जन्य का ही) सम्पादन करता है । वृष्टि शब्द का पर्जन्य अर्थ किस आधार पर किया गया, इस बात को बताते हैं...वर्षतीति । जो बरसता[1] है, उसे वृष्टि कहते हैं । बरसने वाला पर्जन्य (मेघ) है इसलिये वृष्टि पद का अर्थ (पर्जन्य) है ।

बधानेति। तृणसहित पांसु को ले जाकर 'बधान देव······मा मौक्' इस मन्त्र से उत्कर में डाल दे । **हे इति**। हे सवितृ देव, इस तृणसहित धूल के रूप में अवस्थित हमारे साथ द्वेष करने वाले और जिसके साथ द्वेष करते हैं – इन दोनों व्यक्तियों को अत्यन्त दूर के देश में ले जाकर सैंकड़ों पाशों (बन्धनों) से बांध दो, और इन दोनों पुरुषों को इस बन्धन से मुक्त न करो । इस[2] मन्त्र में 'योऽस्मान्[3] द्वेष्टि यं[4] च वयं द्विष्मः' इस कथन को पुनरुक्ति न समझो । क्योंकि यहां पुरुष भिन्न भिन्न है, जिनमें एक द्वेष क्रिया का कर्ता है दूसरा द्वेष क्रिया का कर्म है । पुनरुक्ति की शङ्का करने वाले का तात्पर्य यह है कि एक ही वाक्य से काम चल सकता है 'जो हमारे साथ द्वेष करता है' इतने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि हम भी उसके साथ द्वेष करते हैं । इसी प्रकार 'हम जिसके साथ द्वेष करते हैं' इतने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि वह भी हमारे साथ द्वेष करता है । 'पुनरुक्ति दोष नहीं होता' ऐसा कहने वाले का तात्पर्य यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि 'जो हमारे साथ द्वेष करता है हम भी उसके साथ द्वेष करते ही हैं, इसी प्रकार जिसके साथ हम द्वेष करते हैं वह भी हमारे साथ द्वेष करता ही है यह भी आवश्यक नहीं । इसलिये यदि हम इतना ही कहेंगे कि 'जो हमारे साथ द्वेष करता है' उसको 'बांधो' तो वह व्यक्ति छूट जाएगा 'जिसके साथ हम द्वेष करते हैं' । इसी प्रकार यदि हम इतना ही कहेंगे कि 'जिसके साथ हम द्वेष करते हैं, उसको 'बांधो' तो वह व्यक्ति छूट जाएगा 'जो हमारे साथ द्वेष करता है' । हम चाहते हैं कि जिसके द्वेष के विषय हम हैं और जो हमारे द्वेष का विषय है, दोनों का बन्धन हो । यह बात दोनों वाक्यों के बोलने से ही सिद्ध होती है; अतः पुनरुक्ति नहीं है । उपर्युक्त कथन को ब्राह्मण वाक्य पुष्ट करता है...'बधान देव······अनिर्मुक्त्यै' इति । दो पुरुष हैं, एक वह जिसके साथ यजमान द्वेष करता है, दूसरा वह जो इसके साथ द्वेष करता है । दोनों को अत्यन्त दूर देश में सविता देवता पाशों में बांध देता है, इस तरह बांधता है कि वे छुटकारा नहीं पाते । इसीलिये 'बधान देव······' इत्यादि मन्त्र बोला जाता है । मन्त्र में 'परावति' शब्द का अर्थ है 'दूर भूमि में' अर्थात् 'दूर देश में' ब्राह्मण वाक्य में 'अनिर्मुक्ति' का अर्थ है 'छुटकारा न होना'[5] ।

---

१. मूल में वृष्टि शब्द में संज्ञार्थ में 'क्तिच्' प्रत्यय हुआ है ।
२. बधान देव सवितः······इस मन्त्र में ।
३. जो हमारे साथ द्वेष करता है ।
४. जिसके साथ हम द्वेष करते हैं ।
५. 'निपूर्वक मुचॢगतौ' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर 'निर्मुक्ति' शब्द बनता है ।

योऽस्मान्यं चेति न पुनरुक्तिर्द्वेषं प्रति कर्तृत्वेन कर्मत्वेन च पुरुषभेदादित्याह—'बधान देव सवितः परमस्यां परावतीत्याह द्वौ वाव पुरुषौ। यं चैव द्वेष्टि । यश्चैनं द्वेष्टि । तावुभौ बध्नाति । परमस्यां परावति शतेन पाशैः। योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगित्याहानिर्मुक्त्यै' (तै०ब्रा० ३।२।६) इति। परावति दूरभूमौ। अनिर्मुक्तिरनिर्मोक्षः। व्याख्यातान्मन्त्रत्रयात्पूर्वभावी यो मन्त्रः स्पष्टार्थबुद्धचोपेक्षितस्तं पुनः सिंहावलोकनन्यायेन स्मृत्वा व्याचष्टे—'अररुर्वै नामासुर आसीत् । स पृथिव्यामुपम्लुप्तोऽशयत्। तं देवा अपहतोऽररुः पृथिव्या इति पृथिव्या अपाघ्नन् । भ्रातृव्यो वा अररुः। अपहतोऽररुः पृथिव्या इति यदाह। भ्रातृव्यमेव पृथिव्या अपहन्ति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति । उपम्लुप्तस्तिरोहितः। यज्ञविघाताय गूढरूपेण भूमौ शयानत्वात्। अत एवायं भ्रातृव्यः शत्रुः । तं च देववन्मन्त्रोच्चारणपूर्वकेण सतृणानां पांसूनामपनयनेनापहन्ति।

अप॑हतो॒ऽररुः॑ पृथि॒व्या अदे॑वयजनो व्र॒जं ग॑च्छ गो॒स्थानं॒ वर्ष॑तु ते॒ द्यौर्ब॑धा॒न दे॑व सवितः पर॒मस्यां॑ पर॒ाव॑ति श॒तेन॒ पाशै॒र्यो॑ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मस्तम॒तो मा मौ॑गर्पह॑तो।

अपहत इति। कल्पः—'द्वितीयं प्रहरति पृथिवी देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषमित्यपहतोऽररुः पृथिव्यै देवयजन्या इत्यादत्ते व्रजं गच्छ गोस्थानमिति हरति वेदिं प्रत्यवेक्षते वर्षतु ते द्यौरिति

व्याख्यातात् इति। 'व्रजं गच्छ गोस्थानम्, वर्षतु ते द्यौः बधान देव सवितः परमस्यां परावति······' इन तीन मन्त्रों की व्याख्या ब्राह्मण में की गई है। इन तीनों से पहले एक मन्त्र और है···'अपहतोऽररुः पृथिव्यै'—जिसकी व्याख्या उसे स्पष्टार्थ समझकर नहीं की गई थी, ऋषि उसको सिंहावलोकन[1]न्याय से पुनः स्मरण करके उसकी व्याख्या करता है... 'अररुर्वै······अपहन्ति' इति। 'अररु' नाम का कोई असुर था। वह पृथिवी पर छिप कर पड़ा रहता था। उसको देवताओं ने 'अपहतोऽररु पृथिव्यै' इस मन्त्र को पढ़कर मार डाला और पृथ्वी से हटा दिया। अररु भ्रातृव्य[2] (शत्रु) था। 'अपहतोऽररुः······' इस मन्त्र को बोलकर अध्वर्यु यजमान के शत्रु को ही पृथ्वी से दूर करता है। 'उपम्लुप्त' शब्द का अर्थ है... तिरोहित...छिपा हुआ। क्योंकि वह (अररु) यज्ञ को विध्वस्त करने के लिये छिप कर पृथ्वी पर पड़ा हुआ था, इसीलिये वह भ्रातृव्य...शत्रु-मारा गया। उस 'अररु' नामक असुर को अध्वर्यु देवताओं की तरह मन्त्रोच्चारण पूर्वक तृणसहित धूल को हटा कर मार डालता है।[3]

अपहत इति। कल्पसूत्र कहता है कि 'पृथिवि······माहिंसिषम्' इस मन्त्र से दूसरी बार फिर 'स्फ्य' से प्रहार करे। पूर्ववत् फिर 'अपहतोऽररुः······देवयजन्यै' इस मन्त्र से तृणसहित धूलको लेवे' 'व्रजम्······गोस्थानम्' इस मन्त्र से उसे ले जावे, 'वर्षतु······द्यौः' इस मन्त्र से उसे तृणसहित धूल को उत्कर में डाले। तीसरी बार फिर 'पृथिवि······

---

१. सिंह का स्वभाव है कि चलते हुए वह यदि किसी व्यक्ति को देख लेता है तो पहले उसकी उपेक्षा ही कर देता है, परन्तु कुछ दूर जाकर मुड़ कर फिर उसे देखता है और उस पर आक्रमण कर देता है।

२. भ्रातृव्य शब्द का यौगिक अर्थ तो यही है कि 'भाई का लड़का', परन्तु पितामह की सम्पत्ति में हिस्सेदार होने के कारण वह प्रायः शत्रुभाव रखने लगता है इसलिये यह शब्द शत्रु अर्थ में ही रूढ हो गया है।

३. देवासुर संग्राम में जैसे देवता असुरों को मार डालते हैं उसी प्रकार अध्वर्यु भी यज्ञविघातक अररु असुर को समाप्त कर देता है।

हृत्वोत्करे निवपति बधान देव सवितः परमस्यां परावति शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति तृतीयं प्रहरति पृथिवि देवयजन्यो षध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषमित्यपहतोऽररुः पृथिव्या अदेवयजन इत्यादत्ते व्रजं गच्छ गोस्थानमिति हरति वेदिं प्रत्यवेक्षते वर्षतु ते द्यौरिति हृत्वोत्करे निवपति बधान देव सवितः परमस्यां परावति शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति' (बौ० श्रौ० १।११) इति।

यद्यप्यपहत इत्यनयोर्द्वितीयतृतीययोः पृथिवि देवयजनीत्ययमाद्यमन्त्रो नाम्नातस्तथापि प्रथम-पर्यायादनुषञ्जनीयः। यथा वाक्यस्य परिपूर्तये शब्दान्तर मनुषज्यते तथा प्रयोग परिसमाप्त्यर्थं मन्त्रानु-

---

माहिंसिषम्' इस मन्त्र से प्रहार करे, 'अपहतो······ अदेवयजनः' इस मन्त्र से तृणसहित धूल को उठा ले जावे, 'वर्षतु······ द्यौः' इस मन्त्र से पृथ्वी की ओर देखे, 'बधान देव······मामौक्' इस मन्त्र से उसे उत्कर में डाल दे।

यद्यप्यपहत इति। वेदि निर्माण के लिए भूमि का संस्कार अपेक्षित होता है। इसीलिये नवम अनुवाक के आदि में भूमि संस्कार की प्रक्रिया बताई गई है, जिसे कल्पसूत्रकारों ने पूर्णतया स्पष्ट किया है। इस प्रक्रिया में पहले कुशा को भूमि पर रखकर 'स्फ्य' से उस पर प्रहार करना पड़ता है, स्फ्य के प्रहार से भूमि की मिट्टी उखड़ जाती है, कुश भी टूट जाते हैं, उस मिट्टी और कुशा के टुकड़ों को उठाकर भूमि पर एक नजर मारते हुए ले जाना पड़ता है और ले जाकर उन्हें (मिट्टी और कुशा के टुकड़ों को) उत्कर में डाल देना होता है। ये सब क्रियाएं मन्त्रपूर्वक होती हैं और तीन बार करनी पड़ती है। इसीलिये संहिता में उक्त क्रियाओं के लिये प्रायः सब मन्त्रों को तीन बार पढ़ा गया है। परन्तु कुशा पर स्फ्य से प्रहार करने का मन्त्र[1] संहिता में एक बार ही पढ़ा गया है, इससे सन्देह हो जाता है कि स्यात् प्रहार क्रिया की आवृत्ति नहीं होती, इस सन्देह को मिटाने के लिये भाष्यकार ने 'यद्यप्यपहत इति' इत्यादि पंक्तियां लिखी हैं।

यद्यपि 'अपहत' इत्यादि मन्त्रों की द्वितीय और तृतीय आवृत्ति में 'पृथिवि देवयजनि······' यह पहला मन्त्र सम्मिलित नहीं किया गया है, तथापि पहली बार की प्रक्रिया से उसका सम्बन्ध द्वितीय और तृतीय बार की प्रक्रिया में भी कर लेना चाहिये। जैसे वाक्य की पूर्ति के लिये दूसरे शब्द का संबंध कर लिया जाता है, इसीप्रकार प्रयोग (अनुष्ठान) की पूर्ति के लिये मन्त्र का सम्बन्ध भी कर लेना उचित है। अररु असुर के शयन से दूषित वेदि भूमि की कुछ धूल पहली बारी में हटा दी गई थी, उतने से ही वेदि भूमि का एक भाग यज्ञ के योग्य बन गया था। इसी अभिप्राय से द्वितीय आवृत्ति में 'अपहतोऽररुः पृथिव्यै देवयजन्यै' इस मन्त्र में पृथिवी को देवयजनी कह कर विशेषित किया गया है। किन्तु तीसरी बारी में 'अपहतोऽररुः······' इसी मन्त्र में अररु का 'अदेवयजनः' यह विशेषण दिया गया है। तात्पर्य यह है कि पहली बारी में भूमि का जितना अंश देवयजन के योग्य बना, उतना ही पर्याप्त नहीं था, वेदि निर्माण के लिये कुछ भूमि और चाहिये थी, इसलिये दूसरी और तीसरी बारी में भी स्फ्य से प्रहार के अनन्तर अररु से दूषित धूल को हटाकर भूमि को देवयजन के योग्य बनाया गया···इस अभिप्राय को सूचित करने के लिये ही दूसरी बारी में पृथिवी का 'देवयजन्यै' यह विशेषण दिया गया। अर्थात् देवयजन के योग्य भूमि से अररु असुर को हटा दिया गया। और तृतीय बारी में अररु का 'अदेवयजनः' यह विशेषण दिया गया[2] है। अर्थात् देवताओं का यजन न करने वाला—देवभाव का शत्रु—अररु पृथिवी से हटा दिया गया। **तदेवम्** इति। इस प्रकार अररु असुर से दूषित तृणसहित धूल को यज्ञ भूमि से उठा कर उत्तर की ओर जिस प्रदेश में फेंकते हैं,

---

१. 'पृथिवि देवयजनि······' यह मन्त्र।

२. देखो मूल संहिता नवम अनुवाक दूसरी कण्डिका।

षङ्गो न्याय्यः। अररुशयनेनोपहतवेदि भूमिपांसवः कियन्तोऽपि प्रथमपर्यायेऽपनीता स्तावता वेदि भूम्येकदेशो यागयोग्यः सम्पन्नः । अनेनैवाभिप्रायेण द्वितीयपर्यायेऽपहतोऽररुः पृथिव्यै देवयजन्या इति पृथिवी विशेष्यते । तृतीयपर्याये तु—अदेवयजन इत्यररुविशेषणम् । तदेवमुपाहतास्तृणपांसवो यज्ञभूमेरुद्धृत्य यस्मिन्नुदग्देशे निरस्यन्ते स देश उत्कर इत्युच्यते ।

अररुः पृथिव्या अदेवयजनो व्रजं गच्छ गोस्थानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां परावति शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा (२) मौगररुस्ते दिवं मास्कान् ।

अररुरिति । कल्पः—'अररुस्ते दिवं मा स्कानिति न्युप्त[1]माग्नीध्रोऽञ्जलिनाऽभिगृह्णाति' (आप० श्रौ० २।१।८) इति । हे पांसुसमूहरूपोत्कर, तव सम्बन्धी योऽररुः स स्वर्गं मा गच्छतु । द्वितीयतृतीयपर्याययोः प्रथमव्याख्ययाऽवबोद्धुं शक्यतया तावुपेक्ष्य मन्त्रमेतं व्याचष्टे तेऽमन्यन्त । दिवं वा अयमितः पतिष्यतीति । तमररुस्ते दिवं मा स्कानिति दिवः पर्यबाधन्त । भ्रातृव्यो वा अररुः । अररुस्ते दिवं मा स्कानिति यदाह । भ्रातृव्यमेव दिवः परिबाधते' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति । ते देवाः केनाप्युपायेनाररुर्बन्धं छित्त्वा फलविघाताय स्वर्गं गमिष्यतीति मत्वा मन्त्रेण बन्धनं दृढीकृत्य दिवः सकाशाद्यथा परितो बाधितो भवति

उसको उत्कर कहते हैं ।

अररुरिति । कल्पसूत्र कहता है कि उत्कर में फेंकी हुई उस तृणसहित धूलि का आग्नीध्र 'अररुः······मास्कान्' इस मन्त्र से अञ्जलि द्वारा अभिग्रहण करे । अभिग्रहण से यहां तात्पर्य है कि उत्कर के मुख पर अपने हाथों की अञ्जलि करे, जिससे कि धूल ऊपर की ओर न उड़े । **हे इति** । हे धूलि समूह रूप उत्कर,[1] तुम्हारे साथ सबन्ध रखने वाला जो अररु नाम का असुर है, वह ऊपर स्वर्ग में न जाने पावे । **द्वितीय इति** । दूसरी और तीसरी बारी का[2] अभिप्राय उनकी पहली व्याख्या[3] से ही समझ में आ सकता है, इसलिये उनकी उपेक्षा करके ब्राह्मण वाक्य प्रकृत[4] मन्त्र ('तेऽमन्यन्त······परिबाधते') की व्याख्या करता है—'तेऽमन्यन्त······परिबाधते' इति । इस ब्राह्मण वाक्य का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं—ते देवा इति । देवताओं ने सोचा कि यह अररु किसी भी उपाय से बन्धन को तोड़कर यज्ञ फल के विघात के लिये स्वर्ग में चला जाएगा । इसलिये उन्होंने मन्त्र[5] के द्वारा उसके बन्धन को दृढ करके जिस प्रकार भी वह स्वर्ग की ओर जाने से रोका जा सके, वैसा यत्न किया । फलतः आग्नीध्र की अंजलि में बन्द हो जाने के

१. ख. ति न्युप्त ।

१. लोक में कूड़े करकट के ढेर को अवकर कहते हैं । वैदिक युग में यह उत्कर कहलाता था उसके फेंकने की जगह को भी उत्कर कहते हैं ।

२. दूसरी और तीसरी बारी में जो मन्त्र बोले गये हैं और जो अनुष्ठान की प्रक्रिया कर ली गई है, उसका ।

३. पहली बारी की व्याख्या से ।

४. 'अररुस्ते दिवं मास्कान्' इस मन्त्र की ।

५. 'अररुस्ते दिवं मास्कान्' इस मन्त्र से ।

तथा यत्नं कृतवन्तः। तस्मादाग्नीध्राञ्जलिना पांसुराशौ निरुद्धे सति भ्रातृव्यः स्वर्गबाधितो[1] भवति।

मन्त्रान्व्याख्यायानुष्ठानं विधत्ते 'स्तम्बयजुर्हरति पृथिव्या एव भ्रातृव्यमपहन्ति। द्वितीयꣳहरति। अन्तरिक्षादेवैनमपहन्ति। तृतीयꣳहरति। दिव एवैनमपहन्ति। तूष्णीं चतुर्थꣳहरति। अपरिमितादेवैनमपहन्ति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। यजुर्मन्त्रेणच्छिन्नो दर्भः स्तम्बयजुः। तच्चस्तम्बरूपं स्फ्येन छित्वोत्करदेशे हरेत्। त्रिवारमेवं हरणेन लोकेभ्यो भ्रातृव्यो हतो भवति। अमन्त्रकेण चतुर्थहरणेनापरिमितादब्रह्माण्डात्सर्वस्माद् भ्रातृव्यावघातः।

वस॑वस्त्वा॒ परि॑ गृह्णन्तु गाय॒त्रेण॒ छन्द॑सा रु॒द्रास्त्वा॒ परि॑गृह्णन्तु॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साऽऽदि॒त्यास्त्वा॒ परि॑ गृह्णन्तु॒ जाग॑तेन॒ छन्द॑सा

वसव इति। कल्पः—'अथ पूर्वं परिग्राहं परिगृह्णाति वसवस्त्वा परिगृह्णन्तु गायत्रेण छन्दसेति दक्षिणतो रुद्रास्त्वा परिगृह्णन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसेति पश्चादादित्यास्त्वा परिगृह्णन्तु जागतेन छन्दसेत्युत्तरतः' (बौ० श्रौ० १।११) इति। आहवनीयगार्हपत्ययोर्मध्ये वेदिं खनितुं वेदिमानाय स्फ्येन दिक्त्रये रेखात्रयं कर्तव्यम्। सोऽयं वेदेः परिग्राहः। परिग्रहोताऽध्वर्युर्दिक्त्रये क्रमेण भावनया वस्वादिरूपः। परिग्राहसाधनभूतः स्फ्यश्चच्छन्दस्त्रयरूपः। तमिमं परिग्राहं विधत्ते—'असुराणां वा इयमग्र आसीत्। यावदासीनः परापश्यति। तावद्देवानाम् ते देवा अब्रुवन्। अस्त्वेव नोऽस्यामपीति। क्यन्नो दास्यथेति।

कारण भ्रातृव्य (शत्रुरूप) अररु स्वर्ग की ओर जाने से रोक लिया जाता है।

मन्त्रान् इति। मन्त्रों की व्याख्या करके ब्राह्मण वाक्य अनुष्ठान का विधान करता है—'स्तम्बयजुः······ अपहन्ति' इति। स्तम्बयजु का हरण करे। जिस स्तम्ब का (दर्भका) यजुर्वेद के मन्त्र से छेदन किया गया है उसको 'स्तम्बयजु' कहते हैं[1]। उस स्तम्ब को (कुशमुष्टि को) स्फ्य से काट कर उत्कर प्रदेश में ले जावे। तीन बार इस प्रकार 'स्तम्बयजु' का हरण करने से भ्रातृव्य को (शत्रु को अररु नामक असुर को) पृथिव्यादि लोकों से मारकर हटा दिया जाता है। चौथी बार स्तम्बयजु का हरण मन्त्रोच्चारण के बिना ही (चुपचाप) हो जाता है, इस चतुर्थ हरण से अपरिमित[2] इस सकल ब्रह्माण्ड से ही शत्रु का सफाया कर दिया जाता है।

वसव इति। कल्पसूत्र कहता है कि 'स्तम्बयजु' हरण के अनन्तर अध्वर्यु प्रथम परिग्राह[3] का ग्रहण करे। अर्थात् 'वसवस्त्वा······छन्दसा' इस मन्त्र से दक्षिण की ओर स्फ्य से रेखा खींचे, 'रुद्रास्त्वा······छन्दसा' इस मन्त्र से पश्चिम की ओर और 'आदित्यास्त्वा······छन्दसा' इस मन्त्र से उत्तर की ओर। **आहवनीय इति।** आह्वनीय और गार्हपत्य कुण्डों के मध्य में वेदि खोदने के लिये पहले उसका (वेदि का) परिमाण निर्धारण करना आवश्यक है इसलिये तीन दिशाओं में (दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में क्रमशः) तीन रेखाएं खींचनी पड़ती हैं। ये तीन रेखाएं ही वेदि का प्रथम परिग्राह

---

१. ख. स्वर्गाद्बाधि।

---

१. यह केवल 'स्तम्बयजुष्' शब्द की व्युत्पत्ति है, वस्तुतः 'तृणसहित धूल' ही 'स्तम्बयजु' का अर्थ है। तृण से तात्पर्य यहां कुश से ही है। रुद्रदत्त प्रणीत सूत्र दीपिका में लिखा है...''स्तम्ब यजुरिति सतृणाः पांसवोऽभिधीयन्ते, तद्योगात्कर्म च क्वचित्' इति।

२. जिसका कोई परिमाण नहीं है, जो अनन्त है, असीम है।

३. 'परिग्राह' का अर्थ आगे लिखेंगे।

यावत् स्वयं परिगृह्णीथेति। तेवसवस्त्वेति दक्षिणतः पर्यगृह्णन्। रुद्रास्त्वेति पश्चात्। आदित्यास्त्वेत्युत्तरतः। तेऽग्निना प्राञ्चोऽजयन्। वसुभिर्दक्षिणा[1]। रुद्रैः प्रत्यञ्चः। आदित्यैरुदञ्चः। यस्यैवं विदुषो वेदिं परिगृह्णन्ति। भवत्यात्मना। पराऽस्य भ्रातृव्यो भवति' (तै० ब्रा० ३।२।६) इति।

पुराकदाचिदसुराणां विजये सति एषा पृथिवी कृत्स्नाऽपि तेषामेव स्वभूताऽऽसीत्। देवानां कोऽपि भूम्यंश भूतो नाभूत्। किन्तु यो देवो यत्र यदोपविष्टो यावद्देशं पश्यति तत्र तावान् देशस्तस्य देवस्य तदा स्वाधीनोऽभवत्। ततो देवा असुरानयाचन्त युष्मदधीनायामस्यां पृथिव्यां कोऽप्यंशोऽस्माकं नियतोऽपेक्षितस्तत्र कियद् भूस्थानमस्मभ्यं दास्यथेति। ततोऽसुरैरनुज्ञाता देवा मन्त्रैर्वेदिं स्वकीयत्वेन

कहलाती हैं। भाष्यकार ने सुगम होने के कारण परिग्रह ग्रहण के (रेखा खींचने के) मन्त्रों का अर्थ नहीं लिखा। हम लिख देते हैं—'हे वेदि! आठों वसु दक्षिण की ओर गायत्री छन्द से तुम्हें घेर लें—तुम्हारी रक्षा करें, इसी प्रकार ग्यारहों रुद्र और बारहों आदित्य क्रमशः पश्चिम और उत्तर' की ओर त्रिष्टुप् और जगती छन्दों के द्वारा तुम्हारी रक्षा करें। **परिग्रहीता इति**। परिग्रहीता अध्वर्यु ही तीनों दिशाओं में भावना[2] के द्वारा वसु, रुद्र और आदित्य स्वरूप हैं, और परिग्राह का (रेखा खींचने का) साधन स्फ्य गायत्री आदि छन्द स्वरूप है। ब्राह्मण भी इस वेदि परिग्राह का विधान करता है—'असुराणाम्[3]······भ्रातृव्यो भवति' इति। प्राचीन काल में कभी युद्ध में विजयी होने के कारण यह सारी पृथ्वी असुरों की ही थी, देवताओं के पास भूमि का कोई भी अंश नहीं था। किन्तु जो देवता जहां बैठ जाता और जितने देश (स्थान) पर उसकी दृष्टि पड़ती, तब वहां उतना देश उस देवता के अधीन हो जाता। तब भूमि की तंगी का अनुभव करके देवताओं ने असुरों से याचना की कि तुम्हारे अधीन इस पृथ्वी में कुछ अंश हमारे लिये भी नियत होना आवश्यक[4] है, तो बताइये—हमें कितना प्रदेश दोगे। तब असुरों की अनुज्ञा से देवताओं ने मन्त्रों के द्वारा वेदि[5] को अपने भाग (हिस्से) के रूप में स्वीकार किया। और उस वेदि के रक्षक के रूप में पूर्वदिशा में आहवनीय अग्नि को और दक्षिण आदि दिशाओं में वसु आदि देवताओं को नियत किया। तब चारों दिशाओं में अवस्थित देवताओं की अग्नि आदि के द्वारा विजय ही हुई। जिस यजमान के अध्वर्यु इस पूर्वोक्त भूमि सम्बन्धी इतिहास को जानते हुए यथोक्त मन्त्रों से वेदि[6] का परिग्राह[7] करते हैं, वह यजमान अपने ही स्वरूप से चारों ओर प्रख्यात हो जाता है। उसका शत्रु स्वयं पराभूत हो जाता है—अपने आप दब जाता है। **परिगृह्णन्ति इति**। मूलभाष्य में उद्धृत ब्राह्मण ग्रन्थ के 'यस्यैवं विदुषो वेदिं परिगृह्णन्ति' इस वाक्य में 'परिगृह्णन्ति' यह बहुवचन यद्यपि अनावश्यक है क्योंकि परिग्राह करने वाला अध्वर्यु तो एक ही है, इसलिये 'परिगृह्णाति' इस एकवचन का प्रयोग करना चाहिये। तथापि अध्वर्यु के प्रति आदर का भाव

---

१. ख, हि।

---

१. ये तीनों रेखाएं ही वेदि का पूर्व परिग्राह कहलाती है।

२. रेखा खींचते समय अध्वर्यु को यह भावना करनी चाहिये कि वह स्वयं वसु आदि स्वरूप है।

३. इस ब्राह्मण सन्दर्भ का व्याख्यान भाष्यकार ने स्वयं किया है।

४. तुम और हम सब एक पिता प्रजापति के पुत्र हैं, पिता की सम्पत्ति पर सब पुत्रों का समान अधिकार होता है।

५. पृथ्वी को।

६. यज्ञ की वेदिका।

७. रेखा खींचकर वेदि की नाप जोख करते हैं।

स्वीकृतवन्तः। तस्याश्च वेदेः प्राच्यामाहवनीयोऽग्निः पालको दक्षिणादिषु वस्वादयः। ततश्चतुर्दिक्ष्वव-स्थितानां देवानामग्न्यादिमुखेन विजय एव। तस्मादेवं विदुषो यस्य यजमानस्याध्वर्यवो यथोक्तमन्त्रैर्वेदिं परिगृह्णीयुः स यजमानः स्वेनैव रूपेणाभिप्रख्यातो भवति। तस्य भ्रातृव्यः पराभवति। परिगृह्णन्तीति बहुवचनं पूजार्थं प्रयोगभेदाभिप्रायेण वा।

दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे कर्म॑ कृण्वन्ति वे॒धस॑

देवस्येति। बौधायनः—'अथ प्राचीं स्फ्येन वेदिमुद्धन्ति। देवस्य सवितुः सवे कर्म कुर्वन्ति वेधस इति' (बौ०श्रौ०१.११) इति। आपस्तम्बस्तु शाखान्तरमन्त्रेण भूमेरूपरिभागावस्थितायास्तृणसहिताया मृद-उद्धननमभिधाय ब्रूते 'देवस्य सवितुः सव इति खनति' (आप०श्रौ० २.२.७) इति।

परमेश्वरस्यानुज्ञायां सत्यां वेधसः समाना अध्वर्यव इदमुद्धननरूपं खननरूपं वा कर्म कुर्वन्ति। ईश्वरानुज्ञया सर्वैर्जनैः स्वाभीष्टं कर्म क्रियत इत्येतद्विदुषां प्रसिद्धमित्याह—'देवस्य सवितुः सव इत्याह प्रसूत्यै। कर्म कृण्वन्ति वेधस इत्याह। इषितꣳहि कर्मक्रियते' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। वेदेर्दि-

---

सूचित करने के लिये ही बहुवचन दिया गया है—ऐसा समझें। अथवा अनुष्ठान[1] भेद के अभिप्राय से अनेक अध्वर्युओं के लिये यह बहुवचन समझें।

देवस्य इति। **बौधायन** कहते हैं कि वेदि परिग्राह के अनन्तर अध्वर्यु **'देवस्य···वेधसे'** इस मन्त्र से जहां पर वेदि बनानी है, उसके पूर्व की ओर स्फ्य से चोट[2] करे-प्रहार करे। परन्तु आपस्तम्ब किसी दूसरी शाखा के मन्त्र[3] से भूमि के ऊपर के भाग पर अवस्थित तृण सहित मिट्टी[4] की उद्घात बताकर कहते हैं—**'देवस्य सवितुः सवे···'** इत्यादि मन्त्र से भूमि को खोदे।

परमेश्वरस्य इति। परमेश्वर[5] की अनुज्ञा होने पर वेधा (ब्रह्मा) के समान अध्वर्यु इस उद्घात (पृथ्वी पर स्फ्य से चोट करना) रूप अथवा खनन (खोदना) रूप कर्म को करते हैं। **ईश्वर** इति। ईश्वर की अनुज्ञा से ही सब लोग अपने अभीष्ट कर्म को करते हैं—यह बात विद्वानों में प्रसिद्ध है—इस बात को ब्राह्मणवाक्य कहता है—**'देवस्य··· प्रसूत्यै',**[6] **'कर्म···क्रियते'** इति ब्राह्मणवाक्य वेदि की दो दिशाओं में (पूर्व और उत्तर भाग में) निम्नता[7] का विधान

---

१. यद्यपि एक दर्शेष्टि में एक ही अध्वर्यु होता है, तथापि अनेक यजमानों के द्वारा की जाने वाली अनेक दर्शेष्टियों में अनेक ही अध्वर्यु होंगे। वेदियां भी अनेक होंगी। वेदि परिग्राह भी अनेक होंगे। इसलिये बहुवचन अनुष्ठान भेद से ठीक है।

२. यह चोट (उद्घनन-उद्घात) वेद्यर्थ भूमि को खोदने के लिये है।

३. 'अपाररुं देवयजनं पृथिव्या अदेवयजनो जहि' इस मन्त्र से। यह मन्त्र यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में नहीं है।

४. यहां पर मिट्टी से तात्पर्य भूमि की उपरली त्वचा से है जिस पर घास उगी रहती है। 'स्फ्येनोत्तमां त्वचमुद्धन्ति' यह आपस्तम्ब का वचन है, 'उत्तमाम्' का अर्थ है सबसे ऊपर की उद्धन्ति का अर्थ है—चोट करके उखाड़ना।

५. यहाँ से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है।

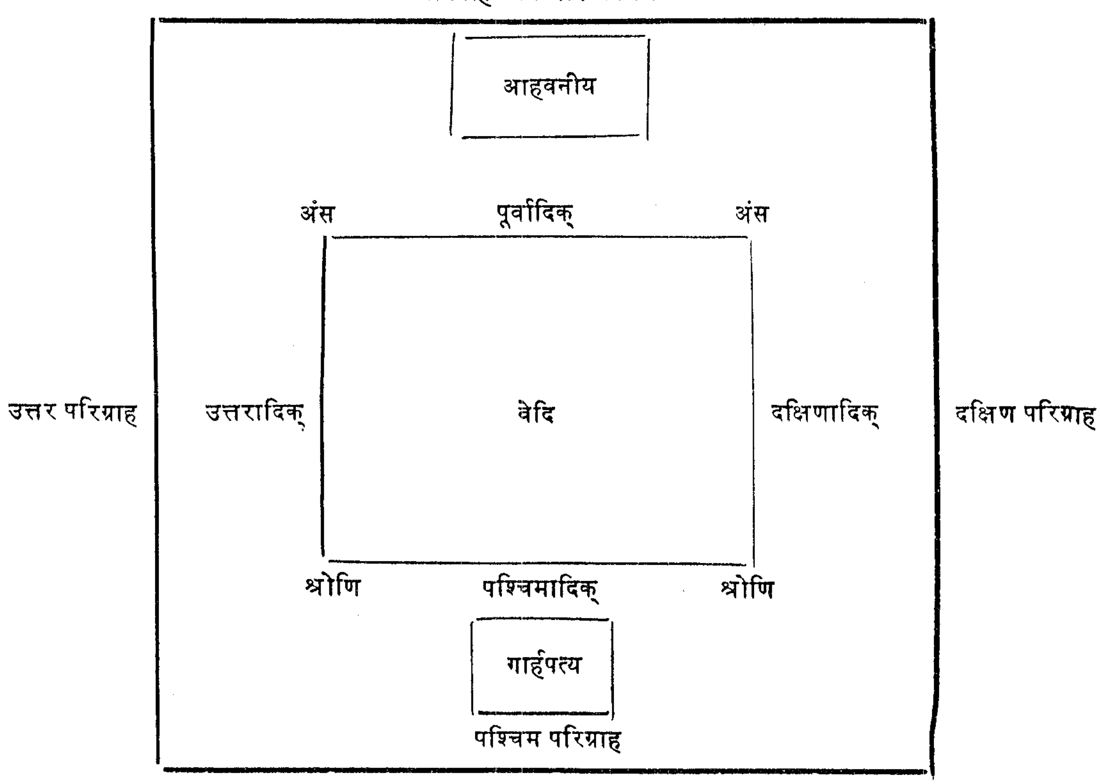
६. सव, प्रसव, प्रसूति ये तीनों शब्द 'षू प्रेरणे' धातु से बने हैं, जिनका अर्थ है—प्रेरणा या अनुज्ञा।

७. नीचेपन का, झुका हुआ होने का।

द्वये निम्नतां विधत्ते—'पृथिव्यै मेध्यं चामेध्यं च व्युदक्रामताम्। प्राचीनमुदीचीनं मेध्यम्। प्रतीचीनं दक्षिणा मेध्यम्। प्राचीमुदीचीं प्रवणां करोति। मेध्यामेवैनां देवयजनीं करोति' (तै० ब्रा० ३।२।६) इति। व्युदक्रामतां विभागमाप्नुताम्। अंसाकारेण श्रोण्याकारेण च कोणेषु चतुर्ष्वौन्नत्यं विधत्ते 'प्राञ्चौ वेद्यꣳसावुन्नयति। आहवनीयस्य परिगृहीत्यै। प्रतीचीश्रोणी। गार्हपत्यस्य परिगृहीत्यै। अथो मिथुनत्वाय' (तै० ब्रा० ३।२।६) इति।

करता है—**'पृथिव्यै'''करोति'** इति। पृथ्वी के मेध्य और अमेध्य (यज्ञ के योग्य और अयोग्य अर्थात् पवित्र और अपवित्र) भाग विभक्त होने चाहिये। पूर्व और उत्तर भाग मेध्य हैं, पश्चिम और दक्षिण भाग अमेध्य[1] हैं। पूर्व और उत्तर की ओर वेदि को कुछ झुकी हुई बनावे। ऐसा करके वह इस देवयजनी पृथ्वी को यज्ञ के योग्य ही बनाता है। भाष्योद्धृत ब्राह्मणवाक्य में 'व्युदक्रामताम्' शब्द आया है उसका अर्थ है विभाग को प्राप्त हों, अर्थात् विभक्त होने चाहियें। ब्राह्मणवाक्य वेदि के चारों कोनों में अंश और श्रोणि के रूप में ऊँचेपन का विधान करता है—**'प्राञ्चौ''' मिथुनत्वाय'** इति। पूर्व की ओर के वेदि के अंसों को (कन्धों को) ऊँचा करे, आह्वनीय के परिग्राह के लिये पश्चिम की ओर की श्रोणियों (निलम्बों) को भी ऊँचा करे, गार्हपत्य के परिग्राह के लिये। जिससे कि मिथुनीभाव हो सके।

परिग्राह और वेदि का चित्र



---

१. अमेध्य भाग भूमि की ऊपर की सतह है, जिसे भूमि की त्वचा कहते हैं, जिस पर घास उगी हुई होती है।

अंसयोः श्रोण्योश्च प्रत्येकं युग्मतया मिथुनत्वम्। यद्वा पुमानं सो योषिच्छ्रोणिरिति मिथुनत्वम्। भूमेरूर्ध्वभागस्य त्वक्स्थानीयस्य स्फ्येनापसारणं विधत्ते—'उद्धन्ति। यदेवास्या अमेध्यम्। तदपहन्ति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। तदेवं विधिमनूद्यार्थवादान्तरमाह—'उद्धन्ति। तस्मादोषधयः पराभवन्ति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। तस्मादुद्धननाद् भूमिष्ठास्तृणस्तम्बा बर्हिरास्तरण हविरासादनविरोधिनो विनश्यन्ति। भूमावत्यन्तं निरूढानां तृणमूलानामुद्धननमात्रेणापगमाभावात् पृथग्यत्नेनच्छेदनं विधत्ते—'मूलं छिनत्ति। भ्रातृव्यस्यैव मूलं छिनत्ति। मूलं वा अतितिष्ठद्रक्षाᳪस्यनूत्पिपते' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। वैरिणो मूलं निवासाधिकरणं गृहादिकम्। यदि तृणमूलं भूमिमतीत्य किञ्चि-

---

अंसयोरिति। अंस और श्रोणि प्रत्येक दो दो होने के कारण मिथुन हैं। अथवा अंस पुरुषरूप है और श्रोणि स्त्रीरूप है। इसलिये मिथुन हैं। **भूमेरिति।** भूमिका उपरला भाग (जिस पर घास उगी रहती है) उसकी (भूमि की) त्वचा है, स्फ्य के द्वारा उसे हटाने का विधान करते हैं—'उद्धन्ति···तदपहन्ति' इति। स्फ्य से भूमि पर प्रहार (चोट) करे और जो इसका अमेध्य भाग है उसे पृथक् कर दे। उपर्युक्त विधि का (भूमि की त्वचा को हटाने की विधि का) अनुवाद करके उसका दूसरा अर्थवाद (स्तुतिवाक्य) बताते हैं—**'उद्धन्ति···पराभवन्ति'** इति। उस उद्धनन से —स्फ्य के प्रहार से—भूमि में स्थित वे तृणसमूह नष्ट हो जाते हैं, जिनके कारण कुशास्तरण में (कुशाओं के बिछाने में) और हविरासादन में (हविस्थापन करने में) रुकावट पड़ती है।

भूमावेति। भूमि में अत्यन्त गहरी गई हुई घास की जड़ें स्फ्य के प्रहार मात्र से दूर नहीं हो सकती, इसलिये पृथक् यत्न से (दूसरे उपाय से) उनके छेदन का विधान करते हैं—**'मूलम्···अनूत्पिपते'** इति। तृणों की जड़ों को ही उच्छिन्न कर दे—उखाड़ फेंके। ऐसा करने से वह (आग्नीध्र[1]) यजमान के शत्रु का ही (यज्ञ में विघ्नोत्पादक असुरों का ही) मूलोच्छेद करता है। शत्रु का मूल—उसके निवास का स्थान घर आदि ही तो हैं। यदि घास की जड़ जरा भी भूमि के अन्दर घुसी रह गई, तो उसके बाद असुर[2] पुनः प्रकट हो सकते हैं। इसलिये मूल का ही विनाश कर देना चाहिये। मूलोच्छेद के साधन का विधान करते हैं—**"यद्धस्तेन···रक्षाᳪस्यपहन्ति'** इति। स्फ्य से छेदन करे, क्योंकि स्फ्य वज्र है, स्फ्य[3] से मूल का छेदन करना वज्र से ही यज्ञ से असुरों को हटाना है। हाथ से (नाखून[4] से) छेदन न करे यदि हाथ से छेदन करेगा तो यजमान की प्रजा (सन्तति) कुनखी (बुरे नाखूनों वाली) होगी। स्फ्य वज्र है—यह बात दूसरे ब्राह्मण में स्पष्ट है—**"इन्द्रो···तृतीयम्'** इति। इन्द्र ने वृत्र पर वज्र का प्रहार किया, वह वज्र तीन रूपों में प्रकट हुआ। कहीं मूल में 'सत्रेधा व्यभजत्' ऐसा पाठ है, इसका अर्थ है कि 'वह वज्र तीन रूप में विभक्त हो गया। पहला रूप है स्फ्य, दूसरा रथ और तीसरा यूप[5]। मूल में स्फ्य आदि तीनों को ही तृतीय कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है कि वज्र तीन समान भागों में विभक्त हुआ उसका एक तृतीयांश स्फ्य है, दूसरा तृतीयांश रथ है और तीसरा तृतीयांश यूप है। अब प्रादेश परिमित वेदि खोदने का विधान करते हैं—**'पितृदेव···सम्मिताम्'** इति। यदि यह वेदि प्रादेश (साढ़े दस अङ्गुल)

---

१. अध्वर्यु का सहायक आग्नीध्र नाम का ऋत्विज्।

२. असुर प्राण भूमि के भीतर घास की जड़ों में रहता है, यदि जड़ जरा भी भूमि के भीतर रह गई तो वह फिर हरी हो जायगी। असुरों का अड्डा फिर तैयार हो जायगा। वहां से वे फिर प्रकट होंगे और यज्ञ में विघ्न करेंगे।

३. मूल में 'स्फ्येन छिनत्ति' विधिवाक्य है और शेष अर्थवाद है।

४. आपस्तम्ब ने 'नखेन' कहा है।

५. पशुयाग में पशु को बाँधने के लिये जो स्तम्भ होता है, उसे यूप कहते हैं।

दवतिष्ठेत तदा तदनुरक्षांऽस्युद्भवेयुः। तस्मान्मूलं छेदनीयम्। छेदनसाधनं विधत्ते—'यद्धस्तेन छिन्द्यात् कुनखिनीः प्रजाः स्युः। स्फ्येन छिनत्ति। वज्रो वै स्फ्यः। वज्रेणैव यज्ञाद्रक्षांऽस्यपहन्ति' (तै० ब्रा० ३।२।६) इति। स्फ्यस्य वज्रत्वमन्यत्रस्पष्टमाम्नातम्—'इन्द्रो वृत्रायवज्रं प्राहरत्। सत्रेधा व्यभवत्[१]। स्फ्यस्तृतीयम्। रथस्तृतीयम्। यूपस्तृतीयम्।' (तै० सं० ५।२।६) इति। प्रदेशपरिमितं वेदिखननं विधत्ते—'पितृदेवत्याऽतिखाता। इयतीं खनति। प्रजापतिना यज्ञमुखेन सम्मिताम्' (तै० ब्रा० ३।२।६) इति। यदियं वेदिः प्रादेशपरिमाणमतीत्य खाता स्यात्तदा पितृदेवत्यत्वादियं दैविकी न भवेत्। 'इयतीम्' इति प्रादेशपरिमाणाभिनयः। प्रजापतिसृष्टतया तद्रूपं यज्ञपुरुषस्य मुखम्। तच्च प्रादेशपरिमितम्। अतस्तत्सम्मितां वेदिं खनेत्। पक्षान्तरं विधत्ते—'वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां चतुरङ्गुलेऽन्वविन्दन्। तस्माच्चतुरङ्गुलं खेया' (तै० ब्रा० ३।२।६) इति। केनापि निमित्तेन देवेभ्यो विमुखी-

परिमाण से अधिक खोदी जायगी तो यह पितृदेवत्य हो जायगी अर्थात् तब इसका सम्बन्ध पितरों से होगा, फलतः यह देव संबन्धी नहीं रहेगी। इसलिये इसे (वेदि को) प्रादेशमात्र ही खोदना चाहिये। यद्यपि मूलोक्त ब्राह्मणवाक्य में स्पष्टतः 'प्रादेशमात्र वेदि का खनन करे' ऐसा कुछ नहीं कहा है, तथापि 'इयतीम् खनति'='इतनी खोदे' ये अक्षर वहाँ हैं। 'इयतीम्' पद से प्रादेश परिमाण का ही हाथ से अभिनय प्रदर्शन किया गया है। **प्रजापति इति**। यज्ञ[१] पुरुष के मुख[२] को प्रजापति ने उत्पन्न किया था, अतः वह (यज्ञ पुरुष का मुख) भी प्रजापतिस्वरूप है और वह यज्ञपुरुष का मुख प्रादेश परिमित है, अतः उस परिमाण से ही वेदि को खोदना चाहिये। **पक्षान्तरम्** इति। वेदि को कितना खोदना चाहिये इस विषय में एक दूसरा पक्ष भी है, उसे बताते हैं—**'वेदिः···खेया'** इति। किसी कारण वेदि की अधिष्ठात्री देवता देवों से विमुख होकर भूमि में छिप गई। उसे देवताओं ने पृथ्वी को चार अंगुल खोदकर प्राप्त किया। इसलिये चार अङ्गुल के परिमाण से ही वेदि को खोदे। **तम्** इति। चार अङ्गुल खोदने की विधि का अनुवाद करके उसका[३] अर्थवाद (स्तुतिवाक्य) लिखते हैं—**'चतुरङ्गुलम्···प्रतितिष्ठन्ति'** इति। चार अङ्गुल तक खोदे, क्योंकि चार अङ्गुल तक (भूमि के भीतर) औषधियों की जड़ें प्रतिष्ठित रहती हैं—औषधियों की जड़ भूमि के भीतर चार अङ्गुल तक फैलती है, इसीलिये वायु उन्हें नहीं उखाड़ पाता। तीसरे पक्ष का विधान करते हैं—**'आप्रतिष्ठायै··· गमयति'** इति। यदि चार अङ्गुल अथवा प्रादेशमात्र (साढ़े दस अङ्गुल) खोदने पर भी वेदि के उपयुक्त (पक्की) भूमि न मिले, रेत आदि के कारण शिथिल भूमि ही मिले तो तब तक खोदता ही चले जब तक वेदि के योग्य भूमि न मिल जाये। योग्य भूमि में ही वेदि की प्रतिष्ठा होती है, वेदि की प्रतिष्ठा से ऋत्विक् (आग्नीध्र) यजमान को ही प्रतिष्ठा प्राप्त कराता है। वेदि के दक्षिण भाग में उन्नति का (ऊँचाई का) विधान करते हैं—**'दक्षिणतो···रूपमकः'** इति। दक्षिण की ओर वेदि को ऊँचा करे। ऐसा करके ऋत्विक् देवयजन (यज्ञभूमि) के रूप का ही निर्माण करता[४] है।

१. ख. भजत्

१. मूलोक्त ब्राह्मण में 'प्रजापति······' इत्यादि वाक्य का हिन्दी अनुवाद है।
२. वेदि ही यज्ञ पुरुष का मुख है।
३. चार अंगुल तक खोदने की विधि का।
४. मूल में 'अकः' यह रूप कृ धातु के लुङ् लकार का है, 'छन्दसि लुङ् लङ् लिटः' इस सूत्र से लुङ् लकार वेद में सब कालों में होता है। अतः हमने 'करता है' यह अर्थ किया है।

भूता वेदिदेवता भूमौ निलीना सती चतुरङ्गुलमात्रं खनने न लब्धा, तस्माच्चतुरङ्गुलं खनेत्। तं विधि-मनूद्यार्थवादान्तरमाह—'चतुरङ्गुलं खनति । चतुरङ्गुले ह्योषधयः प्रतितिष्ठन्ति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। ओषधिमूले भूमेरन्तश्चतुरङ्गुलं प्रसृते सति ता ओषधयो वायुनानोन्मूल्यन्ते । पक्षान्तरं विधत्ते—'आ प्रतिष्ठायै खनति । यजमानमेव प्रतिष्ठां गमयति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। यदि चतुरङ्गुलप्रमाणेन प्रादेशप्रमाणेन वा सिकतादि प्रयुक्तशैथिल्याद् भूमिर्नलभ्यते तदा तल्लाभपर्यन्तं खनेत्। दक्षिणस्यां दिश्यौन्नत्यं विधत्ते—'दक्षिणतो वर्षीयसीं करोति । देवयजनस्यैव रूपमकः' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। प्राचीमुदीचीं प्रवणां करोतीत्यनेनैव सिद्धेऽप्यौन्नत्ये पुनरपि कुड्याकारेण मृत्तिका प्रक्षेपोऽत्र विधीयते। अकः कृतवान् भवति। लोष्ठभावरहितां सिकतया सदृशीं मृदं वेद्यां सर्वत्र विकिरे-दित्याह—'पुरीषवतीं करोति। प्रजा वै पशवः पुरीषम् । प्रजयैवैनं पशुभिः पुरीषवन्तं करोति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति।

प्राचीम् इति। यद्यपि 'प्राचीमुदीचीं[1] प्रवणां करोति' वेदि को पूर्व और उत्तर की ओर कुछ झुकी हुई बनावे इस वाक्य से ही यह सिद्ध है कि दक्षिण की ओर वेदि ऊँची होनी चाहिये, तथापि 'दक्षिणतो वर्षीयसीं करोति', दक्षिण की ओर वेदि को ऊँचा करे ? इस ब्राह्मण वाक्य से पुनः ऊँचाई का विधान करने का तात्पर्य यह है कि दक्षिण की ओर वेदि की ऊंचाई कुछ अधिक ही होनी चाहिये। उपर्युक्त[2] वाक्य से यहाँ पुनः मिट्टी फेंकने का विधान किया गया है, जिससे कि दीवार जैसी ऊँचाई हो जाए। **अकः** इति। 'देवयजनस्यैव रूपमकः' यह ब्राह्मणवाक्य पहले 'दक्षिणतो वर्षीयसीं करोति' इस विधिवाक्य के अर्थवाद के रूप में उद्धृत किया गया है। उसमें 'अकः' यह शब्द आया है, उसका विवरण ही भाष्यकार ने 'अकः[3]—कृतवान् भवति' इस वाक्य से किया है। अर्थात् दक्षिण की ओर वेदि को कुछ अधिक ऊँचा करके ऋत्विक् ने देवयजन (यज्ञभूमि) के रूप का ही निर्माण किया। **लोष्ठ** इति। लोष्ठ[4] भाव से रहित बारीक रेत जैसी मिट्टी को वेदि के ऊपर सब जगह बखेर दे—इस बात को पुरीषवतीम्[5]···करोति' इस ब्राह्मणवाक्य द्वारा बताते हैं। वेदि को पुरी[6]षवती बनावे अर्थात् वेदि के ऊपर बारीक मिट्टी बखेर दे। प्रजा[7]स्वरूप पशु ही पुरीष हैं, वेदि को पुरीषवान् बनाकर ऋत्विक् यजमान को ही पुरीषवान् (प्रजात्मक पशुमान्) बनाता है।

---

१. देखो तै० ब्रा० ३।२।९

२. 'दक्षिणतो वर्षीयसीं करोति' इस वाक्य से। वस्तुतः 'वर्षीयसीम्' यह पद ही आपेक्षिक अधिक ऊंचाई की ओर संकेत करता है। 'अतिशयेन वृद्धाम् इति वर्षीयसीम्' 'वृद्ध' शब्द के स्थान पर 'वर्ष' आदेश हुआ है। पुनः मिट्टी फेंकने और दीवार जैसी ऊँचाई के लिए भाष्यकार ने कोई प्रमाणान्तर उद्धृत नहीं किया।

३. 'अकः' कृ धातु का लुङ् लकार का रूप है, लुङ् भूतकाल में होता है अतः भाष्यकार ने भूतकाल जैसा ही अर्थ किया है। इसका वर्तमान और भविष्यत् जैसा भी अर्थ हो सकता है, क्योंकि लुङ्लकार वेद में काल सामान्य में भी होता है।

४. 'लोष्ठ' शब्द का अर्थ है मिट्टी का डला, उसको चूरकर बारीक बना दिया जाय तो वह लोष्ठ नहीं रहता, लोष्ठपन से रहित हो जाता है और बारीक मिट्टी बन जाता है। 'रेत जैसी' कहने का तात्पर्य यह है कि मिट्टी बारीक हो।

५. 'पुरीषवतीम्······' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य में 'पुरीषवतीं करोति' इतना भाग विधि वाक्य है, शेष अर्थवाद है।

६. 'पुरीष' शब्द का अर्थ है धूल जैसी अत्यन्त बारीक मिट्टी।

७. प्रजा शब्द का अर्थ 'संतति 'है 'प्रजास्यात्सन्ततौ जने'।

ऋतमस्यृतसदनमस्यृतश्रीरसि

ऋतमिति। कल्पः—'उत्तरं परिग्राहं परिगृह्णाति, ऋतमसीति दक्षिणतः ऋतसदनमसीति पश्चादृतश्रीरसीत्युत्तरतः' (बौ० श्रौ० १.११) इति। ऋतं सत्यम्। तच्च सत्यत्वं त्रिष्वपि वेद्यां हविषि फले च। असुरदानात्पूर्वमासीनो देवो यावन्तं भूदेशं पश्यति न तस्य देवयजनत्वं नियतम्, अतोऽनृतत्वम्। वेदे-

---

ऋतमिति। कल्पसूत्र कहता है कि उत्तर[1] (द्वितीय) परिग्राह का ग्रहण करे, **'ऋतमसि'** इस मन्त्र से वेदि के दक्षिण की ओर **'ऋतसदनमसि'** इस मन्त्र से पश्चिम की ओर, और **'ऋतश्रीरसि'** इस मन्त्र से उत्तर की ओर स्फ्य से रेखा[2] खींचे। ऋत शब्द का अर्थ है सत्य, वह सत्यत्व वेदि, हवि और फल इन तीन वस्तुओं में रहता है। असुरों के दान से पहले अर्थात् जब तक असुरों ने देवों को भूमि नहीं दी थी, तब तक पृथ्वी पर बैठा हुआ देव जितने प्रदेश को देखता था उतने प्रदेश का देवयजनत्व—यज्ञभूमित्व—नियत (निश्चित)[3] नहीं था। अतः वह अनृत था। परन्तु वेदि (यज्ञोपयुक्त भूमि) जब असुरों के द्वारा देवों को दे दी गई, तब दी हुई वस्तु क्योंकि पुनः लौटती नहीं, इसलिये वह वेदि (भूमि) ऋत (सत्य) हो गई। अब उसमें निश्चित रूप से यज्ञ किया जा सकता था। इसलिये कहा—'वेदि तू ऋत है—सत्य है'। हवि का फलहेतुत्व कभी व्यभिचरित नहीं होता अर्थात् देवों के उद्देश्य से दी गई हवि निष्फल हो जाए ऐसा कभी भी नहीं होता, उसका स्वर्ग आदि रूप फल अवश्य ही हवि देने वाले यजमान को मिलता है, इसलिये हवि भी सत्य है। यह सत्य हवि वेदि पर ही स्थित[4] रहती है; इसीलिये कहा गया कि हे वेदि, तू ऋत का (सत्य हवि का) सदन है—स्थान है। फल[5] क्योंकि अवश्यम्भावी है, इसलिये वह भी ऋत है—सत्य है। वह फल[6] भी हवि के द्वारा[7] वेदि पर ही आश्रित रहता

---

१. पूर्व परिग्राह वेदि निर्माण से पहले किया गया था, उत्तर (द्वितीय) परिग्राह वेदि निर्माण के बाद किया जाता है। परिग्राह शब्द का अर्थ पूर्व परिग्राह के विवरण में इसी नवम् अनुवाक के भाष्य में देखो।

२. ये रेखाएँ पूर्व परिग्राह में जिस क्रम से जिस स्थान पर की गई थीं उत्तर परिग्राह में भी ये उसी क्रम से की जाती हैं।

३. यद्यपि देव और असुर दोनों ही प्रजापति की सन्तान थे अतः दोनों का ही प्रजापति की सम्पत्ति (भूमि) पर जन्म से ही समान स्वत्व था। परन्तु जब तक विभाग नहीं होता तब तक बपौती पर संतति का साँझा स्वत्व है, प्रत्येक का अलग-अलग प्रातिस्विक स्वत्व नहीं होता। इसलिये विभाग से पूर्व देवताओं ने भूमि को निश्चित रूप से यज्ञ के उपयुक्त नहीं समझा, उस समय असुर मना कर सकते थे। परन्तु जब विभाग हो गया और असुरों ने यज्ञोपयुक्त भूमि देवों को दे दी तब वह भूमि देवों की निजी हो गई अर्थात् उनके लिये सत्य हो गई।

४. हवि को वेदि पर ही रक्खा जाता है।

५. हविर्दान का फल भी।

६. यद्यपि यज्ञ में हविर्दान का फल तत्काल यजमान को नहीं मिलता कृषि के फल की तरह वह कालान्तर में ही यजमान को प्राप्त होता है। यज्ञानुष्ठान काल में वह नहीं है तथापि वह फल हविर्दान का ही है और वह हवि वेदि पर स्थित रहती है। इसलिये उस भविष्य फल को भी हवि के द्वारा वेदि पर स्थित मान लिया गया।

७. उत्तर परिग्राह की ऋत, ऋतसदन, और ऋतश्री इन तीन संज्ञाओं का वैज्ञानिक अभिप्राय भूमिका में पढ़िये।

दत्तत्वान्न पुनः परावर्तत इत्यृतत्वम्। ततो हे वेदे त्वमृतमसि। हविषः फलहेतुत्वं न कदाचिद् व्यभिचरतीत्यस्ति सत्यत्वम्। तच्चसत्यं हविरस्यां वेद्यां सीदति। ततो हे वेदे त्वमृतसदनमसि। फलस्यावश्यम्भावित्वादस्त्यृतत्वम्। तच्च फलं हविर्द्वारेण वेद्या श्रीयते। ततो हे वेदे त्वमृतश्रीरसि। विधत्ते—'उत्तरं परिग्राहं परिगृह्णाति। एतावतीवै पृथिवी। यावतीवेदिः। तस्या एतावत एव भ्रातृव्यं निर्भज्य। आत्मन उत्तरं परिग्राहं परिगृह्णाति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। वेदि व्यतिरिक्ताया भूमेरासुरत्वेन

है इसलिए कहा कि हे वेदि, तू ऋतश्री है। ऋत का (सत्य रूप हविर्दान के फल का) हवि के द्वारा आश्रय[1] है। ब्राह्मण वाक्य भी उत्तर परिग्राह का विधान करता है—'उत्तरं···परिगृह्णाति' इति। उत्तर परिग्राह का ग्रहण करे। जितनी वेदि[2] है उतनी ही पृथ्वी है। उस सब पृथ्वी से शत्रु को निकालकर अपने लिये ही उत्तर (दूसरा) परिग्राह करता है अर्थात् भूमि को घेर लेता है जिससे कि उसमें असुर न आ सके। वेदिव्यति इति। वेदि से अतिरिक्त भूमि असुर संबंधी है, इसलिये कर्म में (यज्ञकर्म में) उसका उपयोग नहीं होता। यज्ञधर्मोपयुक्त भूमि वेदि ही है। ऐसी स्थिति में अध्वर्यु पूर्व परिग्राह के द्वारा महाभूमि सम्बन्धी वेदिरूप समस्त प्रदेश से वैरी को (असुरों को) निकालकर अपने लिये (यजमानार्थ) दूसरा परिग्राह[3] करे। मन्त्रार्थ इति। 'ऋतमसि' इत्यादि यजुर्मन्त्रों का तात्पर्य उनके पदों से ही

१. देव और असुरों में परस्पर भूमि विभाग की कथा तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार इसी नवम अनुवाक के भाष्य में भाष्यकार ने लिखी है। शतपथ ब्राह्मण में (का० १ अ० २ ब्रा० ५) इस कथा में थोड़ा सा अन्तर है। जब देवों को यह विदित हुआ कि असुर इस समग्र भूमण्डल को आपस में बांट कर हमको इसके स्वामित्व से दूर रखना चाहते हैं, तब वे जरा डरे और यज्ञ नाम से प्रख्यात विष्णु को साथ लेकर असुरों के पास पहुंचे, उनसे कहा कि हम भी आपकी तरह ही प्रजापति के पुत्र हैं यह भूमण्डल आपकी और हमारी सांझी बपौती है इसमें हमारा भी भाग होना चाहिये। असुर कुछ सकपकाए और यह तो बुरा हुआ ऐसा मन में सोचते हुए बोले कि यह विष्णु तुम्हारा मुखिया है इसे भूमि पर लिटा दो, वह भूमि का जितना प्रदेश घेरेगा उतना भू-भाग हम तुम्हें दे सकेंगे, अधिक नहीं। असुरों ने यह समझा था कि यज्ञ नाम से प्रसिद्ध यह विष्णु वामन है—छोटा-सा है यह कितना भू प्रदेश घेरेगा। अतः थोड़ा सा भू भाग इन्हें दे देने में कोई विशेष हानि नहीं। वे नहीं समझते थे कि यह वामन समस्त त्रिलोकी को व्याप्त कर लेगा। असुरों के इस प्रस्ताव को देवों ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। फलतः यज्ञस्वरूप विष्णु ने त्रिभुवन को व्याप्त कर लिया। असुरों को सारी भूमि छोड़नी पड़ी। यज्ञात्मक विष्णु की सहायता से ही देवों को इस सम्पूर्ण भूमि का वेदन (लाभ) हुआ अतः यह सारी भूमि वेदिनाम से प्रसिद्ध हुई। वेदि शब्द 'विद्लृ लाभे' धातु से बना है। इसी आधार पर यह बात कही गई है कि जितनी वेदि है उतनी ही पृथ्वी है। इस कथा का आधिदैविक और आधिभौतिक तात्पर्य भूमिका में पढ़िये। यहां इतना ही समझिये कि इसी ब्राह्मणोक्त आख्यान के अनुकरण पर यज्ञार्थ भूमि को भी वेदि ही कहते हैं। वेदि रूप पृथ्वी से असुरों को हटाया गया था अतः यज्ञ की वेदि से भी असुरों को हटाया जाता है।

२. इन पंक्तियों से भाष्यकार ने पूर्व और उत्तर (प्रथम और द्वितीय) दोनों परिग्राहों का प्रयोजन बताया है। ये पंक्तियां 'उत्तरं परिग्राहं गृह्णाति' की व्याख्या के रूप में लिखी गई हैं।

३. तात्पर्य यह है कि देव सम्बन्धी आदान प्रदानात्मक अथवा अग्नीषोमात्मक यज्ञ तो समस्त भूमण्डल पर चलता ही रहता है। असुर प्राण उसमें भी विघ्नकारी होते ही हैं, अतः प्रथम परिग्राह द्वारा वहां से असुरों का निष्कासन सूचित किया। उसी देव सम्बन्धी यज्ञ के अनुकरण पर वेदोक्त दर्शपूर्णमास आदि यज्ञ किये जाते हैं, यहां भी शत्रु रूप असुर भाव का निराकरण आवश्यक है अतः द्वितीय परिग्राह के द्वारा उसको भी सूचित किया गया है।

कर्मण्यनुपयोगादुपयुक्ता भूमिर्वेदिरेव। तथा सति पूर्वपरिग्राहेण महाभूमेः सम्बन्धिनो वेदिरूपादेव तावतः प्रदेशाद्वैरिणं निःसार्य स्वार्थमुत्तरपरिग्राहं कुर्यात्। मन्त्रार्थो मन्त्रपदेष्वेवाभिव्यक्त इत्याह—'ऋतमस्यृत-सदनमस्यृतश्रीरसीत्याह। यथा यजुरेवैतत्' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति।

धा अ॑सि स्व॒धा अ॑स्युर्वी॑ चासि॒ वस्वी॑ चासि पुरा क्रूरस्य॑ वि॒सृपो॑ विरप्शिन्नु॒दादाय॑ पृथि॒वीं जी॒रदा॑नु॒र्यामैर॑यञ्च॒न्द्रम॑सि स्व॒धाभि॒स्तां धीरा॑सो अनु॒दृश्य॑ यजन्ते (३) ॥

धा इति। बौधायनः—'अथ प्रतीचीं[१] स्फ्येन वेदिं योयुप्यते धा असि स्वधा अस्युर्वी चासि वस्वी चासि पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीरदानुर्यामैरयञ्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तां धीरासो अनुदृश्य यजन्त इति' (बौ० श्रौ० १.११) इति।

आपस्तम्बो मन्त्रभेदमाह—'धा असि स्वधा असीति प्रतीचीं वेदिं स्फ्येन योयुप्यते, उदादाय पृथिवीं जीरदानुरिति वेदिमनुवीक्षते' (आप० श्रौ० २।३।८-९) इति।

यो युप्यते समी करोति। विविधं रपणं शब्दनमुच्चैरुपांशुत्वादिभेदेन मन्त्रोच्चारणं विरप्। तद्वन्त ऋत्विजो विरप्शाः। लोमशशब्दवद् द्रष्टव्यम्। विरप्शा ऋत्विजो यस्यां वेद्यां सा वेदिर्विरप्शिनी। तस्याः

स्पष्ट है, इस बात को ब्राह्मणवाक्य कहता है—**'ऋत···यथायजुरेवैतत्'** इति।

धा इति। बौधायन कहते हैं—परिग्राह ग्रहण करने के अनन्तर 'धा असि···यजन्ते' इस मन्त्र से स्फ्य के द्वारा वेदि का समीकरण करे, अर्थात् उसके ऊँचे नीचेपन को दूर कर दे उसे समतल बना दे। यह समीकरण वेदि के पूर्वभाग से प्रारम्भ करके पश्चिम भाग में समाप्त होना चाहिये। परन्तु आपस्तम्ब कहते हैं कि 'धा असि···' इत्यादि मन्त्र एक मन्त्र नहीं है इसमें दो मन्त्र हैं 'धा असि' से लेकर 'विसृपोविरप्शिन्' तक पहला मन्त्र है। इस मन्त्र से पूर्ववत् स्फ्य से वेदि का समीकरण करे। 'उदादाय' से लेकर 'यजन्ते' तक दूसरा मन्त्र है। इस मन्त्र से वेदि का अनुवीक्षण[१] करे। मूलोक्त[२] दोनों सूत्रों में 'योयुप्यते[३]' पद का अर्थ है—'समीकरोति' समीकरण करे। मन्त्र में विरप्शिन् शब्द आया है, यह शब्द अप्रसिद्ध होने के कारण विशेष व्याख्यान की अपेक्षा रखता है, इसलिये भाष्यकार पहले इसकी व्याख्या करके फिर मन्त्रार्थ लिखेंगे। **विविधम्** इति। विविध प्रकार से मन्त्रों का रपण (रिपिटेशन) **उच्चारण ही विरप् शब्द** का अर्थ है। मन्त्र ऊँचे स्वर से बोले जाते हैं और उपांशु—मुंह ही मुंह में—जिससे उन्हें कोई सुन न सके। विविध प्रकार से मन्त्रोच्चारण करने वाले ऋत्विज् ही 'विरप्श' हैं, विरप्[४] शब्द से मत्वर्थीय श प्रत्यय हुआ है। जैसे लोमश शब्द में लोमन् शब्द से श प्रत्यय हुआ है। लोमों वाला इसका अर्थ है। विविध प्रकार से मन्त्रों का उच्चारण करने वाले विरप्श ऋत्विज् जिस वेदि में हों वह वेदि विरप्शिनी कहलाती है। विरप्श शब्द से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय हुआ है। जैसे धनी में धन शब्द से 'इनि'

१. ख. तीचीं वेदिं स्फ्येन यो

१. अनुवीक्षण का तात्पर्य यह है कि समीकरण के अनन्तर वेदि को देखे कि समीकरण ठीक हुआ है कि नहीं ?

२. बौधायन और आपस्तम्ब के सूत्रों में।

३. योयुप्यते शब्द दिवादिगण की युप् धातु से 'यङ्' प्रत्यय करके बना है। यङन्त में पहले अक्षर को द्वित्व हो जाता है और उसमें यदि 'इ','उ' हों तो उन्हें क्रमशः 'ए' ओ' हो जाता है।

४: 'रप् व्यक्तायां वाचि' इस धातु से क्विप् प्रत्यय है।

सम्बोधनं छान्दसं विरप्शिन्निति । हे वेदे क्रूरस्योत्करे पाशैर्बद्धस्याररोर्विसर्पणान्निर्गमात्पुरा त्वं दैविक-हविषां धारयित्र्यसि । स्वधाशब्देन 'एतत्ते तत ये च त्वामनु' (तै० सं० १।८।५) इत्यादिनोक्तं पैतृक पिण्डादिकमुपलक्ष्यते । तेनापि युक्तासि । अत एव कृत्स्नधारणाद्विस्तीर्णा चासि । पुरोडाशादिरूपधन-वत्त्वाद्वस्वी चासि । द्रव्यवत्यसि । जीरा जीवनशीलादानवो हविषां दातारो यावज्जीवादिशास्त्रप्रेरिता यजमाना यस्यां पृथिव्यां सा पृथिवी जीरदानुः । द्वितीयार्थे प्रथमा । यद्वा जीराश्च ते दानवश्च । छान्दसो

हुआ है । विरप्शिनी शब्द का संबोधन का रूप है 'विरप्शिन्' । यद्यपि विरप्शिनी[1] का सम्बोधन में 'हे नदि' की तरह 'विरप्शिनि' रूप होना चाहिये, तथापि यह वैदिक रूप है, वेद में 'व्यत्ययो बहुलम्' के अनुसार यहां स्त्री प्रत्यय ङीप् (ई) का लोप हो गया है । हे[2] इति । हे वेदि ! उत्कर में पाशों से (बन्धनों से) बँधे हुए क्रूर अररु नामक असुर के भाग जाने के कारण पूर्वकाल में तू ही देव संबन्धी हवि को धारण करने वाली—संभालने वाली थी । तू स्वधा से भी युक्त है । यहां स्वधा शब्द से 'एतत्[3] ते तत ये चत्वामनु' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा बताया गया पितृसम्बन्धी पिण्ड आदि उपलक्षित होता है । इस प्रकार संक्षेप में 'स्वधा असि' का वाक्यार्थ यह फलित हुआ कि हे वेदि ! तू ही पितृसम्बन्धी पिण्ड आदि को भी धारण करने वाली है । वेदि पर ही पिण्ड दिये जाते हैं । इसीलिये तू सकल वस्तुओं को धारण करने के कारण विस्तीर्ण[4] है, पुरोडाशादिरूप धनयुक्त होने के कारण तू वस्वी[5] (धनवती) भी है । तू द्रव्यवती[6] है । मन्त्र में जीरदानुः यह शब्द आया है, इस शब्द को पृथिवी का विशेषण भी माना जा सकता है और स्वतन्त्र विशेष्य भी । यदि पृथ्वी का विशेषण माना जावे तो इसकी व्युत्पत्ति (विग्रह) इस प्रकार होगी—जीराः जीवनशीलाः—जीने वाले दानवः[7]—हवि देनेवाले अर्थात् 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्'—जब तक जीवे अग्निहोत्र करे । इत्यादि शास्त्र वचनों से प्रेरित यजमान जिस पृथ्वी पर हैं, वह पृथ्वी जीरदानु है । पृथ्वी का विशेषण होने के कारण जीरदानु शब्द को भी द्वितीयान्त[8] होना चाहिये था, परन्तु यह प्रथमान्त है, इसीलिये भाष्यकार ने कहा कि यह द्वितीया के अर्थ में प्रथमा है । वेद में इस प्रकार का विभक्ति व्यत्यय साधारण बात है । जीरदानु शब्द को स्वतन्त्र विशेष्यपद मानने पर उसका विग्रह किस प्रकार होगा इस बात को बताते हैं—**यद्वा** इति । अथवा जीराश्च ते दानवश्च जीरदानवः[9] । जीवनशील-जीवटवाले

---

१. 'विरप्शिन्' शब्द से स्त्रीत्वबोधक ङीप् (ई) प्रत्यय हुआ है ।

२. यहां से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है ।

३. 'सव्यं जान्वाच्य अवाचीन पाणिः सकृदाच्छिन्ने बर्हिषि दक्षिणापवर्गान् पिण्डान् ददाति—'एतत्ते ततासौ ये चत्वामनु' इत्येतैः प्रतिमन्त्रम् ।' यह आपस्तम्ब श्रौतसूत्र है । 'एतत्ते···' इत्यादि मन्त्रकण्डिका तैत्तिरीयसंहिता का० १, प्र० ८, अनु ५ में आई है —'एतत्ते ततये चत्वामन्वेतत्ते पितामह प्रपितामह ये चत्वामन्वत्र पितरोयथा भागं मन्दध्वम् इति । विदित होता है कि आपस्तम्ब ने शाखान्तर से मन्त्र लिया है, उसके मन्त्र में 'ततासौ' ऐसा पाठ है जबकि संहिता में 'तत' इतना ही है ।

४. यह वाक्य 'उर्वीचासि' का व्याख्यान है ।

५. 'वसु' शब्द धन का वाचक है, परन्तु यहां लक्षणा से धनवान् का बोधक हो गया है ।

६. यह वाक्य वस्वीचासिका व्याख्यान है ।

७. मूल शब्द 'दानु' है जिसका अर्थ है देने वाला ।

८. बहुव्रीहि समास है ।

९. कर्मधारय समास है ।

वचनव्यत्ययः। तादृशाः पूर्वे यजमाना वेदिरूपां यां पृथिवीं कृत्स्नभूमेरासुर्याः सकाशादूर्ध्वमादाय चन्द्रमस्यमृतकिरणैः सार्धं स्थापितवन्तः, इदानीन्तनास्तु धीमन्तस्तामिमां वेदिं मनसानुचिन्त्य तस्यां यजन्ते। समीकरणं विधत्ते—'क्रूरमिव वा एतत्करोति। यद्वेदिं करोति। धा असि स्वधा असीति योयुप्यते शान्त्यै' (तै॰ ब्रा॰ ३।२।९) इति। विशेषणद्वयेन कृत्स्नभूमिरूपत्वमशेषधनोपेतत्वं च सम्पाद्यत इत्याह—'उर्वी चासि, वस्वी चासीत्याह। उर्वीमेवैनां वस्वीं करोति' (तै॰ ब्रा॰ ३।२।९) इति। विसृपः पुरेत्युक्त्याऽररुप्रयुक्तमशुचित्वं निवार्यत इत्याह—'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नित्याह मेध्यत्वाय' (तै॰ ब्रा॰ ३।२।९) इति। चन्द्रमस्यैरन्नित्यनुसन्धानस्य प्रयोजनमाह—'उदादाय पृथिवीं जीरदानुर्यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिरित्याह। यदेवास्या अमेध्यम्। तदपहत्य। मेध्यां देवयजनीं कृत्वा।

हविर्दाता यजमान। इस पक्ष में जीरदानु शब्द का अन्वय 'ऐरयन्' इस क्रिया वाचक पद के साथ कर्तृवाचक पद के रूप में होगा। परन्तु 'ऐरयन्' यह बहुवचन है और 'जीरदानुः' यह एकवचन है। कैसे अन्वय बनेगा? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिये भाष्यकार ने कहा—छान्दसो वचन-व्यत्ययः—अर्थात् यह वचन व्यत्यय—बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग—वैदिक है। वेद में बहुधा ऐसा देखा गया है। 'जीरदानु'[1] शब्द का व्याख्यान करके भाष्यकार मन्त्र के उस[2] भाग का व्याख्यान करते हैं जिसमें जीरदानु शब्द आया है। **तादृशा** इति। वैसे (जीवट वाले और वेदशास्त्र की प्रेरणा से जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करने वाले) प्राचीन याज्ञिक लोगों ने वेदिरूप जिस पृथ्वी को असुर सम्बन्धी सकल भूमि के समीप से ऊपर ले जाकर अमृतमय किरणों के साथ चन्द्रलोक में स्थापित किया था, आधुनिक विद्वान् उस वेदि का मन से अनुचिन्तन करके उस पर यज्ञ करते हैं।

समीकरणम् इति। ब्राह्मणवाक्य समीकरण का विधान करता है—"**क्रूरमिव**[3]···**शान्त्यै**' इति। यह जो वेदि का निर्माण करना है वह क्रूर जैसा कर्म है उसकी शान्ति के लिये 'धा असि स्वधा असि' मन्त्र को बोलकर वेदि रूप पृथ्वी का समीकरण करे। तात्पर्य है कि वेदि निर्माण के समय भूमि पर प्रहार करके उसे खोदा जाता है, उसकी त्वचा उखाड़ी जाती है किसी पर प्रहार करना या उसकी चमड़ी नोचना तो क्रूर कर्म ही कहा जाता है। जिसके साथ ऐसा व्यवहार हो उसके दुःख को शान्त करने के लिये उसको दुःख रहित समावस्था में लाने के लिये उसकी कमर पर प्रेम से हाथ फेरकर उसे शान्त किया जाता है। यहाँ भी मानो खोदने और त्वचा उखाड़ने के कारण दुःखी पृथ्वी को शान्त करने के लिये ही यह समीकरण क्रिया की जाती है।

'**उर्वीचासि**···**वस्वीं करोति**' यह ब्राह्मण कहता है कि '**उर्वीचासि**···' तू विस्तीर्ण है, वस्वीचासि···' तू धनवती है। इन दो विशेषणों से वेदि में पूर्णभूमित्व और सकल सम्पत्तिशालिता का संपादन किया जाता है। '**पुरा**··· **मेध्यत्वाय**' यह ब्राह्मणवाक्य बताता है कि मन्त्र का 'पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्' यह अंश इसलिये उच्चारण किया जाता है कि इससे अररु असुर के संबन्ध से हुई अपवित्रता दूर कर दी जाती है। '**चन्द्रमस्य॰**' इति। प्राचीन याज्ञिकों ने वेदिरूप पृथ्वी को चन्द्रमा में स्थापन किया था इस अनुसन्धान (स्मरण-अनुचिन्तन) का प्रयोजन '**उदादाय पृथ्वीं**···**एरयति**' यह ब्राह्मणवाक्य बताता है। इस पृथ्वी में जो अमेध्य-अपवित्र अंश था उसको हटाकर इस पृथ्वी को मेध्य (पवित्र) और देवयजन

१. महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने यहां 'जीवेरदानुः' ऐसा कहकर जीव् धातु से रदानु प्रत्यय माना है, 'लोपो व्योर्वलि' से 'व्' का लोप हो गया है।
२. उदादाय पृथिवीं जीरदानुर्यामैरयंश्चन्द्रस्वधाभिस्तां धीरासो अनुदृश्य यजन्ते' इस भाग का।
३. 'योयुप्यते' इतना अंश विधि है, शेष अर्थवाद है।

यददश्चन्द्रमसि मेध्यम् । तदस्यामेरयति' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति । एरयति—आनयतीत्यर्थः । अनुदृश्येति पदस्याभिप्रायमाह—'तां धीरासो अनुदृश्य यजन्त इत्याहानुख्यात्यै' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति। अनुसन्धानायेत्यर्थः।

आग्नीध्रं प्रति प्रैषमुत्पादयति । 'प्रोक्षणीरासादय। इध्मावर्बाहिरुपसादय । स्रुवं च स्रुचश्च संमृड्ढि पत्नीᳪसन्नह्य । आज्येनोदेहीत्याहानुपूर्वतायै' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति । बह्वर्थविषय-प्रैषोऽनुक्रमेणानुष्ठानायोपयुज्यते। आग्नीध्रस्यानुष्ठानं विधत्ते—'प्रोक्षणीरासादयति। आपो वै रक्षोघ्नीः। रक्षसामपहत्यै । स्फ्यस्य वर्त्मन्त्सादयति यज्ञस्य सन्तत्यै' (तै० ब्रा० ३।२।९) इति । प्रोक्षणी

के योग्य बनाता है। चन्द्रमा में जो मेध्य (पवित्र) अंश है उसको इस वेदिरूप पृथ्वी पर लाता है। ब्राह्मणवाक्य में 'एरयति' पद का अर्थ है आनयति = लाता है। मन्त्र में आए हुए 'अनुदृश्य' पद का अभिप्राय बताते हैं—'ताम्'''अनुख्यात्यै' इति। अर्थात् अनुदृश्य का अर्थ है अनुख्याय'''अनुसन्धाय'''स्मरण करके। ब्राह्मणवाक्य में आये हुए 'अनुख्यात्यै' पद का अर्थ है 'अनुसन्धानाय'—स्मरण के लिये। वेदि के समीकरण और अनुवीक्षण के अनन्तर वेदि पर प्रोक्षणी (जल) आदि का स्थापन किया जाता है उसके लिए अध्वर्यु को अपने सहायक आग्नीध्र नामक ऋत्विज् के प्रति प्रैष[1] वाक्यों का उच्चारण करना पड़ता है, ये प्रैष वाक्य भी मन्त्र ही माने जाते हैं। अतः इनका उच्चारण करना अनिवार्य है। ये प्रैष मन्त्र संहिता में नहीं पढ़े गये हैं, इनकी कल्पना तत् तत्संहिता सम्बन्धी ब्राह्मणों में ही की गई है[2]।

इसी बात को भाष्यकार बताते हैं—**आग्नीध्रं प्रति** इति। ब्राह्मण आग्नीध्र के प्रति कथनीय प्रैष वाक्यों का उल्लेख करता है—**'प्रोक्षणीरासादय'''नु पूर्वतायै'** इति। हे आग्नीध्र, तू प्रोक्षणियों[3] को (प्रोक्षण साधन जल को) स्थापित कर काष्ठ और कुशों को अपने समीप रख। स्रुव[4] और स्रुचों[5] का संमार्जन[6] कर (उन्हें झाड़ पोंछ ले) यजमान की पत्नी को योक्त्र से बांधकर[7] घी के साथ (घी लेकर) चल। एक साथ इन प्रैषों का उच्चारण इसलिए है कि ये कर्म इसी क्रम से करने चाहिये। उक्त ब्राह्मणवाक्य में आये हुए 'अनुपूर्वतायै' शब्द का तात्पर्य भाष्यकार स्वयं बताते हैं—**बह्वर्थ** इति। अनेक कर्मविषयक प्रैष (प्रेरक वाक्य) क्रमशः अनुष्ठान के लिये उपयोगी होता है। अर्थात् अनेक कर्मों के सम्बन्ध में एक साथ प्रैषों के उच्चारण से यह संकेत मिलता है कि जिस क्रम से

१. प्रेरक वाक्य।
२. ऋचोयजूंषि सामानि निगदाः (प्रैषाः) मन्त्राः' कात्यायन श्रौतसूत्रम् (हरि० क० ३,सू० १)।
३. प्रोक्षणी शब्द 'अप्' शब्द का विशेषण है अप् शब्द क्योंकि बहुवचनान्त है इसलिये हमने भी बहुवचन का प्रयोग कर दिया।
४. 'स्रुव' खैर की लकड़ी का बना हुआ एक हाथ लम्बा यज्ञ का एक पात्र है, उसका अग्रभाग अंगूठे की पोरी जैसी गोलाई लिये हुए होता है और उसमें गढ़ा होता है।
५. यज्ञ में जुहू, उपभृत्, ध्रुवा, प्रचरणी, अग्निहोत्र हवणी आदि कितने ही ऐसे पात्र हैं जिनका साधारण नाम स्रुच है। ये भुजा जितने लम्बे होते हैं, हथेली जैसा इनका अग्रभाग होता है और उसमें गढ़ा होता है, हंस की चोंच की तरह उसमें एक नाली सी बनी होती है।
६. संमार्जन का प्रकार आगे लिखा जायगा।
७. यहां पर बांधने का तात्पर्य कमर पर रस्सी लपेटने से है।

नामपां बाहुल्यं विधत्ते —'उवाचहासितो दैवलः। एतावतीर्वा अमुष्मिंल्लोक आप आसन्। यावतीः प्रोक्षणी-रिति तस्माद्बह्वीरासाद्याः" (तै० ब्रा० ३।२।६) इति।

अस्मिन्यागे यावत्यः प्रोक्षण्य आसाद्यन्ते तावत्य एवामुष्मिंल्लोके आपो भवन्तीति देवलेनोक्त-त्वाद् बाहुल्यमत्र कर्तव्यम्। उत्करे स्फ्यस्य परित्यागं ध्यानविशिष्टं विधत्ते—'स्फ्यमुदस्यन्। यं द्विष्यात्तं ध्यायेत्। शुचैवैनमर्पयति (तै० ब्रा० ३।२।६) इति। यथोक्तप्रैषकाले स्फ्यस्य तिर्यग्धारणं विधत्ते—

प्रैषों का उच्चारण है उसी क्रम से इन कर्मों का अनुष्ठान होना चाहिए। आग्नीध्र[1] के कार्य का विधान ब्राह्मणवाक्य करता है—**'प्रोक्षणी···सन्तत्यै'** इति। प्रोक्षणी नामक जल को वेदि पर रक्खे। क्योंकि जल राक्षसों का अपघात (विनाश) करने वाला है, राक्षसों के अपघात के लिये प्रोक्षणी जल को वेदि पर रक्खा जाता है। स्फ्य से रेखा बनाकर उसके ऊपर प्रोक्षणी को स्थापित करे, ऐसा करने से यज्ञ का विस्तार होता है। प्रोक्षणी नामक जलों के बाहुल्य[2] का विधान करते हैं—**'उवाच···वह्वीरासाद्याः'** इति। देवल के पुत्र असित ने कहा था कि जितना भी प्रोक्षणी नामक जल है उस लोक में (परमेष्ठि मण्डल में) उतना ही जल था, इसलिये प्रोक्षणी जल अधिक मात्रा में रखना चाहिए।

अस्मिन्[3] इति। इस यज्ञ में जिस परिमाण में प्रोक्षणी जलों का आसादन किया जाता है, उस लोक में (आपोमय परमेष्ठि मण्डल में) उतना ही जल है—यह बात दैवल[4] ने कही है इसलिये यहाँ (यज्ञ में) प्रोक्षणी जल की अधिकता करनी चाहिये। स्फ्य को उत्कर पर (उत्कर के समीप) रख देना पड़ता है—इन दोनों बातों का ब्राह्मणवाक्य विधान करता है—**'स्फ्यमुदस्यन्···मर्पयति'** इति।[5] स्फ्य को रखते समय जिसके साथ द्वेष[6] हो उसका ध्यान करे, इस ध्यान से वह उसको (शत्रु को) शोक के प्रति अर्पित कर देता है—अर्थात् शोकाक्रान्त बना देता है[7]। पूर्वोक्त प्रैष के समय स्फ्य[8] को धारण करना चाहिये और वह भी तिरछा। इन दोनों बातों का विधान ब्राह्मणवाक्य करता है—**'वज्रो वै स्फ्यः··· वृश्चत्येनम्'** इति। स्फ्य वज्ररूप है, स्फ्य को वज्र बताने वाली श्रुति भी पहले बताई जा चुकी है। **'अन्वञ्चम्'**

१. यज्ञ में जो काम आग्नीध्र नामक ऋत्विज् को करना पड़ता है, वह सब काम आग्नीध्र का कर्म कहा जाता है।

२. अधिकता का।

३. यह 'उवाचासितोदैवलः···' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य का भाष्यकार कृत व्याख्यान है।

४. **यद्यपि मूल में 'देवलेनोक्तत्वात्' ऐसा पाठ है,** जिसका 'यह बात देवल ने कही है' यही अर्थ होना चाहिये। परन्तु मूल में उद्धृत ब्राह्मणवाक्य का पाठ 'उवाच हासितो दैवलः' ऐसा ऐकार विशिष्ट ही पाठ है। मूल ब्राह्मण ग्रन्थ में भी जहाँ से भाष्यकार ने उद्धृत किया है, 'दैवलः' ऐसा ही पाठ है। अतः हमने अक्षर योजक और प्रूफ शोधक का प्रमाद मानकर दैवल (देवल सुत) ने कही है यह अर्थ किया है।

५. स्फ्यमुदस्यति द्वेष्यं मनसाध्यायन् 'द्वेष्य का मन से ध्यान करते हुए स्फ्य को त्याग दे' यह आपस्तम्ब का वाक्य है।

६. यहाँ द्वेष्य से तात्पर्य पाप से है क्योंकि ब्राह्मण में 'पाप्मना भ्रातृव्येन' ऐसा लिखा है। कोई कहते हैं मनुष्यरूप शत्रु का ध्यान भी यहाँ विवक्षित है। देखो आप० श्रौ० सूत्र का भाष्य। यहाँ द्वेष्य या पाप शत्रु—यजमान का ही अभिप्रेत है।

७. प्रोक्षणीरूप सादय, इध्माबर्हिरूपसादय, इत्यादि प्रैष वाक्य।

८. 'स्फ्यं तिर्यञ्चं स्तब्ध्वा संप्रेष्यति—स्फ्य को तिरछा धारण करके प्रैष करे (आपस्तम्ब श्रौत सूत्र)।

'वज्रो वै स्फ्यः। यदन्वञ्चं धारयेत्। वज्रेऽध्वर्युः क्षण्वीत। पुरस्तात्तिर्यञ्चं धारयति। वज्रो वै स्फ्यः। वज्रेणैव यज्ञस्य दक्षिणतो रक्षाꣳस्यपहन्ति अग्निभ्यां प्राचश्च प्रतीचश्च स्फ्येनोदीचश्चाधराचश्च। स्फ्येन वा एष वज्रेणास्यै पाप्मानं भ्रातृव्यमपहत्य। उत्करेऽधि प्रवृश्चति। यथोपधाय वृश्चन्त्येनम्' (तै० ब्रा० ३।२।१०) इति। स्फ्यस्य वज्रत्वप्रतिपादकं श्रुत्यन्तरं पूर्वमुदाहृतम्। अन्वञ्चमभिमुखम्। क्षण्वीत म्रियेत। तत्परिहाराय वेद्यां पूर्वभागे तिर्यञ्चं धारयेत्। तथा सति दक्षिणाग्रत्वेन वेदेर्दक्षिणदिश्यवस्थितानि रक्षांसि हतानि भवन्ति। आहवनीयाग्निना पूर्वदिगवस्थितानसुरान् हन्ति। गार्हपत्याग्निना पश्चिमदिगवस्थितान्। स्फ्यस्य मूलेनोत्तरदिगवस्थितानसुरान् हन्ति। स्फ्यस्याधो धारणयाऽधस्तनान्। ऊर्ध्वधारणयोपरितनानित्यपि द्रष्टव्यम्। एवं तिर्यञ्चं धारयन्नध्वर्युः पापरूपं वैरिणमस्या वेदेरपहृत्योत्करेछिनत्तिः यथा काष्ठं कस्मिंश्चिदाधारेऽवस्थाप्य लोकाश्छिन्दन्ति तद्वत्।

हस्तप्रक्षालनं विधत्ते—'हस्तावनवनेनिक्ते। आत्मानमेव पावयते' (तै० ब्रा० ३।२।१०) इति। स्फ्यस्यापि तद्विधत्ते—'स्फ्यं प्रक्षालयति मेध्यत्वाय। अथो पाप्मन एव भ्रातृव्यस्य न्यङ्गं छिनत्ति'

का अर्थ है—अभिमुख-सामने। क्षण्वीत का अर्थ है—मर जायगा। यदि वज्र को अभिमुख[१] धारण करेगा तो अध्वर्यु वज्र[२] से मर जायगा। पूर्वभाग में स्फ्य को तिरछा धारण करे। ऐसा होने पर—स्फ्य को तिरछा धारण करने से—वज्ररूप स्फ्य का अग्रभाग दक्षिण की ओर रहता है, जिससे वेदि की दक्षिण दिशा में अवस्थित असुर ध्वस्त हो जाते हैं।[३] आहवनीय अग्नि के द्वारा पूर्वदिशा में अवस्थित असुरों का नाश करता है। गार्हपत्य[४] अग्नि से पश्चिम दिशा में अवस्थित असुरों का और स्फ्य के मूल भाग से उत्तर दिशा के असुरों का नाश करता है।[५] स्फ्य को नीचे धारण करने से नीचे के असुरों को ध्वस्त करता है। ऊपर की ओर धारण करने से ऊपर के असुरों का नाश करता है[६] यह भी समझ लेना चाहिये। इस प्रकार अध्वर्यु स्फ्य को तिरछा धारण करके इस वेदि से पाप रूप वैरी को हटाकर उत्कर के ऊपर काट देता है। जैसे लोग किसी आधार पर रखकर ही लकड़ी को काटा करते हैं उसी प्रकार अध्वर्यु उत्कर पर पापरूप वैरी को काटता है।

हाथ धोने का विधान करते हैं—**'हस्ता···पावयते'** इति। स्फ्य के द्वारा पापरूप वैरी का नाश करके हाथों को धो ले। ऐसा करके वह (अध्वर्यु) अपने को ही पवित्र करता है। ब्राह्मणवाक्य स्फ्य के प्रक्षालन का भी विधान

---

१. अन्वक् या अभिमुख से तात्पर्य यहाँ सीधा से प्रतीत होता है क्योंकि तिर्यच् शब्द के विपरीत अर्थ में अन्वंच् शब्द का प्रयोग हुआ है।

२. मूल में वज्रे ऐसा सप्तम्यन्त पाठ है जिसका अर्थ 'वज्र में या वज्र पर' ऐसा होना चाहिये। तथापि तात्पर्य उसका 'वज्र से' इस अर्थ में है। वेद में विभक्ति व्यत्यय प्रसिद्ध है।

३. 'वेदि की पूर्वदिशा में आहवनीय अग्नि का कुण्ड होता है'। इसलिये असुरों से पूर्वदिशा की रक्षा का भार आहवनीय पर बताया गया है।

४. गार्हपत्य अग्नि का कुण्ड वेदि के पश्चिम में होता है। इसलिए पश्चिम में असुरों का नाश गार्हपत्य करता है।

५. इस पंक्ति में मूलोक्त ब्राह्मण के 'अधरान्वश्च' पद का तात्पर्य बताया गया है।

६. ऊपर की दिशा के संबन्ध में मूल ब्राह्मण में कुछ नहीं कहा गया है, तथापि भाष्यकार ने औचित्य की दृष्टि से स्वयं इसकी कल्पना की है।

(तै० ब्रा० ३।२।१०) इति। प्रक्षालितः स्फ्यो यज्ञयोग्यो भवति। किञ्चानेन पापरूपस्य वैरिणः शरीरं छिन्नं भवति।

आग्नीध्रस्यानुष्ठानं विधत्ते—"इध्माबर्हिरुपसादयति युक्त्यै। यज्ञस्य मिथुनत्वाय। अथो पुरो रुचमेवैतां दधाति। उत्तरस्य कर्मणोऽनुख्यात्यै' (तै० ब्रा० ३।२।१०) इति। इध्मस्य बर्हिषश्चोभयोः सहैव सादनं परस्परं योगाय। तेन च योगेन यज्ञसंबन्धि मिथुनं भवति। किंचैतामुपसादनरूपां दीप्तिं पुरः करोति। तया दीप्त्योत्तरं कर्तव्यं ख्यापितं भवति। तयोरुपसादने प्रागग्रत्वं विधत्ते—"न पुरस्तात्प्रत्यगुपसादयेत्। यत्पुरस्तात्प्रत्यगुपसादयेत्। अन्यत्राऽऽहुतिपथादिध्मं प्रतिपादयेत्। प्रजा वै बर्हिः। अपराध्नुयाद्बर्हिषा प्रजानां प्रजननम्। पश्चात्प्रागुपसादयति। आहुतिपथेनेध्मं प्रतिपादयति। संप्रत्येव बर्हिषा प्रजानां प्रजननमुपैति' (तै० ब्रा० ३।२।१०) इति। इध्मस्याऽऽहुतिपथः प्रागग्रत्वम्। प्रत्यगग्रेण बर्हिषा प्रजानामुत्पत्तिर्विनश्येत्। ततः स्वयं पश्चादवस्थायोभयं प्रागग्रमुपसादयेत्। तथा सतीध्मस्याऽऽहुतिपथो नापैति। संप्रत्येव समीचीनेन बर्हिषा प्रजोत्पत्तिं प्राप्नोति।

करता है—**'स्फ्यम्···छिनत्ति'** इति। स्फ्य को धो ले क्योंकि धोया हुआ स्फ्य यज्ञ के योग्य (पवित्र) हो जाता है। और इससे (स्फ्य के प्रक्षालन से) पापरूप वैरी का शरीर छिन्न (नष्ट) हो जाता है।

अब ब्राह्मण आग्नीध्र के कर्त्तव्य का विधान करता है—"इध्माबर्हि···अनुख्यात्यै" लकड़ियों और कुशों को एक साथ वेदि पर रक्खे। लकड़ी और कुश का एक साथ वेदि पर स्थापन करना परस्पर संबंध के लिए है। इस परस्पर के संबंध से यज्ञ संबंधी[1] जोड़ा (युगल) बनता है इतना[2] ही नहीं, यह काष्ठ और कुश का एक साथ उपसादन (वेदि पर स्थापन करना) अपने सामने प्रकाश (दीप्ति) करने के समान है। इस प्रकाश से आगे का कर्त्तव्य[3] प्रकाशित होता है। **तयो** इति। काष्ठ और कुश का वेदि पर स्थापन इस प्रकार होना चाहिये कि उनका (काष्ठ और कुश का) अगला भाग पूर्व की ओर रहे—पश्चिम की ओर नहीं—इसका विधान ब्राह्मणवाक्य करता है—**'न पुरस्तात्[4]···मुपैति'** इति। इस ब्राह्मण का व्याख्यान भाष्यकार ने स्वयं किया है—**इध्मस्या** इति। काष्ठ के अग्रभाग का पूर्वदिशा की ओर होना ही उसका आहुति का मार्ग है। यदि कुश का अग्रभाग पश्चिम की ओर रहेगा तो प्रजोत्पत्ति लुप्त हो जायगी। इसीलिये स्वयं पश्चिम की ओर बैठकर दोनों को (काष्ठ और कुशों को) इस प्रकार ही स्थापित करे कि उनका अगला हिस्सा पूर्व की ओर रहे। ऐसा होने पर काष्ठ का आहुति मार्ग लुप्त नहीं होता है

---

१. संगतिकरण या मेलन ही यज्ञ शब्द का यौगिक अर्थ है। यह सकल जगत् यज्ञ से ही उत्पन्न हुआ है, अग्नि और सोम की संगति ही इस जगत् का मूल कारण है। अग्नि और सोम का मिथुन ही यज्ञ संबंधी युगल (जोड़ा) है। काष्ठ अग्नि है और बर्हि सोम है। इसी बात को स्मरण कराने के लिए काष्ठ और कुश को एक साथ रखते हैं।

२. यह मूलोक्त 'किंच' का अनुवाद है।

३. अग्नि प्रज्वालन, परिस्तरण (कुश बिछाना) आदि आगे होने वाले अनुष्ठान।

४. जिसका अग्रभाग पश्चिम को हो और पिछला हिस्सा पूर्व की ओर हो उसे कहते हैं—पुरस्तात् प्रत्यक् (पूर्व पश्चिम)। जिसका अग्रभाग पूर्व को हो और पिछला भाग पश्चिम की ओर हो उसे कहते हैं—पश्चात् प्राक् (पश्चिम पूर्व) तात्पर्य यह है काष्ठ और कुश को वेदि पर पश्चिम पूर्व रक्खो, पूर्व पश्चिम मत रक्खो।

इध्माबर्हिषोः परस्परं दिग्भेदं विधत्ते—"दक्षिणमिध्मम्। उत्तरं बर्हिः। आत्मा वा इध्मः। प्रजा बर्हिः। प्रजा ह्यात्मन उत्तरतरा तीर्थे ततो मेधमुपनीय। यथादेवतमेवैनत्प्रतिष्ठापयति। प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्यजमानः" (तै० ब्रा० ३।२।१०) इति। पितुर्यजमानस्य दक्षिणभागोयुक्तः। प्रजाया उत्तरभागः। तथा सत्युभयं तीर्थे योग्यस्थाने संपद्यते। ततस्तदुभयं यज्ञं नीत्वा तत्तद्देवतामनतिक्रम्य स्थापितवान्भवति। एतेन यजमानस्य प्रजापशुसमृद्धिर्भवति।

अत्र विनियोगसंग्रहः—

"आददे स्फ्यं समादत्त इन्द्रस्येत्यभिमन्त्रयेत्।
पृथिवि स्तम्बयजुश्छित्त्वा ह्यपगृह्णाति भूरजः॥१॥

और तत्काल ही (शीघ्र ही) समीचीन[1] (प्रागग्र) कुश से यजमान के यहाँ—प्रजोत्पत्ति होती है।

अब काष्ठ और कुश के परस्पर दिग्भेद का विधान करते हैं—'दक्षिणमिध्मम्[2]···पशुभिर्यजमानः' इति। काष्ठ दक्षिण की ओर रक्खा जाना चाहिये और कुश उत्तर की ओर। काष्ठ आत्मस्वरूप है और बर्हि (कुश) प्रजा स्वरूप है। प्रजा यदि अपने से उत्तरतर[3] हो तो वही उसके लिए (प्रजा के लिये) युक्तियुक्त स्थान है। पितृभूत[4] यजमान के लिए दक्षिणभाग युक्त है और प्रजा के लिए उत्तरभाग। ऐसा होने से दोनों (काष्ठ और कुश = पिता और उसकी सन्तान प्रजा) तीर्थ में अर्थात् योग्य स्थान में अवस्थित होंगे। ततस् इति। ऐसा[5] करने से ऋत्विज् काष्ठ और कुश को यज्ञ में ले जाकर तत्तद् देवता का अतिक्रमण न करके (देवतानुसार) स्थापित करने वाला होता है। इससे यजमान की प्रजा एवं पशु की समृद्धि होती है।

अब नवम अनुवाक में आए हुए मन्त्रों के विनियोगों का संक्षेप में संग्रह करते हैं—**अत्र** इति। **आददे** इति। १—आददे (देवस्यत्वा···हस्ताभ्यामाददे) इस मन्त्र से स्फ्य का आदान करे। २—'इन्द्रस्य—तिग्म तेजाः' इस मन्त्र से स्फ्य को अभिमन्त्रित करे। ३—'पृथिवी···माहिंसिषम्' इस मन्त्र से स्तम्बयजु का छेदन करके। ४—'अपहतो···पृथिव्यै' इस मन्त्र से पृथ्वी की रज (धूलि) उठावे। ५—'व्रजं···गोस्थानम्' इस मन्त्र से उसे (धूलि को) उत्तरदिशा की ओर के स्थान (उत्कर) पर ले जावे। ६—'वर्षतु ते द्यौः' इस मन्त्र से वेदि का समीक्षण करे। ७—'वधान···मा मौक' इस मन्त्र से

---

१. 'समीचीन' शब्द का साधारण अर्थ तो यही है—युक्ति युक्त, ठीक श्रेष्ठ। यही 'समीचीन' से तात्पर्य है—प्रागग्र। कुश की समीचीनतया श्रेष्ठता यही है कि उसका अग्रभाग पूर्व की ओर है।

२. यह ब्राह्मणवाक्य है, इसमें यही बताया गया है कि काष्ठ और कुश दोनों एक दूसरे से विभिन्न दिशा में स्थापित किये जाने चाहिये।

३. उत्तर दिशा श्रेष्ठता का प्रतीक है, यदि पिता की अपेक्षा पुत्र उन्नत है—उत्तरतर है, तो यह वंश की उन्नति का सूचक है, इसलिये प्रजा के लिये उत्तरतर स्थान ही युक्तियुक्त माना गया है।

४. यह 'प्रजाह्यात्मन उत्तरतरा तीर्थे' इस ब्राह्मणवाक्य के भाष्यकृत व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद है।

५. काष्ठ और कुश को क्रमशः दक्षिण और उत्तर में स्थापित करके। 'स्तम्बयजु' शब्द का अर्थ पहले बता दिया गया है। स्तम्बयजुहरण क्रिया चौथी संख्या से प्रारम्भ होती है और सातवीं संख्या पर समाप्त होती है। अर्थात् चार मन्त्रों से स्तम्बयजुहरण क्रिया सम्पन्न होती है। तीनों पर्यायों की मन्त्र संख्या १२ हो जाती है।

व्रजं गच्छेदुदग्देशं वर्ष वेदिं समीक्षते।
वधा धूलिं क्षिपेदेवं पुनः स्तम्बहृतिद्वयम् ॥२॥

अथात्र पूर्ववन्मन्त्रा अराऽऽग्नीध्रोऽञ्जलौ धरेत्।
वस त्रिभिर्ग्रहो वेदेर्देव वेदिं खनेदमूम् ॥३॥

ऋतोत्तरपरिग्राहो धा असीति समीकृतिः।
उदादायेति वेदीक्षा मन्त्रोक्ताः पञ्चविंशतिः ॥४॥ इति

रज को उत्कर में फेंक देवे। इसी प्रकार दो बार और स्तम्बयजु[1] का हरण करे। द्वितीय और तृतीय बार के स्तम्बयजु हरण में मन्त्रों का प्रयोग पूर्ववत् (प्रथम बार की तरह) होता है। ८—'अररुस्ते दिवं मास्कान्' इस मन्त्र से आग्नीध्र फेंकी हुई धूल को अञ्जलि में धारण करे। ९,१०,११—'वसवस्त्वा···छन्दसा' 'रुद्रास्त्वा···छन्दसा' 'आदित्यास्त्वा··· छन्दसा' इन तीन मन्त्रों से वेदि का पूर्व परिग्रहण करे। १२—'देवस्य···वेधसः' इस मन्त्र से वेदि का खनन करे (वेदि को खोदे) १३,१४,१५—'ऋतमसि' 'ऋतसदनमसि' 'ऋतश्रीरसि' इन तीन मन्त्रों से उत्तर परिग्राह करे। १६—'धा असि···विप्शिन्' इस मन्त्र से समीकरण करे। १७—'उदादाय···यजन्ते' इस मन्त्र से वेदि का अनुवीक्षण करे। इस प्रकार नवम अनुवाक में पच्चीस मन्त्र कहे गए हैं। यद्यपि हमारे अङ्कों के अनुसार ये मन्त्र कुल सत्रह होते हैं, तथापि पच्चीस संख्या से इसका विरोध नहीं। क्योंकि 'स्तम्बयजुहरण' क्रिया चार मन्त्रों से सम्पन्न होती है, और वह तीन बार करनी पड़ती है, दूसरी और तीसरी बार में आठ मन्त्र अधिक हो जाते हैं, उन्हें सत्रह में जोड़ने से पच्चीस हो जाते हैं।

---

१. विनियोग संग्रहकार ने 'न्युप्तमाग्नीध्रोऽञ्जलिना अभिगृह्णाति' इस आपस्तम्ब सूत्र का यही अभिप्राय समझा है कि उत्कर में डाली हुई धूल को अञ्जलि से ग्रहण करे। परन्तु धूर्तस्वामि ने अभिग्रहण की व्याख्या करते हुए लिखा है—'अभिग्रहणम्-उपर्यञ्जलिना अचाल्यमानस्य ग्रहणम्' इति। धूलि को बिना हिलाए डुलाए ऊपर अञ्जलि द्वारा ग्रहण करना ही अभिग्रहण है। बिना हिलाए डुलाए ग्रहण करना कैसे संभव हो सकता है? इस अर्थ में 'उपरि' शब्द भी अनर्थक सा ही प्रतीत होता है। धूर्तस्वामी ने 'न्युप्तक्ष्म्' का 'उत्करम्' अर्थ किया है। वृत्तिकार ने भी 'सतृणपांसुयुक्तस्य देशस्य ग्रहणम् = तृणपांसु सहित देश का ग्रहण' ऐसा लिखकर भाष्यकार का ही अनुसरण किया है, क्योंकि तृणपांसु सहित देश उत्कर ही है, उसी में तृणपांसु (स्तम्बयजु) डाले गये हैं। धूर्तस्वामी और वृत्तिकार के अनुसार यह अभिग्रहण 'उत्कर' का है, न कि तृण सहित पांसु का। परन्तु उत्कर एक गढ़ा है, उसका अञ्जलि से अभिग्रहण कैसे होगा? अतः अभिग्रहण से यहाँ तात्पर्य उत्कर के मुख पर अञ्जलि बाँधना है, जिससे कि वह ढक जाय 'अभिगृह्णाति' पद में 'अभिमुख्य' के बोधक अभिपद का स्वारस्य भी इसी अर्थ में है, भाष्यकार धूर्तस्वामी का 'उपरि' पद भी उक्त अर्थ में ही ठीक बैठता है, उत्कर के ऊपर ही अञ्जलि बाँधी जाएगी। 'न्युप्तम्' का 'उत्करम्' यह अर्थ 'तप्त्स्थ्यात्ताच्छद्बयम्' इस न्याय से हो सकता है—न्युप्त का आश्रय होने से ही उत्कर भी 'न्युप्त' है।

अथ मीमांसा।

तृतीयाध्यायस्य सप्तमपादे चिन्तितम्—

"मुख्याङ्गतैव वेद्यादेः प्रजायाद्यङ्गताऽपि वा।
तद्वाक्यं प्रक्रियायुक्तं मुख्याङ्गत्वस्य बोधकम् ॥
मुख्याङ्गस्यापि वेद्यादेः प्रयाजादिषु चाङ्गता।
मुख्यार्थत्वात्प्रयाजादेश्चापूर्वव्यवधानतः ॥"

(जै० न्या० ३।७।१-२) इति।

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—वेद्यां हवींष्यासादयति बर्हिषि हवींष्यासादयतीति। तथा तद्धर्माः श्रूयन्ते—"वेदिं खनति बर्हिर्लुनाति" इत्यादयः। मुख्यानि हवींष्याग्नेयपुरोडाशादीनि। अमुख्यहवींषि तु प्रयाजाद्यर्थानि। तत्र स्वस्वधर्मसहितानि वेद्यादीनि प्रकरणबलान्मुख्यहविषामेवाङ्गानि।

वेद्यां हवींष्यासादयतीति वाक्यात्सर्वहविरङ्गतेति चेन्न। प्रकरणेन वाक्यस्य संकोचनीयत्वात्। यदि वाक्यं प्रकरणनैरपेक्ष्येण स्वतन्त्रं स्यात्, तदा सादनमात्रपर्यवसानेन यागाभावे वैयर्थ्यं स्यात्। सौमिकहविषामप्येतद्वेद्यासादनं प्रसज्येत। तस्मान्मुख्यं हविरङ्गं वेद्यादिकमिति प्राप्ते ब्रूमः—अस्तु

अथ इति। **अब मीमांसा** लिखते हैं। **तृतीया** इति। तृतीय अध्याय के सातवें पाद में विचार किया गया है—'मुख्याङ्गतैव···व्यवधानतः' इति। '**जैमिनि** न्यायमाला विस्तर' की इन कारिकाओं का व्याख्यान भाष्यकार ने स्वयं किया है, उसके अनुवाद से ही इन कारिकाओं का भी अनुवाद हो जाता है—इसलिये इनका अनुवाद पृथक् नहीं किया गया है। **दर्शपूर्णमासयोः** इति। दर्शपूर्णमास के प्रकरण में यह श्रुति पढ़ी गई है—'वेद्यां···आसादयति—वेदि पर हवियों का आसादन (स्थापन) करे, कुश पर हवियों का आसादन करे' इति। इसी प्रकार उनके (वेदि पर और कुश पर हवि स्थापन के) धर्मों के (अङ्गकर्मों के) संबन्ध में भी श्रुतियाँ पढ़ी गई हैं 'वेदिं—लुनाति—वेदि खोदे। कुश छेदन करे' इत्यादि। हवियां दो प्रकार की हैं मुख्य और अमुख्य। अग्नि[1] देवताक पुरोडाश आदि मुख्य हवियाँ हैं। परन्तु प्रयाज आदि यागों के लिए जो हवियाँ होती हैं, वे अमुख्य हैं। यहाँ अपने अपने धर्मों (खनन, लवन) के साथ वेदि आदि[2] पदार्थ प्रकरण के आधार पर मुख्य हवियों के ही अङ्ग हैं।

कदाचित् कहो कि—'वेद्यां हवींष्यासादयति' इस वाक्य[3] से मुख्य अमुख्य सब[4] हवियों के प्रति वेदि आदि पदार्थों की अङ्गता सिद्ध होती है, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरण के द्वारा वाक्य में संकोच[5] करना आवश्यक होता है। यदि प्रकरण निरपेक्ष वाक्य को स्वतन्त्र रूप से अर्थबोधक मानोगे तो 'वेद्यां हवींषि आसादयति' यह वाक्य वेदि पर

---

१. अग्नि देवता के उद्देश्य से जो हवि (पुरोडाश आदि) तैयार की गई हैं उसे 'अग्निदेवताक' कहते हैं।

२. आदि पद से 'कुश' लेना।

३. 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्' इस सूत्र के आधार पर प्रकरण की अपेक्षा वाक्य बलवान् होता है।

४. वाक्य में किसी विशेष हवि का नाम नहीं लिया गया है, सामान्य रूप से कहा गया है कि 'वेदि पर हवियों का आसादन करे'।

५. सामान्य परक विधि को विशेष परक बना देना ही 'संकोच' है।

वैयर्थ्यातिप्रसङ्गपरिहारेण प्रकृतापूर्वसाधनभूतहविःषु वेद्यादेरङ्गत्वम्। प्रयाजादिहवींष्यपि स्वकीयावान्तरापूर्वद्वारा मुख्यापूर्वसाधनान्येवेति तदङ्गत्वमपि वेद्यादेर्युक्तम्। एवं सति वाक्यस्यात्यन्तसंकोचो न भविष्यति।

हविसादन मात्र बताकर पर्यवसित हो जायेगा—चरितार्थ हो जायेगा, आगे की यागक्रिया में इसका तात्पर्य नहीं माना जायगा, फलतः याग के अभाव में हविःसादन व्यर्थ[1] हो जायगा। दूसरे[2], केवल वाक्य के बल पर वेदि आदि को हविःसामान्य का अङ्ग मानने पर सौमिक (सोमयाग संबन्धी) हवियों का भी इस प्रकृत वेदि पर स्थापन प्राप्त होगा। अतः प्रकरण द्वारा वाक्य में संकोच[3] आवश्यक है, तदनुसार वेदि आदि पदार्थ मुख्य हवियों का ही अङ्ग हैं, अमुख्य प्रयाजादि हवियों का अङ्ग नहीं हैं—यही मानना उचित है। इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं—**इति प्राप्ते** इति। इस शङ्का के उत्तर में हमारा कथन है कि व्यर्थता[4] और अतिप्रसङ्ग[5] (अतिव्याप्ति) दोषों के परिहार के साथ प्रकृत (प्रधान) अपूर्व के साधनभूत हवियों (आग्नेय पुरोडाश आदि) के प्रति वेदि आदि पदार्थों की अङ्गता होवे, किन्तु प्रयाजादि हवि भी अपने (स्वजनित) अवान्तर अपूर्व के द्वारा प्रधान अपूर्व के साधन ही हैं, इसलिये उनके (प्रयाजादि अमुख्य हवियों के) प्रति भी वेदि आदि को अङ्ग मानना युक्ति युक्त[6] है। ऐसा मानने पर वाक्य में अत्यन्त[7] अनुचित (मर्यादा से बाहर) संकोच नहीं होगा[8]।

१. यदि हविःसादन के बाद हवि का कोई उपयोग नहीं, तो हविःसादन निःसन्देह व्यर्थ है।

२. 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस विधि से याग का अभाव प्राप्त नहीं होगा, अतः हविःसादन व्यर्थ नहीं हो सकता, इसलिए दूसरा दोष दिया गया।

३. संकोच का तात्पर्य यही है कि 'वेद्यां हवींषि आसादयति' इस सामान्य विधि को विशेषपरक मानकर वेदि आदि पदार्थ को दर्शपूर्णमास संबन्धी आग्नेय पुरोडाश आदि मुख्य हवियों का ही अङ्ग माना जाए। प्रयाज आदि अमुख्य हवियों का नहीं।

४. याग के अभाव में बताई गई वेदि पर हविःसादन की व्यर्थता।

५. हविर्मात्र के आसादन के पक्ष में सौमिक हवियों के भी आसादन की प्राप्ति।

६. प्रधान के अङ्ग को, यदि वह (प्रधान का अङ्ग) प्रमाण से प्रधान के किसी दूसरे अङ्ग का भी उपकारक सिद्ध होता हो तो उसका भी (प्रधान के अङ्ग का भी) अङ्ग मानना चाहिये।

७ प्रकरण प्रमाणवाक्य प्राप्त अप्राकरणिक अर्थ की व्यावृत्ति करा सकता है, परन्तु वाक्य प्राप्त प्राकरणिक अर्थ की व्यावृत्ति नहीं करा सकता। प्रयाजादि हवियां अमुख्य होने पर भी दर्शपूर्णमास प्रकरण पठित होने के कारण प्राकरणिक हैं, उनका भी वह यदि व्यावर्तक होगा तो 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य······' आदि सूत्र का विरोध होगा इसलिये वाक्य में अप्राकरणिक विषयातिरिक्तत्वेन संकोच तो उचित है, परन्तु प्राकरणिक अमुख्य विषयातिरिक्तत्वेन संकोच अत्यन्त संकोच है—सर्वथा मर्यादा से बाहर होने के कारण—अनुचित है। प्रकरण के द्वारा प्रकरण का ही बाध—आत्मघात के समान है।

८. कारिकाओं का शब्दार्थ इस प्रकार है—वेदि आदि को मुख्य—आग्नेय पुरोडाश आदि हवियों का ही अङ्ग मानना चाहिये अथवा प्रयाजादि सम्बन्धि अमुख्य हवियों का भी ? अङ्गता बोधक-वेद्यां-हवी-ष्यासादयति-इत्यादि वाक्य, प्रकरण के सहयोग से मुख्य हवियों के प्रति ही वेदि आदि की अङ्गता बताता है। मुख्य हवियों का अङ्गभूत भी वेदि आदि पदार्थ प्रयाजादि सम्बन्धी अमुख्य हवियों का भी अङ्ग है। क्योंकि प्रयाजादि भी स्वापूर्व द्वारा मुख्यापूर्व के ही साधक हैं।

पञ्चमाध्यायस्य प्रथमपादे चिन्तितम् —

"पुरोडाशाभिवासान्तस्यापकर्षोऽस्ति दर्शके।
न वाऽऽद्योऽस्त्वपकृष्टाया वेदेर्वैगुण्यहानये ।।
अभिवासात्परा वेदिरिति तत्क्रमबोधतः।
प्रागेव विहिता दर्शे वेदिर्नातोऽपकर्षणम् ।।"

(जै० न्या० ५।१।३२-३३) इति।

दर्शपूर्णमासयोः पुरोडाशस्य कपालेषु श्रपितस्याऽऽच्छादनमाम्नातम्—भस्मनाऽभिवासयति (तै० ब्रा० ३।२।८) इति। तत ऊर्ध्वं वेदिराम्नाता, तेनैव क्रमेण पौर्णमासीयागे प्रतिपद्यनुष्ठानं कृतम्। दर्शयागे तु वेदेरपकर्ष आम्नातः—"पूर्वेद्युरमावास्यायां वेदिं करोति" इति। तत्र वेदेः पूर्वभाविनोऽभिवासनान्तस्याङ्गसमूहस्यापकर्षः कर्तव्योऽन्यथा वेदेर्वैगुण्यप्रसङ्गादिति प्राप्ते ब्रूमः—"यदि दर्शः पूर्णमासीविकारः स्यात्तदा पौर्णमास्यां क्लृप्तः क्रमो दर्शेऽतिदिश्येत। न त्वसौ विकारः। तस्मात्कश्चित्क्रमोऽत्र स्वातन्त्र्येणोन्नेयः।

पञ्चमा इति। मीमांसा दर्शन के पांचवें अध्याय के प्रथम पाद में विचार किया गया है—'पुरोडाशाभिः[1]······नातोऽपकर्षणम्' इति। **दर्शपूर्णमासयोः** इति। दर्शपूर्णमास के प्रकरण में कपालों में पकाए गए पुरोडाश का 'भस्मना अभिवासयति=भस्म से पुरोडाश को आच्छादित करे' इस विधि के द्वारा आच्छादन बताया गया है। उसके बाद वेदि का निर्माण बताया गया। उसी क्रम से पौर्णमास याग[2] में प्रतिपदा के दिन अनुष्ठान भी किया गया। किन्तु दर्शयाग में 'पूर्वेद्युरमावास्यायां वेदिं करोति—पहले दिन—अमावस्या में—वेदि का निर्माण करे' इस वाक्य से वेदि का अपकर्ष बताया गया है। **'अपकर्ष'** और **'उत्कर्ष'** ये मीमांसा दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। जिस कर्म का जो कालविहित है यदि वह कर्म कारणवश उससे पूर्व ही किया जाता है तो उसे उस कर्म का 'अपकर्ष' कहते हैं, यदि बाद को किया जाता है तो उसे उस कर्म का 'उत्कर्ष' कहते हैं। प्रकृत में वेदि निर्माण का काल पुरोडाश के भस्माच्छादन के अनन्तर है, परन्तु दर्शेष्टि में उसे उससे पहले ही अमावस्या के दिन करने के लिए ही कहा गया है—इसलिए यह वेदि का **अपकर्ष** है। यहां सदेह होता है कि क्या यहां वेदि मात्र का अपकर्ष करना चाहिए, अथवा वेदि से पूर्व होने वाले अभिवासन पर्यन्त सकल अङ्गसमूह का भी? पूर्वपक्ष यह है कि वेदि के साथ वेदि से पूर्वभावी अभिवासनान्त सकल अङ्ग समूह का[3] भी अपकर्ष होना चाहिये, अन्यथा वेदि में वैगुण्य[4] प्राप्त होगा। **इति प्राप्ते** इति। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में हमारा कथन यह है कि यदि दर्शयाग पूर्णमासी याग की विकृति होती तब तो 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्याः' इस चोदक (विधि) वाक्य के अनुसार

१. ये 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तर' की कारिकाएँ हैं। इनका व्याख्यान भाष्यकार ने स्वयं किया है। इनका शब्दार्थ इनके व्याख्यान के अनुवाद के अन्त में टिप्पणी में देखो।

२. अग्निहोत्री को पहले पौर्णमासेष्टि करनी पड़ती है, उसके बाद दर्शेष्टि।

३. क्योंकि अभिवासनान्त सारे कर्म वेदि के अङ्ग हैं, अङ्गी के साथ अङ्गों का भी अपकर्ष होना ही चाहिये, वे परस्पर एक दूसरे से संबद्ध हैं।

४. दोष प्राप्त होगा।

क्रमोन्नयनं च सर्वेषु[1] धर्मेष्वाम्नातेषु पश्चात्पाठादिभिः सम्पद्यते । वेदिपदार्थश्चाभिवासनादूर्ध्वं दर्शपूर्णमाससाधारण्येनाऽऽम्नातः । विशेषतस्तु दर्शयागे पूर्वेद्युरेवाऽऽम्नायते । तथा सत्यभिवासनवेद्योः

पौर्णमास याग में कल्पित क्रम का ही दर्शयाग में अतिदेश[1] होता । परन्तु दर्शयाग पौर्णमास याग का विकार नहीं[2] है, इसलिए यहां तो कोई क्रम स्वतन्त्र रूप से ही निर्णीत करना पड़ेगा ।

क्रम की कल्पना श्रुतिबोधित सब कर्तव्यों में पीछे से पाठ[3] आदि के आधार पर की जाती है। वेदि पदार्थ (वेदि निर्माण कर्म) यद्यपि दर्शपूर्णमास प्रकरण में साधारण[4] रूप से अभिवासन के अन्त में ही बताया गया है, तथापि दर्शयाग में उसका[5] विधान विशेष रूप से पहिले दिन ही (अमावस्या में ही) किया गया है। ऐसी स्थिति में अभिवासन और वेदि के क्रम का ज्ञान होने से पहले ही दर्शयाग की वेदि का संबन्ध पूर्व-दिन के साथ (अमावस्या के साथ) गृहीत हो जाता है, फलतः दर्शयागीय वेदि निर्माण का स्थान पूर्वदिन (अमावस्या) ही है—यह निश्चित हो जाता है। इसलिए यहाँ तो वेदि का भी अपकर्ष[6] नहीं है, अभिवासनान्त अङ्गसमूह का

१. ख० षु पदार्थेष्वा

१. आरोप होता। अर्थात् पौर्णमासयाग की तरह, अमावास्या के दिन किया जाने वाला भी वेदि निर्माण कर्म अभि-वासनान्त कर्म करने के बाद ही होता है ।

२. क्योंकि दर्शयाग पौर्णमासयाग की विकृति नहीं है, अतः यहां 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस चोदक वाक्य की प्राप्ति ही नहीं है, चोदक वाक्य या विधि वाक्य के उल्लङ्घन में ही वैगुण्य होता है। अतः पूर्वपक्षी का 'अन्यथा वेदि में वैगुण्य होगा' यह कथन ठीक नहीं है ।

३. श्रुति से (क्त्वा आदि प्रत्ययों के श्रवण से) अर्थ (प्रयोजन) से, पाठ से, प्रवृत्ति से, और काण्ड से क्रम का (कौन कर्म—पहले करना, कौन पीछे—इस बात का) निर्णय होता है । देखो मीमांसा दर्शन पांचवें अध्याय का प्रथम पाद।

४. अभिवासन के अन्त में वेदि निर्माण का विधि सामान्य विधि है, परन्तु दर्शयाग में 'पूर्वेद्युरमावास्यायां वेदिं करोति' इस वाक्य से अमावास्या के दिन वेदि निर्माण की विशेष विधि है। विशेष विधि सामान्य विधि का बाधक होती है।

५. वेदि का।

६. विशेष विधि सामान्य विधि की संकोचक होती है—अर्थात् सामान्य विधि में विशेष विधि के विषय को छोड़ दिया जाता है, जैसे दर्शयाग और पौर्णमासयाग के लिए यह सामान्य विधि है कि अभिवासन के अन्त में वेदि निर्माण करे, अभिवासनान्त सारा कर्म कलाप प्रतिपदा के दिन ही होता है, इसलिए सिद्ध हुआ कि वेदि निर्माण अमावस्या के दिन करे। अतः इस विशेष विधि के बल से उपर्युक्त सामान्य विधि में संकोच हो जायगा, अर्थात् सामान्य विधि का तात्पर्य अब इतना ही होगा कि पौर्णमास याग में अभिवासन के अन्त में वेदि निर्माण करे, अभिवासन क्योंकि प्रतिपदा के दिन होता है, अतः पौर्णमासयाग संबन्धी वेदि का निर्माण भी न्यायतः प्रतिपदा के दिन ही होगा। ऐसी स्थिति में दोनों विधियों का विषय अलग-अलग हो जाता है, सामान्य विधि का विषय केवल दर्शयाग। सामान्य विधि से पौर्णमास याग संबन्धी वेदि प्रतिपदा के दिन अभिवासन के अन्त में बनाई जाती है, विशेष विधि से दर्शयाग संबन्धी वेदि अमावस्या के दिन बनाई जाती है। ऐसी स्थिति में यहाँ 'वेदि का अपकर्ष' मानना ही युक्ति युक्त नहीं है, यदि दर्शयाग संबन्धी वेदि का काल प्रतिपदा किसी प्रमाण से निर्धारित हो जाता, तब तो वेदि का अपकर्ष कहा जा सकता, सो तो है नहीं। और सामान्य विधि संकोच के कारण केवल पौर्णमास-

क्रमबोधात्प्रागेव दार्शिकवेदेः पूर्वदिनसंबन्धावगमात्तदेव तस्याः स्थानमिति वेदेरपि तावन्नापकर्षः। तत्कुतोऽभिवासनान्तस्याङ्गसमूहस्यापकर्षः।

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे चिन्तितम्—

"प्रोक्षणीः[1] संस्कृतिर्जातिर्योगो वा सर्वभूमिषु।
तथोक्तेः[2] संस्कृतिर्जातिः स्याद्रूढेः प्रबलत्वतः॥
अन्योन्याश्रयतो नाऽऽद्यो न जातिः कल्प्यशक्तितः।
योगः स्यात्क्लृप्तशक्तित्वात्क्लृप्तिव्याकरणाद्भवेत्॥"

(जै० न्या० १।४।२४-२५) इति।

अपकर्ष[1] तो कैसे हो सकता है।

प्रथमाध्याय के चौथे पाद में विचार किया गया है—प्रोक्षणीः इति। दर्शपूर्णमास प्रकरण में यह श्रुति पढ़ी गई है—'प्रोक्षणीरासादयति—प्रोक्षणियों का आसादन करे।' यहाँ शङ्का होती है कि 'प्रोक्षणी' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त[2]

---

१. क. ख. क्षणीसं। २. क. ख. ग. थोक्ते सं।

याग संबन्धी वेदि का ही काल बताती है यह बात हम पहले कह ही चुके हैं। जब वेदि का ही अपकर्ष नहीं, तब, वेदि के अङ्गों का अपकर्ष कैसा ?

१. माना कि यहाँ वेदि का अपकर्ष नहीं है, तथापि पौर्णमासयाग में अभिवासन के अन्त में वेदि का विधान किया गया है, इसलिये अमावस्या के दिन किया जाने वाला वेदि निर्माण अभिवासन के अन्त में ही किया जाना चाहिये, वह तभी हो सकता है जब—अमावस्या के दिन—अभिवासनान्त कर्मों का अपकर्ष किया जावे। अतः अमावस्या के दिन अभिवासनान्त कर्मों का अपकर्ष अनिवार्य है। यह कथन भी ठीक नहीं। यदि पौर्णमासयाग दर्शयाग की प्रकृति होता, तब तो 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' के आधार पर पौर्णमास याग का अनुकरण दर्शयाग में किया जाता—अर्थात् दर्शयाग की वेदि, पौर्णमास की वेदि की तरह अभिवासन के अन्त में ही बनाई जाती, सो इन दोनों में प्रकृति विकृति भाव तो है नहीं, तब किस आधार पर अभिवासनान्त कर्मों का अपकर्ष किया जावे। दर्शयाग की वेदि अभिवासन के अनन्तर बनानी चाहिये—इसमें श्रुति आदि कोई भी प्रमाण नहीं है। अतः यही सिद्धान्त है कि अभिवासनान्त कर्मों का अपकर्ष नहीं होता।

२. जिस आधार पर शब्द किसी अर्थ को बताता है वही आधार उस शब्द का प्रवृत्ति निमित्त (प्रवृत्ति का कारण) माना जाता है। संस्कृत भाषा के शब्द मुख्यरूप से तीन आधारों को लेकर प्रवृत्त होते हैं, वे हैं जाति, गुण और क्रिया। जैसे घट, पट आदि शब्दों की प्रवृत्ति का मूल आधार घटत्व, पटत्व आदि जाति हैं, इसलिये घट, पट आदि शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त घटत्व पटत्व आदि जाति हैं। जिन शब्दों की प्रवृत्ति का आधार कोई गुण विशेष है, उन शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त गुण माना जाता है, जैसे श्वेत, रक्त आदि शब्द। ये शब्द श्वेत रक्त आदि गुणों के आधार पर ही प्रवृत्त होते हैं। जिन शब्दों की प्रवृत्ति का आधार कोई गुण विशेष है, उन शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त गुण माना जाता है, जैसे पाचक, पाठक आदि शब्द। ये शब्द पचन, पठन आदि क्रियाओं के आधार से ही प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् प्रोक्षणी शब्द की प्रवृत्ति का मूल आधार कोई गुण

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—"प्रोक्षणीरासादयति" (तै० ब्रा० ३।२।६) इति । तत्र प्रोक्षणीशब्दस्याभिमन्त्रणासादनादिसंस्कृतिः प्रवृत्तिनिमित्तम् । कुतः । सर्वेषु वैदिकप्रयोगप्रदेशेषु संस्कृतानामेवापां प्रोक्षणीशब्देनोच्यमानत्वादित्येक पक्षः । लोके जलक्रीडायां प्रोक्षणीभिरुद्वेजिताः स्म इत्यसंस्कृतास्वप्सु प्रयोगाद्बर्हिरादिशब्दवज्जातौ रूढत्वादुदकत्वजातिः प्रवृत्तिनिमित्तम् । न च प्रकर्षेणोक्ष्यते सिच्यत आभिरिति योगोऽत्र शङ्कनीयो रूढेः प्रबलत्वादिति पक्षान्तरम् । तत्र न तावत्संस्कारो युक्तोऽन्योन्याश्रयत्वात् । विहितेष्वभिमन्त्रणादि संस्कारेष्वनुष्ठितेषु पश्चात्संस्कृतास्वप्सु प्रोक्षणीशब्दप्रवृत्तिः । तत्प्रवृत्तौ सत्यां प्रोक्षणीशब्देनापोऽनूद्याभिमन्त्रणादिविधिरित्यन्योन्याश्रयत्वम् । नापि जातिपक्षो युक्तः । उदकजातौ

क्या है ? कदाचित् कहो कि प्रोक्षणी शब्द तो यौगिक[1] है, क्योंकि इसका प्रवृत्ति-निमित्त प्रोक्षण क्रिया है, जिसके द्वारा विशेष रूप से उक्षण (सेचन) किया जाय उसे प्रोक्षण[2] या प्रोक्षणी कहते हैं। ऐसी स्थिति में 'प्रोक्षणी' शब्द, किसी भी तरलवस्तु का, जिसके द्वारा प्रोक्षण हो सकता है, बोधक माना जायगा। अर्थात् द्रुत (पिघला हुआ) घृत आदि भी 'प्रोक्षणी' कहा जा सकेगा। यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि योगार्थ से (प्रकृति प्रत्यय द्वारा प्रतीत होने वाले अर्थ की अपेक्षा) रूढि (प्रसिद्धि) बलवान् होती है। अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ सबसे पहले बुद्धि में आता है, प्रसिद्ध अर्थ जल है, इसलिए जलत्व जाति को ही प्रोक्षणी शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त मानना चाहिये। यह पूर्व पक्ष है, अब सिद्धान्त बताते हैं—**तत्र** इति । अभिमन्त्रण आसादन आदि संस्कार को 'प्रोक्षणी' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त मानना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष होता है। विधि विहित अभिमन्त्रण आदि संस्कारों के किये जाने के बाद ही अप् (जल) संस्कृत कही जायँगी और उनके लिए प्रोक्षणी शब्द का प्रयोग होगा। और जब वे प्रोक्षणी शब्द द्वारा व्यवहार्य होंगी, तब **'प्रोक्षणीरभि-मन्त्रयते—प्रोक्षणियों** को अभिमन्त्रित करे' इस प्रकार प्रोक्षणी शब्द से उनको उद्देश्य बनाकर उनका अभिमन्त्रण आदि संस्कार बताया जायगा। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि जब अभिमन्त्रणादि संस्कार हों तब वे प्रोक्षणी कहलावें,

---

है, या कोई जाति है या कोई क्रिया है ? इनमें एक पक्ष यह है कि 'प्रोक्षणी' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त 'अभिमन्त्रण' 'आसादन' आदि संस्कार हैं—अर्थात् अभिमन्त्रण, आसादन आदि संस्कार कर्मों के द्वारा जिन जलों में कोई गुणविशेष (पवित्रता) पैदा हो गया है, वे जल ही प्रोक्षणी शब्द का अर्थ है। संक्षेप में तात्पर्य यह हुआ कि प्रोक्षणी शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त संस्काराख्य गुण विशेष है। कारण कि सर्वत्र वैदिकानुष्ठान विधियों में संस्कृत जल ही 'प्रोक्षणी' शब्द से कहे जाते हैं । दूसरा पक्ष यह है कि उदकत्व या जलत्व जाति ही प्रोक्षणी शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त है, अर्थात् जल सामान्य को ही 'प्रोक्षणी' कहते हैं। क्योंकि लोक में जल क्रीडा करते समय—जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर तेजी से जल के छींटे देता है—तब ऐसा कहा जाता है कि 'प्रोक्षणियों ने हमें तङ्ग कर दिया'। यहाँ प्रोक्षणी शब्द असंस्कृत जल सामान्य के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। अतः प्रोक्षणी शब्द उदकत्व या जलत्व जाति में ही रूढ़ (प्रसिद्ध) है, जैसे बर्हिष् शब्द तृणत्व जाति में ।

१. क्रिया प्रवृत्ति-निमित्तक है । जिन शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त केवल क्रिया होती है, वे शब्द 'यौगिक' कहलाते हैं ।

२. 'प्रोक्षणी' शब्द में प्र पूर्वक 'उक्ष् सेचने' धातु से करण अर्थ में ल्युट् (अनट्) प्रत्यय हुआ है । स्त्रीत्व की विवक्षा के कारण ङीप् (ई) प्रत्यय भी हो गया है। अप् का विशेषण है, जो नित्य स्त्रीलिङ्ग है।

प्रोक्षणीशब्दस्य वृद्धव्यवहारे पूर्वमक्लृप्तत्वेनेतः परं कल्पनीयत्वात् । ततो गोशब्दवदश्वकर्णशब्दवच्च रूढो न भवति। योगस्तु व्याकरणेन क्लृप्तः सोपसर्गाद्धातोः करणे ल्युट्प्रत्ययेन (पा० ३।३।११५) व्युत्पादनात्। तस्मात्प्रोक्षणीशब्दो यौगिकः। घृतादेः प्रोक्षणीत्वं[1] प्रयोजनम्।

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे चिन्तितम्।

"प्रोक्षणीरासादयेति निगदस्त्रिविधाद्बहिः।
यजुर्वोच्चैस्त्वधर्मस्य भेदादस्य चतुर्थता।।

और जब वे प्रोक्षणी कहलावें तब उनका अभिमन्त्रण आदि संस्कार हो। इस प्रकार अन्योन्याश्रय[1] स्पष्ट है। जाति पक्ष भी ठीक नहीं है—अर्थात् प्रोक्षणी शब्द का प्रवृत्ति निमित्त उदकत्व जाति को मानना भी अप्रामाणिक है। क्योंकि लोक व्यवहार में प्रोक्षणी शब्द का प्रयोग उदकजाति में आज तक कभी नहीं हुआ, यह आप आज नई कल्पना[2] कर रहे हैं।

इसलिए जैसे गो शब्द गो जाति में और अश्वकर्ण शब्द अश्वकर्ण जाति में रूढ़ है (प्रसिद्ध है), उसी प्रकार 'प्रोक्षणी' शब्द-शुद्ध-यौगिक है—यही मानना उचित है। केवल अवयवार्थ (प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ) के आधार पर प्रवृत्त होने वाला शब्द ही 'यौगिक' कहलाता है। अर्थात् क्रिया-प्रवृत्ति-निमित्तक शब्द ही यौगिक शब्द है। 'प्रोक्षणी' शब्द में योग की (अवयवार्थ की) कल्पना व्याकरण की सहायता से की जाती है। उपसर्ग सहित ('प्र' उपसर्ग के साथ) **'उक्ष् सेचने'** धातु से करण में ल्युट् प्रत्यय करने से प्रोक्षणी शब्द सिद्ध होता है—जिसका शब्दार्थ है प्रोक्षण] का साधन। इस विचार का फल यह है कि प्रोक्षणी शब्द का प्रयोग प्रोक्षण साधन घृतादि में भी हो सकता है। कारिकाओं का सरल अक्षरार्थ इस प्रकार है—**'प्रोक्षणीरासादय'** इत्यादि विधियों में 'प्रोक्षणी' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त संस्कार है? या जाति है? या अवयवार्थ है? सब वैदिक विधियों में संस्कृत जल को ही प्रोक्षणी शब्द से कहा गया है, इसलिए प्रोक्षणी शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त संस्कार ही है। अथवा उदकत्व जाति ही प्रोक्षणी शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त है, क्योंकि योगार्थ की (अवयवार्थ की) अपेक्षा रूढ़ि=प्रसिद्धि बलवान् होती है। इस प्रकार प्रथम कारिका में विषय, संशय और पूर्व पक्ष बता दिए गए हैं, दूसरी कारिका में पूर्वपक्ष निराकरण किया गया है, और सिद्धान्त बताया गया है।—पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें अन्योऽन्याश्रय दोष है। जाति पक्ष भी अमान्य है, क्योंकि आज तक किसी ने भी जलत्व जाति में प्रोक्षणी शब्द की शक्ति नहीं मानी, यदि आज मानोगे तो वह एक नई कल्पना होगी। इसलिए योग में (अवयवार्थ में) ही प्रोक्षणी शब्द की शक्ति माननी चाहिये। क्योंकि उसमें (अवयवार्थ में) व्याकरण द्वारा प्रोक्षणी शब्द की शक्ति मानी जा चुकी है।

द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में विचार किया गया है—**'प्रोक्षणीरा......यजुरेव सः।** ब्राह्मण ग्रन्थों में **'प्रोक्षणीरासादय'**=प्रोक्षण साधन अपों (जलों) का स्थापन करो' **'इध्मावर्हिरूपसादय'**=काष्ठ और कुशों को स्थापित

---

१. ख. क्षणत्वं

---

१. अभिमन्त्रण के लिये प्रोक्षणीत्व की अपेक्षा होती है, क्योंकि प्रोक्षणियों का ही अभिमन्त्रण बताया गया है। और प्रोक्षणीत्व के लिए अभिमन्त्रण आदि की अपेक्षा है, क्योंकि अभिमन्त्रण आदि से ही प्रोक्षणीत्व होता है—इसलिये अभिमन्त्रणादि संस्कार और प्रोक्षणीत्व एक दूसरे पर आश्रित हैं। ऐसा होना दोष है।

२. 'प्रोक्षणियों ने (जलों ने) हमें तङ्ग कर दिया' ऐसा लोक व्यवहार में कोई नहीं कहता, यह सब कपोल कल्पना ही है।

परप्रत्यायनार्थत्वादुच्चैस्त्वं यजुरेव सः।
तल्लक्षणेन युक्तत्वात्त्रैविध्यमिति सुस्थितम् ।।"

(जै० न्या० २।१।२८-२९) इति ।

प्रोक्षणीरासादयेध्माबर्हिरुपसादयाग्नीदग्नीन्विहर बर्हिः स्तृणीहीत्यादयो निगदा आम्नाताः। परसंबोधनार्था मन्त्रा निगदाः। ते च पूर्वेभ्य ऋग्यजुःसामभ्यो बहिर्भूताश्चतुर्थप्रकाराः। कुतः। पादगीत्यो-र्ऋक्सामलक्षणयोरभावात्प्रश्लिष्टपाठस्य यजुर्लक्षणस्य सत्त्वेऽपि धर्मभेदेन यजुष्यन्तर्भावानुपपत्तेः।

उपांशु यजुषोच्चैर्निगदेनेति हि धर्मभेद इति प्राप्ते ब्रूमः—बहिर्ब्राह्मणा भोज्यन्तां परिव्राजका-स्त्वन्तरित्यत्र सत्येव परिव्राजकानां ब्राह्मण्ये पूजानिमित्तो विशेषो यथा तथा निगदानां यजुर्लक्षणोपेतत्वाद्य-जुषामेव सतां परप्रत्यायननिमित्त उच्चैस्त्वं धर्मः। ततो मन्त्राणां त्रैविध्यं सुस्थितम् ।

करो' **'अग्नीदग्नीन् विहर**=हे आग्नीध्र अग्नि का विहरण कर।' **'बर्हिः स्तृणीहि**=कुश बिछाओ' इत्यादि अनेक निगद (प्रैष मन्त्र) बताए गए हैं। दूसरे को सम्बोधित करने के लिए जो मन्त्र हैं, वे **'निगद'** कहलाते हैं। ये निगद पूर्वोक्त ऋक् साम और यजु नाम से प्रसिद्ध मन्त्रों से पृथक् कोई चौथे ही प्रकार के मन्त्र हैं।[1] क्योंकि पाद व्यवस्था और गीति (निषाद्, ऋषभ आदि स्वर पूर्वक गान) रूप ऋक् और साम के लक्षणों से सम्बन्ध न होने के कारण ये—निगद—ऋक् और साम तो कहला नहीं सकते, यजुर्वेद के मन्त्रों में भी इनका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। कारण कि प्रश्लिष्ट पाठ रूप यजुर्मन्त्रों का लक्षण यद्यपि इनमें घट जाता है, तथापि इनमें कुछ धर्म भेद है।

'उपांशु यजुषा' 'उच्चैर्निगदेन' इन वचनों के आधार पर यजुर्वेद के मन्त्रों का उच्चारण उपांशु (धीमे स्वर से) होता है, इसके विपरीत निगद मन्त्रों का उच्चारण ऊंचे स्वर से होता है। अतः निगदों को मन्त्रों का चौथा प्रकार ही मानना उचित है। **इति प्राप्ते इति।** इस पूर्वपक्ष के उत्तर में हमारा कथन यह है कि निगदों में 'प्रश्लिष्ट[2] पाठ' रूप यजु का लक्षण विद्यमान है, इसलिए वे यजु ही हैं। मन्त्रों के ऋक्, यजु और साम ये तीन ही प्रकार सुनिश्चित हैं। निगदों को ऊंचे स्वर से बोलने का कारण तो केवल दूसरों को ज्ञान कराना है। हो सकता है कि धीमे बोलने से कदाचित् दूसरा न सुन सके और यज्ञिय कर्मों का अनुष्ठान और क्रम बिगड़ जाय। अतः केवल ऊंचे उच्चारण के कारण निगदों को यजुओं से भिन्न नहीं माना जा सकता। जैसे 'ब्राह्मणों को बाहर भोजन कराओ और सन्यासियों को भीतर' इस वाक्य में सन्यासियों के ब्राह्मण होते हुए भी पूजा[3] के (आदरातिशय के) कारण उनकी विशेषता बताई गई है। इसी प्रकार **'ऋचो[4] यजूंषि सामानि निगदा मन्त्राः'** इस कात्यायन श्रौतसूत्र में निगदों को यजु होते हुए भी जो पृथक् गिनाया गया है उसका कारण यही है कि वे दूसरे को ज्ञान कराने के लिए ऊंचे स्वर से बोले जाते हैं। परन्तु ऊंचे स्वर से बोलने मात्र से उनका यजुष्ट्व नष्ट नहीं होता, जैसे अन्दर भोजन कराने मात्र से सन्यासियों का ब्राह्मणत्व दूर नहीं होता। संक्षेप में तात्पर्य यही है कि निगदों में उच्चोच्चारणरूप धर्मभेद मात्र दिखाने के लिए उनका पृथक् ग्रहण किया गया है, वस्तुतः वे यजु ही हैं। कारिकाओं का

---

१. ऋगादि मन्त्रों के लक्षण मीमांसा दर्शन के दूसरे अध्याय के प्रथम पाद के ३५, ३६ और ३७वें सूत्रों में देखो।

२. देखो मीमांसा दर्शन अध्याय २, पाद १, ३८-४५ सूत्र।

३. यह पूजा उनको भीतर भोजन कराने से अभिव्यक्त होती है।

४. देखो कात्यायन श्रौतसूत्र परिभाषा प्रकरण, तीसरी कण्डिका, पहला सूत्र।

अथ व्याकरणम्

आदद इत्यादौ स्वराः प्रसिद्धाः। दक्षिण इत्यत्र 'स्वाङ्गाख्यायामादिर्वा' (फिट् ९) इत्याद्युदात्तः। पृथिवीत्यत्र वाक्यादित्वेन षाष्ठिकामन्त्रिताद्युदात्तत्वम्। अररुरित्यत्रार्तिधातोररुप्रत्यय आद्युदात्तः। गोस्थानमित्यत्र कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते तदपवादे "मनक्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीताः" (पा० ६-२-१५१) मन्नन्तं क्तिन्नन्तं व्याख्यानादिचतुष्टयं याजकादिगणः क्रीतशब्दश्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवतीत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते "परादिश्छन्दसि बहुलम्" (पा० ६-२-१९९) इत्युत्तरपदाद्युदात्तः।

वर्षत्विति वाक्यादिः। तथा बधानेत्यपि[1]। तत्र शानजादेशस्य चित्त्वादन्तोदात्तः। पाशशब्दो घञन्तः द्वेष्टीत्यत्र यच्छब्दयोगान्न निघातः। गायत्रशब्दस्य तृच्प्रत्ययान्तत्वात्प्रत्ययस्वरः। त्रैष्टुभजागत-

---

सरल अक्षरार्थ इस प्रकार है—**'प्रोक्षणीरासादय'** इस निगद मन्त्र को ऋग्, यजु और साम इन तीन प्रकार के मन्त्रों से पृथक् चौथे प्रकार का मन्त्र मानना चहिये अथवा यह यजु है ? क्योंकि इसमें 'ऊंचा उच्चारण' रूप धर्मभेद है, इसलिए इसे—यजु[5] तो नहीं मान सकते, यह मन्त्र का चौथा ही भेद है। इस प्रकार प्रथम कारिका में विषय, संशय और पूर्वपक्ष बता दिए गए। अब द्वितीय कारिका में पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं और सिद्धान्त बताते हैं। उपर्युक्त निगद मन्त्र **यजु ही है, क्योंकि उसमें यजु का लक्षण विद्यमान है।** ऊंचे स्वर से उसका उच्चारण तो केवल दूसरे को ज्ञान कराने के लिए **है। अतः मन्त्र तीन ही प्रकार के हैं—यह सुनिश्चित सिद्धान्त है।**

आददे इति। आददे में वे ही स्वर होते हैं जो कि प्रसिद्ध हैं। 'आ' निपात आद्युदात्त है। ददे तिङन्त को अतिङन्त 'आ' से पर **'तिङ्ङतिङः'** (पा० ८-१-२८) सूत्र से अनुदात्त किया गया है। इसके बाद **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः** (पा० ८-४-६६) सूत्र से 'द' के अनुदात्त को स्वरित और 'दे' को शेष निघात हुआ है।

दक्षिण इति। दक्षिण में **'स्वाङ्गाख्यायामादिर्वा'** सूत्र से आद्युदात्त हुआ है। **शेष निघाती** 'क्षि' में इकार को **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः** (पा०८-४-६६)' सूत्र से स्वरित हुआ। 'णः' **'स्वाङ्गाख्यायामादिर्वा'** सूत्र से उदात्त है।

पृथिवीति। पृथिवि सम्बोधनान्त रूप है **'सामन्त्रितम्'** (पा० २-३-४८) सूत्र से आमन्त्रित संज्ञा **'आमन्त्रितस्य च'** (पा० ६-१-१९८) सूत्र से आद्युदात्त हुआ है। शेष निघात होने पर **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** (पा० ८-४-६६) सूत्र से **'थि'** के 'इ' को स्वरित हुआ।

अररुरिति। अररु यह 'री' धातु का लङ् लकार के प्रथम पुरुष बहुवचन में बना हुआ रूप है इसमें **'जुश्'** प्रत्यय हुआ है उसका 'उ' **'आद्युदात्तश्च'** (पा० ३-१-३) सूत्र से आद्युदात्त हुआ है।

गोस्थानमिति। इसमें षष्ठी समास हुआ है 'गो' शब्द को कृदुत्तर प्रकृति स्वर प्राप्त था। उसको अपवादत्वात् बाधकर **'मनक्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीताः'** (पा० ६-२-१५१) सूत्र से जिसका कि अर्थ है—मन्प्रत्ययान्त क्तिन्प्रत्ययान्त, व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान ये चार शब्द, याजकादि गण में पठित शब्द और क्रीत शब्द को यदि ये उत्तरपद में हों तो अन्तोदात्त होता है। अन्तोदात्त प्राप्त हुआ किन्तु उसे भी बाधकर परत्वात् **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'** इस नियम से 'परादिश्छन्दसि बहुलम् (पा० ६-२-१९९) सूत्र से उत्तरपद के आदि को उदात्त हुआ।

वर्षत्विति। 'बधाने' त्यपि इति। ये दोनों शब्द वाक्यादि में प्रयुक्त हुए हैं। 'बधान' में 'शानच्' आदेश है. उसका

---

१. ख. त्यत्रापि शा।

---

५. यजु ऊंचे स्वर से नहीं बोला जाता किन्तु धीमे स्वर से बोला जाता है।

शब्दयोरञ्प्रत्यये सत्याद्युदात्तः। उर्वीशब्दो ङीषन्तः। वस्वीशब्दो वृषादिः। पुराशब्दस्य निपातत्वाभावादन्तोदात्तः। विसृप इत्यत्रोत्तरपदस्य कसुन्प्रत्ययान्तत्वादाद्युदात्तः।

उदादायेत्यत्र ल्यपः पित्त्वाद्धातुस्वरावशेषे कृत्स्वरः। जीरदानुशब्दो दासीभारादिः। ऐरयन्नित्यत्र यच्छब्दयोगान्निघाताभावे सति, आडागमस्य विहितमुदात्तत्वं सति शिष्टम्।

'चकार' इत्संज्ञक है इसीलिए 'चितः' (पा० ६-१-१६३) सूत्र से अन्तोदात्त हुआ है। 'पाश' शब्द 'घञन्त' है अतः **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** (पा० ६-१-१९७) सूत्र से आद्युदात्त हुआ है।

द्वेष्टि इति। **'द्विष्'** धातु से लट् लकार प्रथम पुरुष एक वचन में यह रूप बनता है। यहां **'तिङतिङः'** (पा० ८-१-२८) सूत्र से अनुदात्त होना चाहिए किन्तु 'यत्' शब्द के योग के कारण **'निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चणकच्चिद्यत्रयुक्तम्'** (पा० ८-१-३०) इस सूत्र से अनुदात्त नहीं हुआ।

गायत्र इति। गायत्र शब्द 'तृच्' प्रत्ययान्त है अतः यहां प्रत्यय स्वर अर्थात् आद्युदात्त हुआ है।

त्रैष्टुभ-जागत इति। इन दोनों शब्दों में तद्धित अञ् प्रत्यय हुआ है इसीलिए **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** (पा० ६-१-१९७) सूत्र से आद्युदात्त हुआ।

उर्वीति। 'उर्वी' शब्द में **'वोतो गुणवचनात्'** (पा० ४-१-४४) सूत्र से 'ङीष्' प्रत्यय हुआ है। इसीलिए **'आद्युदात्तश्च'** (पा० ३-१-३) सूत्र से आद्युदात्त हुआ।

वस्वीति। 'वस्वी' शब्द वृषादि में पढ़ा हुआ है अतः यहां **'वृषादीनां च'** (पा० ६-१-२०३) सूत्र से आद्युदात्त हुआ।

पुरेति। 'पुरा' शब्द निपात नहीं है अतः यहां **'निपाता आद्युदात्ताः'** से आद्युदात्त नहीं हुआ है किन्तु अन्तोदात्त हुआ।

विसृप इति। 'वि' पूर्वक 'सृप' धातु से **'सपितृदोः कसुन्'** (पा० ३-४-१७) सूत्र से यहाँ 'कसुन्' प्रत्यय हुआ है। इसीलिए नित्वात् **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (पा० ६-१- १९७) सूत्र से आद्युदात्त हुआ है।

उदादायेति। 'उत् आङ् पूर्वक दा धातु' का यह ल्यबन्त रूप है, 'ल्यप्' पित् है। इसीलिए **'अनुदात्तौ सुप्पितौ'** (पा० ३-१-४) सूत्र से अनुदात्त हुआ। इसीलिए 'धातोः' (पा० ६-१-१६२) सूत्र से अन्तोदात्त किया गया, सति शिष्ट स्वर के कारण हट गया। और **'गतिकारकोपपदात् कृत्'** (पा० ६-२-१४६) इस सूत्र से प्रकृति स्वर हुआ।

जीरदानुमिति। यह शब्द दासी भारादि गण में पढ़ा हुआ है। इसीलिए **'कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपा पारेवडवातैतिलकद्रूः पण्यकम्बलो दासीभाराणाञ्च'** (पा० ६-२-४२) सूत्र से पूर्वपद को प्रकृति स्वर हुआ।

ऐरयन्निति। इस शब्द में 'यत्' शब्द का योग है इसीलिए **'तिङ्ङतिङः'** (पा० ८-१-२८) सूत्र से प्राप्त **'तिङन्त'** निघात का **'निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चणकंच्चिद्यत्रयुक्तम्'** (पा० ८-१-३०) सूत्र से निषेध हो गया। इसीलिए 'आडागम' जो कि **'लुङ् लङ् लृङ्क्ष्वडुदात्तः'** (पा० ६-४-७१) **'आडजादीनां'** (पा० ६-४-७२) सूत्र से उदात्त था वह अन्य 'अच्' शेष निघात से अनुदात्त बने रहे।

चन्द्रमसीति पृषोदरादिः। अनुदृश्येति कृत्स्वरः।

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिताभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके नवमोऽनुवाकः ॥९॥

चन्द्रमसीति। 'चन्द्रमस्' शब्द पृषोदरादि गण में पढ़ा हुआ है। इसीलिए निपातनात् इसके 'म' का अकार स्वरित है।

अनुदृश्येति। यह ल्यबन्त रूप है यहां भी 'उदादाय' की तरह '**गतिकारकोपपदात् कृत्**' (पा० ६-२-१४९) सूत्र से कृत्स्वर हुआ है।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता के प्रथम काण्ड में प्रथम प्रपाठक के नवम अनुवाक पर श्रीसायणाचार्य कृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

॥ श्रीः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता

सायणभाष्यसहिता हिन्द्यनुवादसमेता च

प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके

दशमोऽनुवाकः

नवमे वेदिरुक्ता। दशमे वेद्यामासादनीयस्याऽऽज्यादिहविषो ग्रहणमभिधीयते।

प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टा अरातयोऽग्नेर्वस्तेजिष्ठेन तेजसा निष्टपामि

प्रत्युष्टमिति। बौधायनः—"अथैताः स्रुचः समादत्ते दक्षिणेन स्रुवं जुहूपभृतौ सव्येन ध्रुवां प्राशित्रहरणं वेदपरिवासनानीति गार्हपत्ये प्रतितपति प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टा अरातयोऽग्नेर्वस्तेजिष्ठेन तेजसा निष्टपामि (बौ० श्रौ० १।१२) इति।

आपस्तम्बस्य मते प्रत्युष्टं (आप० श्रौ० २।४।२) अग्नेर्वः (आप० श्रौ० २।४।१०) इत्येतौ द्वौ मन्त्रौ। तौ च संमार्जनात्प्राक्पश्चाच्च क्रमेण स्रुचां तापने विनियुज्येते। प्रत्युष्टमन्त्रो व्याख्यातः। हे स्रुचो

नवमे इति। नवम अनुवाक में वेदि निर्माण बता दिया गया है। अब वेदि में जिनका आसादन करना है, उन आज्य (घृत) आदि हवियों का ग्रहण इस दशम अनुवाक में बताया जायगा। **प्रत्युष्टम्** इति। बौधायन कहते हैं— वेदि निर्माण के अनन्तर स्रुचों[1] का ग्रहण करे, दाहिने हाथ से स्रुव[2], जुहू[3] और उपभृत् को पकड़े और बाएं से ध्रुवा, प्राशित्रहरण[4] और वेदपरिवासनों[5] को—इन सबको **'प्रत्युष्टम् ·····निष्टपामि'** इस मन्त्र से गार्हपत्य अग्नि में तपावे।

आपस्तम्बस्य इति। आपस्तम्ब के मत में **'प्रत्युष्टम्······'** इत्यादि और **'अग्नेर्व······'** इत्यादि से पृथक् पृथक् दो मन्त्र हैं। और ये क्रमशः संमार्जन से पूर्व और पीछे स्रुचों के तपाने में विनियुक्त[6] हैं। **'प्रत्युष्टम्······'** इत्यादि

---

१. 'स्रुच्'को स्रुव आदि का भी उपलक्षण समझो।

२. 'स्रुव' एक यज्ञोपकरण है, जिसका स्वरूप पहले बता दिया गया है।

३. जुहू, उपभृत् और ध्रुवा, ये भी यज्ञ के पात्र हैं, इन सबका साधारण नाम 'स्रुच्' है।

४. यह भी एक यज्ञ का पात्र है। इन सबका वर्णन भूमिका में देखो।

५. 'वेद' नाम कुशमुष्टि का है। कुशों को गूंथकर जब वेद बना लिया जाता है, तब कुशों के अग्रभाग का, जो बाहर निकला रहता है, काट डालते हैं। वे कटे हुए कुश के टुकड़े ही 'वेद परिवासन' कहलाते हैं।

६. सम्मार्जन से पूर्व 'प्रत्युष्टम्······अरातयः' इस मन्त्र से तपाना चाहिये। सम्मार्जन के पश्चात् 'अग्नेर्वस्···निष्टपामि' इस मन्त्र से।

युष्मानतितीक्ष्णेनाग्नेस्तेजसा निःशेषेण तपामि । अनिष्टपरिहारायेष्टसिद्धये चोभौ मन्त्रावित्याह—"प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टा अरातय इत्याह रक्षसामपहत्यै। अग्नेर्वस्तेजिष्ठेन तेजसा निष्टपामीत्याह मेध्यत्वाय" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति।

गोष्ठं मा निर्मृ॑क्षं वा॒जिनं॑ त्वा सपत्नसा॒हꣳसं मा॑र्ज्मि॒ वाचं॑ प्रा॒णं चक्षुः॒ श्रोत्रं॑ प्र॒जां योनिं॒ मा निर्मृ॑क्षं वा॒जिनीं॑ त्वा सपत्नसा॒हीꣳसं मा॑र्ज्म्या॒ ।

गोष्ठमिति। कल्पः—अथ स्रुवं संमार्ष्टि गोष्ठं मा निर्मृक्षं वाजिनं त्वा सपत्नसाहꣳसं मार्ज्मीत्यथ जुहूं सं मार्ष्टि वाचं प्राणं मा निर्मृक्षं वाजिनीं त्वा सपत्नसाहीꣳसं मार्ज्मीत्यथोपभृतं सं मार्ष्टि चक्षुः श्रोत्रं मा निर्मृक्षं वाजिनीं त्वा सपत्नसाहीꣳसं मार्ज्मीत्यथ ध्रुवां संमार्ष्टि प्रजां योनिं मा निर्मृक्षं वाजिनीं त्वा सपत्नसाहीꣳसं मार्ज्मीति (बौ० श्रौ० १।१२) इति।

प्रथम मन्त्र का व्याख्यान पहले हो चुका है। 'अग्नेर्व······' इत्यादि दूसरे मन्त्र का व्याख्यान करते हैं—हे इति। हे स्रुचो[1] ! मैं तुम्हें अग्नि के अतितीक्ष्ण तेज से पूर्णरूप से तपाता हूं। ये दोनों मन्त्र क्रमशः अनिष्ट परिहार[2] और इष्ट[3] सिद्धि के लिए हैं—इस बात को ब्राह्मण वाक्य बताता है—**'प्रत्युष्टम्······अपहत्यै'** इति। **अग्नेर्व······मेध्यत्वाय'** इति। **'प्रत्युष्टम्······'** इस मन्त्र का उच्चारण राक्षसों के अपघात के लिए है। और **'अग्नेर्व······'** इस मन्त्र का उच्चारण—स्रुव आदि पात्रों की पवित्रता के लिए है।

गोष्ठमिति। कल्पसूत्र कहता है—उपर्युक्त पात्र—प्रतपन के अनन्तर **'गोष्ठं मां···संमार्ज्मि'** इस मन्त्र से स्रुव का संमार्जन करे। तदनन्तर **'वाचं···संमार्ज्मि'** इस मन्त्र से जुहू का, फिर **'चक्षुः···संमार्ज्मि'** इस मन्त्र से उपभृत् का फिर **'प्रजां···संमार्ज्मि'** इस मन्त्र से ध्रुवा का संमार्जन करे।

हे इति। हे स्रुव ! मैं गउओं के स्थान का विनाश न करूँ इस अभिप्राय से तुम्हारा भली प्रकार संमार्जन कर रहा हूं, तुम अन्नवान् हो और शत्रु का अभिभव करने वाले हो।[4] इसी प्रकार दूसरे मंत्रों में भी योजना कर लो—

---

१. 'हे स्रुचो' यह संबोधन स्रुव आदि पात्रों के संबोधन का भी उपलक्षण है। क्योंकि वे भी तपाए जा रहे हैं।
२. राक्षसों का 'अपघात' ही अनिष्ट परिहार है।
३. पात्रों की पवित्रता ही इष्टसिद्धि है।
४. भाष्यकारोद्धृत कल्पसूत्र में स्रुव, जुहू, उपभृत् और ध्रुवा इन चारों का संमार्जन बताया गया है। चारों के संमार्जन के लिए पृथक् पृथक् चार मन्त्र दिये गये हैं। चारों मन्त्रों में 'मा निर्मृक्षम्' से लेकर 'संमार्ज्मि' तक का भाग एक जैसा है, कहीं-कहीं विशेष्य के अनुरोध से केवल लिङ्ग का अन्तर है, अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। 'मा निर्मृक्षम्' से पहले का भाग चारों मन्त्रों में पृथक् पृथक् है। पहले में 'गोष्ठ' है; दूसरे में 'वाचं प्राणं' है, तीसरे में 'चक्षुः श्रोत्रं' है, और चौथे में 'प्रजां योनिं' है। भाष्यकार ने पहले मन्त्र का पूरा व्याख्यान कर दिया है। शेष तीनों का व्याख्यान नहीं किया। कारण कि शब्दों के समान होने से पहले मन्त्र के अर्थ से ही सब मन्त्रों का अर्थ हो जाता है, जो शब्द भिन्न-भिन्न हैं, वे सब सुगम हैं—जैसे वाचं प्राणम्, चक्षुः श्रोत्रम्, प्रजां योनिम्। इसीलिए भाष्यकार ने कहा—'एवम् अन्येषु योज्यम्' इति।

हे स्रुव गवां स्थानं मा विनाशयामीत्यभिप्रेत्यान्नवन्तं वैरिणमभिभवितारं त्वां सम्यक्शोधयामि। एवमन्येषु योज्यम्। द्वितीयतृतीयमन्त्रयोर्मा निर्मृक्षमित्यादिरनुषज्यते। मन्त्राणां स्पष्टार्थत्वमभिप्रेत्य तद्व्याख्यानमुपेक्ष्यानुष्ठानं विधत्ते—"स्रुचः संमार्ष्टि" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति। तत्र क्रमं विधत्ते—"स्रुवमग्रे। पुमाꣳसमेवाऽऽभ्यः सꣳश्यति मिथुनत्वाय" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति। स्रुवः पुमाञ्जुह्वाद्याः स्त्रियः।

ततस्ताभ्यः पूर्वभावित्वं स्रुवस्य युक्तम्। सꣳश्यति सम्यक् तनू करोति विवाहार्थं संस्करोतीत्यर्थः। जुह्वादीनां पौर्वापर्यं विधत्ते—"अथ जुहूम्। अथोपभृतम्। अथ ध्रुवाम्" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति। प्रसंशति—"असौ वै जुहूः। अन्तरिक्षमुपभृत्। पृथिवी ध्रुवा। इमे वै लोकाः स्रुचः। वृष्टिः

शब्दार्थ समझ लो। दूसरे और तीसरे मन्त्र में **'मा' निर्मृक्षम्'** इत्यादि का भी संबंध होता है।

ब्राह्मण में उक्त मन्त्रों की व्याख्या नहीं की गई है—इसका कारण बताते हुए भाष्यकार कहते हैं—**मन्त्राणामिति।** उक्त चारों मन्त्र स्पष्टार्थ हैं—इस अभिप्राय से उनके व्याख्यान की उपेक्षा करके ब्राह्मणवाक्य अनुष्ठान का विधान करता है—**'स्रुचः संमार्ष्टि'** इति। स्रुचों का संमार्जन करे। **तत्र** इति। ब्राह्मण संमार्जन में क्रम का विधान करता है—**'स्रुवमग्रे'''मिथुनत्वाय'** इति। सबसे पहले स्रुव का संमार्जन करे। पहले स्रुव का संमार्जन करना इन (स्त्री रूप) स्रुचों से पूर्व पुरुष का संस्कार करना है। युगलीकरण के लिए। स्रुव पुरुष है, जुहू आदि स्रुच् स्त्रियां हैं।

---

१. **ख. व्यवहारार्थं**

---

१. यद्यपि 'द्वितीय तृतीय मन्त्रयोर्मानिर्मृक्षम् इत्यादिरनुषज्यते' यह वाक्य लिखना तभी उचित होता जब द्वितीय तृतीय मन्त्र में 'मानिर्मृक्षम्' आदि अंश न होता, फिर द्वितीय तृतीय के लिए ही क्यों लिखा, चतुर्थ के लिए क्यों नहीं लिखा, उसमें भी तो 'मानिर्मृक्षम्' इत्यादि अंश का अनुषङ्ग होता है? इस शङ्का का समाधान यह है कि प्रकृत संहिता के इस दशम अनुवाक में 'वाचं प्राणम्' 'चक्षुः श्रोत्रम्' ये द्वितीय और तृतीय मन्त्र इतने ही दिये हैं। इसलिये इनमें **'मानिर्मृक्षम्' इत्यादि अंश जोड़ने के लिए भाष्यकार को लिखना पड़ा।** चौथा मन्त्र संहिता में पूर्ण दिया हुआ है, इसलिये उसके लिए भाष्यकार ने नहीं लिखा। भाष्य में उद्धृत कल्पसूत्र बौधायन श्रौतसूत्र है। उसमें सब मन्त्र पूरे पूरे दिये गए हैं। आपस्तम्ब ने भी संहिता के अनुसार पूरे मन्त्र नहीं दिये हैं, इतना ही लिखा है—'वाचं प्राणम् इति जुहूम्', 'चक्षुः श्रोत्रमित्युपभृतम्'। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि भाष्यकार ने संहिता को दृष्टि में रखकर अनुषङ्ग बताया है, श्रौतसूत्र को दृष्टि में रखकर नहीं।

२. 'स्रुव' शब्द पुल्लिङ्ग है, इसलिए उसको पुरुष कहा, 'स्रुच्' शब्द स्त्रीलिङ्ग है—इसलिए स्रुचों को स्त्री कहा गया। पुरुष आग्नेय होता है – अग्निप्रधान होता है और स्त्री सौम्य होती है—सोमप्रधान होती है। इसीलिये तो स्त्री की तुलना सोमप्रधान घी से की जाती है और पुरुष की अग्निमय अँगारे से—'घृतकुम्भसमानारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्', अग्नि पहले है, सोम पीछे है। यज्ञ में आह्वनीय आदि अग्नियाँ पहले स्थापित होती हैं, उनमें पीछे से सोमप्रधान घृत की आहुति दी जाती है। यह हमारा विधिबोधित यज्ञ प्राकृतयज्ञ के अनुकरण पर ही होता है—यह हम पहले कई बार बता चुके हैं। प्राकृतयज्ञ में अग्नि का ही सर्वप्रथम विकास होता है। स्वायंभुव ब्रह्मा अग्निरूप ही है, उसका विश्व में सर्वप्रथम प्रादुर्भाव बताया गया है। इसीलिये वेद में उसे 'अग्री' कहा जाता है, वही 'अग्री' परोक्ष भाषा में 'अग्नि' बन जाता है।

संमार्जनानि। वृष्टिर्वा इमांल्लोकाननुपूर्वं कल्पयति। ते ततः क्लृप्ताः समेधन्ते" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति। क्रमावस्थानसाम्येन स्रुचां लोकत्वम्। संमृज्यन्ते स्रुचो यैर्वेदाग्रैस्तानि संमार्जनानि। पूर्वं दर्भैर्वेदं कृत्वा तदग्राणि परिवास्य तानि वेदपरिवासनानि स्रुचां संमार्जनाय स्थापितानि।

तेषां वृष्टिजन्यतया वृष्टिरूपत्वम्। वृष्टि रूपैर्वेदाग्रैर्लोकरूपाणां जुह्वादीनां क्रमेण संमार्जने सति

इसलिये उनसे (स्रुचों से) पूर्व स्रुव की स्थिति (स्रुव का संमार्जन रूप संस्कार) युक्तियुक्त है। 'संश्यति' शब्द का अक्षरार्थ है—इसी तरह पतला बनाता है, तात्पर्यार्थ है—विवाह[1] के लिए संस्कृत करता है। ब्राह्मणवाक्य जुहू आदि स्रुचों में भी क्रम बताता है—'अथ जुहूम्...' इति। स्रुव के बाद जुहू का, जुहू के बाद उपभृत् का, उपभृत् के अनन्तर ध्रुवा का संमार्जन करे। ब्राह्मण जुहू आदि की स्तुति[2] करता है। 'असौ वै जुहूः...' जुहू द्युलोक है। उपभृत् अन्तरिक्ष है, ध्रुवा पृथिवी है। इस प्रकार जुहू आदि स्रुच् ये तीनों लोक हैं। संमार्जन (वेद परिवासन-कुश) वृष्टि रूप हैं, वृष्टि ही इन तीनों लोकों को क्रमशः बनाती है, वृष्टि से उत्पन्न होने के बाद वे समृद्ध होते हैं। भाष्यकार उपर्युक्त अर्थवाद (स्तुतिवाक्य) का व्याख्यान करते हैं—**क्रमा** इति। जैसे द्युलोक आदि की स्थिति का क्रम है—पहले द्युलोक, फिर अन्तरिक्षलोक, अन्त में पृथ्वीलोक, इसी प्रकार जुहू आदि स्रुचों का भी क्रम है, इसी समता के कारण स्रुचों को लोक कहा। वेदि (कुशमुष्टि) के जिन अग्रभागों से स्रुचों का संमार्जन (झाड़ पोंछ) संस्कार किया जाता है, वे ही यहां[3] संमार्जन शब्द से लिए गए हैं। पहले दर्भों से (दाम से—कुशाओं से) 'वेद'[4] बनाते हैं, फिर उसके अग्रभागों को काट देते हैं, ये कटे हुए कुश के टुकड़े ही 'वेदपरिवासन'[5] कहलाते हैं, इन्हें ही स्रुचों के संमार्जन के लिए स्थापित किया गया था। वे कुश वृष्टिजन्य होने के कारण वृष्टिरूप[6] माने गए हैं। वृष्टिरूप कुशमुष्टि के अग्रभागों से लोकरूप जुहू

---

१. मूल में 'विवाहार्थम्' ऐसा पाठ है इसीलिये हमने 'विवाह के लिए' ऐसा अर्थ किया है। भाष्यकार ने 'मिथुनत्वाय' का अर्थ 'विवाहार्थम्' किया है। यद्यपि लौकिक विवाह जैसा स्रुव स्रुचों का विवाह यहाँ विवक्षित नहीं है तथापि वृषा प्राण (अग्नि) और योषा प्राण (सोम) के मिथुनीकरण से ही सृष्टि होती है—इस ओर संकेत अवश्य है। स्रुव पुंस्त्व विशिष्ट होने के कारण वृषा प्राण का प्रतिनिधि है, और स्रुच् स्त्रीत्व के कारण योषा प्राण का प्रतिनिधित्व करती हैं। दूसरे, मिथुनत्व का तात्पर्य यह भी है कि स्रुव के द्वारा ही ध्रुवा पात्र से घी लेकर जुहू और उपभृत् में डाला जाता है, अतः स्रुव का सब स्रुचों के साथ संबन्ध रहता है—स्रुव और स्रुचों का यह संबन्ध ही यहाँ मिथुनीकरण है।

२. 'असौ वै जुहू.......' इत्यादि ब्राह्मणवाक्य स्तावक होने से अर्थवाद वाक्य है।

३. 'वृष्टिः संमार्जनानि' इस ब्राह्मणवाक्य में। संमार्जन शब्द में करण में ल्युट् हुआ है। संमृज्यते अनेनेति संमार्जनम्। सामान्ये नपुंसकम्।

४. 'वेद' कुशों को गूंथकर बनाया जाता है। पहले भी हम वेद का स्वरूप बता चुके हैं।

५. भाष्यकारोद्धृत बौधायन श्रौतसूत्र में यह वेद परिवासन शब्द आया है। 'वस् स्नेहच्छेदापहरणेषु' इस चुरादिगण की धातु से 'वासन' शब्द बना है, जिसका अर्थ 'काटना' भी है। 'परितो वास्यन्ते छिद्यन्ते' इति परिवासनानि।

६. 'अम्भस्' नामक दिव्य जल से कुशों की उत्पत्ति होती है। इसलिए कुश पवित्र माने गए हैं।

वृष्टिरेवानुक्रमवर्तिनो लोकान्[1]धान्यादि संपन्नान् करोति । ततस्ते लोकाः संपन्नाः सम्यगभिवर्धन्ते । वेदनं प्रशंसति—"समेधन्तेऽस्मा इमे लोकाः प्रजया पशुभिः । य एवं वेद" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति ।

वेदपरिवासनानामग्रमूलावयवयोर्व्यवस्थां दर्शयति—"यदि कामयेत वर्षुकः पर्जन्यः स्यादिति । अग्रतः संमृज्यात् । वृष्टिमेव नियच्छति । अवाचीनाग्रा हि वृष्टिः । यदि कामयेतावर्षुकः स्यादिति । मूलतः संमृज्यात् । वृष्टिमेवोद्यच्छति" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति । नियच्छति न्यग्भावेन प्रवर्तयति। उद्यच्छत्यूर्ध्वाकारेण[2] वारयति । तस्मिन्नेव विषये संप्रदायविदां मतमाह—"तदु वा आहुः । अग्रत एवोपरिष्टात्संमृज्यात् । मूलतोऽधस्तात् । तदनुपूर्वं कल्पते । वर्षुको भवतीति (तै० ब्रा० ३।३।१) इति ।

उपरिष्टादिति स्रुचो बिलभागः । अधस्तादिति तद्दण्डभागः । एवं सति परिवासनानां स्रुवस्रुचां

आदि का क्रमशः संमार्जन होने पर वृष्टि (वारिश) ही क्रमशः स्थित द्यौ आदि लोकों को धान्यादि से संपन्न करती है। इसी कारण वे लोक संपन्न होकर अच्छी तरह बढ़ते हैं– उन्नति करते हैं। **'असौ वै जुहू ···'** इत्यादि स्तावक वाक्योक्त अर्थ के ज्ञान की प्रसंशा करते हैं—**'समेधन्ते···य एवं वेद'** इति। जो यजमान इस प्रकार जानता है उसके लिए ये लोक प्रजा (सन्तति) और पशुओं के साथ समृद्ध होते हैं।

वेद इति। अब वेदपरिवासनों (कटे हुए कुश के टुकड़ो) के अगले और निचले भागों के संबन्ध में व्यवस्था बताते हैं—**'यदि...···उद्यच्छति'** इति। यदि यह कामना हो कि मेघ बरसे तो वेदपरिवासनों के अगले भाग से संमार्जन करे। अग्रभाग से संमार्जन वृष्टि को नीचे की ओर ही (भूमि की ओर ही) प्रवृत्त करता है। क्योंकि वृष्टि का अग्रभाग नीचे की ओर ही होता है। यदि चाहे कि मेघ न बरसे तो निचले भाग से (मूल से) संमार्जन करे। निचले भाग से संमार्जन वृष्टि का रुख ऊपर की ओर करके उसे नीचे आने से रोकना है। इसी[1] विषय में परम्परा[2] से परिचित विद्वानों का मत बताते हैं—**'तदु वा आहुः –भवति'** इति। इसीलिए तो याज्ञिक लोग कहते हैं कि कुशों के अग्रभाग से स्रुचों के अग्रभाग[3] का संमार्जन करे और कुशों के मूल से (निचले भाग से) स्रुचों के निचले[4] भाग का संमार्जन करे। ऐसा[5] करने से आनुपूर्वी (क्रम) समान रहता है—अर्थात् कुश-खण्डों के अगले और पिछले भाग का क्रमशः स्रुव-स्रुचों के अगले और पिछले भाग से संबन्ध हो जाता है। और मेघ भी बरसता है।

ब्राह्मणवाक्य[6] में 'उपरिष्टात्' यह शब्द आया है, उसका तात्पर्य है—स्रुचों का उपरला गढ़वाला भाग।' इसी प्रकार उसी ब्राह्मणवाक्य के 'अधस्तात्' पद का तात्पर्य है –'स्रुचों का निचला डण्डे वाला भाग'। स्रुव और स्रुचों

---

१. क. कान्ध्यानादि २. ख. ध्र्वाकर्षणेन वा

---

१. वेदपरिवासनों के किस भाग से स्रुचों के किस भाग का संमार्जन करे—इस विषय में।

२. सम्मार्जन की परम्परा को जानने वाले।

३. स्रुव ओर स्रुचों के अग्रभाग में गढ़ा होता है, जिसमें घृत रखकर अग्नि में डाला जाता है।

४. उसका सम्मार्जन करना चाहिये। निचला हिस्सा स्रुव स्रुचों का दण्डाकार होता है, वहीं से उन्हें पकड़कर आहुति देते हैं। उसका सम्मार्जन करना चाहिये।

५. यह 'तदनुपूर्वं कल्पते' इसके भाष्योक्त व्याख्यान का अनुवाद है।

६. 'अग्रत एवोपरिष्टात् संमृज्यात्, मूलतोऽधस्तात्' इस ब्राह्मण वाक्य में।

चाग्रमग्रेण संबध्यते मूलं मूलेनेत्यानुपूर्वी समा भवति । पर्जन्यश्च वर्षति । बिलभागे विशेषमाह—"प्राचीमभ्याकारम्। अग्रैरन्तरतः। एवमिवह्यन्नमद्यते। अथो अग्राद्वा ओषधीनामूर्जं प्रजा उपजीवन्ति। ऊर्ज एवान्नाद्यस्यावरुद्ध्यै" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति। बिलभागे पश्चिमोपक्रमां प्रागवसानां स्रुक्संमार्जनक्रियां कृत्वा बिलस्याभ्यन्तरे सर्वत आकृष्याऽऽकृष्य संमृज्यात्। यथा भुञ्जानः पुमान्हस्तं पुरतः पात्रे प्रसार्याभितो भोज्यान्याकृष्याऽऽकृष्य मुखबिले प्रक्षिपति तद्वत्। किंच प्रजा ओषधीनामग्रभागादानीय रसमुपजीवन्ति तद्वत्। अत्र परिवासनाग्रैः संमार्जनं रसरूपस्यात्तुं योग्यस्यान्नस्य प्राप्त्यै भवति।

दण्डभागे विशेषमाह—"अधस्तात्प्रतीचीम्। दण्डमुत्तमतः। मूलेन मूलं प्रतिष्ठित्यै" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति। अधस्तादवस्थितं दण्डं प्रति प्रागुपक्रमां पश्चिमावसानां संमार्जनक्रियामुत्तमेन दर्भभागेन

के गढ़े वाले भाग के संबन्ध में विशेष विधि बताते हैं—'**प्राचीम**'······'**वरुद्धयै**' इति। इस ब्राह्मणवाक्य का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं—**बिलभागे** इति। स्रुचों के गढ़े वाले भाग में संमार्जन क्रिया को पश्चिमभाग से प्रारम्भ करके पूर्वभाग में समाप्त करदे। गढ़े[२] के भीतर कुशों के अग्रभाग से चारों ओर का मैल खींच खींच कर (खरोच-खरोच कर) संमार्जन करे। जैसे[३] भोजन करने वाला पुरुष भोजन पात्र पर आगे हथेली[४] पसार कर भोज्य पदार्थ को समेटकर मुख में डालता है; उस प्रकार। और भी,[५] जैसे लोग ओषधियों के अग्रभाग से रस लेकर उसका उपजीवन करते हैं—अपने उपयोग में लाते हैं, उस प्रकार। यज्ञ[६] में कुशखण्डों के अग्रभागों में संमार्जन करना रसरूप भोज्य अन्न की प्राप्ति के लिए होता है।

अब स्रुव और स्रुचों के दण्डभाग के विषय में विशेष विधि बताते हैं—'**अधस्ताद्**···'**प्रतिष्ठित्यै**' इति। इस

---

१. यह पङ्क्ति 'प्राचीमभ्याकारम्' इस वाक्य के भाष्योक्त व्याख्यान का अनुवाद है। 'अभ्याकारम्' का अर्थ है—बार बार (पुनः पुनः)।

२. यह पङ्क्ति 'अग्रैरन्तरतः' इस वाक्य के भाष्योक्त व्याख्यान का अनुवाद है। यद्यपि भाष्य में स्पष्ट होने के कारण 'अग्रैः' का विवरण छोड़ दिया गया है, तथापि हमने 'कुशों के अग्रभाग से' इस प्रकार उसे लिख दिया है।

३. यह पङ्क्ति 'एवमिव ह्यन्नमद्यते (एवम् इव हि अन्नम् अद्यते)' इस वाक्य के भाष्योक्त व्याख्यान का अनुवाद है। इसका शब्दार्थ है—'प्रायः इसी प्रकार अन्न खाया जाता है।'

४. भाष्यकार दाक्षिणात्य थे। इसलिए उन्होंने अपने रोज के अनुभव के आधार पर ही हथेली फैलाकर भोज्य पदार्थों को समेटकर खाने की प्रक्रिया लिखकर उसकी उपमा दे दी। उत्तर भारत की भोजन प्रक्रिया से भी यहाँ उपमा दी जा सकती है। उत्तर भारत में उंगलियों के अग्रभागों से भोजन को समेट कर खाया जाता है। कुशों के अग्रभाग उंगलियों के अग्रभागों के समान हैं। आधुनिक दृष्टि से संमार्जन और भोजन की उपमा भव्य नहीं मानी जा सकती। संमार्जन में अवाञ्छित वस्तु का त्याग होता है, इसके विपरीत भोजन में भोज्य पदार्थ का ग्रहण होता है।

५. यह पङ्क्ति 'अथो अग्राद् वा ओषधीनाम्······' इस ब्राह्मण वाक्य के भाष्योक्त व्याख्यान का अनुवाद है।

६. यह पङ्क्ति 'उर्जएवान्नाद्यस्या······' इस ब्राह्मण वाक्य के भाष्योक्त व्याख्यान का अनुवाद है।

(ण) कुर्यात्। तथा सति दर्भमूलेन स्रुचो मूलं संबध्यते। तच्च प्रतिष्ठित्यै भवति। बिलदण्डयोरुक्तां व्यवस्थां लौकिकलिङ्गेन द्रढयति—

"तस्मादरत्नौ प्राञ्च्युपरिष्टाल्लोमानि। प्रत्यञ्च्यधस्तात्। स्रुग्ध्येषा" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति। मणिबन्धादूर्ध्वं सूक्ष्मरोमाणि प्राङ्मुखान्यधस्तात्तु प्रत्यङ्मुखानि। एषा हि लौकिकी स्रुक् तद्-दृष्टान्तेन वैदिक्यामपि स्रुचि यथोक्तप्रकारो द्रष्टव्यः।

ब्राह्मणवाक्य का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं—**अधस्ताद्** इति। स्रुव[1] स्रुचों के नीचे की ओर अवस्थित दण्डभाग में संमार्जन क्रिया को पूर्व की ओर से प्रारम्भ करके पश्चिम में समाप्त कर दे। दण्ड[2] का संमार्जन कुशों के निचले[3] भाग से करे। ऐसा[4] करने से कुशों के मूल के (निचले भाग के) साथ स्रुच् के मूल का (निचले भाग का) संबन्ध हो जाता है। और वह प्रतिष्ठा के लिए होता है।

स्रुव और स्रुचों के गढ़े वाले और दण्डवाले भागों के संबन्ध में बताई गई व्यवस्था को लौकिक चिह्नों से दृढ़ करते हैं—**'तस्माद्'''स्रुग्ध्येषा'** इति। इस ब्राह्मण का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं—**मणिबन्धाद्** इति। मणिबन्ध[5] (कलाई)से ऊपर के भाग में(हथेली के पृष्ठ भाग पर) सूक्ष्म रोमों का मुख पूरब की ओर—अर्थात् ऊपर की ओर होता है, और मणिबन्ध से नीचे—कोहनी तक के भाग में—रोमों का मुख पश्चिम की ओर अर्थात् नीचे की ओर होता है। यह—कोहनी से लेकर हथेली तक का भाग-लौकिक स्रुच् है, इसके दृष्टान्त से वैदिक स्रुच् में भी यथोक्त[6] प्रकार ही समझना चाहिये।

---

१. यह पङ्क्ति 'अधस्तात् प्रतीचीम्' इस ब्राह्मण वाक्य के भाष्योक्त व्याख्यान का अनुवाद है। 'प्रतीचीमभ्याकारम्' इस पूर्वोक्त ब्राह्मण वाक्य से 'अभ्याकारम्' इस पद की अनुवृत्ति यहां भी होती है।

२. यह 'दण्डमुत्तमतः' का हिन्दी अनुवाद है।

३. 'उत्तम' शब्द का अर्थ है 'अन्त्य' अर्थात् स्रुच् का अन्तिम या निचला भाग।

४. यह 'मूलेन मूलं प्रतिष्ठित्यै' इस ब्राह्मण वाक्य के भाष्योक्य व्याख्यान का अनुवाद है।

५. कलाई को 'मणिबन्ध' इसलिए कहते हैं, कि इसमें मणि बाँधी जाती है।

६. कोहनी से लेकर हथेली की बीच की उँगली के सिरे तक के भाग को 'अरत्नि' कहते हैं। इस अरत्नि को लौकिक स्रुच् कहा गया है। इसी के समान वैदिक स्रुच् भी होती है। जैसे हम लौकिक स्रुच् से अन्नादि रूप सोम की आहुति वैश्वानर अग्नि में (जठराग्नि में) डालते हैं, इसी प्रकार वैदिक स्रुच् से घृतादि सोम की आहुति आहवनीय अग्नि में डालते हैं। इस 'अरत्नि' नामक लौकिक स्रुच् के दो भाग हैं—एक हथेली से ऊपर का कोहनी तक का भाग, दूसरा हथेली रूप भाग। दोनों के बीच की सीमा मणिबन्ध (कलाई) है। इसी प्रकार वैदिक स्रुच् के भी दो भाग हैं—एक वह भाग जो चौड़ा है और गढ़े वाला है, दूसरा वह जो डण्डे के रूप में है। लौकिक स्रुच् में मणिबन्ध से ऊपर हथेली के पृष्ठ भाग पर रोमों का मुख ऊपर की ओर (पूर्व की ओर) होता है इसलिए इसके अनुकरण पर वैदिक स्रुच् में गढ़े वाले भागों से संमार्जन क्रिया नीचे से ऊपर की ओर (पश्चिम से पूर्व की ओर) होती है। इसी प्रकार लौकिक स्रुच् के निचले भाग में (मणिबन्ध से कोहनी तक वाले भाग में) रोमों का मुख नीचे की ओर (पश्चिम की ओर) होता है। अतः इसके अनुकरण पर वैदिक स्रुच् में डण्डे वाले निचले भाग में ऊपर से नीचे की ओर (पूर्व पश्चिम की ओर) संमार्जन क्रिया की जाती है।

अत्र केचिदाहुः—ऊर्ध्वबिलत्वेन हस्तधृतायाः स्रुच ऊर्ध्वाधोभागौ कृत्स्नावप्युपरिष्टादधस्ताच्छब्दाभ्यां विवक्षितौ, न तु बिलभागदण्डभागौ। एवं धारकहस्तेऽप्यूर्ध्वाधोदेशौ। तथा सत्युक्तं लोमलिङ्गमनुकूलमिति।

तर्हि तथैवास्तु। स्रुवस्य प्रथमतः संमार्जनं रूपककल्पनायोपपादयति—"प्राणो वै स्रुवः। जुहूर्दक्षिणो हस्तः। उपभृत्सव्यः आत्माध्रुवा। अन्नᳪ संमार्जनानि। मुखतो वै प्राणोऽपानो भूत्वा। आत्मान-

भाष्यकार ने 'तदु वा आहुः, अग्रत एवोपरिष्टात् समृज्यात्। मूलतोऽधस्तात्' इस ब्राह्मणवाक्य का व्याख्यान करते हुए कहा था कि यहां 'उपरिष्टात्'[1] शब्द का तात्पर्य स्रुच् के गढ़े वाले भाग में है और 'अधस्तात्' का स्रुच् के दण्ड वाले भाग में।

अब इस विषय में दूसरा मत बताते हैं—**अत्र** इति। यहाँ कोई कहते हैं कि जिसका गढ़े वाला भाग ऊपर[2] की ओर है ऐसी हाथ में थामी हुई स्रुच् के उपरला और निचला पूरे दोनों भाग ही 'उपरिष्टात्' और 'अधस्तात्' शब्द से विवक्षित हैं, गढ़े वाला और डण्डे वाला भाग नहीं। अर्थात् 'उपरिष्टात्' शब्द का तात्पर्य केवल गढ़े वाले भाग में नहीं है, किन्तु उपरले सारे ही भाग में उसका तात्पर्य है, इसी प्रकार 'अधस्तात्' शब्द का तात्पर्य स्रुच् के समग्र निचले भाग में है, केवल दण्डवाले भाग में नहीं। इसी प्रकार **'तस्माद्[3] अरत्नौ प्राञ्चि उपरिष्टात् लोमानि प्रत्यञ्चि अधस्तात् स्रुग् हि एषा'** इस ब्राह्मणवाक्य में भी 'उपरिष्टात्' और 'अधस्तात्' शब्दों से स्रुच् को पकड़ने वाले ऋत्विज् के हाथ के उपरला और निचला दोनों ही प्रदेश (भाग) पूरे पूरे लिए जाते हैं। ऐसा होने से रोमरूप लिङ्ग अनुकूल बैठता है—अर्थात् रोमरूप चिह्न के द्वारा स्रुचों के उपरले और निचले भागों के संमार्जन के प्रकार का समर्थन युक्तियुक्त जँचता[4] है। इस मत को भाष्यकार ने स्वीकार कर लिया, और कहा—

तर्हि इति। यदि आप ऐसा समझते हैं तो ऐसा[5] ही सही—अर्थात् आपकी बात स्वीकार करने में हमें कोई उज्र नहीं। **स्रुवस्य** इति। स्रुव के प्रथम संमार्जन का रूपक कल्पना द्वारा उपपादन करते हैं—**'प्राणो वै स्रुवः ······ अन्नमाविशति'**.

१. भाष्यकार ने लिखा है 'उपरिष्टादिति स्रुचो बिलभागः। अधस्तादिति तद्दण्ड भागः।'

२. अर्थात् जो औंधी नहीं है।

३. हमने इस ब्राह्मणवाक्य को पढ़ने और समझने में सुगमता के लिए संधि विच्छेद करके लिखा है।

४. दूसरे मत का हार्दिक तात्पर्य यही है कि स्रुच् के उपरले भाग में केवल गढ़े में ही संमार्जन क्रिया होती है यह बात नहीं है, इसी प्रकार निचले भाग में भी दण्डभाग में ही संमार्जन होता है यह बात नहीं है। किन्तु ऊपर से नीचे तक स्रुचों के सारे ही अवयवों का संमार्जन करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में 'बिलभाग—गढ़े वाला भाग' और 'दण्डभाग' ऐसी विशेष कल्पना उचित नहीं है। अरत्नि के दृष्टान्त में भी ऊपर नीचे दोनों भागों में किसी विशेष अवयव की कल्पना नहीं की गई है—केवल सामान्यतः इतना ही कहा गया है कि ऊर्ध्वभाग में लोमों का झुकाव पूर्व की ओर होता है और अधोभाग में पश्चिम की ओर। दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति में समानता होनी चाहिये।

५. वस्तुतः भाष्यकार का भी वही तात्पर्य है, जो दूसरे मत में बताया गया है, 'बिलभाग' और 'दण्डभाग' इत्यादि कथन तो केवल परिचय मात्र कराने के लिए है। भाष्यकार का यह तापर्त्य बिलकुल नहीं है कि केवल बिल (छिद्र, गढ़ा) का ही संमार्जन किया जाय अथवा दण्डभाग का ही संमार्जन किया जाय। शालीनता के कारण भाष्यकार ने मतान्तरवादी के अज्ञान का उद्घाटन न करके, उसे स्वीकार कर लिया, और 'तथास्तु' कह दिया।

मन्नं प्रविश्य। बाह्यतस्तनुव॑ᳵशुभयति। तस्मात् स्रुवमेवाग्रे संमार्ष्टि। मुखतो हि प्राणोऽपानो भूत्वा। आत्मानमन्नमाविशति" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति।

आत्मा हस्तयोर्मध्यवर्तिशरीरम्। मुखसंचारिणो वायोः प्राणापानाभिधेये द्वे वृत्ती। उच्छ्वासरूपेण बहिर्निर्गच्छन्ती[१] प्राणवृत्तिः। निश्वासरूपेणान्तः प्रविशत्यपानवृत्तिः। तत्र प्राणरूपो वायुः प्राणतां परित्यज्यस्वयमपानो भूत्वा मुखे प्रक्षिप्तमन्नग्रासं मध्यशरीरे प्रवेश्य बाह्यं हस्तादिरूपं शरीरं पुष्ट्या शोभितं करोति। तस्मादन्नरूपैर्वेदाग्रैः प्राणरूपस्य स्रुवस्याऽऽदौ संमार्जनं कर्त्तव्यम्। तथा कृते सति प्रथमतोऽन्नप्रवेशः पश्चाद्बाह्यहस्तरूपस्य जुह्वादेः शोभेत्येतदुपपन्नम्।

प्रसङ्गात्प्राणापानवेदनं प्रशंसति—"तौ प्राणापानौ। अव्यर्धुकः प्राणापानाभ्यां भवति। य एवं वेद" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति। प्रकर्षेण बहिरनितीति प्राणः। अपकर्षेणान्तरनितीत्यपानः। इत्येवं वृत्तिभेदात्तौ प्राणापानौ संपन्नाविति वेदितुरकाले प्राणापानाभ्यां वियोगोऽपमृत्युरूपो न भवति। मन्त्र-

---

इति। स्रुव प्राणरूप है, जुहू दाहिना हाथ है, उपभृत् बाँया हाथ है, ध्रुवा आत्मा है, संमार्जन अन्न है, प्राण, अपान बनकर मुख से आत्मा में अन्न का प्रवेश कराकर बाहर शरीर को शोभित करता है—दीप्तिमान् बनाता है। इसलिए स्रुव का ही पहले संमार्जन करे। क्योंकि प्राण अपान बनकर आत्मा में अन्न पहुंचाता है। इस रूपक की व्याख्या भाष्यकार स्वयं करते हैं—

आत्मा इति। यहाँ दोनों हाथों के बीच[१] का शरीर ही 'आत्मा' है। मुख के द्वारा संचरण करने वाले वायु की दो वृत्तियाँ हैं, जिनके नाम हैं प्राण और अपान। उच्छ्वास के रूप में बाहर निकलने वाली प्राण नामक वृत्ति है, और निःश्वास के रूप में अन्दर प्रवेश करने वाली अपान नामक वृत्ति है। प्राणरूप वायु अपनी प्राणता को छोड़कर और स्वयं अपान बनकर मुख में डाले हुए अन्न के ग्रास को मध्य शरीर में पहुंचाकर बाहर के हाथ आदि रूप शरीर को पोषण द्वारा शोभित करता है। इसलिए अन्नरूप कुशा के अग्रभागों से प्राणरूप स्रुव का ही पहले संमार्जन करना चाहिये। ऐसा करने पर पहले अन्न प्रवेश और पीछे बाहर के हस्तरूप जुहू आदि की शोभा यह बात उपपन्न हो जाती है।

प्रसङ्गवश प्राण और अपान के ज्ञान की प्रशंसा करते हैं—"**तौ प्राणापानौ ······ य एवं वेद**" इति। जो व्यक्ति प्राण और अपान के स्वरूप को इस प्रकार समझता है—जानता है। वह प्राण और अपान से वियुक्त नहीं होता। **प्रकर्षेण** इति। अधिकता से बाहर की ओर प्राणन करने वाला बाहर श्वास फेंकने वाला वायु ही 'प्राण' है। अपकर्ष[३] से अन्दर की ओर—मुख के भीतर की ओर प्राणन करने वाला, अर्थात् बाहर से भीतर की ओर साँस लेने की क्रिया करने वाला वायु ही अपान है। इस प्रकार वृत्तिभेद से एक ही वायु प्राण और अपान बन गया है—ऐसा समझने वाले पुरुष का अकाल में प्राण और अपान से वियोग नहीं होता अर्थात् उसकी अकाल में मृत्यु नही होती। प्राणन और अपानन का—

---

१. क. ग. च्छतीति प्रा।

---

१. धड़।

२. यह प्राण शब्द की व्युत्पत्ति मात्र है। प्र पूर्वक 'अन् प्राणने' धातु से 'प्राण' शब्द बनता है।

३. यह भी अपान शब्द की व्युत्पत्ति मात्र है। 'अप्' पूर्वक 'अन् प्राणने' धातु से 'अपान' शब्द बना है।

मुत्पाद्य विनियुङ्क्ते—"दिवः शिल्पमवततम् पृथिव्याः ककुमिश्रितम् । तेन वयꣳसहस्रवल्शेन । सपत्नं नाशयामसि स्वाहेति । स्रुक्संमार्जनान्यग्नौ प्रहरति" (तै० ब्रा० ३।३।२) इति ।

दिवः सकाशाद् वृष्टिरूपेणाधः प्रसृतमिदं दर्भरूपं चित्रं वस्तुभूमेरुपर्याश्रितं शतशाखेन तेन दर्भेण वयं वैरिणं नाशयामः। इदं दर्भरूपं हुतमस्तु। अनेन मन्त्रेण वेदपरिवासनान्यग्नौ प्रक्षिपेत् । अस्मिन्मन्त्रे संमार्जनानि न प्रतीयन्त इति शङ्कां वारयति—"आपो वै दर्भाः। रूपमेवैषामेतन्महिमानं व्याचष्टे" (तै० ब्रा० ३।३।२) इति। दिवोऽवततमित्यनेन वृष्टिरूपा आपः प्रतीयन्ते¹ । आपश्च दर्भरूपाः। दर्भरूपेणोत्पत्तिः पूर्वमेवोत्पवनब्राह्मणे (तै० ब्रा० ३।२।५) दर्शिता।

तस्मादेतन्मन्त्रगतशब्दस्वरूपमेवैषां दर्भाणां दिवः शिल्पत्वादिलक्षणं महिमानं प्रख्यापयति। अस्य मन्त्रस्यानुष्टुप् छान्दस्त्वमृग्रूपत्वं चानुसंधेयमित्याह—"अनुष्टुभर्चा" (तै० ब्रा० ३।३।२) इति। संमृज्यादिति शेषः। विधेयमनुष्टुप्त्वंस्तौति—"आनुष्टुभः प्रजापतिः। प्राजापत्यो वेदः। वेदस्याग्रꣳस्रु-

---

उच्छ्वास और निःश्वास क्रिया का वियोग-अभाव ही-मृत्यु है। ऋषि मन्त्र की कल्पना करके उसका विनियोग बताता है—**'दिवः[1] शिल्पमा······स्वाहा'** इस मन्त्र से स्रुक्-संमार्जन[2] कुशाओं को अग्नि में (गार्हपत्य में या आहवनीय में) फेंक दे।

भाष्यकार मन्त्र का व्याख्यान करते हैं—**दिवः सकाशाद्** इति। यह दर्भरूप (शिल्प) विचित्र वस्तु वृष्टि के रूप में द्युलोक से नीचे आया है, और पृथ्वी के ऊपर आश्रित है। सैकड़ों शाखाओं से युक्त इस दर्भ से (कुश से) हम वैरी का नाश करते हैं। यह दर्भरूप वस्तु अग्नि में हुत हो। इस मन्त्र से कुश खण्डों को अग्नि में डाल दे। **शङ्का**—इस मन्त्र में संमार्जन कुशों का बोधक कोई भी शब्द नहीं है, फिर भाष्यकार ने कुशरूप अर्थ कैसे निकाल लिया? इस शङ्का को ब्राह्मण-वाक्य दूर करता है—**शङ्कां वारयति** इति। **आपो वै दर्भा······व्याचष्टे** इति। मन्त्र में **'दिवोऽवततम्'** इन[3] शब्दों से वृष्टिरूप जल ही प्रतीत होते हैं। जलों ने ही दर्भ का रूप धारण किया। जलों की दर्भरूप से उत्पत्ति पहले ही उत्पवन[4] ब्राह्मण में बता दी गई है। इसलिए इस मन्त्र में आए[5] हुए शब्दों का स्वरूप ही इन कुशों में स्वर्ग शिल्पता[6] आदि बताकर इनकी (कुशों

---

१. ख. न्ते। अपां च दर्भरूपे

---

१. यह मन्त्र-संहिता में नहीं दिया गया है। केवल ब्राह्मण में ही उपलब्ध है।

२. जिन कुशों से स्रुव और स्रुचों का संमार्जन किया गया था वे कुश ही यहाँ 'स्रुक् संमार्जन' इस शब्द से बताए गए हैं।

३. 'दिवोऽवततम्' में 'दिवः' यह पञ्चमी है, जिसका अर्थ है द्युलोक से'। 'अव' का अर्थ है 'नीचे'। 'ततम्' का अर्थ है—विस्तृत। द्युलोक से नीचे की ओर फैलने वाले वृष्टि रूप से उपस्थित जल ही होते हैं।

४. 'इन्द्रोवृत्रमहन्······' इत्यादि उत्पवन ब्राह्मण है। देखो पञ्चम अनुवाक के सायणभाष्य का उपोद्घात।

५. 'शिल्पम्' इत्यादि शब्द।

६. 'शिल्प शब्द कौशलपूर्ण कृति का बोधक है। कुशों को 'दिवः शिल्पम्' कहकर द्युलोक की अद्भुत कृति बताकर उनका महत्त्व ही बताया गया है। दिव्य जलोत्पन्न होने के कारण कुश अत्यन्त पवित्र होते हैं।

क्संमार्जनानि । स्वेनैवैनानि छन्दसा । स्वया देवतया समर्धयति" (तै० ब्रा० ३।३।२) इति । जगत्सृष्टौ प्रजापतेरनुष्टप्सहकारिणीति तापनीयोपनिषदि श्रूयते—"स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभमपश्यत्। तेन वै सर्वमिदमसृजत" (नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् १।१) इति । तस्मात्प्रजापतेरानुष्टुभत्वम् । "प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि । यद्वेदः" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति । वक्ष्यति । तस्माद्वेदस्य प्राजापत्यत्वम् । तथा सति वेदाग्रस्य स्वकीयं छन्दः स्वकीया च देवतेत्युभयं समृद्धिहेतुर्भवति ।

न केवलं छन्दसः प्राशस्त्यं किंतु ऋचोऽपीत्याह—"अथो ऋग्वाव योषा । दर्भो वृषा । तन्मिथुनम् । मिथुनमेवास्य तद्यज्ञे करोति प्रजननाय । प्रजायते प्रजया पशुभिर्यजमानः" (तै० ब्रा० ३।३।२) इति । वृषा सेचनसमर्थः पुमान् । अत्र स्रुक्संमार्जनानामुक्तमन्त्रेणाग्नौ प्रक्षेप इत्येकः पक्षः । अद्भिः

की) महिमा को प्रकट कर रहा है। 'इस मन्त्र को (इस सम्मार्जन मन्त्र को) अनुष्टुप्[1] छन्द और ऋक् रूप समझना चाहिये' इस बात को '**अनुष्टुभर्चा**' यह ब्राह्मण वाक्य बताता है। '**सम्मृज्यात्**' यह पद 'अनुष्टुभर्चा' इस ब्राह्मण वाक्य का पूरक अंश है । इसलिये इसका अर्थ है—अनुष्टुप् छन्दयुक्त ऋचा से संमार्जन करे। ब्राह्मण वाक्य '**अनुष्टुभर्चा**' इस वाक्य के द्वारा विधेय 'अनुष्टुप्त्व' की स्तुति करता है—**आनुष्टुभः प्रजापतिः······समर्धयति'** इति। इस ब्राह्मण का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं—**जगत्** इति। संसार का सर्जन करने में अनुष्टुप् छन्द प्रजापति का सहकारी था—यह बात तापनीय उपनिषद् में बताई गई है—'**स एतम्······सर्वमिदमसृजत**' इति। उस प्रजापति ने नरसिंह देवताक (नरसिंह जिसका देवता है, ऐसे) अनुष्टुप् छन्दोमय इस मन्त्रराज को देखा, उसी से (अनुष्टुप् छन्दोमय मन्त्रराज से) उसने (प्रजापति ने) इस दृश्यमान् सकल संसार को उत्पन्न किया। इसीलिये प्रजापति को आनुष्टुभ-अनुष्टुप् सम्बन्धी कहा[2] गया है । "यह जो वेद (कुशमुष्टि) है, ये प्रजापति के श्मश्रु (मूंछ, दाढ़ी) हैं।" यह आगे कहेंगे। इसीलिये वेद को (कुशमुष्टि को) प्राजापत्य[3] प्रजापति संबन्धी—कहा गया। ऐसा होने से अपना ही छन्द और अपना ही देवता ये दोनों वेदाग्र की समृद्धि[4] के हेतु होते हैं। उपर्युक्त संमार्जन मन्त्र के केवल अनुष्टुप् छन्द की ही स्तुति नहीं की गई है, किन्तु उसके ऋक् होने की भी प्रशंसा की गई है—इस बात को बताने के लिए भाष्यकार ब्राह्मण वाक्य को उद्धृत करते हैं—'**अथोऋग्वाव योषा······ पशुभिर्यजमानः**' इति । ऋचा योषा (स्त्री) है, और दर्भ वृषा (पुरुष) है। इन दोनों का जोड़ा है। आग्नीध्र यज्ञ में ऋचा और दर्भ का युग्म (मिथुन) यजमान के प्रजनन (संतानोत्पत्ति) के लिये ही बनाता है। इससे यजमान के यहाँ प्रजा और पशु उत्पन्न होते हैं। वृषा ('वृषन्' शब्द) का अर्थ है वीर्य सेचन[5] करने में समर्थ पुरुष।

१. संमार्जन के मन्त्र चार हैं जो दशम अनुवाक की पहली कण्डिका में आए हैं, परन्तु उनमें अनुष्टुभ् का लक्षण नहीं घटता, 'दिवः शिल्पमवततम्······' इत्यादि मन्त्र में कथंचित् घटता है, परन्तु वह सम्मार्जन का मन्त्र नहीं है, वह तो अग्नि में कुश प्रक्षेप का मन्त्र है। भाष्यकार ने इसको स्पष्ट नहीं किया।

२. 'आनुष्टुभः प्रजापतिः' इस वाक्य से।

३. 'प्राजापत्यो वेदः' इस वाक्य से।

४. वेदाग्र की समृद्धि यही है कि वह अपने ही छन्द और देवता से युक्त है।

५. 'वृषा' शब्द 'वृषु सेचने' धातु से बना है। इसीलिये भाष्यकार ने 'वृषा शब्द का अर्थ 'सेचन समर्थः पुमान्' लिखा।

प्रक्षाल्योत्करे परित्यजेदित्यपरः पक्षः। अत एव सूत्रकारोऽग्नौ प्रहरतीत्युक्त्वा पुनरप्याहोत्करे वा न्यस्यतीति (आप० श्रौ० २।५।१)। तमिमं पक्षं विधत्ते—"तान्येके वृथैवापास्यन्ति। तत्तथा न कार्यम्।

आरब्धस्य यज्ञियस्य कर्मणः स विदोहः। यद्येनानि पशवोऽभितिष्ठेयुः। न तत्पशुभ्यः कम्। अद्भिर्मार्जयित्वोत्करे न्यस्येत्। यद्वै यज्ञियस्य कर्मणोऽन्यत्राऽऽहुतीभ्यः संतिष्ठते। उत्करो वाव तस्य प्रतिष्ठा। एताᳪंहि तस्मै प्रतिष्ठां देवाः समभरन्। यदद्भिर्मार्जयति। तेन शान्तम्। यदुत्करे न्यस्यति। प्रतिष्ठामेवैनानि तद्गमयति। प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्यजमानः" (तै० ब्रा० ३।३।२) इति।

केचिदद्भिः प्रक्षालनमकृत्वैव यत्र क्वापि परित्यज्यन्ति। तदयुक्तम्। य एषोऽनुष्ठानप्रकारः स कर्मणो विपरीतं फलं दोग्धि। अप्रक्षालितदर्भाक्रमणेन पशूनां रोगोत्पत्त्या सुखं न भवेत्। मार्जनेन तच्छान्तं

अत्र इति। यहाँ स्रुक् संमार्जन कुशाओं के संबन्ध में दो मत हैं। एक तो यह कि इन्हें (स्रुक् संमार्जन कुशों को) उक्त मन्त्र से (**दिवः शिल्पमवततम्……इत्यादि से**) अग्नि में फेंक दे। दूसरा यह कि इन्हें जल से धोकर उत्कर में डाल दे। इसीलिए[1] सूत्रकार[2] (आपस्तम्ब) '**अग्नौ प्रहरति**—आग में डाल दे' ऐसा कहकर फिर कहता है '**उत्करे वा न्यस्यतीति**—अथवा उत्कर में छोड़ दे'।

तमिमम् इति। इस पक्ष का (उत्कर में डालने के मत का) ब्राह्मण वाक्य विधान करता है—'**तान्येके…… पशुभिर्यजमानः**' इति। कुछ लोग इन्हें (संमार्जन कुशों को) वृथा ही फेंक देते हैं, अर्थात् जल से धोए बिना ही जहाँ कहीं भी फेंक देते हैं, परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिये, यह अनुचित है। ऐसा करना प्रारम्भ किये हुए यज्ञ संबन्धि कर्म का विपरीत (उल्टा) फल पैदा करता है। अनुष्ठान का यह जो प्रकार है—कि संमार्जन कुशों को बिना धोए ही कहीं भी फेंक देना—कर्म के विपरीत फल का उत्पादक होता है। यदि[3] इन कुशों के ऊपर पशु चलें तो वह पशुओं के लिए सुखकर नहीं होगा—अर्थात् बिना धोई हुई कुशाओं पर चलने से पशुओं में रोगों की उत्पत्ति होगी, जिससे उन्हें सुख नहीं होगा। इसलिए जल से धोकर उत्कर में ही कुशों को डाले। धोने से (मार्जन से) वह[4] शान्त हो जाता है। यज्ञकर्म में आहुति से व्यतिरिक्त जो कोई भी वस्तु होती है, उत्कर ही उसकी प्रतिष्ठा है—समाप्ति स्थान है। देवों ने उस वस्तु के लिए उत्कर को ही आधार रूप में कल्पित किया है, अतः देवकल्पित स्थान में ही परित्याग होने पर प्रतिष्ठा है। उत्कर में उन्हें फेंक देना, उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त कराना है। ऐसा करने से यजमान भी प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठित होता है। किसी ने यह कहा है कि जल से प्रक्षालन किए बिना ही जहाँ कहीं भी परित्याग कर देते हैं। परन्तु यह मत उचित नहीं है क्योंकि यह अनुष्ठान का जो प्रकार है वह कर्म से विपरीत फल निकालता है। बिना धोये हुए कुशों के द्वारा आक्रमण करने से पशुओं में रोग की उत्पत्ति होगी और सुख प्राप्त नहीं होगा। मार्जन से वह शान्त होता है। आहुति से भिन्न यज्ञ सम्बन्धी द्रव्यों का उत्कर समाप्ति स्थान है। ऐसा देवताओं ने मान रखा है, अत एव वहीं परित्याग करने पर प्रतिष्ठा

---

१. मतभेद होने के कारण ही।
२. देखो आपस्त, श्रौ० सूत्र, २ प्रश्न, २ पट, ५ खण्ड, १ सूत्र।
३. कुशों को बिना धोए जहाँ कहीं फेंक देने से ऐसा अवसर उपस्थित हो सकता है कि पशु इधर उधर फिरते हुए उनको कुचलते हुए चलें।
४. वह दोष जिससे पशुओं में रोगोत्पत्ति की संभावना है।

भवति। आहुतिव्यतिरिक्तस्य यज्ञियद्रव्यस्योत्करः समाप्तिस्थानमिति देवैः संपादितत्वात्तत्रैव परित्यागे प्रतिष्ठा भवति। अग्निप्रहरणपक्षमेव द्रढयितुमुत्करे परित्यागं दूषयति—

"अथो स्तम्बस्य वा एतद्रूपम्। यत् स्रुक्संमार्जनानि। स्तम्बशो वा ओषधयः। तासां जरत्कक्षे पशवो न रमन्ते। अप्रियो ह्येषां जरत्कक्षः। यावदप्रियो ह वै जरत्कक्षः पशूनाम्। तावदप्रियः पशूनां भवति। यस्यैतान्यन्यत्राग्नेर्दधति" (तै॰ ब्रा॰ ३।३।२) इति। अथो शब्दउत्करपक्षव्यावृत्त्यर्थः। ओषधयो द्विविधाः—

होती है। अब अग्नि में डालने के पक्ष को ही दृढ़ करने के लिए उत्कर में फेंक देने की निन्दा करते[1] हैं—

'**अथो**'''**दधति**' इति। 'अथो'[2] शब्द कुशों को उत्कर में फेंकने के पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। ये जो स्रुक् सम्मार्जन कुश हैं,ये स्तम्ब के ही रूप हैं। यहाँ 'स्तम्ब' शब्द कठोर नीरस तृण समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है। कठोर नीरस तृण को 'जरत् कक्ष' भी कहते हैं। स्तम्बरूप में भी ओषधियाँ देखी जाती हैं। इन ओषधियों के कठोर नीरस तृण समूह में (जरत्-कक्ष में) पशु आनन्द नहीं लेते। क्योंकि जरत् कक्ष इन्हें प्रिय नहीं लगता। जिस यजमान के यज्ञ में अग्नि से अन्यत्र (दूसरी जगह, उत्कर आदि में) सम्मार्जन कुशों को डाला जाता है, वह यजमान भी जरत्कक्ष-कर्कश तृण समूह

---

१. यहाँ शङ्का होती है कि यदि वस्तुतः उत्कर में कुशों को डालना दोषयुक्त है तो उसका विधान ही क्यों किया? यदि कुशों को अग्नि में डालना ही ठीक है तो केवल उसका ही विधान करना चाहिये। ऐसा करने से एक तो संदेह उत्पन्न होता है—क्या करे, क्या न करे। दूसरे संदेहोत्पादक होने के कारण शास्त्र में भी अप्रामाणिकता आती है। इसका समाधान यह है—जहां एक ही विषय में दो प्रकार के परस्पर विरोधी वचन मिलते हैं, वहाँ वे दोनों ही प्रमाण मान लिये जाते हैं। जैसे अग्निहोत्र के संबंध में तीन प्रकार के परस्पर विरोधी वचन मिलते हैं—"उदिते जुहोति—सूर्योदय होने पर हवन करे"। '**अनुदिते जुहोति**—सूर्योदय से पहले हवन करे।' '**समयाध्युषिते जुहोति**—अर्धोदित सूर्य में हवन करे।' ये तीनों वचन परस्पर विरुद्ध हैं। परन्तु तीनों ही प्रमाण माने जाते हैं। इसीलिए मनु ने कहा है—'**श्रुति द्वैधं तु यत्र स्यात्, तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ**—जहाँ दो प्रकार की परस्पर विरुद्ध श्रुतियाँ मिलती हैं, वहाँ दोनों ही धर्म हैं।' ऐसे स्थलों के लिए ही मनु ने कहा है '**स्वस्य च प्रियमात्मनः**' जो अपनी आत्मा को प्रिय लगे, वह धर्म है। इसलिए जिसकी परम्परा में उदित होम चला आ रहा है, उसके लिए वही धर्म है, इसी प्रकार दूसरे पक्ष के लिए भी समझिये। इसी आधार पर प्रकृत में भी कुशों को अग्नि में डालना अथवा उत्कर में फेंकना दोनों ही धर्म हैं। जिसके संप्रदाय में इन दोनों में से जो चला आ रहा है, वही उसके लिए धर्म है। रही यह बात कि एक के मुकाबले में दूसरे की निन्दा क्यों की गई है? इसका भी रहस्य शास्त्रकारों ने स्वयं बता दिया है। उनका कहना है कि '**न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु स्तुत्यं स्तोतुम्**—निन्दा का तात्पर्य किसी निन्द्य की निन्दा में नहीं होता, किन्तु किसी स्तुत्य की स्तुति में होता है।' संक्षेप में तात्पर्य यही है कि उत्कर में फेंकने की निन्दा का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उत्कर में कुशों का फेंकना दोषजनक है, यदि ऐसा ही होता तो 'उत्करे वा न्यस्यति' ऐसा विधान ही क्यों करते, उस निन्दा का तात्पर्य तो उतना ही है कि जिसकी परम्परा में अग्नि में ही कुशों को फेंकना चला आया है, उसके लिए वही प्रशंसनीय है। इसके लिए देखो ऋग्वेद के सायण भाष्य का उपोद्घात, ब्राह्मण प्रामाण्य प्रकरण।

२. सायणभाष्य में उद्धृत 'अथोस्तम्बस्य वा एतद् रूपम्' इस ब्राह्मण वाक्य में।

स्तम्बरूपा नवदाव्यरूपाश्च। कोमलतृणाभावादस्वादुर्जरत्कक्षः स्तम्बः। दावाग्निदग्धप्रदेशे वृष्ट्या समुत्पन्नः कोमलस्वादुतृणसमूहो नवदाव्यः। तत्र स्रुक्संमार्जनानि स्तम्बलूनतया स्तम्बरूपाणि। यद्येतान्यग्नेरन्यत्रोत्करे त्यजे (ज्ये) रंस्तदा तत्र तत्र विकीर्णानि तानि बहुस्तम्बा ओषधयः संपद्यन्ते। तासामोषधीनां संबन्धिनि जरत्कक्षे प्रीत्यभावाज्जरत्कक्षवद्यजमानोऽपि पशूनामप्रिय इत्यपशुरेव स्यात्। अग्निप्रहरणपक्षं द्रढयति—"नवदाव्यासु वा ओषधीषु पशवो रमन्ते। नवदावो ह्येषां प्रियः। यावत्प्रियो ह वै नवदावः पशूनाम् तावत्प्रियः पशूनां भवति। यस्यैतान्यग्नौ प्रहरन्ति। तस्मादेतान्यग्नावेव प्रहरेत्। यतरस्मिन्त्संमृज्यात्। पशूनां धृत्यै" (तै० ब्रा० ३।३।२) इति। नवः प्रत्यासन्नपूर्वकालभावी दावाग्निर्यस्य कोमलस्यौषधिसमूहस्य सोऽयं नवदावः। तादृशौषधिवद्यजमानोऽपि संमार्जनानामग्नौ प्रहरणे पशूनां प्रियो भवति। तस्मादाहवनीये गार्हपत्ये वा यस्मिन्नग्नौ स्रुचः प्रतितप्य संमृष्टास्तस्मिन्नेव प्रहरणं यजमानगृहे पशूनां बहूनां धारणाय

जितना ही पशुओं को अप्रिय लगता है। तात्पर्य यह है—ओषधियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे हैं जो स्तम्बरूप हैं, जिनमें कोमल तृण नहीं होते, 'जरत्-कक्ष' होने के कारण अस्वादु होते हैं। दूसरे वे जो दावाग्नि से (जङ्गल की आग से) जले हुए प्रदेश में वृष्टि के द्वारा पैदा होती हैं, इनका तृण कोमल और स्वादु होता है, इन्हें 'नवदाव्य'[1] कहते हैं। स्रुक्-संमार्जन-कुश कुशस्तम्ब (शुष्ककुशमुष्टि) से ही काटे गए हैं, इसलिए वे स्तम्बरूप ही हैं। यदि इन्हें अग्नि से भिन्न स्थान उत्कर में छोड़ा गया तो इधर उधर बिखरे हुए ये अधिक जरत् कक्ष वाली ओषधियों के रूप में ही प्रकट होंगे। इन ओषधियों का जरत्कक्ष जैसे पशुओं को अप्रिय लगता है इसी प्रकार यजमान (कुशों को उत्कर में डालने वाला यजमान) भी पशुओं के लिए अप्रिय होगा, फलतः यजमान पशुरहित हो जायगा। इसलिए अग्नि में ही कुशों को डालना श्रेयस्कर है। इससे यह भी सूचित किया है कि यदि ग्रीष्मऋतु में जङ्गल में स्तम्बों को जला दिया जावे तो वर्षाऋतु में वे ही कोमल और सुस्वादु तृण के रूप में उगते हैं। पशु उन्हें बड़े प्रेम से चरते हैं, जिससे दूध आदि की वृद्धि के साथ उनमें प्रजनन की भी वृद्धि होती है।

अब ब्राह्मणवाक्य अग्नि में डालने के पक्ष को दृढ़ करता है—**'नवदाव्यासु······पशूनां धृत्यै'** इति। कोमल और सुस्वादु तृणों वाली ओषधियों में ही पशु आनन्द लेते हैं। अभी[2] अभी कुछ दिन पहले जिन्हें जलाया गया था जो अब कोमल तृण वाली ओषधि समूह के रूप में प्रकट हुए हैं, वे ही उनके (पशुओं के) प्रिय हैं। जिस यजमान के यज्ञ में कुश अग्नि में डाले जाते हैं, वह नवदाव[3] जितना ही पशुओं का प्रिय होता है। इसलिए स्रुक् सम्मार्जन कुशों को अग्नि में ही डाले। जिस अग्नि में—आहवनीय में अथवा गार्हपत्य में स्रुव और स्रुचों को तपाकर सम्मार्जन करे, उसी अग्नि में कुशों को डाले। यह क्रिया यजमान के पशुओं की रक्षा के लिए होती है।

भाष्यकार ब्राह्मणोक्त 'नवदाव' शब्द का विग्रह और तात्पर्यार्थ बताकर संक्षेप में ब्राह्मण वाक्य का सारार्थ बताते हैं—**नव** इति। जिसके निकट पूर्वकाल में दावाग्नि थी वह कोमल ओषधि समूह ही 'नवदाव' कहलाता है। जो

---

१. 'दाव'—वन की आग—से उत्पन्न होने के कारण उसे 'दाव्य' कहते हैं।

२. इस पङ्क्ति के द्वारा ब्राह्मणोक्त 'नवदाव' शब्द का अर्थ बताया गया है।

३. 'नवदाव' शब्द का अर्थ हम पहले लिख आए हैं। आगे भाष्यकार भी लिखेंगे।

भवति। स्रुक्संमार्जनप्रसङ्गादग्निसंमार्जनानामपि कञ्चिन्मन्त्रमुत्पाद्य विनियुङ्क्ते—"यो भूतानामधिपतिः। रुद्रस्तन्तिचरो वृषा। पशूनस्माकं मा हिꣳसीः। एतदस्तु हुतं तव स्वाहेत्यग्निसंमार्जनान्यग्नौ प्रहरति" (तै० ब्रा० ३।३।२) इति। तन्तिः कर्मसंतानं तत्र चरतीति तन्तिचरः। वृषा देवेषु श्रेष्ठः। हे रुद्र, स त्वमस्माकं पशून् मा हिꣳसीः एतदग्निसंमार्जनद्रव्यं तव हुतमस्तु तस्यैवार्थस्यानुवादकः स्वाहेति शब्दः। यैर्दर्भैरिध्मः संनद्धस्तैरेवाग्निं संमृज्य स्वकाले संप्राप्ते तानि संमार्जनान्यग्नौ प्रहरेत्। प्रथमतोऽग्नौ संमृष्टे प्रधानयागादूर्ध्वमन्वाहार्यरूपायां दक्षिणायामृत्विग्भ्यो दत्तायामनूयाजहोमात्पूर्वं द्वितीयमग्नौ संमृष्टे सति तत्प्रहरणकालः। अग्निदग्धप्रदेशे पुनरुत्पद्य सम्यग्वर्धमानत्वादग्नौ दर्भाणां प्रहरणं युक्तमित्याह "एषा वा एतेषां योनिः। एषा प्रतिष्ठा। स्वामेवैनानि योनिम्। स्वां प्रतिष्ठां गमयति। प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्यजमानः" (तै० ब्रा० ३।३।२) इति।

स्तम्ब दावाग्नि से (वन की आग से) जल जाते हैं, उन्हीं के स्थान में फिर कोमल तृण उगते हैं, उन्हीं का नाम **नवदाव** पड़ता है। ऐसी ओषधियों के समान ही यजमान भी पशुओं का प्रिय होता है, यदि सम्मार्जन कुश अग्नि में डाले जाते हैं। इसलिए आहवनीय में अथवा गार्हपत्य में चाहे जिस अग्नि में तपाकर स्रुचों का सम्मार्जन किया गया है उसी अग्नि में कुशों को डाल देने से यजमान के घर में पशुओं की अधिकता और रक्षा होती है।

स्रुक् सम्मार्जन इति। स्रुक् संमार्जन कुशों के प्रसङ्ग से अग्नि[1] संमार्जन कुशों के भी अग्नि में डालने के मन्त्र का उद्भावन करके उसका विनियोग बताते हैं—'**यो भूतानां······प्रहरति**' इति। '**भूतानामधिपति······स्वाहा**' इस मन्त्र से अग्नि-संमार्जन कुशों को अग्नि में डाल दे। हे रुद्र! तू भूतों का अधिपति है, तू तन्तिचर है='तन्ति' का अर्थ है—कर्म संतान-कर्मों का ताँता, उसमें विचरण करने वाला, अर्थात् निरन्तर क्रियाशील है, तू देवताओं में श्रेष्ठ है, हमारे पशुओं की हिंसा न करना, यह अग्नि संमार्जन का साधनभूत द्रव्य (दर्भ या कुश) तुझ में हुत हो। मन्त्रोक्त 'स्वाहा'[2] शब्द 'एतदस्तु हुतं तव—यह अग्नि संमार्जन द्रव्य तुझ में हुत हो' इसी अर्थ का अनुवाद है। जिन दर्भों (कुशों) से काष्ठ (समिधाओं) को बाँधा था, उन्हीं से अग्नि का संमार्जन करके अपना[3] समय प्राप्त होने पर उन्हें—अग्नि सम्मार्जन दर्भों को—अग्नि में डाल दे।

अब भाष्यकार अग्नि संमार्जन कुशों को अग्नि में फेंकने का समय बताते हैं—**प्रथमतो** इति। पहले अग्नि संमार्जन होता है, तदनन्तर प्रधानयाग, उसके बाद जब ऋत्विजों को अन्वाहार्य[4] रूप दक्षिणा दे दी जाती है, तब अनुयाज[5] होम से पूर्व, द्वितीय बार अग्नि संमार्जन हो जाने के अनन्तर अग्नि संमार्जन कुशों को अग्नि में डालने का समय है। अग्निदग्ध प्रदेश में पुनः उत्पन्न होकर कुशाएं अच्छी तरह बढ़ती हैं, इस कारण उनको (कुशाओं को) अग्नि में डालना ही उचित है—इस बात का समर्थन ब्राह्मण वाक्य करता है—'**एषा वा······यजमानः**' इति। यह अग्नि ही कुशों का योनि है—

---

१. जिन कुशों से अग्नि का सम्मार्जन किया जाता है, उन्हें 'अग्नि सम्मार्जन' कहते हैं।
२. देवताओं के उद्देश्य से हवि का त्याग 'स्वाहा' शब्द से किया जाता है। 'स्वाहा' यह अव्यय त्याग का द्योतक है।
३. अग्नि संमार्जन कुशों के अग्नि में डालने का समय प्राप्त होने पर।
४. भात। दर्शपौर्णमासेष्टि में ऋत्विज् को अन्वाहार्य भात ही दक्षिणा में दिया जाता है।
५. अनुयाज होम यज्ञाङ्ग कर्म विशेष है, जो प्रधानयाग के बाद होता है।

एषा वह्निरूपा। न चाग्निप्रहरणे रुद्रविषयो मन्त्रो व्यधिकरण इति वाच्यम्। अग्नेरेवात्र-रुद्रत्वात् "रुद्रो वा एषः। यदग्निः। स एतर्हि जातः" (तै० सं० ५।४।३) इति श्रुत्यन्तरात्। यदरोदीत्त-द्रुद्रस्य रुद्रत्वम् (तै० सं० १।५।१) इति। निर्वचनाच्च।

आशासाना सौमनसं प्रजा॑ᳫ्सौभाग्यं तनूम्। अग्नेरनुव्रता भूत्वा सं नह्ये सुकृताय कम्

आशासानेति। कल्पः—"अथैतां पत्नीमन्तरेण वेद्युत्करौ प्रपाद्य जघनेन दक्षिणेन गार्हपत्यमुदीचीमुपवेश्य योक्त्रेण संनह्यति आशासाना सौमनसं प्रजाᳫ्सौभाग्यं तनूम्। अग्नेरनुव्रता भूत्वा सं नह्ये सुकृताय कमिति" (बौ० श्रौ० १।१२) इति।

कारण है, यही इनकी प्रतिष्ठा है—आधार है, ऋत्विज् इन्हें (कुशों को) अग्नि में डालकर इनको[1] इनकी[2] अपनी ही योनि में और अपनी ही प्रतिष्ठा में पहुंचाता है। ऐसा करने से यजमान भी प्रजा से और पशुओं से प्रतिष्ठित होता है।

पूर्वोक्त '**एषा वा एतेषां योनिः**······' इस ब्राह्मण वाक्य में आए हुए 'एषा' शब्द का तात्पर्य लिखते हैं—**एषा** इति। अर्थात् 'एषा' शब्द का तात्पर्य यहाँ वह्नि—अग्नि से है। शङ्का[3]—अग्निसंमार्जन कुशों को अग्नि में डाल देना चाहिये, यह पहले कहा गया है। इस कर्म का नाम है 'अग्निप्रहरण-अग्नि में फेंकना'। परन्तु अग्निप्रहरण के लिये जिस मन्त्र का विनियोग बताया गया है, वह मन्त्र अग्निविषयक नहीं है, अर्थात् उसमें न तो अग्नि की स्तुति है और न अग्नि से कोई प्रार्थना ही की गई है, वह तो रुद्रदेवता का मन्त्र है, उसमें रुद्र की ही स्तुति है और रुद्र से ही प्रार्थना की गई है, जैसा कि 'यो[4] भूतानामधिपतिः, रुद्रस्तन्तिचरोवृषा' इत्यादि मन्त्र के अक्षरों से स्पष्ट सिद्ध है। मन्त्र को और कर्म को 'समानाधिकरण—समान विषयक होना चाहिये, न कि व्यधिकरण—असमान विषयक। इस शङ्का का समाधान करते हैं—**अग्नेरे** इति। इस[5] मन्त्र में रुद्र अग्नि ही है। '**रुद्रो वा एष**······**एतर्हिजातः**—यह जो अग्नि है यह रुद्र ही है, यह अभी प्रादुर्भूत हुआ है' इस श्रुति से अग्नि का रुद्रत्व सिद्ध है। क्योंकि 'यह[6] रोया था इसीलिये इसको रुद्र कहा गया'—इस निर्वचन से भी अग्नि की रुद्रता सिद्ध होती है।

आशासानेति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है—अग्निसंमार्जन कुशों को अग्नि में डालने के अनन्तर यजमान पत्नी को वेदि और उत्कर के मध्य में ले जाकर गार्हपत्य के दक्षिण पश्चिम में (नैर्ऋत्य कोण में) उत्तराभिमुख बिठाकर '**आशासाना**······**कम्**' इस मन्त्र से योक्त्र द्वारा (मूंज की रस्सी से बाँधे)। **या**[7] इति। जो यजमान-पत्नी अग्नि की अनुगामिनी बनकर मन की प्रसन्नता, संतति, सौभाग्य (सुहाग, पति प्रेम) और शरीर (स्वास्थ्य) चाहती रहती है, उसको अच्छे

---

१. कुशों को।
२. कुशों की।
३. मूल में 'न चाग्निप्रहरणे' से लेकर 'वाच्यम्' तक के ग्रन्थ से शङ्का की गई है।
४. इस मन्त्र का व्याख्यान और उसका हिन्दी अनुवाद पहले हो चुका है।
५. 'यो भूतानामधिपतिः······' इस मन्त्र में।
६. रुद्र के रोने का तात्पर्य इस ग्रन्थ की भूमिका में देखो।
७. यहाँ से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है।

या पत्नी वह्नेरनुसारिणी भूत्वा सौमनस्याद्याशासाना वर्तते तामेतां शोभनकर्मणे सुखं यथा भवति तथा बध्नामि । योक्त्रबन्धनाय गार्हपत्यसमीपे पत्न्या उपवेशनं विधत्ते—"अयज्ञो वा एषः । योऽपत्नीकः । न प्रजाः प्रजायेरन् । पत्न्यन्वास्ते । यज्ञमेवाकः । प्रजानां प्रजननाय" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति । अकः कृतवान् भवति । बन्धनकालेऽप्युपवेशनमेव, न तूत्थानमित्याह—"यत्तिष्ठन्ती संनह्येत । प्रियं ज्ञातिꣳ रुन्ध्यात् । आसीना संनह्यते । आसीना ह्येषा वीर्यं करोति" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति । रुन्ध्यान्नाशयेत् । चिरमप्यवस्थातुं शक्यत्वादासीनायाः सामर्थ्यमस्ति ।

दिग्देशौ विधत्ते—"यत्पश्चात्प्राच्यन्वासीत् । अनया समदं दधीत । देवानां पत्निया समदं दधीत । देशाद्दक्षिणत उदीच्यन्वास्ते । आत्मनो गोपीथाय" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति । समदः कलहः । गार्हपत्यस्य

कर्म के लिए (यज्ञ[1] कर्म में भाग लेने के लिए) जिस तरह सुख हो उस तरह बाँधता[2] हूँ ।

योक्त्र[3] बन्धन के लिए यजमान-पत्नी को गार्हपत्य के समीप बैठाना चाहिये—इसका विधान ब्राह्मण करता है— **'अयज्ञो वा एषः······प्रजननाय'** इति । पत्नी यजमान के साथ गार्हपत्य के समीप बैठे । जो यज्ञ पत्नी के बिना है, वह यज्ञ नहीं है । प्रजाएँ[4] पैदा नहीं होंगी । पत्नी को यज्ञ में अपने साथ बैठाकर यजमान यज्ञ को सम्पन्न करने वाला बनता है । पत्नी को यज्ञ में बैठाना प्रजोत्पत्ति का हेतु होता है । ब्राह्मण वाक्य में आए हुए 'अकः' इस पद का व्याख्यान करते हैं—**'अकः'** इति । 'अकः'[5] पद का अर्थ है—क्रिया को सम्पन्न करने वाला । योक्त्र बन्धन के समय पत्नी को बैठे ही रहना चाहिये, खड़ा नहीं होना चाहिये—इस बात को ब्राह्मण वाक्य बताता है—**'यत् तिष्ठन्ति······करोति'** इति । यदि खड़ी-खड़ी बांधी जायगी तो वह अपनी प्रिय जाति का (अपने जाति भाइयों का) नाश करेगी । अतः बैठी हुई को ही बाँधना चाहिये । क्योंकि बैठी हुई ही यह (पत्नी) सामर्थ्यवती होती है । ब्राह्मण वाक्यगत 'रुन्ध्यात्' पद का अर्थ है 'नाश करेगी ।' **'आसीनाह्येषा······करोति'** इस वाक्य का अभिप्राय यह है—कि बैठा देर तक भी जा सकता है, इसलिए बैठी हुई में ही सामर्थ्य है ।

---

१. 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' इस वचन के आधार पर यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म माना गया है । 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' इस गीता वाक्य से भी पावनत्व होने के कारण यज्ञकर्म की श्रेष्ठता सिद्ध होती है ।

२. योक्त्र से पत्नी बन्धन का रहस्य भूमिका में देखो ।

३. पत्नी को रस्सी से बाँधने के लिए ।

४. यह समस्त ब्रह्माण्ड यज्ञ से ही उत्पन्न होता है, और फूलता फलता भी यज्ञ से ही है । संक्षेप में अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है । अग्नि पुरुष स्थानीय है और सोम स्त्री स्थानीय है । इसलिये जगत् को प्रकृति पुरुषात्मक भी कहा जाता है । इसी प्राकृतिक नियम के अनुकरण पर किये जाने वाले वैदिक यज्ञों में भी अग्नि स्थानीय पुरुष के साथ सोम स्थानीय स्त्री के बैठने का विधान है । लौकिक प्रजनन यज्ञ भी जायापति संयोग से ही होता है ।

५. 'अकः' पद 'कृ' धातु से लुङ् लकार में सिद्ध होता है । 'मन्त्रे घस्······' इत्यादि सूत्र से च्लि का लुक् हो जाता है । देखो सिद्धान्त कौमुदी वैदिक प्रक्रिया तृतीयाध्याय ।

पश्चाद्भागे प्राङ्मुखत्वे सति प्राचीनप्रवणया वेदिरूपया पृथिव्या सह कलहः स्यात्। पत्नीसंयाजहोमेषु तृतीयाहुतेर्या देवता देवपत्नी तस्या अपि तदेव स्थानमिति तयाऽपि सह कलहं कुर्यात्। अतो दक्षिणदेशे स्वरक्षार्थमुदङ्मुखी तिष्ठेत्।

ननु सर्वा अपि योषितः सौमनस्यादि कामानाशासते, तत्र को विशेषोऽस्या इत्याशङ्क्य मन्त्रे पूर्वार्धस्याभिप्रायमाह "आशासाना सौमनसमित्याह । मेध्यामेवैनां केवलीं कृत्वा । आशिषा समर्धयति" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति। देवयजनप्रवेशेन यज्ञयोग्यां पापक्षयेण केवलीं कृत्वाऽऽशासानेति ब्रुवन्सत्ययाऽऽशिषा समृद्धां करोति । अनुव्रतसूचितमर्थमाह—"अग्नेरनुव्रता भूत्वा सं नह्ये सुकृताय कमित्याह । एतद्वै पत्नियै व्रतोपनयनम् । तेनैवैनां व्रतमुपनयति" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति। पत्न्याः स्वातन्त्र्येण कर्माधिकाराभावात्पत्न्या सह तदधिकारे सत्येतदेव योक्त्रं तस्या अनुव्रत-स्वीकरणलिङ्गम्। यथा विवाहे स्त्रियाः कण्ठे मङ्गलसूत्रं लिङ्गं तद्वत्। अस्मिन्नर्थे लौकिकवैदिकप्रसिद्धि

अब पत्नी के बैठने की दिशा और देश (स्थान, का विधान करते हैं—'**यत् पश्चात्**······**गोपीथाय**' इति। यदि यजमान-पत्नी गार्हपत्य के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर बैठेगी तो इस (वेदि रूप) पृथ्वी के साथ और देवपत्नी के साथ कलह करेगी। इसलिये वह (यजमान-पत्नी) अपनी रक्षा के लिए गार्हपत्य के स्थान से दक्षिण की ओर उत्तरा-भिमुख होकर बैठे। ब्राह्मण वाक्य में '**समदः**' पद का अर्थ 'कलह' है। गार्हपत्य के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुंह करके बैठने से पूर्व की ओर ढालु वेदिरूप पृथ्वी के साथ कलह हो सकता है। इसी प्रकार पत्नी संयाज होम में तृतीय आहुति की देवता जो देवपत्नी है, उसका भी वही (गार्हपत्य का पश्चिम भाग) स्थान है, इसलिए उसके साथ भी कलह कर सकती है। अतः कलह से अपने को बचाने के लिए दक्षिण में उत्तर की ओर मुंह करके बैठे।

ननु इति। शङ्का-प्रायः सभी स्त्रियाँ सौमनस्य आदि गुणों—की अभिलाषा करती हैं, इसमें (यजमान पत्नी में) ही ऐसी कौन सी विशेषता है जो इसके लिए ही विशेषरूप से मन्त्र में कहा गया है—'**आशासाना सौमनसम्**······' इत्यादि? इस शङ्का का समाधान करने के लिए ब्राह्मण वाक्य मन्त्र के पूर्वार्ध का अभिप्राय बताया है—'**आशासाना**······ **समर्धयति**' इति। इस ब्राह्मणवाक्य का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं—**देवयजन** इति। यज्ञ-भूमि में प्रवेश कराकर यज्ञ के योग्य इस यजमान पत्नी को पापक्षय के द्वारा केवल (शुद्ध-पापनिर्मुक्त) बनाकर अध्वर्यु '**आशासाना**······' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ सत्य आशीर्वाद से समृद्ध करता है। मन्त्र में आए हुए 'अनुव्रता' इस पद से सूचित अर्थ को ब्राह्मण वाक्य बताता है—'**अग्नेरनुव्रता**······**व्रतमुपनयति**' इति। '**अग्नेरनुव्रता**······**सुकृताय कम्**' मन्त्र का यह भाग बताता है कि यह योक्त्रबन्धन से अध्वर्यु यजमान पत्नी को यज्ञकर्म के समीप लाता है।

पत्न्या इति। पत्नी को स्वतन्त्र रूप से कर्म करने का अधिकार नहीं है, परन्तु पति के साथ कर्म करने का उसे अधिकार है। पति[1] के साथ कर्माधिकार प्राप्त होने पर, यह योक्त्र ही पत्नी की, पति की अनुगामिनी बनने की स्वीकृति

---

१. यद्यपि मूल में 'पत्न्या सह' ऐसा पाठ है, तथापि वह हमें ठीक नहीं लगा, विदित होता है कि लेखक अथवा शोधक के प्रमाद से ऐसा हो गया है, 'पत्या सह' ऐसा पाठ होना चाहिये। तदनुसार ही हमने अर्थ किया है।

दर्शयति—"तस्मादाहुः। यश्चैवं वेद यश्च न योक्त्रमेव युते। यमन्वास्ते। तस्यामुष्मिँल्लोके भवतीति योक्त्रेण" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति । यस्मात् सूत्रधारणं लोकवेदयोर्नियमस्वीकारे लिङ्गम् । लोके हि दूरदेशवर्तिदेवतादर्शनं संकल्पयन्तः सूत्रं बध्नन्ति। वेदेऽप्युपनयनव्रते मौञ्जीं बध्नन्ति । तस्माद्यो यागं जानाति यश्च न जानाति तादृशाः सर्वेऽप्येवमाहुः। इयं पत्नी योक्त्रमवश्यं युते मिश्रयति बध्नाति यं पतिमन्वेषा व्रतं स्वीकृत्याऽऽस्ते तस्य संबन्धिना मङ्गलसूत्रेणामुष्मिँल्लोके युक्ता भवति।

प्रकारान्तरेण योक्त्रं[1] स्तौति—"यद्योक्त्रम्। स योगः। यदास्ते। स क्षेमः। योगक्षेमस्य क्लृप्त्यै" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति। अप्राप्तस्य वस्तुनः प्राप्तिर्योगः। प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः। अतो योक्त्रबन्धनमुदङ्मुखासनं चोभयसिद्धये भवति। मनसि किमभिप्रेत्यासौ बध्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—"युक्तं क्रियाता आशीः कामे युज्याता इति। आशिषः समृद्ध्यै" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति। मया शास्त्रीयं कर्म क्रियतेऽतः सौमनस्यादिरूपा ममेयमाशीः फले युज्यताम्। अनेनाभिप्रायेणाऽऽशीः समृद्धा भवति।

का चिह्न है। जैसे विवाह में स्त्री के गले का मङ्गलसूत्र उसकी (स्त्री की) पत्यनुसरण स्वीकृति का चिह्न होता है। इस विषय[1] में लोकप्रसिद्धि और वैदिकप्रसिद्धि दिखाते हैं—**'तस्मादाहुः······योक्त्रेण'** इति। सूत्र धारण करना लोक और वेद में किसी नियम को स्वीकार करने का चिह्न माना गया है, क्योंकि लोक में जब लोग किसी दूर देशस्थित देवता के दर्शन करने का संकल्प करते हैं तो सूत्र (धागा) बाँधा करते हैं इसी प्रकार वेद में भी उपनयनव्रत[2] के समय कमर पर मूंज की रस्सी बाँधने की प्रथा प्रसिद्ध है। याग को जानने वाले, न जानने वाले सभी लोग ऐसा कहते हैं कि यह पत्नी अवश्य योक्त्र (रस्सी) बाँधती[3] है। ऐसा करने से वह (यजमान पत्नी) व्रत को स्वीकार करके जिस—पति के साथ बैठती है, तत्संबन्धी मङ्गलसूत्र से परलोक में भी युक्त होती है।

ब्राह्मण वाक्य प्रकारान्तर से योक्त्र की स्तुति करता है—**'यद् योक्त्रम् ·····क्लृप्त्यै'** इति। योक्त्र 'योग' है, और यज्ञ में उत्तर की ओर मुंह करके बैठना 'क्षेम' है। अलब्ध वस्तु का लाभ हो जाना 'योग' कहलाता है, और लब्ध वस्तु की रक्षा 'क्षेम' कहलाती है। योक्त्र का बाँधना और उत्तर की ओर मुंह करके यज्ञ में बैठना—इन दोनों से योग और क्षेम इन दोनों की सिद्धि होती है—अर्थात् अलब्ध वस्तु का लाभ होता है, और लब्धवस्तु की रक्षा होती है।

मनसि इति। मन में किस अभिप्राय को रखकर पत्नी को योक्त्र से बाँधा जाता है—इस जिज्ञासा का उत्तर देते हैं—**'युक्तं क्रियाता······समृद्ध्यै'** इति। मैं शास्त्रीय कर्म कर रहा हूं, इसलिए सौमनस्य (मनः प्रसाद) आदि की मेरी यह अभिलाषा फल से युक्त हो। इस अभिप्राय से आशीः (कामना) समृद्ध (सफल) होती है।

---

१. ख. योक्त्रबन्धनं।

---

१. किसी व्रत को स्वीकार करते समय सूत्र आदि धारण करने के विषय में।

२. उपनयन व्रत वह संस्कार है जिसमें द्विजाति बालक वेदाध्ययन ब्रह्मचर्य का व्रत लेता है।

३. मूल में 'योक्त्रमेव युते' ऐसा पाठ है, 'युते' शब्द 'यु मिश्रणामिश्रणयो.' इस धातु से बना है। इसीलिये भाष्यकार ने 'युते' का अर्थ लिखा 'मिश्रयति-मिलाती' है, अर्थात् योक्त्र को शरीर से मिलाती है। शरीर से मिलाने का तात्पर्य शरीर से बाँधना ही होता है। इसीलिए भाष्यकार ने 'बध्नाति—बाँधती है' ऐसा लिखा। हमने अनुवाद में केवल तात्पर्यार्थ ही लिखा है।

विधत्ते—"ग्रन्थिं बध्नाति। आशिष एवास्यां परिगृह्णाति। पुमान्वै ग्रन्थिः। स्त्री पत्नी। तन्मिथुनम्। मिथुनमेवास्य तद्यज्ञे करोति प्रजननाय। प्रजायते प्रजया पशुभिर्यजमानः। अथो अर्धो वा एष आत्मनः। यत्पत्नी यज्ञस्य धृत्या अशिथिलंभावाय" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति। सौमनस्याद्याशिषः सर्वा अपि योक्त्रग्रन्थिना तस्यां परिगृहीता भवन्ति। यज्ञकर्तुरर्धस्वरूपभूता पत्नी। ततस्तदीय ग्रन्थिना यज्ञो ध्रियते न तु शिथिलो भवति।

सुप्रजसस्त्वा वयꣳसुपत्नीरुप (१) सेदिम। अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम्।

सुप्रजस इति। कल्पः—"जघनेन गार्हपत्यमुपसीदति' सुप्रजसस्त्वा वयꣳसुपत्नीरुपसेदिम। अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यमिति" (बौ० श्रौ० १।१२) इति।

योक्त्र बाँधते समय योक्त्र में गांठ लगाई जाती है, उस गाँठ लगाने का विधान करते हैं—**'ग्रन्थिं बध्नाति''' अशिथिलंभावाय'** इति। योक्त्र में गाँठ लगाये। योक्त्र में गाँठ देने से सौमनस्य आदि की सारी कामनाएं पत्नी में प्राप्त हो जाती हैं। ग्रन्थि पुरुष है और पत्नी स्त्री है। योक्त्र-ग्रन्थि को और पत्नी को मिलाने से पुरुष और स्त्री का जोड़ा बन जाता है। गाँठ बाँधकर ऋत्विज् यज्ञ में एक जोड़ा ही तय्यार करता है, जिससे यजमान के यहाँ प्रजनन होता है। यजमान प्रजा और पशुओं की उत्पत्ति से संपन्न होता है। पत्नी यज्ञकर्ता यजमान का आधा स्वरूप है, इसलिए उसकी ग्रन्थि से यज्ञ स्थिर रहता है, शिथिल नहीं होता।

सुप्रजस इति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है **'सुप्रजसस्त्वा''''''अदाभ्यम्'** इस मन्त्र से, यजमान पत्नी गार्हपत्य के पश्चिम' में बैठती है।

---

१. ख. पविशति।

---

१. बौधायन ने पहले तो लिखा है—'अथैनां पत्नीम्'''जघनेन दक्षिणेन गार्हपत्यम् उदीचीम् उपवेश्य योक्त्रेण संनह्यति।' अर्थात् यजमान—पत्नी को गार्हपत्य के पश्चिम दक्षिण में (नैर्ऋत्य कोण में) उत्तराभिमुख बिठाकर योक्त्र से बाँधे। और यहाँ लिखता है 'जघनेन गार्हपत्यमुपसीदति' अर्थात् यजमान पत्नी गार्हपत्य के पश्चिम में बैठती है। बौधायन सूत्र पर कोई भाष्य हमें मिला नहीं। भाष्यकार बौधायन को उद्धृत तो कर देते हैं, परन्तु उसमें प्रतीत होने वाले विरोध की एकदम उपेक्षा कर देते हैं। इसलिए हम विरोध परिहार नहीं कर सके। आपस्तम्ब भी दो विरुद्ध बातें लिखता है, परन्तु उसे पढ़कर विरोध का कुछ न कुछ समाधान हो जाता है। उदाहरणार्थ प्रकृत विषय को ही लीजिये—आपस्तम्ब ने पहले लिखा है—''' 'अपरेण गार्हपत्यम्''''''आसीनां पत्नीं संनह्यति''''''' इति। अर्थात् गार्हपत्य के पश्चिम में बैठी हुई यजमान-पत्नी को योक्त्र से बाँधे। पीछे लिखा है 'दक्षिणत उदीच्युपविशति' अर्थात् यजमान पत्नी—गार्हपत्य के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख होकर बैठे। इस विरोध का परिहार आपस्तम्ब श्रौतसूत्र को पढ़कर हो जाता है। केवल योक्त्र बाँधने के लिये और देवपत्नियों का उपस्थान करने के लिए ही यजमान-पत्नी पश्चिम की ओर बैठती है, उसके बाद वह 'तस्माद्देशादपक्रम्य, सुप्रजसस्त्वा वयमिति दक्षिणत उदीच्युपविशति' इस वचन के आधार पर उस स्थान से हटकर दक्षिण दिशा में उत्तराभिमुख होकर बैठ जाती है। इसलिए कालभेद से दो विभिन्न स्थानों में बैठना असङ्गत नहीं होता।

हेऽग्ने वयं त्वामुपसीदामः। कीदृश्यो वयं सुप्रजसः शोभनप्रजोपेताः। शोभनः पतिर्यासां ताः सुपत्न्यः। त्वत्प्रसादाददब्धासः केनाप्यतिरस्कृताः।

कीदृशं त्वां सपत्नदम्भनं वैरिविनाशिनमदाभ्यं केनाप्यतिरस्कार्यम्। पत्न्या उपसी (स) दने प्रयोजनं दर्शयति—"सुप्रजसस्त्वा वयꣳसुपत्नीरुपसेदिमेत्याह। यज्ञमेव तन्मिथुनीकरोति। ऊनेऽतिरिक्तं धीयाता इति प्रजात्यै" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति। शोभनः पतिर्यस्या इत्यभिज्ञानाद्यज्ञं मिथुनवन्तं करोति। तस्मिन्मिथुने पत्या कर्मण्यनुष्ठीयमाने सति यज्ञाङ्गं तेनाननुष्ठितं सदूनं भवति। तत्रोनप्रदेशे तदङ्गमतिरिक्तं तेनाननुष्ठितमनया पत्न्या ध्रियतेऽनुष्ठीयते। अतएव पत्नीकर्तव्यं पूर्णपात्रनिनयनमाम्नायते—"अञ्जलौ पूर्णपात्रमानयति। रेत एवास्यां प्रजां दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।१०) इति। एवमन्यदपि तत्कर्तव्यमुदाहार्यम्। अत ऊनं पत्नी परिपूरयतीति प्रयोजनेन पत्न्याः प्रवेशने सति तन्मिथुनं प्रजननाय संपद्यते।

हे इति। हे अग्नि! हम तुम्हारे पास बैठती हैं, हम कैसी हैं? सुप्रजस् हैं—अच्छी संतति से युक्त हैं और अच्छे पतिवाली हैं—हमारा पति श्रेष्ठ है। तुम्हारे अनुग्रह से हम अदब्धा हैं—किसी ने भी हमारा तिरस्कार नहीं किया है। तुम स्वयं कैसे हो? सपत्न दम्भन हो—वैरियों का नाश करने वाले हो और अदाभ्य हो—कोई भी तुम्हारा तिरस्कार नहीं कर सकता।

अब पत्नी के उपसदन (अग्नि[1] के समीप बैठने) का प्रयोजन बताते हैं—**सुप्रजसस्त्वा—प्रजात्यै**' इति। '**जिसका[2] पति सुन्दर है**' इस कथन से यज्ञ को मिथुनवान् (पति-पत्नी-युगलयुक्त) बनाता है। इस पति-पत्नी के मिथुन में जब पति कर्म करता है उस समय जो यज्ञ का अङ्ग अनुष्ठान के बिना कम हो जाता है उस अतिरिक्त अङ्ग को पत्नी पूरा करती है। इसीलिये पत्नी का कर्तव्य पूर्णपात्र निनयन[3] श्रुति ने बताया है—'**अञ्जलौ······दधाति**' इति। पत्नी की अञ्जलि में पात्र में भरा हुआ जल (पूर्ण पात्र[4]) डाले। यह जल डालना इसमें (पत्नी में) रेतरूप (वीर्यरूप) प्रजा का

---

१. 'उपसदन' शब्द का साधारण अर्थ, समीप जाना या समीप बैठना है। यहाँ यज्ञ का प्रकरण है इसलिए अग्नि के समीप ऐसा लिख दिया है।

२. मन्त्रगत 'सुपत्नी' शब्द का अर्थ इस वाक्य से बताया गया है।

३. निनयन शब्द का अर्थ है—गिराना, फेंकना, ले जाना आदि। कात्यायन श्रौतसूत्र में पूर्णपात्र निनयन को पत्नी का कर्तव्य नहीं बताया गया है, सूत्र इस प्रकार है—पूर्णपात्रं निनयति परीत्य संततं यजमानोऽञ्जलिना प्रतिगृह्णाति संवर्चसेति' का० श्रौ० सू० अध्याय ३. कण्डिका ८ सू० ८। इसका अर्थ सरलावृत्ति में वेदाचार्य म० म० श्री विद्याधर जी ने इस प्रकार लिखा है—अध्वर्युः······यजमानस्याञ्जलौ पूर्णपात्रस्थं जलम् अव्यवच्छिन्नं क्षिपेत्, यजमानस्तदुदकं हस्ताभ्यां संवर्चसेति प्रतिगृह्णीयात्। अर्थात् अध्वर्यु पूर्णपात्रस्थ जल को यजमान की अञ्जलि में अविच्छिन्न धारा के रूप में डाले, यजमान भी उस जल को 'संवर्चसा पयसा······' इत्यादि मन्त्र से अपनी अञ्जलि के द्वारा ग्रहण करे। इससे सिद्ध है कि पूर्णपात्र एक जल से भरा हुआ पात्र है, उसका निनयन अध्वर्यु करता है और यजमान की अञ्जलि में करता है। शाखाभेद से इस विरोध की उपपत्ति हो जाती है, तैत्तिरीय शाखा वालों के लिए पूर्णपात्र निनयन पत्नी का ही कर्तव्य माना गया है। देखो आप० दर्शपौर्ण सूत्र, प्रश्न ३, पटल ४. कण्डि० १०. सूत्र ७।

४. आपस्तम्ब के मत से पूर्णपात्र निनयन पत्नी-संस्कार है।

यथा सप्तमेऽनुवाके कपालोपधानप्रसङ्गेन तद्विमोचनमन्त्रोऽप्याम्नात एवमत्रापि योक्त्रबन्धनप्रसङ्गेन योक्त्रविमोकमन्त्र आम्नायते—

इमं विष्यामि वरुणस्य पाशं यमबध्नीत सविता सुकेतः । धातुश्च योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं मे सह पत्या करोमि ।

इममिति । विष्यामि विमुञ्चामि । सुकेतः सुज्ञानः । सवित्रा बद्धेऽस्मिन्योक्त्ररूपे वरुणपाशे विमुक्ते सति धातुर्ब्रह्मणो योनौ स्थानेऽनुष्ठितस्य कर्मणः फलभूते लोके पत्या सह मे सुखं करोमि ।

अस्य च योक्त्रस्य विमोक्षः स्वकाले कर्तव्यः । पिष्टलेपफलीकरणहोमाभ्यामूर्ध्वं प्रायश्चित्तहोमेभ्यः पूर्वमस्य स्वकालः । अत एव कल्पसूत्रकारस्तस्मिन् प्रदेशे पठति—"इमं विष्यामीति पत्नी योक्त्रपाशं[1] मुञ्चते । तस्याः सयोक्त्रेऽञ्जलौ पूर्णपात्रमानयति । समायुषा संप्रजयेत्यानीयमाने जपति" (आप०

आधान करना है। इसी प्रकार पत्नी के कर्तव्य का और भी उदाहरण दिया जा सकता है। न्यून अंश को पत्नी परिपूर्ण कर देती है इस प्रयोजन से ही यज्ञ में पत्नी का प्रवेश होने पर, वह मिथुन (जोड़ा) बनता है, जो कि प्रजनन (संतानोत्पत्ति) के लिए होता है।

यथा इति । जैसे सप्तम अनुवाक में कपालोपधान के प्रसङ्ग से कपाल-मोचन का मन्त्र भी बताया गया है इसी प्रकार यहाँ भी योक्त्र बन्धन के प्रसङ्ग से योक्त्र के खोलने का मन्त्र बताया जा रहा है – **इममिति**[1] । मन्त्र में 'विष्यामि' पद का अर्थ है– मैं खोलती हूं। 'सुकेतः' का अर्थ है 'अच्छे ज्ञान वाला'। मैं[2] इस वरुणपाश को खोलती हूं। जिसे सुविज्ञ सविता ने बाँधा था। और ब्रह्मा के स्थान में, जो कि अनुष्ठित कर्म का फलरूप लोक है, पति के साथ अपना सुख संपादन करती हूं। **सवित्रा**[3] इति । सविता के बाँधे हुए इस योक्त्र रूप वरुणपाश के खुल जाने पर, अनुष्ठित कर्म के फल रूप-ब्रह्मा के स्थान में—ब्रह्मलोक में—मैं (यजमान पत्नी) पति के साथ अपना सुख संपादन करती[4] हूं—पति के साथ सुख भोगूंगी।

अस्य इति। इस योक्त्र का मोचन (खोलना) अपने समय पर करना चाहिये । पिष्टलेप होम[5] और फलीकरण

---

१. ख. शं विमु ।

---

१. संहिता के दशम अनुवाक की दूसरी कण्डिका में 'इमम्' से लेकर 'करोमि' तक योक्त्र खोलने का मन्त्र है। इसमें तीन वाक्य हैं, हमने क्रमशः तीनों का अनुवाद दिया है। जो कि सर्वथा भाष्य के अनुसार है। परन्तु भाष्यकार ने प्रत्येक वाक्य का अलग अलग अर्थ नहीं लिखा, प्रत्युत तीनों वाक्यों के अर्थों का परस्पर संबन्ध जोड़कर एक अर्थ लिख दिया है।

२. यहाँ से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है।

३. भाष्य के अक्षरों का अनुवाद यहाँ से प्रारम्भ होता है।

४. भविष्यदर्थ में लट् लकार हुआ है।

५. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के दर्शपूर्ण मास प्रकरण में तृतीय प्रश्न के तृतीय पटल की नवीं कण्डिका के १२वें सूत्र में पिष्टलेप होम और फलीकरण होमों की चर्चा है।

श्रौ० ३।१०।६-८) इति। सोऽपि मन्त्रोऽत्रैवानन्तरमाम्नातः—

समायु॑षा सं प्रजया॒ सम॑ग्ने॒ वर्च॑सा॒ पुनः॑। सं पत्नी॒ पत्या॒ऽहं ग॑च्छे॒ सम॒त्मा त॒नुवा॒ मम॑।

समायुषेति। हेऽग्नेऽहमायुषा संगच्छे, प्रजया संगच्छे, पातिव्रत्यलक्षणेन वर्चसा संगच्छे। अनेन पत्या पुनः पुनः पत्नी भूत्वा संगच्छे। वियोगः कदाचिदपि माभूदित्यर्थः। मम शरीरेण जीवात्मा चिरं संगच्छताम्।

म॒हीनां॑ पयो॒ऽस्योष॑धीना॒ꣳ रस॒स्तस्य॒ तेऽक्षी॑यमाणस्य॒ नि (२) र्व॑पामि।

महीनामिति। कल्पः—"महीनां पयोऽस्योषधीनाꣳरसस्तस्य तेऽक्षीयमाणस्य निर्वपामि देवयज्याया इति तस्यां पवित्रान्तर्हितायामाज्यं[1] निरूप्य" (आप० श्रौ० २।६।१) इति।

होम[1] इन दोनों होमों के अनन्तर और प्रायश्चित्त[2] होमों से पूर्व योक्त्र मोचन का समय है। अर्थात् इस समय ही योक्त्र खोलना चाहिये। इसीलिए कल्प सूत्रकार (आपस्तम्ब) उस प्रदेश में कहता है - '**इमं······जपति**' इति। यजमान-पत्नी '**इमं विष्यामि**' इस मन्त्र से योक्त्र पाश को (रस्सी के बन्धन को) खोले। उसकी (पत्नी की) योक्त्र सहित अञ्जलि में ऋत्विज् पूर्णपात्र को —पात्रस्थ जल को— डाले। जब जल डाला जा रहा हो उस समय पत्नी '**समायुषा संप्रजया······ मम**' इस मन्त्र को जपे। यह (उक्त) मन्त्र भी यहीं (इसी दसवें अनुवाक में) योक्त्र-मोचन-मन्त्र के बाद ही पढ़ा गया है।

समायुषेति। हे अग्नि! मैं बड़ी आयु वाली होऊं, संतान वाली बनूं, पातिव्रत्यरूप तेज से युक्त होऊं—पति-परायण रहूं, इस पति के साथ बार-बार इसकी पत्नी बनकर रहूं, अर्थात् इससे मेरा कभी वियोग न हो। मेरे शरीर के साथ जीवात्मा का बहुत काल तक संयोग रहे। अर्थात्[3] मैं सदा ज्ञान और कर्म से युक्त रहूं।

महीनामिति। पवित्र से ढकी हुई आज्यस्थाली में (घी के पात्र में) '**महीनां······देवयज्यायाः**' इस मन्त्र से घी डाले। यद्यपि यहां मन्त्रकाण्ड में (संहिता में) मन्त्र के अन्त में 'देवयज्यायाः' यह पद नहीं दिया गया है। तथापि

---

१. **ख. यामाज्यस्थाल्यामा।**

---

१. 'दक्षिणाग्नौ इध्मप्रवश्चनानि अभ्याधाय पिष्टलेपफलीकरण होमौ जुहोति'। ओखल, मुसल, सिल, बट्टा आदि में जो कूटने पीसने से कुछ अंश लगा रह जाता है, वही पिष्टलेप है। इसी प्रकार कुटे हुए धानों को छाज से फटकने का नाम फलीकरण है, इस फलीकरण क्रिया से जो भूसा अलग हो जाता है, उसे भी फलीकरण ही कहते हैं, दोनों को दक्षिणाग्नि में अग्निदेवता के उद्देश्य से होम दिया जाता है। इसी को 'पिष्टलेप होम' और 'फलीकरण होम' कहते हैं।

२. 'यथेतमाहवनीयं गत्वा जुह्वा स्रुवेण वा सर्वप्रायश्चित्तानि जुहोति—जिस मार्ग से गया था उसी मार्ग से आहवनीय के पास आकर जुहू अथवा स्रुव से सर्वप्रायश्चित्त होम करे'। देखो आप० दर्शपौ० सू० प्रश्न ३. पट० ४ कण्डि ११।

३. ज्ञान और कर्म ही आत्मा का स्वरूप है। उसके इस स्वरूप का प्रकाशन शरीर के माध्यम से ही होता है। इसीलिए शरीर के साथ चिरकाल तक आत्मसंबन्ध की कामना की गई है। 'मैं चिरकाल तक जीऊँ' यह तात्पर्य यहां प्रतीत नहीं होता, क्योंकि चिरजीवित्व की कामना पहले वाक्य में बता दी गई है।

यद्यप्यत्र मन्त्रकाण्डे देवयज्याया इति पदं नाऽऽम्नातं तथाऽपि ब्राह्मणानुसारेण तत्पठितव्यम्[1]। महीशब्दस्य गौरित्यर्थः।

अत एव सप्तमकाण्डे गां प्रस्तुत्याऽऽम्नायते—"तस्या उपोत्थाय कर्णमाजपेदिडे रन्तेऽदिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्निये नामानि" (तै० ब्रा० ७।१।६) इति। हे आज्य, त्वं महीनां गवां पयोऽसि, साक्षात्तज्जन्यत्वात्। ओषधीनां रसश्चासि, परम्परया तज्जन्यत्वात्। तादृशस्य क्षयेण रहितस्य तव स्वरूपं देवयागार्थं पात्र्यां निर्वपामि। इमं विष्यामि समायुषेत्यस्य मन्त्रद्वयस्यात्राप्रासङ्गिकत्वात्तद्व्याख्यानमुपेक्ष्यानन्तरस्य मन्त्रस्य पूर्वभागे स्पष्टार्थतां दर्शयति—"महीनां पयोऽस्योषधीनाꣳरस इत्याह। रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे" (तै० ब्रा० ३।३।३) इति।

उत्तरभागस्य तेऽक्षीयमाणस्येतिपदस्याभिप्रायमाह—"तस्य तेऽक्षीयमाणस्य' निर्वपामि देवय-

---

ब्राह्मण[1] के अनुसार वह[2] पढ़ना ही चाहिये। मन्त्र में 'मही' शब्द का अर्थ 'गौ' है।

इसीलिये सातवें काण्ड में गौ का प्रसङ्ग उठाकर कहा गया है—'**तस्या**······**नामानि**' इति। गौ के समीप खड़ा होकर उसके कान में जपे—हे अघ्निया—हे (हत्या के अयोग्य) गौ! हे इडा! हे रन्ति! हे अदिति! हे सरस्वती! हे प्रिये! हे प्रेयसी! हे मही! हे विश्रुती! ये (इडा, रन्ति, अदिति, सरस्वती, प्रिया, प्रेयसी, मही, विश्रुती और अघ्निया) नाम तेरे हैं[3]।

हे इति। हे घृत! तू गउओं का दूध है, क्योंकि तू साक्षात्[4] दूध से ही उत्पन्न होता है। तू ओषधियों का रस भी है, क्योंकि तू परम्परया[5] ओषधियों के रस से ही पैदा होता है। ऐसे क्षय रहित तेरे स्वरूप को (तुझको) मैं देवों के यजन के लिए पात्री में (आज्य स्थाली में) डालता हूं। **इमम्** इति। '**इमं विष्यामि**······' और '**समायुषा सं प्रजया**······' ये दोनों मन्त्र यहां अप्रासङ्गिक[6] हैं, अतः इनका व्याख्यान न करके ब्राह्मण ग्रन्थ अनन्तर मन्त्र के (**महीनां पयोऽस्योषधीनाम्**······' इत्यादि मन्त्र के) पूर्वभाग की स्पष्टार्थता बताता है – '**महीनां**······**व्याचष्टे**' इति। इस मन्त्र का रूप ही सरल अक्षर ही—घृत की महिमा को बता रहा है।

अब पूर्वोक्त मन्त्र के उत्तरभाग के '**तेऽपक्षीयमाणस्य**' इत्यादि पद समूह का अभिप्राय बताते हैं – '**तस्य ते**······

---

१. ख. तम्।

---

१. 'तस्य तेऽक्षीयमाणस्य निर्वपामि देवयज्याया इत्याह आशिषमेवैतमाशास्ते' तैत्ति० ब्रा० का० ३ प्र० ३, अनु० ३ इस ब्राह्मण वाक्य के अनुसार।

२. 'देवयज्यायाः' यह पद।

३. गौ के इन नामों में 'मही' भी आया है।

४. वैदिक यज्ञ गोघृत से ही होते हैं, गोघृत गौ के दूध से ही बनता है इसीलिए घृत को दूध कहा। विकृति के लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग वेद में होता है। देखो निरुक्त द्वितीयाध्याय 'अथापि ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' इति।

५. गउएँ ओषधियाँ खाती हैं, उन्हीं से उनका दूध बनता है और दूध से घी। इसीलिये घृत को ओषधियों का रस कहा।

६. ये दोनों मन्त्र क्रमशः योक्त्र खोलने और पूर्णपात्र निनयन के समय पढ़े जाते हैं, यहाँ इन दोनों का प्रसङ्ग नहीं है, इसीलिए इन्हें अप्रासङ्गिक कहा गया।

ज्याया इत्याह। आशिषमेवैतामाशास्ते'' (तै० ब्रा० ३।३।३) इति। आज्यभागाङ्गतां[1] विधत्ते—''घृतं च वै मधु च प्रजापतिरासीत्। यतो मध्वासीत्। ततः प्रजा असृजत। तस्मान्मधुषि प्रजननमिवास्ति। तस्मान्मधुषा न प्रचरन्ति। यातयामं हि। आज्येन प्रचरन्ति। यज्ञो वा आज्यम्। यज्ञेनैव यज्ञं प्रचरन्त्ययातयामत्वाय'' (तै० ब्रा० ३।३।४) इति। प्रजापतिः पूर्वं यागसाधनं सृष्टिसाधनं चाभिप्रेत्य स्वयमेव सत्यसंकल्पतया घृतमधुरूपेण परिणतोऽभूत्, यस्मादुत्पत्तिबीजत्वमभिप्रेत्य मध्वभूत्तस्मान्मधुबीजेन प्रजा असृजत। अत एव मधुना[2] नानाबीजोत्पादनं विद्यते। तेनोत्पादनेन यतो गतसारं ततो मधुना यागं न कुर्वन्ति। सारवत्त्वादाज्येन यागं कुर्युः। सर्वयज्ञहेतुत्वादाज्यस्य यज्ञत्वं तद्धेतुत्वं च वक्ष्यते—''सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते। यद्ध्रुवायामाज्यम्'' (तै० ब्रा० ३।३।५) इति। अतो यज्ञयोग्यसाधनेनैव यज्ञस्यानुष्ठानान्नास्ति गतसारत्वदोषः।

महीनां पयोऽस्योषधीनाꣳरसोऽदब्धेनत्वा चक्षुषाऽवेक्षे सुप्रजास्त्वाय

महीनामिति । कल्पः—''अथैनामाज्यमवेक्षयति महीनां पयोऽस्योषधीनाꣳरसोऽदब्धेन त्वा चक्षुषाऽवेक्षे सुप्रजास्त्वायेति'' (बौ० श्रौ० १।१२) इति।

माशास्ते' इति। अर्थात् इस मन्त्र भाग से ऋत्विज् देवयजन के लिए आज्यस्थाली में घृत निर्वाप की इच्छा ही प्रकट करता है। आज्यस्थाली में घृत डालना आज्य भाग का ही अङ्ग है—इस बात का विधान करते हैं—**'घृतं' च वै······ यातयामत्वाय'** इति। प्रजापति (परमेश्वर) सत्य सङ्कल्प है, इसलिए वह पहले यज्ञसाधन और सृष्टिसाधन के अभिप्राय से स्वयं ही घृत और मधुरूप में परिणत हो गया। क्योंकि वह (मधु को) उत्पत्ति बीज समझकर ही मधुरूप में परिणत हुआ था, इसलिए उसने मधुरूप बीज से ही प्रजाओं की सृष्टि की। इसीलिए मधु से नाना बीजों का उत्पादन होता है। उस उत्पादन से मधु यातयाम-गतसार (सार रहित) हो जाता है, इसलिए मधु से यज्ञ नहीं करते। सारवान् होने के कारण घी से ही याग करना उचित है। सर्व यज्ञ का हेतु होने के कारण आज्य (घी) यज्ञ स्वरूप है और यज्ञ का हेतु है—यह बात आगे बताई जायगी—**'सर्वस्मै······आज्यम्'** इति, ध्रुवा[2] में जो आज्य लिया जाता है, वह सर्व यज्ञ के लिए ही लिया जाता है।' इसलिए यज्ञ के योग्य साधन से ही यज्ञ का अनुष्ठान करने से यातयामत्व (गतसारत्व) दोष नहीं होता।

महीनामिति। कल्पसूत्र कहता है कि आज्यस्थाली में घृत निर्वाप के अनन्तर पत्नी[3] से **महीनां[4]······ सुप्रजास्त्वाय'** इस मन्त्र से घृत का अवेक्षण करवावे। **अदब्धेन** इति। मन्त्र[5] में आए हुए 'अदब्धेन' पद का अर्थ है—रोग

---

१. ख. ज्यस्य यागा। २. ख. धुनि नानाजन्तूत्पा।

---

१. इस ब्राह्मण का व्याख्यान विस्तार से स्वयं भाष्यकार ने किया है, इसलिये हमने इसका अनुवाद नहीं किया।

२. ध्रुवा एक पात्र है।

३. यजमान की पत्नी से।

४. यह मन्त्र पत्नी को ही बोलना चाहिये।

५. 'महीनां पयोऽसि······' इस मन्त्र में। यह मन्त्र कुछ शब्दों के अन्तर से पहले भी आ चुका है, अतः भाष्यकार ने इसका व्याख्यान नहीं किया। केवल उस पद का व्याख्यान कर दिया है, जो पहले नहीं आया था। हम पुनः उसका अनुवाद यहाँ दे देते हैं—हे घृत ! तुम गउओं का दूध हो, तुम ओषधियों का रस हो, मैं तुम्हें रोग रहित चक्षु से देख रही हूं, जिससे कि मैं अच्छी संतान वाली बनूं।

अदब्धेन रोगानुपहतेन। विधत्ते—"पत्न्यवेक्षते। मिथुनत्वाय प्रजात्यै। यद्वै पत्नी यज्ञस्य करोति। मिथुनं तत्। अथो पत्निया एवैष यज्ञस्यान्वारम्भोऽनवच्छित्त्यै" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति। यज्ञस्य पुरुषरूपत्वात्तेन सह पत्न्या मिथुनत्वम्। किंच पत्न्या आज्यावेक्षणरूप एष एव यजमानमनुयज्ञारम्भः। दम्पत्योर्द्वयोरप्यारम्भे सति यज्ञो न विच्छिद्यते।

तेजोऽसि तेजोऽनु प्रेहि

तेज इति। कल्पः—"अथैनद्गार्हपत्येऽधिश्रयति तेजोऽसीति। समिधमुपयत्य प्राङ्हरति। तेजोऽनुप्रेहीत्यथैनदाहवनीयेऽधिश्रयत्यग्निस्ते तेजो मा वि नैदिति" (बौ० श्रौ० १।१२) इति।

हे आज्य त्वं तेजोरूपमसि। तेजोरूपमाहवनीयमनुप्रवेष्टुं गच्छ। अयमाहवनीयोऽग्निस्त्वदीयं तेजो माऽपनयतु। अनुष्ठानविधिपूर्वकं मन्त्रं[1] व्याचष्टे—"अमेध्यं वा एतत् करोति। यत् पत्न्यवेक्षते। गार्हपत्येऽधिश्रयति मेध्यत्वाय। आहवनीयमभ्युद्द्रवति। यज्ञस्य संतत्यै। तेजोऽसि तेजोऽनु प्रेहीत्याह। तेजो वा अग्निः। तेज आज्यम्। तेजसैव तेजः समर्धयति। अग्निस्ते तेजो मा विनैदित्याहाहिꣳसायै" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति।

रहित। ब्राह्मण-वाक्य विधान करता है—'**पत्न्यवेक्षते**······**ऽनवच्छित्यै**' इति। प्रजननार्थ मिथुनत्व—के लिए पत्नी घृत का अवेक्षण करे। पत्नी यज्ञ संबन्धी जो भी कोई कार्य करती है, वह मिथुन ही है। यज्ञ पुरुष स्वरूप है, पुरुष स्वरूप यज्ञ के साथ पत्नी का संबन्ध मिथुन रूप ही है। इतना ही नहीं, पत्नी के द्वारा घृत का देखा जाना ही यजमान के साथ पत्नी का यज्ञारम्भ है। पति पत्नी दोनों के द्वारा यज्ञारम्भ होने से यज्ञ विच्छिन्न नहीं होता।

तेज इति। कल्पसूत्र बौधायन कहता है—'**तेजोऽसि**' इस मन्त्र से घृत को गार्हपत्य अग्नि पर रक्खे। समिधा लेकर '**तेजोऽनुप्रेहि**' इस मन्त्र से आहवनीय अग्नि में उस समिधा का प्रक्षेप करे। '**तेजो मा**······**नैदिति**' अर्थात् अग्नि आपका तेज दूर न हो।

हे इति। हे[1] घृत! तू तेजःस्वरूप है, अतः तू तेज स्वरूप आहवनीय अग्नि में प्रविष्ट होने के लिए जा। यह आहवनीय अग्नि तेरे तेज को न हटावे। ब्राह्मण ग्रन्थ अनुष्ठान की विधि बताते हुए मन्त्र का व्याख्यान करता है—'**अमेध्यम्**······**अहिंसायै**' इति। यजमान-पत्नी जो घी देखती है, वह उसे अमेध्य-यज्ञ के अयोग्य (अपवित्र)—बनाती है, इसलिए घी को गार्हपत्य अग्नि पर रक्खे, जिससे कि वह मेध्य-यज्ञ के योग्य (पवित्र) हो जावे। यज्ञ के विस्तार के लिए आहवनीय अग्नि की ओर जाता है, अर्थात् घृत को आहवनीय अग्नि पर रखता है। '**तेजोऽसि तेजोऽनुप्रेहि**' इस मन्त्र के उच्चारण का तात्पर्य यह है कि—अग्नि तेजःस्वरूप है, और घृत भी तेजःस्वरूप है, अतः तेज से ही तेज को समृद्ध बनाता है। '**अग्नि**······**मा विनैत्**' इस मन्त्र का उच्चारण अहिंसा के लिए है—अर्थात् आहवनीय अग्नि घृत के तेज को नष्ट न करे।

---

१. ख. मन्त्रव्याच।

---

१. यहाँ से 'तेजोऽसि······' इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ होता है। यद्यपि बौधायन ने 'तेजोऽसि······' इत्यादि मन्त्र को तीन खण्डों में विभक्त करके, तीनों खण्डों का अलग-अलग विनियोग बताया है। परन्तु भाष्यकार ने तीनों खण्डों का एक मन्त्र के रूप में ही व्याख्यान किया है।

अग्निस्ते तेजो मा वि नैद्ग्नेर्जिह्वाऽसि सुभूर्देवानां धाम्ने धाम्ने देवेभ्यो यजुषे यजुषे भव

अग्नेरिति । बौधायनः—"अथैनद्यथाहृतं प्रति परिहृत्योत्तरार्धे वेद्यै निधायाध्वर्युरवेक्षते। अग्नेर्जिह्वाऽसिसुभूर्देवानां धाम्नेधाम्ने देवेभ्यो यजुषे यजुषे भवेति" (बौ०श्रौ० १।१२) इति । आपस्तम्बः—"अग्नेर्जिह्वाऽसीति स्फ्यस्य वर्त्मन्त्सादयति" (आप० श्रौ० २।६।५) इति । आहवनीये स्थितस्याऽऽज्यस्योदग्देशे समानेतुं स्फ्येन कांचिद्रेखां कृत्वा तस्यां सादयेत् । हे आज्य ज्वालारूपाया जिह्वाया उत्पादकत्वादग्नेर्जिह्वाऽसि । देवानां सुखाय भवतीति सुभूः, ईदृशं[1] त्वं तत्तदाहुतिस्थानाय तत्तन्मन्त्रपूर्वकग्रहणाय पर्याप्तं भव[2] ।

व्याचष्टे—"अग्निर्जिह्वाऽसि सुभूर्देवानामित्याह । यथा यजुरेवैतत् । धाम्नेधाम्ने देवेभ्यो यजुषेयजुषे भवेदित्याह । आशिषमेवैतामाशास्ते" (तै० ब्रा० ३।२।४) इति ।

अग्नेरिति । बौधायन कहते हैं कि आज्य को अग्नि में तपाने के बाद उसको जैसे अग्नि पर रखने के लिए लाए थे उसी प्रकार उसे (आज्य को) वहाँ से उठाकर वेदि के उत्तरार्ध में (उत्तर की ओर के आधे भाग में) रखकर अध्वर्यु उसका अवेक्षण करे—उसको देखे । अवेक्षण **'अग्नेर्जिह्वासि······यजुषे भव'** इस मन्त्र से करे ।

आपस्तम्ब इति । आपस्तम्ब कहते हैं कि आज्य को **'अग्नेर्जिह्वासि······'** इस मन्त्र से स्फ्य के मार्ग[1] में रखदे । आपस्तम्ब का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार कहते हैं—**आहवनीये** इति । आहवनीय पर रक्खे हुए आज्य के उत्तर की ओर के स्थान पर स्फ्य से रेखा खींच कर उस पर आज्य को रख दे । **हे** इति । हे[2] आज्य ! तुम, ज्वालारूप[3] जिह्वा के (जीभ) उत्पादक होने के कारण अग्नि की जिह्वा हो । तुम देवताओं के सुख के लिए हो इसलिए 'सुभू' कहलाते हो। ऐसे तुम, उस-उस आहुति के स्थान के लिए—अर्थात् प्रत्येक आहुति के अवसर पर, और उस उस 'मन्त्रपूर्वक ग्रहण के लिए अर्थात् जब-जब आहुति के लिए जिस-जिस मन्त्र से तुम्हारे ग्रहण का प्रसङ्ग हो, तब-तब पर्याप्त हो, कम न हो—तुम में अल्पता न आवे' ।

व्याचष्टे इति । अब ब्राह्मण मन्त्र का तात्पर्य बताता है—**'अग्नेर्जिह्वासि······देवानाम्'** यह यजुर्मन्त्र अत्यन्त सरल है, इसलिए जो इसके अक्षरों से प्रतीत हो रहा है, वही तात्पर्य है[4] । **'धाम्ने धाम्ने······भव'** इस भाग से अध्वर्यु अपने मनोरथ[5] को प्रकट कर रहा है ।

---

१. ख. दृशस्त्वमसि । विधत्ते—"स्फ्यस्य वर्त्मन्सादयति । संतत्यै" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति । त । २. ख. वत्विति व्या ।

---

१. 'स्फ्य के मार्ग में' इसका तात्पर्य है कि 'स्फ्य से रेखा बनाकर उस पर' ।

२. यहाँ से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है ।

३. अग्नि में घी डालने से ज्वाला उठती है, वह ज्वाला अग्नि की जीभ मानी गई है, क्योंकि वह भी जीभ की तरह लाल होती है और लपलपाती है ।

४. तात्पर्य ऊपर मन्त्र के व्याख्यान में देखो ।

५. मनोरथ का स्वरूप मन्त्र के व्याख्यान में देखो ।

शुक्रमसि ज्योतिरसि तेजोऽसि

शुक्रमिति । कल्पः "अथैनदुदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां पुनराहारमुत्पुनाति । शुक्रमसीति प्रथमं ज्योतिरसीति द्वितीयं तेजोऽसीति तृतीयम्" (आप० श्रौ० २।६।७-७.१) इति ।

शुक्रं दीप्तिमत् । आज्यस्योत्पवनं विधत्ते—"तद्वा अतः पवित्राभ्यामेवोत्पुनाति । यजमानो वा आज्यम् । प्राणापानौ पवित्रे । यजमान एव प्राणापानौ दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति । यतो योषिद्वीक्षणेनामेध्यस्याऽऽज्यस्य मेध्यत्वाय गार्हपत्याद्यधिश्रयणं कृतमत एवात्यन्तशुद्ध्यर्थमुत्पुनीयात् । प्रकारविशेषं विधत्ते "पुनराहारम् । एवमिव हि प्राणापानौ संचरतः" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति । आज्यस्थापिते पवित्रे प्राच्यां प्रोह्यपुनः पश्चादाहृत्य मध्यादूर्ध्वमुत्पुनीयात् । एवं त्रिवारमित्यभिप्रायेण वीप्सार्थोणमुलप्रत्ययः प्रयुक्तः ।

शुक्रमिति । कल्पसूत्र (आपस्तम्ब) कहता है कि आज्य को स्फ्य के मार्ग में रखने के बाद, जिनका अग्रभाग उत्तर की ओर है ऐसे पवित्रों से (कुशों से) उसका (आज्य का) बार-बार (तीन बार) उत्पवन[1] करे। पहली बार 'शुक्रमसि' इस मन्त्र से, दूसरी बार 'ज्योतिरसि' इस मन्त्र से और तीसरी बार 'तेजोऽसि' इस मन्त्र से करे। 'शुक्रम्' इस पद का अर्थ है दीप्तिमान् । हे आज्य[2] ! तुम दीप्तिमान् हो, तुम प्रकाश स्वरूप हो, तुम तेज हो । ब्राह्मण वाक्य आज्य के उत्पवन का विधान करता है —**'तद् वा ······दधाति'** इति । आज्य का इन पवित्रों से ही उत्पवन करे। आज्य यजमान-स्वरूप है, और पवित्र प्राणापान स्वरूप हैं। उत्पवन क्रिया से अध्वर्यु—यजमान में ही प्राण और अपान का आधान करता है ।

यतो[3] इति । क्योंकि स्त्री ने (यजमान पत्नी ने) आज्य को देखा था, इसलिये उसमें अमेध्यता (अपवित्रता) आ गई थी, उस अमेध्यता को दूर करने के लिये—अर्थात् मेध्यत्व के लिये उस घृत को गार्हपत्य आदि[4] पर भी रक्खा गया था, अब अत्यन्त शुद्धि के लिए उसका उत्पवन भी करे। ब्राह्मण वाक्य उत्पवन के प्रकार विशेष का भी विधान करता है—**'पुनराहारम्······संचरतः'** इति । आज्य स्थापित पवित्रों को पूर्व की ओर प्रोहित करके फिर पश्चिम की ओर लाकर मध्यभाग[5] से ऊपर की ओर उत्पवन करे। इस[6] प्रकार तीन बार करे—इस अभिप्राय से

---

१. उत्पवन क्रिया से घृत को पवित्र किया जाता है। उत्पवन क्रिया में द्रुत घी को पवित्र द्वारा ऊपर उछाला जाता है, इस क्रिया को 'उदिङ्गन' भी कहते हैं ।

२. भाष्यकार ने 'शुक्रमसि' इत्यादि का व्याख्यान नहीं किया है, केवल 'शुक्रम्' इस पद का अर्थ लिख दिया है । व्याख्यान की आवश्यकता भी नहीं थी । अत्यन्त सरल है परन्तु हमने उसका अनुवाद कर दिया है ।

३. यह भाष्यकार ने 'तद् वा अतः······' इत्यादि पूर्वोद्धृत ब्राह्मण का तात्पर्य लिखा है ।

४. आदि पद से आहवनीय लेना ।

५. पवित्र के मध्य भाग से ।

६. प्रत्येक उत्पवन में पवित्रों को पूर्वदिशा में प्रोहण करके फिर पश्चिम की ओर लाना चाहिये ।

मन्त्राणां स्पष्टार्थतां दर्शयति—"शुक्रमसि ज्योतिरसि तेजोऽसीत्याह । रूपमेवास्यैतन्महिमानं व्याचष्टे" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति । प्रतिमन्त्रक्रियां[1] विधत्ते—"त्रिर्यजुषा । त्रय इमे लोकाः । एषां लोकानामाप्त्यै" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति । त्रित्वमनूद्यार्थवादान्तरमाह—"त्रिः । त्र्यावृद्धियज्ञः । अथो मेध्यत्वाय" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति ।

देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः ।

देव इति । कल्पः "अथ प्रोक्षणीरुत्पुनाति देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिरिति पच्छः" (बौ० श्रौ० १।१२) इति ।

वीप्सा[1] अर्थ में णमुल्[2] प्रत्यय का प्रयोग किया गया है ।

मन्त्राणाम् इति । ब्राह्मण वाक्य उपर्युक्त 'शुक्रमसि' इत्यादि मन्त्रों की स्पष्टार्थता को प्रकट करता है—**'शुक्रमसि'''''''व्याचष्टे'** इति । इन मन्त्रों का स्वरूप (सरल अक्षर) ही इस घी की महिमा को प्रकट कर रहा है । ब्राह्मण प्रत्येक मन्त्र के साथ क्रिया का (उत्पवन क्रिया का) विधान करता है—**'त्रिर्यजुषा''''''लोकानाम् आप्त्यै'** इति । तीन बार यजुर्मन्त्र से उत्पवन करे, ये पृथिव्यादि तीन लोक हैं, इन लोकों की प्राप्ति के लिए—तीन बार उत्पवन करे । तित्तिरि ऋषि त्रित्व[3] का अनुवाद करके दूसरा अर्थवाद बताते हैं—**'त्रिः''''''मेध्यत्वाय'** इति । तीन बार उत्पवन करे, क्योंकि यज्ञ त्र्यावित्[4] होता है, और तीन बार उत्पवन से आज्य में पवित्रता भी आ जाती है ।

देव इति । कल्पसूत्र (बौधायन) कहता है कि आज्योत्पवन के अनन्तर **'देवोवः''''''रश्मिभिः'** इस मन्त्र के प्रत्येक[5] पाद का उच्चारण करके तीन बार प्रोक्षणी नामक जलों का भी उत्पवन करे । कल्प सूत्रोक्त **'देवो वः सविता''''''** इत्यादि मन्त्र पञ्चम अनुवाक में आ चुका है । इसकी व्याख्या भी भाष्यकार वहीं विस्तार से कर चुके हैं, अतः उन्होंने यहां इसकी व्याख्या नहीं की ।

---

१. ख. मन्त्रं पृथक्क्रियां ।

---

१. आवृत्ति ।

२. ऊपर जो 'पुनराहारम्''''''' इत्यादि ब्राह्मण उद्धृत किया है, उसमें 'आहारम्' पद में आङ्पूर्वक हृ धातु से 'पुनः पुनर् आहृत्य—बार-बार लाकर, इस अर्थ में 'णमुल्' प्रत्यय हुआ है ।

३. 'त्रित्व का अनुवाद करके' इसका अर्थ है 'त्रित्व के संबन्ध में' ।

४. ब्राह्मण ग्रन्थों में तीन बार बहुत से कर्म किये जाते हैं, उनका समर्थन 'त्र्यावृद्धि यज्ञः' 'त्रिवृद्धि यज्ञः' इत्यादि वाक्यों से अनेक बार किया जाता है । इसका तात्पर्य विस्तार से हम पहले लिख चुके हैं । एक तात्पर्य इसका और भी है—यज्ञ विज्ञान में तीन संख्या का बाहुल्य है—तीन वेद ऋग्, यजुः, साम । तीन देवता—अग्नि, वायु, आदित्य । तीन अधिदेवता—वसु, रुद्र और आदित्य । तीन लोक भूः, भुवः और स्वः । तीन अग्नि—गार्हपत्य, आहवनीय और दाक्षिणाग्नि । इस प्रकार बीसियों त्रिक हैं ।

५. 'देवो वः''''''' इत्यादि मन्त्र गायत्री छन्द में हैं, इसका पहला पाद है—देवो वः सवितोत्पुनातु, दूसरा है—अच्छिद्रेण पवित्रेण (उत्पुनातु), तीसरा है—वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः पुनातु ।

तदेतदुत्पवनं पवित्रविशिष्टं विधत्ते—"अथाऽऽज्यवतीभ्यामपः । रूपमेवाऽऽसामेतद्वर्णं दधाति । अपि वा उताऽऽहुः । यथा ह वै योषा सुवर्णंᳩहिरण्यं पेशलं बिभ्रती रूपाण्यास्ते । एवमेता एतर्हीति" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति । याभ्यां पवित्राभ्यामाज्यमुत्पूतं ताभ्यामेवाऽऽज्यलिप्ताभ्यामप उत्पुनीयात् । व्यत्ययेन स्त्रीलिङ्गत्वम् । एतदाज्यं स्वबिन्दुभिरासामपां वर्णविशेषोपेतं रूपं संपादयति । अपि च ताम्रादिकालुष्यराहित्येन शोभनवर्णोपेतं कटकाद्याकारसौकर्येण पेशलं हिरण्यं बिभ्रती योषेवेमा आप आज्यबिन्दुयुक्ता नेत्रप्रिया भवन्ति ।

तदेतद् इति । ब्राह्मण वाक्य इस (पूर्वोक्त) प्रोक्षणी के उत्पवन का पवित्र[1] सहित विधान करता **है**— '**अथाज्य······एतर्हीति**' इति । **याभ्याम्**[2] इति । जिन पवित्रों से आज्य का उत्पवन किया था उन्हीं आज्यलिप्त[3] पवित्रों से प्रोक्षणी नामक जलों का भी उत्पवन करे । ब्राह्मण में 'आज्यवतीभ्याम्' यह स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग लिङ्गव्यत्यय के कारण है । तात्पर्य यह है कि '**आज्यवतीभ्याम्**' यह पद पवित्र का विशेषण है, उत्पवन साधन को बताने वाला 'पवित्र' शब्द नपुंसकलिङ्ग है, अत: '**आज्यवद्भ्याम्**' ऐसा कहना उचित था । परन्तु श्रुति में लिङ्ग[4] व्यत्यय हो जाता है । यह आज्य अपनी बूंदों से इन (प्रोक्षणी नामक) जलों के रूप को वर्ण विशेष से (किसी विशेष प्रकार के रङ्ग से) युक्त बना देता है । इतना ही नहीं, ये प्रोक्षणी नामक जल इस[5] समय घृत की बूंदो से मिलकर आंखों को उन स्त्रियों के समान सुहावने लगते हैं, जिन्होंने ताँबे[6] आदि के संबन्ध से होने वाले कालुष्य (मालिन्य) से रहित अथवा ताँबे आदि की जैसी मलिनता से रहित सुन्दर वर्णयुक्त सोने को कड़ा आदि भूषणों के रूप में आसानी से धारण किया हुआ है ।

---

१. ब्राह्मण वाक्य ने उत्पवन, और उसके साधन पवित्र (आज्यलिप्त कुश) दोनों का विधान किया है ।

२. यह उपर्युक्त 'अथाज्यवतीभ्याम्······' इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ का व्याख्यान है । पवित्र दो कुशों से बनता है, इसलिए 'याभ्यां पवित्राभ्याम्' यह द्विवचन प्रयुक्त हुआ है ।

३. घी से लिपटी हुई । पहले जब घी का उत्पवन किया गया था, उस समय घी पवित्रों में स्वभावत: लग गया था, उन्हीं घी मे सने हुए पवित्रों से ही प्रोक्षणी जलों का उत्पवन करना चाहिये, पोंछकर घी को पवित्रों से छुड़ाने का यत्न नहीं करना चाहिये ।

४. पुल्लिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग की जगह स्त्रीलिङ्ग का, स्त्रीलिङ्ग की जगह पुल्लिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग ही लिङ्गव्यत्यय कहलाता है ।

५. ब्राह्मणगत 'एतर्हि' शब्द का अर्थ है 'इस समय' । भाष्यकार ने अपने व्याख्यान में सुगम और अनावश्यक समझकर इसका व्याख्यान नहीं किया ।

६. सोने को यदि ताँबे के साथ रक्खा जावे तो सोना मलिन हो जाता है, उसकी चमक चली जाती है । ताँबे को कितना ही साफ करो, वह साफ करने के बाद जल्दी ही मलिन हो जाता है । यद्यपि ब्राह्मणवाक्य में 'ताम्रादिकालुष्य राहित्येन' इस अर्थ को और 'कटकाद्याकार सौकर्येण' इस अर्थ को स्पष्ट रूप से बताने वाला कोई शब्द नहीं है तथापि भाष्यकार ने 'सुवर्णम्' और 'पेशलम्' इन दो पदों के तात्पर्य को स्फुट करने के लिए ही इन्हें लिखा है ।

मन्त्रगतच्छन्दः प्रभृत्यनुसंधेयतया विधत्ते—"आपो वै सर्वा देवताः। एषा हि विश्वेषां देवानां तनूः। यदाज्यम्। तत्रोभयोर्मीमाꣳसा। जामिः स्यात्। यद्यजुषाऽऽज्यं यजुषाऽप उत्पुनीयात्। छन्दसाऽप उत्पुनात्यजामित्वाय। अथो मिथुनत्वाय। सावित्रियर्चा। सवितृप्रसूतं मे कर्मा सदिति। सवितृप्रसूतमेवास्य कर्मभवति। पच्छो गायत्रिया त्रिः समृद्धत्वाय। अद्भिरेवौषधीः संनयति। ओषधीभिः पशून्। पशुभिर्यजमानम्" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति। उदकरूपेण वीर्येण देवताशरीरमुत्पाद्यते[1]। आहुतिरूपेणाऽऽज्येन तत्पोष्यते। तस्मादाज्योदकयोः सर्वदेवतारूपत्वे समे सति किमेतदुभयं यजुषैवोत्पुनीयादुताप ऋचेति मीमांसायामालस्य निवारणार्थमृचेति युक्तम्। ऋग्यजुर्भ्यां मिथुनत्वमपि संपद्यते। त्रिवारमुत्पूतास्वप्स्वादरातिशयात्ताभिरद्भिः क्रमेणौषधीपशुयजमानाः समृद्धा भवन्ति।

मन्त्र इति। मन्त्र के छन्द आदि का भी अनुसंधान (स्मरण) कर लेना चाहिये—इसका विधान ब्राह्मण ग्रन्थ करता है—**'आपो वै······पशुभिर्यजमानम्'** इति। उदक[1] रूप वीर्य से देवता की उत्पत्ति होती है। और आहुति रूप आज्य के द्वारा उसका (देवता का) पोषण होता है। इसलिए यद्यपि आज्य और जल दोनों ही समान रूप से सर्वदेवता स्वरूप हैं (सर्वदेवमय हैं) तथापि इस विचार[2] के उपस्थित होने पर कि क्या दोनों का ही उत्पवन यजु से (छन्द रहित यजुर्वेद के मन्त्र से) करना चाहिये, अथवा जल का उत्पवन ऋचा से (छन्दोबद्ध ऋग्वेद् के मन्त्र से) करना चाहिये? यह निर्णय युक्त माना गया है कि आलस्य निवारण के लिए अपों का (जल का) उत्पवन ऋचा से ही करना चाहिये। ऋक् और यजु के द्वारा मिथुनता[3] (युगलता) भी होती है। तीन बार प्रोक्षणी जल का उत्पवन करने से उसके प्रति अधिक आदर की अभिव्यक्ति होती है, फलतः उस जल से क्रमशः ओषधि, पशु और यजमान समृद्ध होते[4] हैं।

---

१. ख. मुत्पाद्य।

---

१. यह भाष्यकार कृत 'आपो वै······' इत्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थ का तात्पर्यविवरण है।

२. 'विचार' का तात्पर्य यहाँ संशय से है।

३. यजु अग्निस्वरूप है और ऋचा सोमस्वरूप है। अग्नि और सोम का मिथुन (जोड़ा) ही वस्तुस्वरूप का निष्पादक होता है।

४. यह हमने 'आपो वै सर्वा देवता······' इत्यादि ब्राह्मण के भाष्यकारकृत तात्पर्यनिरूपण का अनुवाद किया है। भाष्यकार के तात्पर्यनिरूपण में ब्राह्मण के बहुत से पदों का अर्थ स्फुट नहीं हुआ है, अतः हम पाठकों के लाभ के लिए उक्त ब्राह्मण का अक्षरशः अनुवाद भी यहाँ दे रहे हैं—'जल ही सब देवता हैं, और यह जो आज्य है वह सब देवताओं का शरीर है। यहां दोनों पर (घृत और जल दोनों के संबन्ध में) विचार किया जाता है, यदि यजु से ही घी का और यजु से ही जल का उत्पवन करेंगे तो जामिता दोष होगा। जामिता दोष की निवृत्ति के लिए छन्द से ही (ऋचा से ही) जल का उत्पवन करे। मिथुनत्व के लिए भी छन्द से ही जल का उत्पवन करे। मेरा कर्म सविता देवता से अनुज्ञात हो—इसलिए सवितृ देवताक (सविता जिसका देवता है, उस) मन्त्र से जल का उत्पवन करे। ऐसा करने से उसका कर्म सविता देवता से अनुज्ञात होता है। गायत्री छन्द के एक-एक पाद से तीन बार समृद्धि के लिए उत्पवन करे। जल से ओषधियों को समृद्ध करता है। 'ओषधियों से पशुओं को और पशुओं से यजमान को।' ऊपर कहा गया है कि 'जामिता' दोष की निवृत्ति के लिए छन्द से ही जल का उत्पवन करे'। यह 'जामिता' दोष क्या है? इसका विशेष विवरण तो भूमिका में ही दिया जा सकेगा। यहां इतना ही समझना चाहिये कि जो जिसके योग्य है उसके साथ वैसा ही व्यवहार न करना, मर्यादा का उल्लङ्घन करना ही 'जामिता' दोष कहलाता है। यदि जल का उत्पवन छन्द से नहीं किया जायगा तो मर्यादा का उल्लङ्घन होगा। भाष्यकार के मत से 'जामिता' का अर्थ है आलस्य।

शुक्रं त्वा शुक्रायां धाम्ने धाम्ने देवेभ्यो यजुषेयजुषे गृह्णामि ज्योतिस्त्वा ज्योतिष्यर्चिस्त्वार्ऽचिषि धाम्ने धाम्ने देवेभ्यो यजुषेयजुषे गृह्णामि (३) ॥

शुक्रं त्वेति। कल्पः—"आदत्ते दक्षिणेन स्रुवं सव्येन जुहूं वेदे प्रतिष्ठाप्य तस्यां गृह्णीते शुक्रं त्वा शुक्रायां धाम्ने धाम्ने देवेभ्यो यजुषेयजुषे गृह्णामीत्येतेन यजुषा चतुर्गृहीतं गृहीत्वा संमृश्योत्प्रयच्छति (बौ० श्रौ० १। १२) अथोपभृति गृह्णीते ज्योतिस्त्वा ज्योतिषि धाम्नेधाम्ने देवेभ्यो यजुषेयजुषे गृह्णामीत्येतेन यजुषाऽष्टगृहीतं गृहीत्वा भूयसो ग्रहान् गृह्णानः कनीय आज्यं गृह्णीते, तथैव संमृश्योत्प्रयच्छति। अथ

शुक्रंत्वेति। कल्पसूत्र (बौधायन) कहता है कि आग्नीध्र[1]—दाहिने हाथ से स्रुव को पकड़े, और बाएँ हाथ से जुहू को वेद (कुशमुष्टि) पर रखकर उस जुहू में स्रुव से—**'शुक्रं त्वा''''''गृह्णामि'** इस यजुर्मन्त्र का उच्चारण करके चार बार घी निकाल कर, अच्छी[2] तरह पोंछकर अध्वर्यु[3] को देवे। इसके अनन्तर **'ज्योतिस्त्वा''''''गृह्णामि'** इस यजुर्मन्त्र से आठ बार उपभृत् में घी का ग्रहण करके, पूर्ववत् पोंछकर अध्वर्यु को देवे। यद्यपि[4] उपभृत् के लिए बहुत बार (आठ बार) घी

१. यद्यपि बौधायन ने स्पष्ट नहीं किया कि जुहू में स्रुव से घी कौन डाले—आग्नीध्र डाले, अध्वर्यु डाले अथवा यजमान डाले, और बौधायनानुसार कोई दर्शपौर्णमास की पद्धति भी उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर निर्णय किया जा सके। आपस्तम्बीय दर्शपौर्णमास पद्धति में यह कार्य अध्वर्यु का बताया गया है। और यह लिखा है कि अध्वर्यु उस पात्र को (घृत पूर्ण जुहू को) विहार के समीप रख दे। परन्तु बौधायन ने 'गृहीत्वा संमृश्य उत्प्रयच्छति' ऐसा लिखा है, इससे अनुमान होता है कि बौधायन के मत से यह कार्य अध्वर्यु का सहायक आग्नीध्र करता है, आग्नीध्र घृतपूर्ण जुहू को अध्वर्यु को पकड़ा देता है, और अध्वर्यु उसे यथास्थान रख देता है।

२. 'अच्छी तरह पोंछकर' यह अर्थ 'संमृश्य' पद का है, जुहू में घी डालते समय जुहू के इधर-उधर घी लग जाने की संभावना होती है, अतः उसे पोंछकर ही देवे।

३. यद्यपि सूत्र में 'उत्प्रयच्छति—देवे' इतना ही लिखा है, तथापि हमने उपर्युक्त अनुमान के आधार पर 'अध्वर्यु को देवे' ऐसा लिख दिया है।

४. यह पङ्क्ति बौधायन सूत्र की 'भूयो ग्रहान् गृह्णानः कनीय आज्यं गृह्णाति' इस पङ्क्ति का अनुवाद है। यद्यपि जुहू में चार बार ही घी डाला जाता है, परन्तु वह उपभृत् से अधिक होता है, कारण कि घी से पूर्णतया भरा हुआ सारा स्रुव ही जुहू में उलटा दिया जाता है, परन्तु उपभृत् में डालने के लिए आठ बार घी लेने पर भी जरा-जरा ही लेते हैं, जिससे उपभृत् में जुहू की अपेक्षा घी थोड़ा ही रहता है। ऐसा क्यों किया जाता है? इस जिज्ञासा के निवारण के लिए यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि घृतपूर्ण जुहू को यजमान और उपभोक्ता का प्रतिनिधि समझिये, और उपभृत् को यजमान-शत्रु और उपभोग्य का प्रतिनिधि समझिये। ग्रहण की संख्या में न्यूनता होने पर भी तेजोरूप घृत का आधिक्य होने से जुहू यजमान में बल-वीर्य की अधिकता को सूचित करती है, इसी प्रकार ग्रहण की संख्या अधिक होने पर भी तेजोरूप घृत की स्वल्पता होने के कारण उपभृत् यजमान शत्रुओं के अधिक होने पर भी उनमें बल वीर्य सम्पन्न पुरुष निर्बल निर्वीर्य अनेक शत्रुओं को आसानी से जीत लेता है।

इसी प्रकार जुहू में घृतग्रहण की संख्या की न्यूनता और उपभृत् में घृतग्रहण की संख्या की अधिकता यह सूचित करती है कि जहां उपभोक्ता कम होते हैं और उपभोग्य पदार्थ अधिक होते हैं वहाँ समृद्धि होती है। देखो शतपथ ब्राह्मण का 'आज्यग्रहणसंख्यानियमन प्रकरण'। संक्षेप में तात्पर्य यही है कि घृत ग्रहण की उक्त विधि का पालन करने से यजमान बलवीर्यान्वित होता है और समृद्धिशाली बनता है।

ध्रुवायां गृह्णीतेऽर्चिस्त्वार्ऽर्चिषि धाम्नेधाम्ने देवेभ्यो यजुषेयजुषे गृह्णामीत्येतेन यजुषा चतुर्गृहीतं गृहीत्वाऽभिपूर्य तथैव संमृश्योत्प्रयच्छति" (बौ० श्रौ० १।१२) इति।

अत्र मध्यममन्त्रे 'धाम्नेधाम्ने' इत्यादिकमनुषज्यते। हे आज्य, दीप्तं त्वां दीप्तायां तत्तन्मन्त्रपूर्वकग्रहणाय तत्तद्धोमस्थानाय पर्याप्तं गृह्णाति। एवमितरयोर्योज्यम्। त्रिष्वपि मन्त्रेषु धामयजुः

लेता है, तथापि उपभृत् में जुहू से—कम घी लेता है। 'उपभृत्' में घी लेने के अनन्तर 'ध्रुवा' में **'अर्चिस्त्वा······ गृह्णामि'** इस यजुर्मन्त्र को बोलकर स्रुव से चार बार घी डालकर पूर्णतया-भरकर पूर्ववत् प्रोञ्छन करके उस ध्रुवा को अध्वर्यु के प्रति सौंप[1] दे। संहिता में दूसरा[2] मन्त्र 'ज्योतिस्त्वा ज्योतिषि' इतना ही है, परन्तु उद्धृत कल्पसूत्र में 'ज्योतिस्त्वा ज्योतिषि' इसके आगे 'धाम्ने-धाम्ने देवेभ्यो यजुषे-यजुषे गृह्णामि' इतना अंश और जोड़ा गया है, वह प्रथममन्त्र से लिया गया है—इसी बात को भाष्यकार लिखते हैं—

अत्र इति। यहाँ मध्यम[3] मन्त्र में **धाम्ने-धाम्ने······'** इत्यादि अंश का भी अनुषङ्ग (संबन्ध) किया जाता है। **हे**[4] इति। हे आज्य! तुम दीप्तिमान्[5] हो, दीप्तिमान् तुमको दीप्तिमती जहू में, उस उस मन्त्रपूर्वक ग्रहण[6] के लिए अर्थात् जब-जब मन्त्र से तुम्हारे ग्रहण का प्रसङ्ग हो तब-तब के लिए और उस-उस होम के स्थान के लिए—अर्थात् प्रत्येक होम के अवसर के लिए, अध्वर्यु पर्याप्त मात्रा में लेता है। इसी प्रकार आगे के दोनों मन्त्रों में भी अर्थ की योजना[7] कर

---

१. बौधायन सूत्र ने यह भी स्पष्ट नहीं किया कि जुहू, उपभृत् और ध्रुवा में कहां से घी लेवे। भाष्यकार ने भी बौधायन सूत्र को उद्धृत मात्र कर दिया है, उसका स्पष्टीकरण नहीं किया। इस बात को श्रीमोतीलाल शर्मा गौड़ ने शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड की हिन्दी व्याख्या में स्पष्ट किया है—वे लिखते हैं—जुहू और उपभृत् में ध्रुवा से घी लेवे, और ध्रुवा में आज्यस्थाली से।

२. पहला मन्त्र है 'शुक्रं त्वा शुक्रायां धाम्ने-धाम्ने देवेभ्यो यजुषे-यजुषे गृह्णामि' इति। दूसरा मन्त्र है 'ज्योतिस्त्वा ज्योतिषि' इति। इस मन्त्र में भी पहले मन्त्र के 'धाम्ने-धाम्ने······' आदि पदों का संबन्ध करना चाहिये, तब पूरा मन्त्र होता है।

३. 'ज्योतिस्त्वा ज्योतिषि' इस मन्त्र में।

४. 'हे' इत्यादि से मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ होता है। तीनों मन्त्रों में क्रमशः शुक्रम्, ज्योतिः और अर्चिः—ये तीन शब्द आज्य के विशेषण हैं, तीनों का एक ही अर्थ है 'दीप्त'। इसी प्रकार तीनों में ही क्रमशः शुक्रायाम्, ज्योतिषि और अर्चिषि ये तीन शब्द क्रमशः जुहू, उपभृत् और ध्रुवा के विशेषण हैं। अर्थ पूर्ववत् ही है।

५. 'दीप्तिमान्' यह 'शुक्र' शब्द का अर्थ है। अग्नि की दीप्ति का हेतु होने से आज्य को 'शुक्र' कहा गया है। घृत-सेवन से मनुष्य भी दीप्तिमान् होता है।

६. यह 'धाम्ने-धाम्ने यजुषे-यजुषे' का अर्थ है।

७. सायणाचार्य के मत से शुक्र, ज्योतिष् और अर्चिष् इन तीनों शब्दों का प्रकृत में एक ही अर्थ है—इसीलिए मूल में उन्होंने 'एवम् इतरयोर्योज्यम्' ऐसा लिखा। भट्ट भास्कर के मत से 'शुक्रम्' का अर्थ है शुद्ध। 'ज्योतिः' का अर्थ है—दीप्त-दीप्तिमान्। अर्चिः का अर्थ है ज्वाला, ज्वाला का हेतु होने से घृत को अर्चि कहा गया। 'ध्रुवा' को 'अर्चिः' इसलिये कहा गया कि वह देवार्चन का साधन है।

शब्दयोर्वीप्सायास्तात्पर्यमाह—"शुक्रं त्वा शुक्रायां ज्योतिस्त्वा ज्योतिष्यर्चिस्त्वाऽर्चिषीत्याह सर्वत्वाय । पर्याप्त्या अनन्तरायाय" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति। आहुतिर्बाहुल्यं सर्वत्वम्। एकैकस्यामाहुतावाज्यबाहुल्यं पर्याप्तिः। आहुतेः कस्या अप्यलोपोऽनन्तरायः। यदेतदाज्यावेक्षणं पूर्वमुक्तं तत्र विशेषं वक्तुं तत्प्रस्तौति—**"देवासुराः संयत्ता आसन् । स एतमिन्द्र आज्यस्यावकाशमपश्यत् । तेनावैक्षत । ततो देवा अभवन्। पराऽसुराः। य एवं विद्वानाज्यमवेक्षते। भवत्यात्मना। पराऽस्य। भ्रातृव्यो भवति" (तै० ब्रा० ३।३।५) इति। अवकाशः प्रकाशको मन्त्रः। स चाग्नेर्जिह्वासीत्यादिकः।** अभिघारणरूपत्वकथनेनावेक्षणं प्रशंसति—**"ब्रह्मवादिनो वदन्ति। यदाज्येनान्यानि हवींष्यभिघारयति। अथ केनाऽऽज्यमिति। सत्येनेति ब्रूयात्। चक्षुर्वै सत्यम्। सत्येनैवैनदभिघारयति" (तै० ब्रा० ३।३।५) इति।**

वक्तुर्विप्रलम्भसंभवाच्छ्रुतोऽर्थः कदाचिद्व्यभिचरत्यपि दृष्टस्तु न तथेति । चक्षुः सत्यम्

लेना। तीनों मन्त्रों में 'धाम' और 'यजुष्' शब्द की आवृत्ति का तात्पर्य बताते हैं—**'शुक्रम्'····· अनन्तरायाय'** इति। **'शुक्रं त्वा शुक्रायाम्······' 'ज्योतिस्त्वा ज्योतिषि······' 'अर्चिस्त्वा अर्चिषि······'** इन तीनों मन्त्रों का उच्चारण सर्वत्व के लिए, पर्याप्ति के लिए और अनन्तराय के लिये—अर्थात् अन्तराय (विघ्न) के अभाव के लिए है। आहुतियों की बहुलता ही यहाँ 'सर्वत्व' है। प्रत्येक आहुति में घृत की अधिकता ही यहाँ 'पर्याप्ति' है। किसी भी आहुति का लोप न होना ही यहाँ अनन्तराय—विघ्नाभाव—है। **यद् एतद्** इति। यह जो आज्यावेक्षण (घृत को देखना) कर्म पहले बताया गया है, उसमें विशेषता बताने के लिए ब्राह्मण वाक्य कहता है—**'देवासुराः······भ्रातृव्यो भवति'** इति। देवता और असुर आपस में लड़ भिड़ रहे थे, उस समय इन्द्र ने इस[1] आज्य-प्रकाशक-मन्त्र को देखा। और उससे[2] आज्य का अवेक्षण किया। उससे फल यह हुआ कि देवता विजयी हुए, और असुरों का पराभव हुआ। जो इस प्रकार समझकर आज्य का अवेक्षण करता है, वह अपने स्वरूप से स्थिर रहता है—विजयी होता है, और उसके शत्रु का पराभव होता है। ब्राह्मण[3] वाक्य में 'अवकाश' शब्द का अर्थ है—प्रकाशक मन्त्र। वह मन्त्र है **'अग्नेर्जिह्वासि······'** इत्यादि। आज्यावेक्षण आज्य का अभिघारण[4] स्वरूप है—ऐसा कहकर ब्राह्मण वाक्य आज्यावेक्षण की प्रशंसा करता है—**'ब्रह्मवादिनो वदन्ति······अभिघारयति'** इति। ब्रह्मवादी (वेदवेत्ता विद्वान्) कहते हैं कि पुरोडाश आदि अन्य हवियों का तो घी से अभिघारण करते हैं—अर्थात् उन पर घी छिड़कते हैं, परन्तु घी भी तो एक हवि है। उसका अभिघारण किससे किया जाय? इसका उत्तर है—सत्य से आज्य का अभिघारण किया जाय। चक्षु (आँख) ही सत्य हैं। सत्य से ही (चक्षुओं से देख कर ही) इसका (आज्य का) अभिघारण करे, अर्थात् आँखों से आज्य को देख लेना ही सत्य के द्वारा आज्य का अभिघारण है।

वक्तुरिति। बोलने वाला धोखा भी दे सकता है, इसलिए सुनी हुई बात कभी असत्य भी होती है, परन्तु आँखों देखी घटना में ऐसी बात नहीं—अर्थात् आँखों में यदि कोई दोष नहीं है तो आँखों देखी घटना सत्य ही होती है, उसमें

---

१. 'अग्नेर्जिह्वासि······' इस मन्त्र को। यह मन्त्र इसी दशम अनुवाक में पहले आ चुका है।

२. उसका उच्चारण करके।

३. 'अभिघारण' शब्द अभिपूर्वक 'घृक्षरणदीप्त्योः' इस जुहोत्यादि गण के धातु का णिजन्त से ल्युट् का रूप है। इसका अर्थ है छिड़कना, गिराना, डालना।

४. आज्य को आंखों से अच्छी तरह देख लेना ही 'आज्य का अभिघारण' है।

शुक्तिरजतरज्जुसर्पव्यभिचारस्तु काचकामलादि दोषप्रयुक्तः।

अवेक्षणे निमीलनरूपं विशेषं विधत्ते—"ईश्वरो वा एषोऽन्धो भवितोः। यश्चक्षुषाऽऽज्यमवेक्षते। निमील्यावेक्षेत। दाधाराऽऽत्मन्चक्षुः अभ्याज्यं घारयति।" (तै० ब्रा० ३।३।५) इति। आज्यस्याऽऽदित्य-मण्डलवत्तेजास्वित्वान्नैरन्तर्य वीक्षणेनान्धो भवितुं प्रभुर्भवति। तत्र निमीलनेन स्वात्मप्रविष्टाच्चक्षुषो धारणादन्धो न भवति। वीक्षणेनाऽऽज्यमभिघारयति। विधत्ते—"आज्यं गृह्णाति। छन्दाꣳसि वा आज्यम्। छन्दाꣳस्येव प्रीणाति" (तै० ब्रा० ३।३।५) इति। आज्यस्य यज्ञसाधनत्वेन छन्दः सादृश्यम्।

स्रुग्विशेषेणाऽऽवृत्तिविशेषं विधत्ते—"चतुर्जुह्वां गृह्णाति। चतुष्पादः पशवः। पशूनेवावरुन्धे। अष्टावुपभृति। अष्टाक्षरा गायत्री। गायत्रः प्राणः। प्राणमेव पशुषु दधाति। चतुर्ध्रुवायाम्। चतुष्पादः

धोखे की संभावना नहीं। इसीलिए आँख सत्य है। यद्यपि आँखों देखी बात भी कभी झूठी सिद्ध होती है, क्योंकि आँख कभी-कभी सीप को चाँदी और रस्सी को साँप समझती देखी गई है, तथापि आँखों की यह असत्यता काच[1]-कामला आदि[2] दोषों के कारण ही होती है—यदि आँखें निर्दोष हैं तो वे सत्य ही हैं।

अवेक्षणे इति। आज्य को देखते समय निरन्तर खुली आँख से नहीं देखना चाहिये, किन्तु मध्य में पलकें मारकर आँखें बन्द भी कर लेनी चाहियें। अवेक्षण के समय इसी निमीलन रूप विशेषता का ब्राह्मण वाक्य विधान करता है—'ईश्वरो वा······अभाज्यं घारयति'[3] इति। आज्य आदित्य मण्डल के समान तेजस्वी है, इसलिए जो उसे निरन्तर खुली आँख से देखता है वह अन्धा हो सकता है। इसलिए मध्य में आँखें बन्द करके देखे। मध्य में आँखें बन्द करने से अपने स्वरूप में प्रविष्ट चक्षु का धारण (रक्षण या पोषण) हो जाता है, अतः अन्धा नहीं होता। आज्यावेक्षण से आज्य का अभिघारण करे। ब्राह्मण वाक्य आज्यग्रहण का विधान करता है—'आज्यं गृह्णाति······प्रीणाति' इति आज्य का ग्रहण करे, आज्य छन्दोरूप हैं, आज्यग्रहण से छन्दों को तृप्त करता है। यज्ञ का साधन होने के कारण आज्य में छन्द की समानता[4] है।

स्रुग् इति। स्रुग् विशेष के संबन्ध से आज्यग्रहण की भिन्न प्रकार की आवृत्ति का विधान करते हैं। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि जुहू, उपभृत् और ध्रुवा इन तीनों का सामान्य नाम 'स्रुच्' है। इन स्रुचों में घी लिया जाता है, परन्तु

१. 'काच कामला' आंखों की एक बीमारी है, जिसके कारण मनुष्य को हर एक वस्तु पीली दीखती है। इसी को बोल-चाल की भाषा में 'पीलिया' रोग भी कहते हैं।
२. आदि पद से 'दूरत्व' आदि दोष लिए जाते हैं। सीप में रजत और रस्सी में सांप की भ्रान्ति दूरत्वादि के कारण ही होती है।
३. पुरोडाश आदि हवियों का आज्य से अभिघारण-सेचन—होता है। परन्तु आज्य रूप हवि का अभिघारण उसके (आज्य के) देखने से हो जाता है।
४. ब्राह्मण ने आज्य को छन्दोरूप कहकर आज्य में छन्दस्त्व का आरोप किया है, आरोप सादृश्य मूलक होता है। यज्ञ साधनत्व ही यहां आज्य में छन्दों का सादृश्य है, जैसे छन्द (मन्त्र) यज्ञ के साधन होते हैं, वैसे ही आज्य भी यज्ञ का साधन है।

पशवः। पशुष्वेवोपरिष्टात् प्रतितिष्ठति" (तै० ब्रा० ३।३।५) इति। गायत्र्या रक्षितत्वात्प्राणो गायत्रः। तथा वाजसनेयिनः समामनन्ति—"प्राणा वै गयास्तत् प्राणाꣳस्तत्रेतद्यद् गयाꣳस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम" (श० ब्रा० ५।५।५) इति। स्वाधीनत्वेनावरुद्धेषु पशुषु पश्चात्प्रयोगेण प्रतितिष्ठति इति। ग्राह्यस्याऽऽज्यस्य स्रु्विशेषेणाल्पाधिकपरिमाणं विधत्ते—"यजमानदेवत्या वै जुहूः। भ्रातृव्यदेवत्योपभृत्। चतुर्जुह्वां गृह्णन् भूयो गृह्णीयात्। अष्टावुपभृति गृह्णन् कनीयः। यजमानायैव भ्रातृव्यमुपस्तिं करोति" (तै० ब्रा० ३।३।५) इति। उप समीपे भृत्यत्वेनास्ति तिष्ठतीत्युपस्तिः।[१]

सब में एक तरह नहीं, किसी में चार बार लिया जाता है और किसी में आठ बार, किस में चार बार और किस में आठ बार? इसका विधान ब्राह्मण वाक्य करता है—'**चतुर्जुह्वाम्**······**प्रतितिष्ठति**' इति। 'जुहू' में चार बार घी लेवे। पशु चार पाँव वाले होते हैं, जुहू में चार बार घी लेकर अध्वर्यु यजमान के लिए पशुओं की प्राप्ति करता है—अर्थात् चार बार घी लेने से यजमान को चौपाए पशुओं की प्राप्ति होती है। 'उपभृत्' में आठ बार घी लेवे। गायत्री आठ अक्षर वाली है—अर्थात् गायत्री के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। प्राण को गायत्र कहते हैं, क्योंकि वह गायत्री से रक्षित होता है। उपभृत् में आठ बार घी ग्रहण करके अध्वर्यु, पशुओं में प्राण की स्थापना करता है। 'ध्रुवा' में चार बार घी लेवे। पशुओं के चार पाँव होते हैं। ध्रुवा में चार बार घी लेने से यजमान पीछे[१] से पशुओं पर प्रतिष्ठित होता है—अर्थात् यथेच्छ उनको अपने उपयोग में लाता है। गायत्री से रक्षित होने के कारण प्राणों को 'गायत्र' कहा गया है। जैसा कि वाजसनेयप्रोक्त शाखा को अध्ययन करने वाले (शुक्लयजुर्वेदी) कहते हैं—**प्राणा वै**······**गायत्री नाम**' इति। प्राण ही 'गय' हैं, उन गय प्राणों की—उसने (गायत्री ने) रक्षा की। क्योंकि उसने गय नामक प्राणों की रक्षा की, इसलिए उसका नाम 'गायत्री' पड़ा। '**पशुष्वेव**······**प्रतितिष्ठति**' इस उपर्युक्त ब्राह्मण संदर्भांश का व्याख्यान भाष्यकार इस प्रकार करते हैं—**स्वाधीन** इति। पशुओं को अपने अधीन करके पशुशाला में रोक लेने पर पीछे से उनका प्रयोग करके यजमान प्रतिष्ठित होता है। ग्राह्य आज्य का किसी स्रुच् में अधिक परिमाण में और किसी में स्वल्प परिमाण में ग्रहण किया जाता है, इसलिए किस स्रुच् में अधिक और किस में स्वल्प ग्रहण करे, इसका विधान ब्राह्मण वाक्य करता है—'**यजमान देवत्या**······**करोति**' इति। जुहू की देवता यजमान है, और उपभृत् की देवता है **शत्रु** (यजमान का शत्रु)। जुहू में चार बार ही ग्रहण करने पर भी अधिक परिमाण में घी लेवे। और उपभृत् में आठ बार भी ग्रहण करने पर स्वल्प ही लेवे। ऐसा करके अध्वर्यु शत्रु को यजमान के समीप भृत्यरूप में खड़ा करता है। भाष्यकार ब्राह्मण वाक्यगत 'उपस्ति' शब्द की व्युत्पत्ति लिखते हैं—**उप** इति। जो व्यक्ति नौकर के रूप में (उप) समीप में (अस्ति) स्थित रहता है, उसे 'उपस्ति'[२] कहते हैं।

---

१. ख. पभृत्। सं।

---

१. पशुओं को अपने अधीन करने के बाद।

२. 'अस्ति' तिङन्तप्रतिरूपक (तिङन्त की शकल का) अव्यय है। जिसका अर्थ है विद्यमान। भाष्यकार ने 'अस्ति' का अर्थ 'तिष्ठति' लिखा है, उसका भी तात्पर्य 'विद्यमान' अर्थ में ही है, 'स्थित रहना' 'विद्यमान रहना' एक ही चीज है। समास में 'अस्ति' के 'अ' का लोप हो गया है।

संख्यां पुनः प्रकारान्तरेण स्तौति—"गौर्वै स्रुचः । चतुर्जुह्वां गृह्णाति । तस्माच्चतुष्पदी । अष्टावुपभृति । तस्मादष्टाशफा । चतुर्ध्रुवायाम् । तस्माच्चतुस्स्तना । गामेव तत्सꣳस्करोति । साऽस्मै सꣳस्कृतेषमूर्जं दुहे" (तै० ब्रा० ३।३।५) इति । अभिमतदोहनात्स्रुचांगोरूपत्वं संख्यया तदवयवसाम्यं च । ततः स्रुचामाज्यपूर्तिरूपो यः संस्कारस्तेन गामेव संस्करोति । सा च गौः पयोरूपमन्नमाज्यरूपं रसं च दुग्धे । गृहीतस्याऽऽज्यस्य यथोचितमाहुत्यङ्गत्वं दर्शयति—"यज्जुह्वां गृह्णाति । प्रजायेभ्यस्तत् । यदुपभृति । प्रयाजानूयाजेभ्यस्तत् । सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते । यद् ध्रुवायामाज्यम्" (तै० ब्रा० ३।३।५) इति । पञ्चसु प्रयाजेषु त्रयं जौह्वाज्येन निष्पाद्यं, द्वयं त्वौपभृतार्धेन, शिष्टेन त्वनूयाजाः । यत्र द्रव्यापेक्षा तत्र सर्वत्र ध्रौवम् ।

संख्या की (चार बार आठ बार घी लेने की) प्रकारान्तर से पुनः—अर्थवाद द्वारा —स्तुति करते हैं—'**गौर्वै स्रुचः**······ **दुहे**' इति । स्रुच् गो स्वरूप है, जुहू में चार बार घी लेता है, क्योंकि[1] गौ के चार पाँव होते हैं । उपभृत् में आठ बार घी लेता है, क्योंकि गौ के आठ[2] खुर होते हैं । ध्रुवा में चार बार घी लेता है, क्योंकि गौ के चार[3] स्तन होते हैं । जुहू आदि में यथोक्त संख्यानुसार—घृत का ग्रहण करना गौ का ही संस्कार है । यह गौ संस्कृत होकर यजमान के लिए, अन्न और क्रान्ति अथवा रस का दोहन करती है । जैसे गौ अभीप्सित (दूध, मक्खन आदि) अर्थ का दोहन करती है, इसी प्रकार स्रुच् भी अभीप्सित[4] फल को देती है, इसीलिए स्रुचों में गोरूपता बताई गई । संख्या द्वारा गौ के अवयवों की समता भी स्रुचों में है । इसलिए आज्य पूर्ति रूप (घी से भर देना) जो स्रुचों का संस्कार है, उससे अध्वर्यु गौ को ही संस्कृत करता है और वह गौ दुग्ध रूप अन्न और आज्य रूप रस का दोहन करती है । जुहू आदि में लिया हुआ घृत यथोचित आहुतियों का अङ्ग है—इस बात को बताते हैं—'**यज्जुह्वाम्**······**आज्यम्**' इति । जो घृत जुहू में लिया गया है वह प्रयाज देवताओं के लिए है, जो उपभृत् में लिया गया है वह प्रयाज और अनुयाज दोनों के लिए है । ध्रुवा में जो आज्य लिया जाता है वह सारे ही यज्ञ के लिए होता है । पाँच प्रयाजों में तीन जुहू के आज्य से करने चाहिये । शेष दो प्रयाज उपभृत् में लिए हुए आज्य के आधे भाग से करने चाहिये, शेष आज्य से अनुयाज करने चाहिये । जहाँ द्रव्य (आहुति द्रव्य घृत) की अपेक्षा होती है वहाँ सर्वत्र ध्रुवा[5] से ही द्रव्य (आहुति द्रव्य घृत) लेना चाहिये । आज्यस्थाली से नहीं ।

---

१. अर्थात् जुहू में चार बार घी डालना ही स्रुच् रूपी गौ के चार पाँव हैं ।

२. अर्थात् उपभृत् में आठ बार घी डालना ही, स्रुच् स्वरूप गौ के आठ खुर हैं । गौ के प्रत्येक पाँव में दो-दो खुर होते हैं ।

३. अर्थात् ध्रुवा में चार बार घी डालना ही स्रुच् रूप गौ के चार स्तन हैं ।

४. प्रयाज (ऋतु) अनुयाज (गायत्री आदि छन्द) देवताओं के उद्देश्य से आज्य रूप हवि की आहुति देकर अङ्गापूर्व संपादन द्वारा स्वर्गादि साधक प्रधानापूर्व की उत्पत्ति ही इनके द्वारा होने वाला अभीप्सित फल है ।

५. यज्ञारम्भ से समाप्ति तक जितने आज्य की आवश्यकता होती है वह एक बार ही 'आज्य स्थाली' नामक पात्र में ले लिया जाता है । उस आज्यस्थाली से ध्रुवानामक पात्र में घी भर जाता है इसी ध्रुवा से जब-जब भी घी की आवश्यकता होगी, घी लिया जायगा, यही वैदिक नियम है । ध्रुवा का घी समाप्त होने पर फिर आज्यस्थाली से ध्रुवा में घी भरा जायगा । फिर इसी ध्रुवा से आहुति के लिए अपेक्षित घी लिया जायगा ।

अत्र विनियोगसंग्रहः—

"प्रत्यु स्रुचस्तपेदग्नेर्मृष्टेरूर्ध्वं पुनस्तपेत् ।
गोष्ठं वाचं तथा चक्षुः प्रजां मार्ष्टि क्रमात्स्रुचः ॥१॥

जुहूपभृद्ध्रुवा आशा पत्नीं योक्त्रेण नह्यति ।
सुप्रेति पत्न्युपविशेदिमं काले विमोचनम् ॥२॥

समा पत्नी पूर्णपात्रं जपेदथ महीद्वयात् ।
घृतं निरूप्य वीक्षेत तेजोऽधिश्रित्य पश्चिमे ॥३॥

अग्नौ, तेजो हरेदग्निः पूर्वाग्नावधिसंश्रयेत् ।
अग्नेः स्फ्यवर्त्मनि क्षिप्त्वा शु ज्यो ते त्रिभिराज्यकम् ॥४॥

उत्पूय देवो जलमुत्पुनात्याज्यपवित्रतः ।
शु ज्योऽर्चिस्त्रिभिराज्यस्य ग्रहो जुह्वादिके त्रये ॥
दशमे त्वनुवाकेऽस्मिंस्त्रयोविंशतिरीरिताः ॥५॥" इति ।

अब दशम अनुवाक के मन्त्रों का विनियोग संग्रह लिखते हैं—

प्रत्यु इति । (१) '**प्रत्युष्टं रक्षः**······' इस मन्त्र से स्रुचों को अग्नि में तपावे । (२) '**अग्नेर्वः**······' इस मन्त्र से, संमार्जन के अनन्तर पुनः तपावे । (३) '**गोष्ठम् मा**······' इस मन्त्र से स्रुव का, (४) '**वाचं प्राणम्**······' इस मन्त्र से जुहू का, इसी प्रकार (५) '**चक्षुःश्रोत्रम्**······' इस मन्त्र से उपभृत् का, और (६) '**प्रजां योनिम्**······' इस मन्त्र से ध्रुवा का क्रमशः संमार्जन करे । (७) '**आशासाना सौमनसम्**······' इस मन्त्र से योक्त्र द्वारा पत्नी का सन्नहन करे । (८) '**सुप्रजसस्त्वावयम्**······' इस मन्त्र से पत्नी बैठे । (९) **इमं विष्यामि**······' इस मन्त्र से समय पर योक्त्र को खोल दे । (१०) इसके बाद यजमान पत्नी '**समायुषा सं प्रजया**······' इस पूर्णपात्र मन्त्र को जपे । इसके बाद (११) '**महीनां पयोऽस्योषधीनां रसस्तस्य**······' इस मन्त्र से आज्यनिर्वाप करके (१२) '**महीनां पयोस्योषधीनां रसोऽदब्धेन**······' इस मन्त्र से यजमान पत्नी आज्यावेक्षण करे । (१३) '**तेजोऽसि**' इस मन्त्र से घृत को पश्चिमाग्नि में (गार्हपत्य अग्नि में') रख-कर, (१४) '**तेजोऽनुप्रेहि**' इससे घृत को उठाले, और (१५) '**अग्निस्तेजो मा विनैद**···' इस मन्त्र से उसे (घृत को) पूर्वाग्नि (आहवनीय) में रख दे । (१६) '**अग्नेर्जिह्वासि**······' इस मन्त्र से उसे घृत को स्फ्य के मार्ग में रख दे । **१७,१८, १९-शुक्रमसि, ज्योतिरसि, तेजोऽसि**—इन तीन मन्त्रों से—तीन बार—घृत का उत्पवन करे । (२०) '**देवो वः**······' इस मन्त्र से आज्य लिप्त पवित्र द्वारा प्रोक्षणी जल का उत्पवन करे । २१,२२,२३—'**शुक्रं त्वा शुक्रायाम्**······' '**ज्योतिस्त्वा**······**ज्योतिषि**' '**अर्चिस्त्वा अर्चिषि**' इन तीन मन्त्रों से क्रमशः जुहू, उपभृत् और ध्रुवा इन पात्रों में आज्य ग्रहण करे । इस प्रकार इस दसवें अनुवाक में **२३** मन्त्र बताए गए हैं ।

---

१. विनियोग संग्रहकार ने इन तीन-मन्त्रों को इनके आदि के 'शु' 'ज्यो' और 'ते' इन तीन अक्षरों से क्रमशः सूचित किया है—'शु-ज्यो-ते त्रिभिराज्यकम्' इति ।

अथ मीमांसा

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे चिन्तितम्—

"संमार्ष्टि स्रुच इत्यत्र किं प्रधानाख्यकर्मता।
गुणकर्मत्वमथवा दृष्टाभावेऽवघातवत्॥
गुणत्वं न हि संभाव्यं प्राधान्यं तु प्रयाजवत्।
अदृष्टकल्पनेनापि गुणत्वं स्याद् द्वितीयया"॥

(जै० न्या० २।१।१६-१७) इति।

दर्शपूर्णमासयोर्जुह्वादीनां दर्भैः संमार्जनमाम्नायते—"स्रुचः संमार्ष्टि" (तै० ब्रा० ३।३।१) इति। तत्र समार्जनं प्रधानकर्म। कुतो गुणकर्मलक्षणरहितत्वात् प्रधानकर्मलक्षणयुक्तत्वाच्च।

तथा हि—अवघातेन व्रीहीणां तुषविमोको दृष्टः संस्कारः। तथा संमार्जनेन जुह्वादिषु कञ्चिदतिशयं न पश्यामः। अतोऽवघातवद्गुणकर्मत्वं नास्ति। "यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत" (मीसू० २।१।८) इति। गुणकर्मलक्षणस्याभावात्। प्रयाजादिवददृष्टार्थत्वेन प्रधानकर्मत्वमस्ति। "यैस्तु द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि" (मीसू० २।१।७) इत्येतस्य प्रधानकर्मलक्षणस्य सद्भावादिति प्राप्ते

अथ मीमांसा

द्वितीय[1] अध्याय के प्रथम पाद में '**संमार्ष्टि**……' इत्यादि कारिकाओं के द्वारा विचार किया गया है कि स्रुचों का संमार्जन प्रधान कर्म है या गौण (अप्रधान) कर्म।

दर्शपूर्ण इति। दर्शपूर्ण मास प्रकरण में कुशों के द्वारा जुहू आदि पात्रों का संमार्जन बताया गया है—'स्रुचः संमार्ष्टि—स्रुचों का संमार्जन करे।' यहाँ पूर्वपक्ष यह है कि संमार्जन प्रधान कर्म है। क्योंकि इसमें गौण कर्म का कोई लक्षण नहीं है, इसके विपरीत इसमें (संमार्जन कर्म में) प्रधान कर्म का लक्षण विद्यमान है।

जैसे अवघात के द्वारा व्रीहियों का (धानों का) तुष ऊपर का (छिलका) अलग हो जाता है, और यही तुष का अलग होना व्रीहियों का अवघातजन्य प्रत्यक्ष दृष्ट संस्कार है, इस प्रकार संमार्जन के द्वारा होने वाला कोई अतिशय विशेष हम जुहू आदि में नहीं देखते, अतः अवघात की तरह संमार्जन को गौण (अप्रधान) कर्म नहीं कहा जा सकता। 'जिन कर्मों से यागार्थ द्रव्य संस्कृत किया जाता है वे ही गौण[2] कर्म (अप्रधान कर्म) कहलाते हैं' यही गौणकर्म का लक्षण है, जो कि स्रुक् संमार्जन में नहीं घटता, क्योंकि संमार्जनजन्य कोई भी अतिशय विशेष स्रुचों में नहीं दीखता। अतः प्रयाजादि की तरह अदृष्टार्थ होने के कारण संमार्जन प्रधानकर्म ही है। 'जिन कर्मों से द्रव्य संस्कृत नहीं[3] होता, वे प्रधान कर्म कहे जाते हैं, यह प्रधान कर्म का लक्षण है, जो कि संमार्जन में विद्यमान है। सिद्धान्त पक्ष यह है कि '**स्रुचः सम्मार्ष्टिः**' इस विधि वाक्य में 'स्रुचः' यह द्वितीया कर्म कारक में हुई है। '**कर्तुरीप्सिततमं कर्म**' इस पाणिनिसूत्र के अनुसार कर्म संज्ञा

---

१. 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तर' नामक ग्रन्थ में।

२. ऐसे स्थलों में संस्क्रियमाण द्रव्य की ही प्रधानता रहती है, और संस्कार कर्म गुणीभूत रहता है।

३. 'जो कर्म द्रव्य संस्कारार्थ नहीं होते, वहाँ द्रव्य अप्रधान रहता है, कर्म ही वहाँ स्वतन्त्ररूप से अपूर्व को पैदा करता है और प्रधान माना जाता है।

ब्रूमः—स्रुच इति द्वितीया कर्मकारके विहिता। कर्मत्वं चेप्सिततमत्वे सति भवति। "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" (पा० १।४।४९) इति। कर्मसंज्ञाविधानात्। क्रतुसाधनत्वेन च स्रुचां युक्तमीप्सिततमत्वम्। अतः प्रधानभूताः स्रुचः। तथा सति संमार्जनक्रियाया गुणकर्मत्वमवघातवद्भविष्यति। यदि स्रुक्षु दृष्टार्थो न स्यात्तर्ह्यपूर्वं कल्पनीयम्।

द्वादशाध्यायस्य प्रथमपादे चिन्तितम्—

"पत्नीसंनहनं कार्यं चोदकादिति चेन्न तत्।
बन्धवासोधारणयोर्योक्त्रबन्धनसिद्धितः" ॥

(जै० न्या० १२।१।१७) इति।

ईप्सिततम[1] की ही होती है। जुहू आदि स्रुच् क्रतु (यज्ञ) साधन होने के कारण ईप्सिततम हैं—यह कथन युक्तियुक्त ही है। इसलिए[2] स्रुच् प्रधान ही हैं। स्रुचों को प्रधान मानने से संमार्जन कर्म अवघात की तरह गौण (अप्रधान) कर्म ही रहेगा। यह कथन ठीक नहीं है कि स्रुचों में कोई दृष्ट[3] अर्थ (अतिशय विशेष) नहीं दीखता, यदि[4] स्पष्ट दृष्टार्थ स्रुचों में नहीं है तो अदृष्ट (अपूर्व) की कल्पना कर लो। '**सम्मार्ष्टिः**······' इत्यादि दोनों कारिकाओं का सरल अनुवाद इस प्रकार है—'**स्रुचः सम्मार्ष्टिः**' इस विधि के द्वारा बोधित स्रुक् सम्मार्जन कर्म में प्रधान कर्मता मानी जाय अथवा गुण कर्मता? अवघात के समान गुणकर्मता तो असंभव है, क्योंकि संमार्जनजन्य दृष्टफल यहाँ कोई नहीं है। अतः प्रयाज के समान प्रधान कर्मता ही सम्मार्जन में माननी चाहिये। सिद्धान्त पक्ष यह है कि 'स्रुचः' इस द्वितीया विभक्ति के आधार पर, अदृष्ट कल्पना द्वारा स्रुक् सम्मार्जन गुण कर्म ही है।

द्वादश इति। '**जैमिनीयन्यायमाला विस्तर**' के बारहवें अध्याय के प्रथम पाद में यह विचार किया है कि सोमयाग में होने वाली प्रायणीय आदि इष्टियों में 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्याः' इस चोदक वाक्य से प्राप्त पत्नी संनहन कर्म पृथक् रूप से करना चाहिये या नहीं? पत्नीसंनहनमिति[5]। सोमयागसंबन्धी प्रायणीय आदि इष्टियाँ दर्शपूर्णमास

---

१. 'ईप्सिततम' पद का अर्थ है 'क्रियाजन्यफलाश्रय'। क्रियाजन्यफलाश्रय होने पर ही कर्मत्व होता है और कर्म में द्वितीया होती है। अतः 'स्रुचः' पद की द्वितीया विभक्ति तभी उपपन्न हो सकती है जब स्रुचों में सम्मार्जन—क्रिया-जन्य संस्कार रूप फल विशेष माना जाय। संस्कृत स्रुच् ही यज्ञ के साधन बनते हैं, असंस्कृत नहीं।

२. ईप्सिततम होने के कारण।

३. कोई प्रत्यक्ष।

४. वस्तुतस्तु स्रुचों में सम्मार्जनजन्य स्वच्छता प्रत्यक्ष दृष्ट है। दृष्ट के रहते अदृष्ट कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं।

५. दर्शपूर्णमास में योक्त्र द्वारा पत्नी संनहन का विधान है। इधर सोमयाग में भी 'पत्नीं योक्त्रेण संनह्यति' इस वचन से पत्नी संनहन का विधान है, प्रायणीय आदि इष्टियाँ सोमयाग की अङ्ग हैं, अतः उनमें प्रसङ्गवश सोमयागोक्त पत्नी संनहन प्राप्त है, इधर प्रायणीय आदि इष्टियाँ दर्शपूर्णमास की विकृतियाँ भी मानी गई हैं—अतः 'प्रकृतिवद् विकृतिः' इस वचन से भी यहाँ पत्नी संनहन प्राप्त है, तो क्या यहाँ दोनों वचनों से पृथक् पृथक् दो बार पत्नी संनहन करना चाहिये अथवा प्रसङ्गवश प्राप्त सोमयागोक्त पत्नी संनहन ही पर्याप्त है—यह संदेह है।

दर्शपूर्णमासविकारेषु सौमिकेषु प्रायणीयादिषु चोदकातिदेशात्पत्नीसंनहनं कार्यमिति चेन्मैवम्। प्रसङ्गसिद्धत्वात्। यद्यदृष्टाय बन्धो यदि वा वासोधारणं दृष्टं प्रयोजनमुभयथाऽपि सौमिकेन योक्त्रबन्धने नैव तत् सिध्यति। योक्त्रेण पत्नीऽसंनह्यति" (द्र० तै० सं० ६।१।३) इति। हि सोमे विधीयते। तस्मादैष्टिकं पत्नीसंनहनं पृथङ् न कार्यम्।

नवमाध्यायस्य तृतीयपादे चिन्तितम्—

"पत्नीमिति द्विपत्न्यादावूह्यं नो वोह्यतेऽर्थतः।
नोपदेशस्य सामान्यादतिदेशाप्रवृत्तितः"॥

(जै० न्या० ९।३।८) इति।

की विकृतियाँ मानी जाती हैं, उनमें 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस चोदक वाक्य से भी योक्त्र द्वारा पत्नी संनहन कर्म प्राप्त होता है, क्या उसे भी पृथक् रूप से करना ही चाहिये, अथवा नहीं करना चाहिये ? यह संशय[1] है। पूर्व पक्ष यह है कि करना ही चाहिये। सिद्धान्त यह है कि नहीं करना चाहिये, क्योंकि पत्नी सन्नहन कर्म वहाँ[2] प्रसङ्गवशात् सिद्ध है। 'प्रसङ्ग' शब्द मीमांसा का पारिभाषिक शब्द है, इसका अर्थ है—अन्यत्र विहित की अन्यत्र प्रसक्ति, उदाहरण जैसे—राजप्रासाद में प्रकाशार्थ लगाए गए दीपस्तम्भ से राजमार्ग में भी प्रकाश हो जाता है। यद्यपि दीपस्तम्भ महल में ही प्रकाश के लिए लगाया गया है तथापि उससे होने वाली प्रकाश की प्रसक्ति महल से भिन्न तत्समीपस्थ राजमार्ग में भी हो जाती है। अतः राजमार्ग के लिए पृथक् दीपस्तम्भ की आवश्यकता नहीं होती। प्रकृत में भी अदृष्ट विशेष की उत्पत्ति के लिए अथवा वस्त्र धारण[3] रूप दृष्ट प्रयोजन के लिए सोमयाग में योक्त्र द्वारा पत्नी संनहन का विधान है, वही विधान, सोमयाग का अङ्ग होने के कारण प्रायणीय आदि इष्टियों में भी पत्नी सन्नहन का प्रयोजक हो जाता है, उससे ही उपर्युक्त अदृष्ट अथवा दृष्ट दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, इसलिए चोदक वाक्य से प्राप्त पत्नी संनहन पृथक् नहीं करना चाहिये। 'पत्नी संनहनम्······' इत्यादि कारिका का सरल अनुवाद इस प्रकार है—सोमयागीय प्रायणीय आदि इष्टियों में चोदक वाक्य से प्राप्त पत्नी सन्नहन कर्म पृथक् करना चाहिये, यह पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि प्रसङ्ग प्राप्त, योक्त्र द्वारा पत्नी सन्नहन से ही अदृष्ट रूप प्रयोजन की अथवा वस्त्र धारण रूप दृष्ट प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।

नवमाध्याय के तृतीय पाद में 'पत्नीमिति······' इस कारिका के द्वारा यह विचार किया गया है कि 'पत्नीं

---

१. प्रायणीय आदि इष्टि में।

२. योक्त्र द्वारा पत्नी संनहन में दो मत हैं—संनहन वस्त्र के ऊपर हो अथवा वस्त्र के नीचे शरीर से संपर्क करता हुआ हो। यदि पहला मत माना जाय तो संनहन का दृष्ट प्रयोजन बन जाता है, क्योंकि वस्त्र के ऊपर योक्त्र बाँधने से वस्त्र नीचे खिसकेगा नहीं योक्त्र वस्त्र को थामे रहेगा। यदि वस्त्र के नीचे बन्धन होगा, तो बन्धन का दृष्ट प्रयोजन कुछ नहीं हो सकेगा, इसलिए उस पक्ष में अदृष्ट प्रयोजन मानना पड़ेगा। योक्त्र बन्धन के संबन्ध में उपर्युक्त दो मत 'अभ्यन्तरं वाससः, न वासोऽभि संनह्यति, अभिसंनह्यतीत्येके' इस प्रकार आपस्तम्ब ने लिखे हैं।

३. 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस वाक्य से।

दर्शपूर्णमासयोर्मन्त्र आम्नायते—पत्नीꣳसंनह्य (तै० ब्रा० ३।२।९) इति । तत्रैकपत्नीकस्य यजमानस्य प्रयोगे समवेतार्थ एकवचनान्तः पत्नीशब्दः । स च द्विपत्नीकस्य बहुपत्नीकस्य च प्रयोगेऽर्थवशादूहनीय इति चेन्मैवम् । किमुपदेशप्राप्तस्योहोऽतिदेशप्राप्तस्य वा । नाऽऽद्यः । उपदेशस्य सर्वप्रयोगसाधारणत्वात् । यद्येकपत्नीकप्रयोगार्थमेवायं मन्त्रोपदेशः । स्यात्तदानीमेकवचनं विवक्ष्येत । न त्वेवमस्ति । अन्यथा द्विबहुपत्नीकन्त्र प्रयोगयोर्म एव नोपदिश्येत। तत्र कुत ऊहानूहचिन्तावकाशः । साधारणोपदेशे सर्वप्रयोगसमवेतार्थतया 'पत्नीम्' इति पदे प्रातिपदिकं कर्मकारकविभक्तिश्चेत्युभयमेव विवक्षितम्।

सन्नह्य' इस मन्त्र के पत्नी पद में ऊह[1] करना चाहिये अथवा नहीं। **दर्शपूर्णमास** इति। दर्शपूर्णमास में **'पत्नीं सन्नह्य'** यह प्रैष मन्त्र पढ़ा गया है। इस मन्त्र में, एक पत्नीक यजमान के अनुष्ठान में मन्त्र का सम्बन्ध[2] करने के लिए एक वचनान्त पत्नी शब्द का प्रयोग ठीक है। परन्तु जिस यजमान के दो या इससे अधिक पत्नियाँ हैं, उसके अनुष्ठान में उक्त[3] मन्त्र का सम्बन्ध करने के लिए अर्थानुरोध से पत्नी शब्द में ऊह करना प्राप्त[4] है, अर्थात् ऊह करना ही चाहिये—यह पूर्वपक्ष है। अब सिद्धान्त पक्ष लिखते हैं—**किमु** इति। ऊह क्या यह ऊह उपदेश[5]—प्राप्त मन्त्र में है ? अथवा अतिदेश प्राप्त[6]

---

१. सोमयागीय 'पत्नीं योक्त्रेण सन्नह्यति' इस वाक्य से।

२. वैदिक काल में संतान ही विवाह का मुख्य फल माना जाता था, अतः जिन लोगों के सन्तति नहीं होती थी वे दो या बहु विवाह भी करते थे। अनेक विवाह के पक्ष में जिसके दो पत्नियाँ हैं उसे 'पत्नीम्' के स्थान में 'पत्न्यौ' ऐसा कहना प्राप्त होता है—जिसके दो से भी अधिक हैं उसे 'पत्नीः' ऐसा कहना प्राप्त होता है—वही यहाँ ऊह है।

३,४. यज्ञ में मन्त्रोच्चारण का प्रयोजन यही है कि उसके द्वारा यज्ञ समवेत अर्थों की स्मृति होती है—अर्थात् वे यज्ञानुष्ठान संबन्धी वस्तुओं का प्रकाशन करते हैं—गोपथ ब्राह्मण में (२२.६.२.४.२) लिखा है—एतद् वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत् कर्म क्रियाम् ऋग् यजुर्वा अभिवदति' इति। अर्थात् यह यज्ञ की समृद्धि है कि उसे अनुष्ठान के समय ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्र प्रकाशित करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि यज्ञ में बोले जाने वाले मन्त्र को यज्ञ समवेत अर्थ का प्रकाशक होना ही चाहिये। यज्ञ में पत्नी सन्नहन का विधान है। उसके लिये 'पत्नीं सन्नह्य' यह प्रैष मन्त्र बोलना पड़ता है। इस मन्त्र में 'पत्नीम्' यह एकवचन है इसलिए जहाँ यजमान की एक ही पत्नी होगी, वहाँ तो यह मन्त्र जैसा है वैसा ही बोला जाना चाहिये। परन्तु जहाँ यजमान की दो या उससे अधिक पत्नियाँ हैं, वहाँ उन सबका ही सन्नहन होता है। परन्तु उक्त मन्त्र 'पत्नीम्' इस एक वचन के कारण एक ही पत्नी के सन्नहन का प्रकाशक होने के कारण वहाँ नहीं बोला जा सकेगा, इसलिए द्विपत्नीक या बहुपत्नीक यज्ञ में उक्त मन्त्र का संबन्ध जोड़ने के लिए पत्नी शब्द में 'पत्न्यौ' या 'पत्नीः' यह ऊह करना प्राप्त होता है। अर्थात् वहाँ मन्त्र का आकार 'पत्नीं सन्नह्य' के स्थान में 'पत्न्यौ सन्नह्य' अथवा 'पत्नीः सन्नह्य' ऐसा प्राप्त होगा।

५. 'उपदेश प्राप्त' से यहाँ तात्पर्य है—साक्षात् उपदिष्ट मन्त्र। जैसा कि प्रकृत में ही 'पत्नीं सन्नह्य' यह मन्त्र साक्षात् उपदिष्ट है।

६. अतिदेश प्राप्त मन्त्र वह होता है जो साक्षात् तो नहीं बताया जाता परन्तु 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से बताया जाता है। जैसे कि 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इस शौर्येष्टि में 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' यह मन्त्र।

एकवचनं त्वदृष्टार्थतया सर्वप्रयोगेषु यथावस्थितमेव पठनीयम्। नाप्यतिदेशप्राप्तस्योह इति द्वितीयः पक्षः। द्विबहुपत्नीकप्रयोगयोरविकृतित्वेनातिदेशायोगात् । तस्मादत्र नास्त्यूहः।

मन्त्र में ? पहला पक्ष तो बन नहीं सकता, कारण कि 'पत्नीं सन्नह्य' यह मन्त्रोपदेश सर्वप्रयोग साधारण है—अर्थात् सब यज्ञानुष्ठानों के लिए समान है, वह अनुष्ठान चाहे एकपत्नीक हो, द्विपत्नीक हो अथवा बहुपत्नीक हो। यदि एक पत्नीक अनुष्ठान के लिए ही यह मन्त्रोपदेश होता तो मन्त्र में 'पत्नीम्' इस एक वचन की विवक्षा होती। परन्तु मन्त्र में एक वचन की विवक्षा नहीं है। अन्यथा[1] द्विपत्नीक और बहुपत्नीक याग में इस मन्त्र का उच्चारण ही प्राप्त न होता। ऐसी अवस्था में तो ऊह करना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये इस विचार के लिए कोई अवसर ही नहीं रहता। साधारण उपदेश के पक्ष में सब[2] अनुष्ठानों के साथ संबन्ध करने के लिए मन्त्र के 'पत्नीम्' इस पद में केवल प्रातिपदिकार्थ[3] (पत्नी शब्द का अर्थ पत्नीत्व[4]) और कर्मकारक विभक्ति (द्वितीया विभक्ति का अर्थ कर्मत्व[5]) ये दोनों विवक्षित हैं, अर्थात् एकवचनार्थ एकत्व विवक्षित नहीं है। एक वचन का प्रयोग तो अदृष्टार्थ[6] होने के कारण, सब प्रयोगों में, जैसा है वैसा ही, करना चाहिये।

फलतः प्रथम पक्षानुसार यहाँ ऊह की आवश्यकता ही नहीं होती। अतिदेश प्राप्त में भी यहाँ ऊह **नहीं है, क्योंकि द्वि—बहुपत्नीक याग में विकृतित्व ही नहीं है।** फलतः 'प्रकृतिवद् विकृतिः' इस अतिदेश की यहाँ **संभावना ही** नहीं है। इसलिए **'पत्नीं सन्नह्य'** इस मन्त्र के 'पत्नीम्' इस शब्द में ऊह नहीं होता।

कारिका[7] का सरल अर्थ इस प्रकार है—द्विपत्नीक आदि यागों में 'पत्नीं सन्नह्य' इस मन्त्र के **'पत्नीम्' पद** में ऊह करना चाहिये अथवा नहीं ? अर्थानुरोध[8] से ऊह करना चाहिये सिद्धान्ततः नहीं करना चाहिये, क्योंकि **'पत्नीं सन्नह्य'** यह उपदेश सामान्यतः एकपत्नीक, **द्विपत्नीक**, बहुपत्नीक सभी यागों के लिए है, अर्थात् इसमें एक **वचन की विवक्षा नहीं है,** वह तो केवल शब्दसाधुत्व मात्र के लिए है। **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'** इस अतिदेश से भी यहाँ ऊह **करना नहीं** प्राप्त होता, क्योंकि द्विपत्नीक आदि याग विकृति नहीं है, फलतः अतिदेश वाक्य की यहाँ प्रवृत्ति ही नहीं होती।

---

१. यदि उक्त मन्त्र में एक वचन विवक्षित होता तो।

२. एक पत्नीक अनेक पत्नीक सब यागों के साथ।

३. यद्यपि पत्नी शब्द कृत्तद्धितातिरिक्त प्रत्ययान्त होने के कारण व्याकरण परिभाषा के अनुसार प्रातिपदिक नहीं है, तथापि स्वादि विभक्ति योग्य होने के कारण उसे प्रातिपदिक कह दिया गया है।

४. मीमांसक जाति शक्तिवादी है, उनके मत से पत्नी शब्द की शक्ति पत्नीत्व में ही है।

५. संनहन (बन्धन) क्रियाजन्य फलाश्रयत्व ही कर्मत्व है।

६. 'नम्लेच्छितवै नापभाषितवै' इत्यादि श्रुतिवाक्य के अनुसार यज्ञ में असाधु शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये। विभक्ति रहित शब्द असाधु होता है, इसलिये अदृष्टार्थ एकवचन का प्रयोग आवश्यक है।

७. 'पत्नीमिति' इत्यादि कारिका का।

८. पत्नीगत द्वित्व आदि के विचार से।

तत्रैवान्यच्चिन्तितम्—

"ऊह्यो नो वैष विकृतावूह्योऽपाठेन[1] पाशवत्।
नादृष्टच्छान्दसत्वाभ्यां पाशे[2] छान्दसता न हि" ॥

(जै० न्या० ९।३।९) इति

एष एकवचनान्तः पत्नीमन्त्रो विकृतौ द्विबहुपत्नीक प्रयोगयोरर्थानुसारेणोहनीयः। कुतः? पाठाभावात्। प्रकृतावर्थानुसारेण प्राप्तोऽप्यूहः सर्वप्रयोगसाधारणेन मन्त्रपाठेन बाधितः। विकृतौ तु बाधकस्य पाठस्याभावेनास्मदायत्ते प्रयोगेऽर्थानुसारेणोहो युक्तः। अतएव पूर्वत्र द्विपशुयुक्तायां विकृतावदितिः पाशं प्रमुमोक्तु (तै० ब्रा० ३।१।४) अदितिः। पाशान्प्रमुमोक्त्वित्येकवचनान्तो बहुवचनान्तश्च पाशमन्त्र ऊहित इति चेन्मैवम्। पत्नीमित्येकवचनस्याविवक्षितत्वेन प्रकृताव-

---

तत्रैव इति। नवें अध्याय के तृतीय पाद में ही और भी विचार किया गया है। वहाँ यह विचार किया गया है कि यदि विकृतियाग में अतिदेश वाक्य से 'पत्नीं सन्नह्य' इस मन्त्र का प्रयोग प्राप्त हो और यजमान की अनेक पत्नियाँ हों तो उक्त मन्त्र के 'पत्नीम्' शब्द में 'ऊह' होगा या नहीं।

ऊह्यो इति। **एष** इति। यह[1] एकवचनान्त पत्नी-विषयक मन्त्र विकृतियाग में पत्नी की संख्या दो या बहुत होने पर अर्थ के अनुसार ऊह के योग्य है—अर्थात् यदि पत्नियाँ दो या बहुत हों तो 'पत्नीम्' के स्थान में क्रमशः 'पत्न्यौ' या 'पत्नीः' यह पढ़ना चाहिये। कारण कि विकृति याग में साक्षात् तो मन्त्रोपदेश है नहीं। प्रकृति याग में यद्यपि साक्षात् मन्त्रोपदेश है, और वहाँ भी अर्थानुसार ऊह प्राप्त होता है, तथापि वहाँ सर्वानुष्ठान साधारण मन्त्रोपदेश है—अर्थात् मन्त्र में एकवचन[2] की विवक्षा नहीं है, अतः वहाँ[3] ऊह बाधित हो जाता है। किन्तु विकृतियाग में ऊह का बाध करने वाला मन्त्रपाठ[4] न होने के कारण 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से प्राप्त मन्त्र में अर्थानुरोध से ऊह करने में वक्ता स्वाधीन है—उसको रोकने वाला कोई[5] नहीं। अतः विकृति में ऊह करना युक्त ही है। इसी[6] आधार पर पूर्वोक्त (अध्या० ९, पाद ३, अधिकरण ४,) अधिकरण पशुद्वय युक्त विकृति में 'अदितिः[7] पाशं प्रमुमोक्तु' 'अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु' इन एकवचनान्त और बहुवचनान्त पाशमन्त्रों में ऊह करना बताया[8] गया है। यह पूर्वपक्ष है, परन्तु यह ठीक नहीं। प्रकृतियाग में जैसे 'पत्नीम्' इस एकवचन के अविवक्षित

---

१. क. ख. ग. पाठो न। २. क. ख. ग. पाठे।

---

१. 'पत्नीं सन्नह्य' यह मन्त्र।

२. एक वचन की विवक्षा न होने से द्विपत्नीक बहुपत्नीक प्रकृति याग में भी वहाँ ऊह नहीं किया जाता।

३. प्रकृति याग में।

४. 'पत्नीं सन्नह्य' यह मन्त्र।

५. बाधक वचन।

६. अतिदिष्ट मन्त्र में अर्थानुरोध से ऊह करने में वक्ता स्वतन्त्र है—इस आधार पर।

७. 'अदिति देवता (इस) बन्धन को या (इन) बन्धनों को भली प्रकार खोल दे—यह मन्त्रार्थ है।

८. अग्नीषोमीय पशुयाग में ये उपर्युक्त दोनों मन्त्र पढ़े गए हैं, इनमें एक पाश या बहुत से पाशों को खोलने की अदिति से प्रार्थना की गई है। प्रकृति याग में इन दोनों का विकल्प से प्रयोग होता है, परन्तु दो पशु वाली विकृति में इन दोनों मन्त्रों में ऊह करना पड़ता है—अर्थात् 'पाशम्' और 'पाशान्' के स्थान में 'पाशौ' बोलना पड़ता है।

दृष्टार्थतया यथावस्थितपाठे सति विकृतावप्यदृष्टार्थं यथावस्थितस्यैव पठितव्यत्वात्। अथोच्येत प्रकृतौ छान्दसत्वेनैकवचनमेव व्यत्ययेन द्वित्वबहुत्वयोरर्थयोर्वर्तत इति। एवं तर्हि विकृतावप्यूहमन्तरेणैव द्वित्व-बहुत्ववाचित्वान्मा भूदूहः। न चैवं पाशेऽप्यूहो मा भूदिति शङ्कनीयम्। प्रकृतावेकवचनबहुवचनयोरेक-स्मिन्नेव पाशे वैदिकप्रयोगदर्शनात्, द्वित्वे तु तदभावात्। तस्मात्पाशस्योहो विकृतावस्ति न तु पत्नी-शब्दस्य।

यद्यप्यस्मिन्ननुवाके 'पत्नीं संनह्य' (तै० ब्रा० ३।२।६) इत्ययं प्रैषमन्त्रो नाऽऽम्नातस्तथाऽपि पूर्वानुवाकब्राह्मणे (तै० ब्रा० ३।२।६) तदाम्नानादिह पत्नीसंनहनप्रसङ्गेन विचारद्वयं दर्शितम्।

होने के कारण अदृष्टार्थ[1] यथावस्थित मन्त्र का ही प्रयोग किया जाता है, वैसे ही विकृति में भी अदृष्टार्थ यथावस्थित (ऊह रहित) मन्त्र का ही पाठ करना उचित है। यदि यूं कहो कि प्रकृति याग में मन्त्रगत एकवचन छन्दः प्रयुक्त व्यत्यय के कारण द्वित्व और बहुत्व अर्थ में हुआ है, अतः वहाँ एकवचनान्त प्रयोग ठीक ही है, विकृति में तो वक्ता ने ही नए मन्त्र की कल्पना करनी है, वहाँ छान्दस विभक्ति व्यत्यय नहीं हो सकता, वहाँ तो ऊह करना ही होगा। यह कथन भी ठीक नहीं; कारण कि विकृति में भी बिना ऊह के ही एकवचन को द्वित्ववाची अथवा बहुत्ववाची मानकर ऊह का त्याग किया जा सकता है—तात्पर्य यह है कि प्रकृतिगत[2] मन्त्र का ही विकृति में अतिदेश हुआ है, वहाँ यदि छान्दस विभक्ति व्यत्यय मानकर एक वचन द्वित्व और बहुत्व का वाचक हो सकता है तो विकृति में क्यों नहीं हो सकता।

न चैवमिति। कदाचित् कहो कि इस प्रकार[3] तो पाश-मन्त्रों में भी ऊह नहीं होना चाहिये, क्योंकि वहाँ भी द्वित्व अर्थ में एकवचन के और बहुवचन के प्रयोग को छान्दस विभक्ति व्यत्यय कहा जा सकता है। यह शङ्का उचित नहीं, कारण कि दोनों[4] पाशमन्त्र प्रकृति याग में पढ़े गए हैं, विकृति में वे चोदक वाक्य से प्राप्त होते हैं, प्रकृति में एक पाश के लिए ही एकवचन और बहुवचन का छान्दस प्रयोग हुआ है, द्वित्व के लिए एकवचन और बहुवचन का छान्दस प्रयोग नहीं है, इसलिए द्विपशुयुक्त विकृति में 'पाश' शब्द में ऊह करना ही चाहिये, किन्तु पत्नी शब्द में ऊह नहीं होगा। वहाँ पाशन्याय नहीं लगता, न लगने के कारण ऊपर बता दिया गया है।

यद्यप्य इति। यद्यपि इस दसवें अनुवाक में 'पत्नीं सन्नह्य' यह प्रैषमन्त्र नहीं पढ़ा गया है, तथापि पूर्वानुवाक के (नवें अनुवाक के) ब्राह्मण में यह प्रैषमन्त्र पठित है, इसलिए यहाँ पत्नी संनहन के प्रसङ्ग से उपर्युक्त दो विचार प्रकट किए गए हैं। ('ऊह्यो' इत्यादि कारिका का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—विकृति याग में इस (पत्नीं सन्नह्य) प्रैष मन्त्र में ऊह होना चाहिये या नहीं? पाश न्याय से ऊह होना चाहिये, क्योंकि विकृति में मन्त्र नहीं पढ़ा गया है। अदृष्टार्थ और छान्दस प्रयोग होने के कारण ऊह नहीं होना चाहिये। पाश में छान्दसता नहीं है,) इसलिये पाशन्याय यहाँ नहीं लगता।

---

१. 'अपदं न प्रयुञ्जीत' इस निषेध के कारण अदृष्टार्थ एकवचन का प्रयोग तो करना ही चाहिये।

२. प्रकृति मन्त्र का ही चोदक वाक्य से विकृति में प्रयोग प्राप्त है, यदि प्रकृति में छान्दस व्यत्यय हुआ है, और उस छान्दस व्यत्यय से वहाँ अनुपपत्ति शान्त हो गई है तो विकृति में भी उसी व्यत्यय से अनुपपत्ति मिटानी उचित है।

३. छान्दस विभक्ति व्यत्यय मानकर।

४. 'अदितिः पाशं प्रमुमोक्तु' 'अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु' ये मन्त्र।

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे चिन्तितम्—

"जुहूपभृद्ध्रुवास्वाज्यं सर्वार्थं वा व्यवस्थितम्।
सर्वार्थमविशेषात्स्यात्प्रयाजार्थं हि जौहवम्॥
प्रयाजानूयाजहेतुः स्यादौपभृतमाज्यकम्।
ध्रौवमन्यार्थमित्येषा व्यवस्था वचनैर्मता:॥"

(जै० न्या० ४।१।३३-३४) इति।

"चतुर्जुह्वां गृह्णाति" (तै० ब्रा० ३।३।५) "अष्टावुपभृति" (तै० ब्रा० ३।३।५), "चतुर्ध्रुवायाम्" (तै० ब्रा० ३।३।५) इत्येषु ग्रहणवाक्येषु एतदर्थमिति विशेषनियामकस्याश्रवणात्पात्रत्रयगतमाज्यं सर्वार्थमिति चेन्मैवम्। "यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्" (तै० ब्रा० ३।३।५) इत्यादिवाक्यैर्व्यवस्थावगमात्।

तथैवान्यच्चिन्तितम्—

"अष्टावुपभृतीत्यत्र किमष्टैकग्रहे विधिः।
चतुर्द्वयं ग्रहे वाऽऽद्यः स्यादष्टश्रुतिमुख्यतः॥

चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में विचार किया गया है कि जुहू, उपभृत्, और ध्रुवा में लिया हुआ घी किसके लिए है। जुहू इति। चतुर् इति। **'चतुर्जुह्वां गृह्णाति**—जुहू में चार बार घी लेवे' **'अष्टावुपभृति**—आठ बार उपभृत् में (घी) लेवे', और **'चतुर्ध्रुवायाम्**—चार बार ध्रुवा में (घी) लेवे' इन घृत ग्रहण के वाक्यों में 'यह घृत ग्रहण इसलिए **है'** इस प्रकार कोई विशेषनियमसूचक पद नहीं है, अतः यह घृतग्रहण सर्वार्थ है—सारे यज्ञ के लिए है—ऐसा मानना उचित है। यह पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त यह है कि जुहू और उपभृत् में घृत ग्रहण सर्वार्थ नहीं है, वह तो क्रमशः प्रयाजों और अनुयाजों के लिए है। केवल ध्रुवा में घृत-ग्रहण सर्वार्थ है। इस व्यवस्था का ज्ञान **'यज्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्'** इत्यादि[1] ब्राह्मण वाक्यों से जाना गया है। इस ब्राह्मण वाक्य का अर्थ हम पहले लिख चुके हैं। देखो दशम अनुवाक के भाष्य का अन्तिम भाग और उसका हिन्दी अनुवाद।

'जुहूपभृद्' इत्यादि कारिकाओं का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—जुहू, उपभृत् और ध्रुवा में लिया हुआ घृत क्या सर्वार्थ है अथवा उसके लिए कोई व्यवस्था या नियम है? कोई विशेष वचन नहीं होने के कारण तीनों में लिया हुआ घृत सर्वार्थ है—सारे यज्ञ के लिए है। यह पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त पक्ष यह है कि जुहू का घृत प्रयाजों के लिए है, उपभृत् का घृत प्रयाज और अनुयाज दोनों के लिए है। और ध्रुवा का आज्य अन्यार्थ है—अर्थात् सर्वार्थ है। यह व्यवस्था ब्राह्मण वचनों के आधार पर मानी गई है।

तत्रैव इति। वहीं (चौथे अध्याय के प्रथम पाद में ही ४६ से ४८ सूत्र तक) और भी विचार किया गया है, वह यह है कि **'अष्टावुपभृति'** यह ग्रहण विधि आठ संख्या से युक्त एक हविर्ग्रहण का विधान करती है अथवा चार-चार की संख्या से युक्त दो हविर्ग्रहणों का विधान करती[2] है।

---

१. आदि पद से 'यदुपभृति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत्, सर्वस्मै वा एतद् यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्' ये वाक्य लिए जाते हैं।

२. तात्पर्य यह है कि जैसे 'चतुर्जुह्वां गृह्णाति' इस विधि के अनुसार जुहू में चार बार लिया हुआ घृत रूप हवि एक हवि है—उसका एकत्व यही है कि वह एकार्थ है—केवल प्रयाज देवताओं के लिए है, वैसे ही उपभृत् में आठ बार लिया हुआ हवि भी क्या एक ही हवि है—किसी एक विशेष देवता के लिए है, अथवा वहाँ भिन्न देवताओं के लिए चार-चार संख्या वाले दो हविर्ग्रहणों का विधान है? यह शङ्का स्वाभाविक है—जब जुहू में चार बार ही हवि लिया गया है तो उपभृत् में आठ बार क्यों? इसका निर्णय होना ही चाहिये। इसी निर्णय के लिए यहाँ विचार किया गया है।

चतुर्गृहीतं होमाङ्गं फलवत्त्वान्न बाध्यते।
चतुर्द्वित्वं लक्ष्यतेऽतः सहानीत्यर्थमष्टता ॥

(जै० न्या० ४।१।३५-३६) इति ॥

ग्रहणवाक्ये "चतुर्जुह्वां गृह्णाति (तै० ब्रा० ३।३।५) इत्यत्र यथा चतुः संख्याविशिष्टमेकहविर्ग्रहणं विवक्षितं तथैव "अष्टावुपभृति" (तै० ब्रा० ३।३।५) इत्यत्राप्यष्टसंख्याविशिष्टमेकहविर्ग्रहणं विधातव्यम्। तथा सत्यष्टत्वश्रुतेर्मुख्यत्वलाभात्। अष्टसंख्यावयवभूतयोश्चतुः—संख्ययोर्विधाने सत्यष्टशब्दस्यावयवलक्षणा प्रसज्येतेति प्राप्ते ब्रूमः। प्रसज्यतां नाम लक्षणा। मुख्यार्थस्वीकारे होमवाक्यविरोधापत्तेः। चतुर्गृहीतं जुहोतीत्यनारभ्यश्रुतं वाक्यं होममात्रोद्देशेन चतुर्गृहीतं विदधाति।

अष्टावुप इति। **गृहणवाक्ये** इति। जैसे **'चतुर्जुह्वां गृह्णाति'** इस हविर्ग्रहण विधायक वाक्य में एक हवि का (एकार्थ[1] हवि का) ग्रहण विवक्षित है, उसी प्रकार **'अष्टावुपभृति'** इस ग्रहण विधायक वाक्य में भी आठ संख्या से युक्त एक (एकार्थ) हवि की ही ग्रहण विधि विवक्षित होनी चाहिये। ऐसा होने से ग्रहण विधायक वाक्य में श्रुत आठ संख्या को मुख्यता[2] प्राप्त हो सकती है। आठ संख्या की अवयव[3] रूप चार-चार संख्या वाले दो हविर्ग्रहणों का विधान मानने पर अष्ट शब्द में अवयव लक्षणा[4] करनी होगी।

अब सिद्धान्त बताते हैं—**प्रसज्यतामिति**। मुख्यार्थ स्वीकार[5] करने में होमविधायक वाक्य से विरोध होता है, उस विरोध को दूर करने के लिए यदि लक्षणा प्राप्त होती है तो होवे[6]। यदि अष्टसंख्यायुक्त एक ही हविर्ग्रहण माना जायगा तो होम अष्टगृहीत हवि का ही होगा, परन्तु **'चतुर्गृहीतं जुहोति'** यह अनारभ्याधीत[7] विधि प्रत्येक होम में चतुर्गृहीत हवि का ही विधान करती है; इसलिए अष्ट संख्या युक्त एक हविर्ग्रहण मानने में उपर्युक्त अनारभ्याधीत चतुर्गृहीत होम विधि का विरोध अनिवार्य हो जायगा।

---

१. केवल प्रयाजार्थ।

२. जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत होता है, वही उस शब्द का मुख्यार्थ माना जाता है, 'अष्टन्' शब्द का संकेत 'आठ' संख्या में है, इसलिये 'आठ' संख्या ही अष्टन् शब्द का मुख्य अर्थ है। यदि 'अष्टन्' शब्द में लक्षणा करें तो उसके मुख्यार्थ 'आठ संख्या' को छोड़ना पड़ेगा, जैसा कि आगे कहा गया है। आठ संख्या को मुख्यता तभी प्राप्त हो सकती है जब 'अष्टावुपभृति' में आठ संख्या युक्त एक हवि का ही ग्रहण माना जावे।

३. चार-चार मिलकर (४+४) ही तो आठ होते हैं, इसलिए दो चार संख्याएं आठ संख्या की अवयव हैं।

४. 'न विधौ परः शब्दार्थः' इस मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार जहाँ तक हो सके विधि वाक्यों में लाक्षणिक अर्थ नहीं लिया जाता। वहाँ तो लक्षणा को जघन्यवृत्ति कहा जाता है।

५. अष्टसंख्यायुक्त एक हवि मानने में।

६. लक्षणा प्रसक्ति की अपेक्षा विरोध प्रबल दोष है, विरोध का परिहार न हो तो सुन्दोपसुन्दन्याय से दोनों विधियाँ अप्रामाण्याक्रान्त हो जायेंगी, इसलिए विरोध परिहारार्थ लक्षणा मान लेना ही उचित है।

७. अनारभ्याधीत विधि सामान्य विधि होती है, प्रकृत विधि अनारभ्याधीत होने से होम मात्र में लागू होती है।

यद्यप्येतत्सर्वहोमविषयतया सामान्यरूपमौपभृतं तु प्रयाजानूयाजविषयतया विशेषरूपं, तथाऽपि होमस्य फलवत्त्वेन प्राधान्याद् ग्रहणस्य होमार्थत्वेनोपसर्जनत्वात्प्रधानानुसारेण चतुर्गृहीतमेव युक्तं न तूपसर्जनानुसारेणाष्टगृहीतम्। तस्मादुपभृति चतुर्गृहीतद्वयं विधीयते। तत्रैकं चतुर्गृहीतं हविश्चतुर्थपञ्चमप्रयाजार्थमपरं त्वनूयाजार्थम्।

नन्वेवं सति चतुर्गृहीतस्यैव हविष्ट्वाच्चतुरूपभृतीत्येव विधातव्यं न त्वष्टावुपभृतीति विधिर्युक्त इति चेन्मैवम्। तथा सत्यनूयाजार्थं द्वितीयं चतुर्गृहीतं न सिध्येत्। अथ तदपि वाक्यान्तरेण विधीयेत तदानीमुपभृतः प्रथमेन चतुर्गृहीतेनावरुद्धत्वाद्द्वितीयस्मै पात्रान्तरमन्विष्येत। यद्युपभृति

यद्यपि **'चतुर्गृहीतं जुहोति'** यह विधि सर्वहोमविषयक होने के कारण सामान्य विधि है और औपभृत[1] आज्यग्रहण प्रयाजानुयाजमात्रविषयक होने के कारण विशेष विधि है, विशेष विधि सामान्य विधि का बाधक होती है, तथापि होम फलवान् होने के कारण प्रधान है, और हविर्ग्रहण होमार्थ होने के कारण अप्रधान (उपसर्जन) है। प्रधान और अप्रधान में प्रधान बलवान् होता है। इसलिए प्रधानानुसारी चतुर्गृहीत ही युक्तियुक्त है, न कि उपसर्जनानुसारी अष्टगृहीत। फलतः **'अष्टावुपभृति'** इस वाक्य द्वारा दो चतुर्गृहीतों का ही विधान किया गया है—यही मानना उचित है। उन दो चतुर्गृहीत हवियों में एक चतुर्थ पञ्चम प्रयाजों[2] के लिए है और दूसरा अनुयाज[3] के लिए है।

नन्वेवम् इति। शङ्का—ऐसा[4] मानने पर चतुर्गृहीत ही हवि कहलायगा, तो फिर विधि का आकार भी **'चतुरुपभृति'** ऐसा ही होना चाहिये था, न कि **'अष्टावुपभृति'** इस प्रकार। यह कथन युक्त नहीं है, कारण कि ऐसा[5] होने पर अनुयाजों के लिए द्वितीय चतुर्गृहीत सिद्ध न होता। कदाचित् कहो कि दूसरे वाक्य[6] से उसका विधान हो सकता था, क्योंकि 'चतुरुपभृति' इस प्रथम चतुर्गृहीत के विधान से उपभृत् पात्र रुक जाता। फलतः दूसरे चतुर्गृहीत की विधि के लिए दूसरे (उपभृत् से अतिरिक्त) पात्र का अन्वेषण[7] करना पड़ता। यदि उपभृत् में चतुर्गृहीत का विधान किया जाता

---

१. उपभृत् में किया हुआ आज्यग्रहण।

२. 'प्रकर्षेण इज्यन्ते देवता एभिस्ते प्रयाजाः' यह प्रयाज शब्द की व्युत्पत्ति है। समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहा यजति—इन पाँच वाक्यों से बोधित पाँच याग ही पाँच प्रयाज कहलाते हैं। इनमें बर्हिर्याग और स्वाहायाग चौथा और पाँचवाँ प्रयाज है। देखो आपस्तम्ब श्रौतसूत्र द्वितीय प्रश्न, पाँचवाँ पटल, १७ खण्डिका, १-२ सूत्र······पञ्चप्रयाजान् प्राचो यजति॥१॥ प्रतिदिशं वा समिधः पुरस्तात्, तनूनपातं दक्षिणतः, इडः पश्चात्, बर्हिरुत्तरतः, स्वाहाकारं मध्ये॥२॥

३. अनुयाज भी याग विशेष हैं, ये संख्या में तीन हैं। देखो आप० श्रौ० सू०, ३ प्रश्न, १ पटल, ५ खण्डिका, १ सूत्र······प्रतीचः स्त्रीननुयाजान् यजति······इति। अनुयाज शब्द का 'नु' ह्रस्व और 'दीर्घ' दोनों ही होता है। कात्यायन श्रौतसूत्र में 'नु' ह्रस्व है—'ब्रह्मानुज्ञातोऽनुयाजैस्त्रिभिश्चरति······' २ अध्याय, ५ कण्डिका।

४. दो चतुर्गृहीतों की विधि मानने पर।

५. 'चतुरुपभृति' ऐसा विधि का स्वरूप होने पर।

६. नए कल्पित विधि वाक्य से।

७. अन्वेषण का तात्पर्य यहाँ 'कल्पना' से है, पात्रान्तर की कल्पना करनी पड़ती।

चतुर्गृहीतं विधीयेत तदा चतुर्गृहीतद्वयस्य पृथगेवानुष्ठानादुपभृत्येक प्रयत्नेनाऽऽनयनं न सिध्येत्। अत उभयस्य सहोपभृत्यानयनार्थमष्टावुपभृतीत्युच्यते । तस्मात्साहित्यार्थमष्टशब्दप्रयोगेऽपि हविष्ट्वसिद्धये द्वे चतुर्गृहीते अत्र विधीयेते ।

अथ व्याकरणम्

प्रत्युष्टमित्यादिषु स्वरा गताः । वाजिनमित्यत्र प्रत्ययस्वरः । सपत्नान्सहत इति सपत्नसाह इत्यत्रापि प्रत्ययान्तत्वात्प्रत्ययस्वरः ।

तो दो चतुर्गृहीतों का पृथक्-पृथक् विधान[1] करना पड़ता, फलतः एक प्रयत्न[2] से दो चतुर्गृहीत हवियों का उपभृत् में लिया जाना नहीं बन सकता। इसलिये दो चतुर्गृहीत हवियों की एक साथ[3] उपभृत् में प्राप्ति के लिए '**अष्टावुपभृति**' ऐसा कहा गया है। साहित्य (सह भाव) मात्र के लिए अष्ट शब्द का प्रयोग होने पर भी हविष्ट्व[4] की सिद्धि के लिए यहाँ चतुर्गृहीत दो हवि ही विवक्षित हैं।

अब व्याकरण सम्बन्धी विचार लिखते हैं—

प्रत्युष्टम् इति। प्रत्युष्टम् इत्यादि पदों में स्वर संचार चर्चा पहले हो चुकी है। देखो तै० सं० कां० प्र० प्रपा० १, अनु० २, पर 'अथ व्याकरणम्'।

वाजिनम् इति। 'वाजिनम्' पद में प्रत्यय स्वर आद्युदात्तत्व स्वर संचार का नियामक है। अकारान्त वाज शब्द से '**अतइनिठनौ**' से मत्वर्थीय 'इनि' हुआ। 'वाज + इन्' इस अवस्था में '**यस्येति च**' से जकारोत्तर 'अ' का लोप हो गया। 'आद्युदात्तश्च' के अनुसार 'इन्' प्रत्यय का 'इ' उदात्त है। '**अनुदात्तं पदमेकवर्जम्**' से 'वा' अनुदात्त हो गया। प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों रही—वा जि न्। आगे 'अम्' विभक्ति है, जो 'सुप्' होने से अनुदात्त[5] है। उसको '**उदात्तादनुदात्तस्य**···' से स्वरित हो गया। संहिता और पद पाठ में स्वर स्थिति एक जैसी रही—वा जि नं म्।

सपत्नान् इति। सपत्नान् सहत इति सपत्नसाहः, तं सपत्नसाहम्। सपत्नपूर्वक सह् धातु से **कर्मण्यण्** हुआ है, अतः यहाँ प्रत्यय स्वर शेष रहेगा। 'आद्युदात्तश्च' के अनुसार 'अण्' प्रत्यय उदात्त है। सतिशिष्ट होने के कारण वही शेष रहेगा, शेष निघात व्यवस्था उसी के अनुसार होगी। फलतः सपत्नसाह शब्द में प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों रहेगी—स प त्न सा ह। आगे 'अम्' विभक्ति है, जो सुप्त्वादनुदात्त है, 'अमिपूर्वः' से पूर्वरूप हो गया, जो '**एकादेश उदात्तेनोदात्तः**' से उदात्त ही रहा। संहिता में '**स प त्न सा ह म्**' से पूर्व 'त्वा' शब्द है जो युष्मदादेश होने के कारण अनुदात्त है, उससे भी पूर्व '**वाजिनंम्**' शब्द है जिसमें 'नं' स्वरित है। उस स्वरित से परे '**स्वरितात् संहितायाम्**······' सूत्र से 'त्वा स प त्न'

---

१. 'चतुरुपभृति' यह विधि दो बार पढ़नी पड़ती।

२. केवल एक विधि वाक्य से।

३. मध्य में बिना रुके हुए ही।

४. 'चतुर्गृहीतं जुहोति' इस अनारभ्याधीत विधि के द्वारा चतुर्गृहीत में ही हविष्ट्व बताया गया है। संक्षेप में अधिकरण का तात्पर्य यही है कि श्रुति को एक प्रयत्न से एक ही पात्र में दो चतुर्गृहीत हवियों का ग्रहण अभीष्ट है, वह लक्षणा द्वारा 'अष्टावुपभृति' इस विधि से सिद्ध हो जाता है। विधिद्वयकरण प्रयुक्त गौरव भी नहीं होता।

५. 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' से।

सपत्नसाहीमित्यत्रोदात्तनिवृत्तिस्वरेण ङीप्उदात्तत्वम् ।

आशासानेत्यत्र शानचश्चित्त्वादन्तोदात्तत्वे (पा० ६।१।१६३) प्राप्तेलसार्वधातुकानुदात्तत्वे (पा० ६।१।१८६) धातुस्वरशेषे समासे कृत्स्वरः (पा० ६।२।१३९)।

इन सब अनुदात्त अक्षरों को प्रचय हो गया। 'सा' को प्रचय नहीं हुआ क्योंकि उसके आगे 'हम्' उदात्त है, अतः उसे **'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः'** से सन्नतर हो गया। फलतः संहिता में स्वर स्थिति यों रही—सपत्न साहम् । पदपाठ में सपत्नसाहमिति' सपत्न-साहम् । वस्तुतस्तु यहाँ उपपद समास है, **'समासस्य'** से अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसको बाधकर **'तत्पुरुषे तुल्यार्थ**······' इत्यादि सूत्र से पूर्वपद प्रकृति स्वर प्राप्त हुआ। उसको बाधकर **'गतिकारकोपपदात् कृत्'** से कृदुत्तर पदप्रकृति स्वर हो गया। उत्तरपद में प्रकृति स्वर प्रत्यय स्वर ही है। स्वर संचार में कोई अन्तर नहीं आता। भाष्यकार का हार्दिक अभिप्राय भी इसी प्रक्रिया में है, क्योंकि वे पूर्व इस प्रक्रिया को कई स्थानों पर लिख चुके हैं। संक्षेप के कारण उन्होंने उक्त प्रक्रिया लिखी।

सपत्नसाहीम् इति। 'सपत्नसाहीम्' इस पद में उदात्त निवृत्ति स्वर के कारण ङीप् उदात्त है। तात्पर्य यह है कि 'सपत्नसाही' में कर्मण्यण् हुआ है, अण्गन्तत्वाद् ङीप् हो गया, **'यस्येति च'** से 'अ' का लोप हो गया। सपत्नसाह[1] शब्द कृदुत्तरपद स्वर के कारण अन्तोदात्त है। ङीप् (ई) पित्त्वाद् अनुदात्त है। 'अनुदात्तस्य[2] यत्रोदात्त लोपः ६।१।१६१' इस सूत्र से ङीप् (ई) उदात्त कर दिया। शेष अक्षरों को अनुदात्त हो गया। प्रारम्भिक स्वरस्थिति यों रही—स प त्न सा ही म् । संहिता में 'सपत्न साहम्' की तरह ही 'सपत्न साहीम्' में भी स्वर स्थिति रहेगी। देखो प्रकृतपद के पूर्ववर्ती 'सपत्नसाहम्' पद में स्वर संचार प्रक्रिया। इसी तरह पदपाठ में भी समझो—स प त्न साहीमिति' सपत्न-साहीम् ।

आशासानेति। 'आशासान' शब्द में 'आङ्' पूर्वक 'शास्' धातु से शानच् हुआ है, 'शानच्' के चित् होने से **'चितः'** सूत्र से अन्तोदात्तता प्राप्त थी, परन्तु **'तास्यनुदात्तेन्[3]**······, ६।१।१८६' इस सूत्र से लसार्वधातुक[4] शानच् (आन) **को सर्वानुदात्तता** प्राप्त हुई, फलतः धातुस्वर के शेष रहने का अवसर प्रसक्त हुआ, परन्तु समास में **'गतिकारकोपपदात्कृत्'** **से** कृदुत्तरपद प्रकृति स्वर हो गया। तात्पर्य यह है कि लसार्वधातुक निघात स्वर ही यहाँ कृदुत्तर प्रकृति स्वर है, फलतः धातु स्वर के शेष रहने के कारण यहाँ 'शा' उदात्त रहेगा, शेष निघात स्वर से 'आ' यह गति संज्ञक, 'सा' और 'न' ये तीनों ही अनुदात्त हो जायेंगे। 'आशासाना' में स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् हुआ वह पित्त्वाद् अनुदात्त था। अनुदात्त 'न' के साथ एकादेश होने के कारण 'ना' भी अनुदात्त ही रहा। आरम्भिक स्वर स्थिति यों रही—आ शा सा ना। **'उदात्तादनुदात्तस्य**······' से 'सा' को स्वरित हो गया, स्वरित से परे रहने के कारण 'ना' को प्रचय हो गया—फलतः पदपाठ में स्वर स्थिति यों रहेगी—आ शा सा ने त्या'—शा सा ना। यद्यपि 'ना' अनुदात्त था तथापि 'इति' शब्द का 'इ' निपात का आद्यवयव होने से उदात्त है, 'ना' के साथ उसकी गुणसन्धि होने से 'ने' बन गया। वह **'एकादेश उदात्तेनोदात्तः'** के अनुसार उदात्त रहा। फलतः **'नोदात्तस्वरितेद्यन**······' इस सूत्र से निषेध होने के कारण 'सा' को स्वरित नहीं हुआ। 'ने' क्योंकि उदात्त है, अतः उससे परे 'आ[5]' को स्वरित हो गया। 'आ शा सा ना' में 'ना' स्वरित से परे रहने के कारण उदात्त रहा।

---

१. 'सपत्न साह' शब्द में स्वर संचार प्रकार प्रकृत **शब्द** से पहले देखो।

२. यही उदात्त निवृत्ति स्वर है।

३. यह सूत्र प्रत्यय स्वर का भी अपवाद है और चित् स्वर का भी।

४. ल के स्थान में आदेश सार्वधातुक को 'ल सार्वधातुक कहते हैं।

५. यह गति संज्ञक 'आ' है, जो शेष निघात से अनुदात्त हुआ था।

सौभाग्यशब्दस्य ष्यञ्प्रत्ययान्तस्य (पा० ६।१।१९७) ञित्स्वरः।
व्रतमनुगताऽनुव्रतेत्यत्राव्ययपूर्वपदप्रकृति स्वरः (पा० ६।२।२)।

सुकृतायेत्यत्र "गतिरनन्तरः" (पा० ६।२।४९) इति गतिस्वरत्वे प्राप्ते तदपवादः—"सूपमानात् क्तः" (पा० ६।२।१४५) 'सु' इत्येतस्मादुपमानात्परं क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति। सुप्रजस इत्यत्रासिच्

संहिता में 'सं मा' ज्यं॒ शा सा' ना' इस प्रकार स्वर स्थिति रहेगी। 'ज्यं॒' को स्वरित से परे रहने के कारण भी प्रचय नहीं हुआ, क्योंकि उसके आगे 'शा' उदात्त है, अतः 'उदात्तस्वरित परस्य······' इस सूत्र से उसे सन्नतर (अनुदात्ततर) हो गया।

सौभाग्य इति। सौभाग्यशब्द ष्यञ् प्रत्ययान्त है, अतः उसमें ञित् स्वर है। तात्पर्य यह है—सौभाग्य शब्द में सुभगशब्द से भाव में ष्यञ् हुआ है। **'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च'** इस सूत्र से उभयपद वृद्धि हो गई। **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** इस सूत्र से ञिदन्तत्वाद् आद्युदात्त स्वर हो गया, अर्थात् 'सौ' उदात्त हो गया, शेष निघात से 'भा' और 'ग्य' अनुदात्त हो गए। **'उदात्तानुदात्तस्य······'** से 'भा' को स्वरित हो गया। 'ग्य' को प्रचय हो गया। फलतः पद पाठ में स्वर स्थिति यों रही—सौ भा' ग्य म्'[1]। संहिता में भी यही स्थिति रहेगी।

व्रतमनु इति। 'अनुव्रता' शब्द में 'व्रतमनुगता' इस विग्रह के अनुसार अव्ययपूर्वपद प्रकृतिस्वर हो गया। तात्पर्य यह है कि 'अनुव्रता' शब्द में **'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया'** इस सूत्र से प्रादि समास हो गया। **'समासस्य'** से प्राप्त अन्तोदात्तत्व स्वर को बाधकर **'तत्पुरुषे तुल्यार्थ······'** ६।२।२ इस से अव्यय रूप पूर्वपद 'अनु' को प्रकृति स्वर हो गया। **'उपसर्गाश्चाभिवर्जम्'** के अनुसार 'अनु' आद्युदात्त है, वही यहाँ प्रकृति स्वर है। शेष निघात व्यवस्था इसी के अनुसार होगी। फलतः प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों होगी। अ नु॒ व्र॒ ता॒। **'उदात्तानुदात्तस्य······'** से 'नु' को स्वरित हो गया। 'व्र' 'ता' दोनों ही प्रचित हो गए। संहिता में स्वर स्थिति यों रहेगी—'अ नु' व्र ता॒' इति। पदपाठ में स्वरक्रम यों रहेगा—अ नु' व्र॒ ते त्यनु'—व्र॒ ता॒। 'व्र॒' को प्रचय इसलिए नहीं हुआ कि उसका आगे 'ते' उदात्त है, **'उदात्तस्वरित सन्नतरः'** इस सूत्र से सन्नतर हो गया। यद्यपि 'व्र॒' के आगे 'ता' भी अनुदात्त था, परन्तु 'इति' शब्द निपात होने से आद्युदात्त है, उदात्त 'इ' के साथ गुण सन्धि होने से **'एकादेश उदात्तेनोदात्तः'**······८।२।५' इस सूत्र से 'ते' उदात्त ही रहा। 'त्यनु' में 'नु' ' उदात्त से परे रहने के कारण पूर्ववत् स्वरित ही रहेगा। हाँ उससे आगे अवग्रहमूलक संहिताभाव के कारण **'स्वरितात् संहितायाम्'**······१।२।३९' इस सूत्र से 'व्र॒' और 'ता॒' को प्रचय नहीं होगा। किन्तु अनुदात्त ही रहेगा।

सुकृताये इति। 'सुकृताय' पद में **'गतिरनन्तरः'** से गति स्वर ('सु' को उदात्तता) प्राप्त था, परन्तु **'सूपमानात्[2] क्तः'** इस सूत्र से क्तान्त उत्तर पद को अन्तोदात्त हो गया। शेष निघात व्यवस्था इसी—उदात्तस्वर—के अनुसार होगी। 'सुकृताय' में 'सुकृत' शब्द का 'य' चतुर्थी विभक्ति है, जो कि सुप्त्वाद् अनुदात्त है। फलतः प्रारम्भिक स्वरस्थिति यों रही—सु॒ कृ॒ ता य॒। 'य' को स्वरित हो गया, क्योंकि वह उदात्त 'ता' से परे है। फलतः पद पाठ में स्वर स्थिति यों रहेगी—सु॒ कृ॒ ता ये ति' सु—कृ॒ ता यं। संहिता में स्वर स्थिति यों रहेगी—सु कृ॒ ता य॒। संहिता में 'सु' से पूर्व 'नेह्ये' में

१. 'अम्' विभक्ति पित्वाद् अनुदात्त है। पूर्वरूप एकादेश भी अनुदात्त स्थानिक होने से अनुदात्त ही रहेगा।
२. 'सु' और उपमान से परे क्तान्त उत्तर पद को अन्तोदात्त हो जाता है।

प्रत्ययान्तस्य (पा० ५।४।१२२) चित्स्वरे (पा० ६।१।१६३) समासे कृत्-स्वरः (पा० ६।२।१३९)।

शोभनः पतिर्यासां ताः सुपत्नीरित्यत्र "नञ्सुभ्याम्" (पा० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तस्यापवादः—"आद्युदात्तंद्वयच्छन्दसि" (पा० ६।२।११९) आद्युदात्तंद्वयच्कं यदुत्तरपदं तद्बहुव्रीहौ समासे सोरुत्तर-

---

'न' पर स्वरित चिह्न है, अतः '**स्वरितात् संहितायाम्**······' इस सूत्र से 'सु' को प्रचय हो गया। 'कृ' को प्रचय नहीं हुआ, क्योंकि उसके आगे 'ता' उदात्त है, अतः प्रचय न होकर सन्नतर हो गया। 'ता' उदात्त है उसके आगे 'यु' को स्वरित होना चाहिये था, परन्तु नहीं हुआ, कारण कि संहिता में उसके आगे 'कम्' उदात्त है। '**नोदात्तस्वरितोदयम्**······' से स्वरित का निषेध हो गया।

सुप्रजस इति। 'सुप्रजसः' पद में 'शोभनाः प्रजा यासाम्' इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि समास है। '**नित्यमसिच् प्रजामेधयोः**' इस सूत्र से 'असिच्' समासान्त हुआ है। 'चितः' सूत्र से चित् स्वर होने पर (चित् प्रत्ययान्त को अन्तोदात्त स्वर होने पर) समास में '**गतिकारकोपपदात् कृत्**' इस सूत्र से कृदुत्तर पदप्रकृतिस्वर स्थिर रहा। तात्पर्य यह है कि '**बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्**' इस सूत्र से पूर्वपद प्रकृति स्वर प्राप्त था उसको बाधकर कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर स्थिर रहा। कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर यहाँ चित्स्वर ही है। उसी के अनुसार शेषनिघात व्यवस्था होगी। असिच् प्रत्यय होने पर 'सुप्रजस' शब्द बना उससे जस् (अस्) विभक्ति आने पर 'सु प्र ज सः' बना। जस् (अस्) सुप् होने से अनुदात्त है— अतः प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों रहेगी—सु प्र ज सः। संहिता में '**उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः**' इस सूत्र से 'सः' को स्वरित हो जायगा। सु प्र ज सः। पद पाठ में समास के कारण अवग्रह होगा अतः अवग्रहाभिनय और स्वर स्थिति यों रहेगी—सु प्र ज स 'इति' सु—प्रजसः। 'इति' शब्द से पूर्व 'स' को स्वरित नहीं होगा। कारण कि 'इति' का आदि 'इ' उदात्त है, '**नोदात्त स्वरितोदयम्**······' इस सूत्र से स्वरित का निषेध हो जायगा। 'ति' के आगे 'सु' को प्रचय हो गया।

शोभन इति। 'सुपत्नीः' पद में 'शोभनः पतिर्यासां ताः'[1] इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि समास है। यहाँ 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' इस सूत्र को बाधकर 'नञ् सुभ्याम्'='नञ् और 'सु' से परे उत्तरपद को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त—हो जाता है।' इस सूत्र से अन्तोदात्तत्व प्राप्त था। परन्तु एतदपवादभूत 'आद्युदात्तं द्वयच् छन्दसि= आद्युदात्त द्वयच्क उत्तरपद को बहुव्रीहि—समास में आद्युदात्तत्व ही रहता है, यदि वह 'सु' से परे हो।' **इस सूत्र से** 'पत्नी' शब्द को आद्युदात्तत्व हो गया। अर्थात् 'पत्नी' शब्द के 'प' को उदात्त हो गया। पति शब्द **द्वयच्क** आद्युदात्त **है।** फलतः शेष निघात व्यवस्था इसी आद्युदात्त स्वर के अनुसार होगी। प्रारम्भिक स्वर चिह्न व्यवस्था यों रहेगी—सु प त्नीः। संहिता में भी स्वर क्रम यही रहेगा; यद्यपि '**उदात्तादनुदात्तस्य** ·····' से 'त्नीः' को स्वरित प्राप्त है, तथापि वह होगा नहीं, क्योंकि उसके आगे संहिता में 'उप' शब्द का 'उ' उदात्त है। '**नोदात्त स्वरितोदयम्**······' इस सूत्र से स्वरित का निषेध हो जाता है। पद पाठ में स्वर व्यवस्था यों रहेगी—सु पत्नी रिति। सु—पत्नीः। यद्यपि 'ति' के आगे 'सु' को '**स्वरितात् संहितायाम्**······' सूत्र से प्रचय हुआ है, परन्तु आपाततः प्रतीत होता है कि यह प्रचय नहीं होना चाहिये था, क्योंकि उसके आगे 'पत्नीः' का 'प' उदात्त है, अतः '**उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः**······' सूत्र से सन्नतर होना प्राप्त है। परन्तु '**उदात्त स्वरितपरस्य**······' इस सूत्र में 'संहितायाम्' की अनुवृत्ति आती है, और 'अपवाद उत्सर्ग समान देशीय

---

१. 'सुपत्न्यः' ऐसा रूप होना चाहिये था, किन्तु नहीं हुआ, कारण कि 'वा छन्दसि' से पूर्वसवर्णदीर्घ हो गया। पति शब्द को 'विभाषा सपूर्वस्य' से 'न' कारान्तादेश हो गया।

माद्युदात्तं भवति। सुकेत इत्यत्रापि तद्वत्। महीनामित्यत्र "ङ्याश्छन्दसि बहुलम्" (पा. ६।१।१७८) ङ्यन्ताच्छन्दसि विषयेबहुलंनामुदात्तो भवति।

धाम्नेधाम्न इत्यत्र "अनुदात्तं च" (पा० ८।१।३) इत्याम्रेडितमनुदात्तम्।

होते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार भी यहाँ 'सु' को सन्नतर नहीं हुआ। अवग्रह के कारण संहिता का अभाव है। अतिशयित सन्निधि ही तो संहिता है, यहाँ उत्तरवर्ती उदात्त 'प' अतिसन्निहित नहीं है।

सुकेत इति। 'सुकेत' शब्द में स्वर संचार व्यवस्था पूर्ववत् समझिये। तात्पर्य यह है कि '**नञ् सुभ्याम्**' सूत्र से उत्तरपदान्तोदात्तत्व प्राप्त था, '**आद्युदात्तं द्व्यच् छन्दसि**' से उत्तर पद को आद्युदात्तत्व हो गया, अर्थात् 'केत' के 'के' अक्षर को उदात्त हो गया[1]। शेष निघात व्यवस्था इसी के अनुसार होगी। तदनुसार 'सु के तः' ऐसी स्थिति में 'तं' को स्वरित[2] हो गया। संहिता में स्वर स्थिति यों रहेगी—सु के तंः। पद पाठ में सु के त इति सु—के तंः।

महीनाम् इति। '**ङ्याच्छन्दसि बहुलम्**'=वेद में ङ्यन्त से परे 'नाम्' को विकल्प से उदात्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि 'महीनाम्' यह षष्ठ्यन्त पद है, ङ्यन्त 'मही' शब्द से आम् प्रत्यय हुआ है, उसको '**ह्रस्वनद्यापोनुट्**' सूत्र से नुट् का आगम हुआ है, जो कि यदागम परिभाषा के अनुसार आम् का ही आद्यवयव माना जाता है, फलतः 'नाम्' शब्द सुप्त्वाद् अनुदात्त होना चाहिये। परन्तु उपर्युक्त सूत्र से यहाँ 'नाम्' को उदात्तत्व हो गया। शेष निघात व्यवस्था इसी के अनुसार होगी। फलतः प्रारम्भिक स्वर चिह्न व्यवस्था यों रहेगी—म ही नाम्। संहिता में भी परिवर्तन का कारण न होने से यही व्यवस्था रहेगी। पद पाठ में तो सुतराम् उपर्युक्त ही स्वर क्रम रहेगा।

धाम्ने धाम्न इति। 'धाम्ने धाम्ने' में '**अनुदात्तं च**' इस सूत्र से आम्रेडित को अनुदात्त हो गया। तात्पर्य यह है कि 'धामन्' शब्द '**नब्विषयस्यानिसन्तस्य**' इस फिट् सूत्र से आद्युदात्त है, उसके आगे 'ङे' विभक्ति सुप्त्वाद् अनुदात्त है, अतः केवल 'धाम्ने' शब्द में प्रारम्भिक स्वर व्यवस्था यों बनी—धा म्ने। 'म्ने' को '**उदात्ताद् अनुदात्तस्य स्वरितः**' से स्वरित हो गया। अतः निश्चित स्वर व्यवस्था यों रही—'धा म्ने'। '**नित्यवीप्सयोः**' से 'धाम्ने' शब्द को द्विरुक्त किया, उसमें भी पूर्ववत् स्वर—व्यवस्था प्राप्त रही, परन्तु '**तस्य परमाम्रेडितम्**' इस सूत्र से द्वितीय 'धाम्ने' पद की 'आम्रेडित' संज्ञा हो गई, उसको '**अनुदात्तं च**' से निघात (सर्वानुदात्त) हो गया। अतः दोनों में मिलकर प्रारम्भिक स्वर क्रम यों रहा—धाम्ने' धाम्ने। द्वितीय 'धाम्ने' पद में दोनों अनुदात्तों को स्वरित से परे रहने के कारण प्रचय हो गया, फलतः संहिता में निश्चित स्वर व्यवस्था यों रही—धाम्ने' धाम्ने। पद पाठ में समास स्थल की तरह आम्रेडित स्थल में भी अवग्रह किया जाता है और 'इति' शब्द का प्रयोग करके ही उसका अभिलाप किया जाता है—धाम्ने' धाम्न इति धाम्ने'-धाम्ने। 'इति' शब्द से पूर्व द्वितीय 'धाम्ने' पद में 'ए' को अयादेश करके '**लोपः शाकल्यस्य**' से 'य्' का लोप हो गया। यद्यपि आम्रेडित होने के कारण 'इति' शब्द से पूर्व द्वितीय 'धाम्ने' 'अनुदात्तं च' से सर्वानुदात्त है, तथापि 'धा' को स्वरित से परे रहने के कारण प्रचय हो गया, परन्तु 'म्ने' को प्रचय नहीं हुआ, क्योंकि उसके आगे 'इति' का आदि 'इ' उदात्त है, अतः '**उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः**' सूत्र से अनुदात्ततर हो गया। 'इति' शब्द में 'ति' के 'इ' को भी उदात्त से परे रहने के कारण

---

१. 'कित ज्ञाने' धातु से घञ् होकर 'केत' शब्द बना है, अतः वह 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त है।
२. 'उदात्तादनुदात्तस्य……' से।

ज्योतिरित्यत्रेसुन्प्रत्ययान्तत्वान्नित्स्वरः (पा० ६।१।१९७) ॥

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिताभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके दशमोऽनुवाकः ॥१०॥

स्वरित प्राप्त था, परन्तु हुआ नहीं, कारण कि उसके आगे 'धा म्ने' का 'धा' उदात्त है, '**नोदात्तस्वरितोदयम्**······' सूत्र से स्वरित का निषेध हो गया। 'इति' शब्द के आगे द्वितीय 'धा म्ने' पद में भी स्वरित से परे रहने पर भी प्रचय नहीं हुआ, क्योंकि अवग्रह के कारण संहिता का अभाव है।

ज्योतिरिति। 'ज्योतिष्' शब्द 'इसुन् प्रत्ययान्त है, अतः '**ञ्नित्यादिर्नित्यम्**' से आद्युदात्त है। अतः संहिता और पद पाठ में स्वर स्थिति यों रहेगी—ज्यो तिः। 'ति' को पहले शेष निघात से अनुदात्त हुआ था; तदनन्तर '**उदात्तादनुदात्तस्य**···' से स्वरित हो गया।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता के प्रथम काण्ड में प्रथम प्रपाठक के दशम अनुवाक पर श्रीसायणाचार्य कृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

॥ श्रीः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता

सायणभाष्यसहिता हिन्द्यनुवादसमेता च

प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके

एकादशोऽनुवाकः

दशमेऽनुवाके आज्यहविषो ग्रहणमुक्तम्। एकादश इध्माबर्हिःपूर्वकं वेद्यां हविरासादनमुच्यते। तत्र कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये इत्याद्यो मन्त्रः[1]। ततः पूर्वं 'आपो देवीः' (तै०सं० १/१/५) इत्ययमुदकाभिमन्त्रणमन्त्र आम्नातव्य इत्यभिप्रेत्य पूर्ववद्व्याचष्टे—"आपोदेवीरग्रेपुवो अग्रेगुव इत्याह। रूपमेवाऽऽसामेतन्महिमानं व्याचष्टे। अग्र इमं यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिमित्याह। अग्र एव यज्ञं नयन्ति। अग्रे यज्ञपतिम्। युष्मानिन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य इत्याह। वृत्रꣳह हनिष्यन्निन्द्र आपो वव्रे। आपो हेन्द्रं वव्रिरे। संज्ञामेवाऽऽसामेतत्सामानं व्याचष्टे। प्रोक्षिताः स्थेत्याह। तेनाऽऽपः प्रोक्षिताः" (तै०ब्रा० ३।३।६) इति।

कृष्णो॑ऽस्याखरे॒ष्ठोऽग्नये॑ त्वा॒ स्वाहा॑

कृष्ण इति। कल्पः—"अथेध्मं विस्रस्य प्रोक्षति कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा स्वाहेति" (बौ० श्रौ० १।१३) इति।

ग्यारहवें अनुवाक के सायण भाष्य का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ

दशमे इति। दशम अनुवाक में आज्य रूप हवि का ग्रहण बता दिया गया। ग्यारहवें अनुवाक में काष्ठ और कुशों के साथ वेदि पर हवि का आसादन (स्थापित करना) बताया जायगा। ग्यारहवे अनुवाक में **'कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये''''''** यह पहला मन्त्र है। इससे पूर्व **'आपोदेवीरग्रेपुवो'''''''** यह जल को अभिमन्त्रित करने का मन्त्र पढ़ना चाहिये, इस अभिप्राय से **'आपोदेवीरग्रेपुवो अग्रेगुवा इत्याह''''''तेनापः प्रोक्षिताः'** यह ब्राह्मण[2] वाक्य पूर्व की तरह उक्तजलाभिमन्त्रण के मन्त्र[3] का व्याख्यान करता है।

कृष्ण इति। कल्पसूत्र[4] कहता है कि उदकाभिमन्त्रण के अनन्तर **लकड़ियों को खोलकर 'कृष्णोस्याखरेष्ठो'''''' स्वाहा'** इस मन्त्र से उनका प्रोक्षण करे।

---

१. यह मन्त्र पहले पञ्चम अनुवाक की प्रथम कण्डिका में आ चुका है।

२. इस ब्राह्मण संदर्भ का हिन्दी अनुवाद पञ्चम अनुवाक के अनुवाद में हो चुका है, उसे वहीं देखिये।

३. आपोदेवीरग्रेपुवो''''''' इस मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित किया जाता है।

४. बौधायन कल्प सूत्र। आपस्तम्ब भी यही कहता है—पूर्ववत् प्रोक्षणीरभिमन्त्र्य विस्रस्येध्मं कृष्णोऽस्याखरेष्ठ इति त्रिः प्रोक्षति।

हे इध्म, त्वं वह्निप्रियत्वात्तदभेदोपचारेण कृष्णो मृगोऽसि । तथा वनस्पतिस्थोऽसि। अतोऽग्नये प्रियं त्वां प्रोक्षामि। तदेतत्कर्तव्यमिति स्वकीया सरस्वती ब्रूते,सोऽयमर्थः स्वाहाशब्दवाच्यः। अत एवाग्निहोत्रब्राह्मणे प्रजापतेः स्वकीयया वाचा सह संवाद एवमाम्नायते—"तं वागभ्यवदज्जुहुधीति। सोऽब्रवीत्। कस्त्वमसीति। स्वैव ते वागित्यब्रवीत्। सोऽजुहोत्स्वाहेति' (तै॰ ब्रा॰ २।१।२) इति।

अथवा नानार्थवाची स्वाहाशब्दः प्रोक्षणं ब्रूते । अथोक्त मन्त्रार्थं दर्शयति—"अग्निर्देवेभ्यो निलायत। कृष्णो रूपं कृत्वा स वनस्पतीन्प्राविशत्। कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा स्वाहेत्याह। अग्नय एवैनं जुष्टं करोति। अथो अग्नेरेव मेधमवरुन्धे" (तै॰ ब्रा॰ ३।३।६) इति।

हे इति । हे[1] काष्ठ ! तू अग्नि का प्रियतम है, अतः उससे (अग्नि से) अभिन्न व्यवहृत होने के कारण कृष्णमृग स्वरूप है। इसी प्रकार तू आखरेष्ठ[2]—वनस्पतियों में रहने वाला भी है। अतः अग्नि[3] के लिए प्रिय तुझे मैं प्रोक्षित[4] करता हूं। यह (प्रोक्षण कर्म) करना ही चाहिये—यह बात अपनी ही वाणी कहती है। यह अर्थ (अपनी वाणी कहती है—यह अर्थ) 'स्वाहा' शब्द का वाच्य[5] अर्थ है। इसीलिए अग्निहोत्र—ब्राह्मण में प्रजापति का अपनी वाणी के साथ इस प्रकार संवाद (परस्पर बातचीत) बताया जाता है—**तं वागभ्यवदद्······स्वाहेति** । उस प्रजापति को वाणी ने कहा कि 'हवन करो'। प्रजापति ने कहा (पूछा) तू कौन है, उसने उत्तर दिया कि मैं तेरी ही अपनी वाणी हूं। क्योंकि उसकी (प्रजापति की) अपनी वाणी कहती है, इसलिए उसने (प्रजापति ने) हवन किया।

अथवा इति। अथवा अनेकार्थवाची 'स्वाहा' शब्द यहां 'प्रोक्षण' रूप अर्थ को बताता है। अब **'कृष्णोस्याखरेष्ठो······'** इस मन्त्र का जो अर्थ ऊपर लिखा गया है, उस अर्थ को ब्राह्मण वाक्य में दिखाते हैं—**अथो** इति। **'अग्निर्देवेभ्यो······मेधमवरुन्धे'** इति। अग्नि कृष्ण मृग का रूप धारण करके देवताओं से छिप गया। वह वनस्पतियों में प्रविष्ट हो गया। **'कृष्णोस्या······'** इत्यादि मन्त्र को जो अध्वर्यु बोलता है, वह ऐसा करके इस काष्ठ को अग्नि के लिए ही प्रिय (जुष्ट[6]) बनाता है, और अग्नि संबन्धी हवनीय[7] वस्तु का ही संपादन करता है।

---

१. यहाँ से मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

२. आखनति—समन्ताद् भुवं मूलैर्खदारयति—इति—आखरः, वनस्पतिरित्यर्थः, खन् धातु से 'डर्' प्रत्यय हुआ है। आखरे तिष्ठतीत्याखरेष्ठः।

३. 'अग्नि के लिए प्रिय तुझे' यह 'अग्नये त्वाम्' का अर्थ है। भट्ट भास्कर ने इसका अर्थ किया है—अग्नि के लिए तुझे प्रोक्षित करता हूं—अग्न्यर्थं त्वां प्रोक्षामि।

४. क्योंकि इस मन्त्र का प्रोक्षण में विनियोग है, इसलिए 'प्रोक्षामि' पद का अध्याहार कर लिया गया है।

५. 'स्वाहा' शब्द में सन्धि द्वारा दो शब्द मिले हुए हैं—'स्वा' और 'आह'। स्वा का अर्थ है—स्वकीया, अपनी अर्थात् 'अपनी वाणी'। 'आह' का अर्थ है—ब्रूते = कहती है। वैदिक व्याकरण के अनुसार 'आह' को दीर्घ होकर 'आहा' बन जाता है—देखो सिद्धान्त कौमुदी 'द्व्यचोतस्तिङः' सूत्र।

६. मन्त्रार्थ करते हुए भाष्यकार ने 'अग्नये त्वा' में 'अग्नये' इस शब्द के आगे जो 'प्रियम्' यह शब्द जोड़ा है, वह इसी ब्राह्मण वाक्य के आधार पर जोड़ा है।

७. ब्राह्मणोक्त 'मेध' शब्द का अर्थ है—'हवनीय'। 'मेध्यते संगम्यतेऽग्नाविति मेधः, हवनीय वस्तु' यह मेध शब्द की व्युत्पत्ति है।

वेदिरसि बर्हिषे त्वा स्वाहा

वेदिरिति। कल्पः—"वेदिं प्रोक्षति। वेदिरसि बर्हिषेत्वा स्वाहेति" (बौ० श्रौ० १।१३) इति। हे वेदे, त्वं लब्धाऽसि। 'तदिमामविन्दन्त, यदिमामविन्दन्त तद्वेद्यै वेदित्वम्" (तै० सं० ६।२।४) इति श्रुतेः। अतो बर्हिर्धारयितुं त्वां प्रोक्षामि। रूपकेणाऽऽधाराधेयभावं दर्शयति—"वेदिरसि बर्हिषे त्वा स्वाहेत्याह। प्रजा वै बर्हिः। पृथिवी वेदिः। प्रजा एव पृथिव्यां प्रतिष्ठापयति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा स्वाहा

बर्हिरिति। कल्पः—"बर्हिः प्रोक्षति। बर्हिरसि स्त्रुग्भ्यस्त्वा स्वाहेति" (बौ० श्रौ० १।१३) इति। हे दर्भ, वेदेस्त्वं बृंहणमसि। अतस्त्वयि स्रुचः स्थापयितुं त्वां प्रोक्षामि। पूर्ववदाधारत्वं दर्शयति—"बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा स्वाहेत्याह। प्रजा वै बर्हिः। यजमानः स्रुचः। यजमानमेव प्रजासु प्रतिष्ठापयति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

वेदिरिति। बौधायन कल्प सूत्र कहता है कि '**वेदिरसि······स्वाहा**' इस मन्त्र से वेदि का प्रोक्षण करे। **हे**[1] इति। हे वेदि, तू (हमें) प्राप्त हुई है, इसलिए मैं तुझ पर कुशों[2] को रखने के लिए तेरा प्रोक्षण करता हूं। भाष्यकार ने '**वेदिरसि**' का अर्थ किया है 'तू हमें प्राप्त हुई है'। इससे उन्होंने सूचित किया है कि 'वेदि' शब्द 'विद्लृलाभे' इस धातु से बना है, ऐसा मानने में उन्होंने '**तदिमाम्······वेदित्वम्**' इस ब्राह्मण श्रुति को प्रमाण रूप में उपस्थित किया है। उन्होंने इस वेदि को प्राप्त किया, यह जो इस वेदि का प्राप्त करना है, यही इस वेदि का वेदित्व है। वेदि और कुशों के आधाराधेयभाव की उपपत्ति[3] ब्राह्मण वाक्य रूपक द्वारा प्रदर्शित करता है—'**वेदिरसि······प्रतिष्ठापयति**' इति। **वेदि-रसि······**' इस मन्त्र का तात्पर्य यही है कि बर्हि (कुश) प्रजा स्वरूप है, और वेदि पृथ्वी स्वरूप है, वेदि पर कुशास्तरण करके अध्वर्यु पृथ्वी पर प्रजा की प्रतिष्ठापना करता है।

बर्हिरिति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि '**बर्हिरसि······स्वाहा**' इस मन्त्र से बर्हि (कुश) का प्रोक्षण करे। **हे** इति। हे दर्भ! (हे कुश) तू वेदि को बढ़ाने[4] वाला है। इसलिए तुझ पर स्रुचों को (जुहू आदि पात्रों को) रखने के लिए मैं तेरा प्रोक्षण करता हूं। ब्राह्मण वाक्य पूर्ववत्[5] आधाराधेय भाव की उपपत्ति प्रदर्शित करता है - '**बर्हिरसि······प्रतिष्ठापयति**' इति। बर्हि प्रजा स्वरूप हैं, और स्रुच् यजमान स्वरूप हैं, बर्हि पर स्रुचों को स्थापित करके अध्वर्यु प्रजा में यजमान को प्रतिष्ठापित करता है।

---

१. यहाँ से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है।
२. वेदि पर 'बर्हिस्तरण' एक विशेष कर्म है। वेदि को प्रोक्षण करके उस पर कुश बिछाए जाते हैं, फिर उन कुशों को भी प्रोक्षित किया जाता है, और उन पर स्रुच् रक्खे जाते हैं।
३. वेदि पर कुश बिछाने का कारण है—उस कारण को ही ब्राह्मण में रूपक द्वारा बताया गया है।
४. 'बर्हिष्' शब्द का रूढि प्रयुक्त अर्थ है दर्भ या कुश। क्योंकि यह वृहि धातु से बना है, इसलिए यौगिक अर्थ है बढ़ाने वाला।
५. जैसा कि पहले वेदि प्रोक्षण में बताया गया है।

दि॒वे त्वा॒ऽन्तरि॑क्षाय त्वा पृथि॒व्यै त्वा[१]

दिव इति। कल्पः—"अन्तर्वेदिपुरोग्रन्थि बर्हिरासाद्य दिवे त्वेत्यग्रं प्रोक्षति, अन्तरिक्षाय त्वेति मध्यं पृथिव्यैत्वेति मूलम्" (आप०श्रौ० २।८।१) इति। बर्हिष्येव लोकत्रयं भावयित्वा लोकार्थता प्रोक्षणस्येत्याह—"दिवेत्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वेति बर्हिरासाद्य प्रोक्षति। एभ्य एवैनल्लोकेभ्यः प्रोक्षति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। विधत्ते—"अथ ततः सह स्रुचा पुरस्तात्प्रत्यञ्चं ग्रन्थिं प्रत्युक्षति। प्रजा वै बर्हिः। यथा सूत्यै काल आपः पुरस्ताद्यन्ति। तादृगेव तत्" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। अग्रादित्रयप्रोक्षणानन्तरं यः शेषस्तेन प्रोक्षणशेषेणोदकेन स्वयं हस्तस्थित प्रोक्षणपात्रेण सह बर्हिषः पुरस्ताद्धस्तं प्रसार्योदकं यथा प्रत्यक् सिच्यते तथोत्क्षिपेत्। यथा मनुष्याणां गवादीनांच प्रसूतिकाले प्रथमत आपो निर्गच्छन्ति। तत्प्रोक्षणं तादृगेव भवति।

दिव इति। आपस्तम्ब[१] कल्पसूत्र कहता है कि वेदि के मध्य में कुशों को इस प्रकार रक्खे कि उनकी[२] गाँठ पूरब की ओर रहे, और इस प्रकार रखकर '**दिवे[३] त्वा**' इस मन्त्र से कुशों के अग्रभाग को, '**अन्तरिक्षाय त्वा**' इस मन्त्र से मध्य भाग को, और '**पृथिव्यै त्वा**' इस मन्त्र से मूल भाग को प्रोक्षित करे। हे कुशो ! मैं तुम्हें द्युलोक के लिए प्रोक्षित करता हूं। मैं अन्तरिक्ष के लिए तुम्हें प्रोक्षित करता हूं। मैं पृथ्वीलोक के लिए तुम्हें प्रोक्षित करता हूं। कुशों में लोकत्रय भावना पूर्वक किया जाने वाला यह प्रोक्षण लोकार्थ है—इस बात को ब्राह्मण वाक्य बताता है—'**दिवे त्वा······लोकेभ्यः प्रोक्षति**' इति। अध्वर्यु जो बर्हि का आसादन करके 'दिवेत्वा' इत्यादि मन्त्रों से इनका (बर्हि का) प्रोक्षण करता है, वह इन्हीं लोकों के लिए करता है। ब्राह्मणवाक्य ग्रन्थिसेचन का भी विधान करता है—**अथ[४]······तद्** इति। कुशों[५] के **अग्र आदि[६]**

---

१. बौधायन भी यही कहता है—'तदन्तर्वेदि पुरोग्रन्थ्यासाद्य प्रोक्षति, दिवे त्वा—इत्यग्राणि, अन्तरिक्षाय त्वा इति मध्यानि, पृथिव्यै त्वा इति मूलानि।

२. तैत्तिरीय संहिता के बर्हिराहरण नामक द्वितीय प्रकरण में यज्ञार्थ बर्हि संग्रह करने का विधान है, संगृहीत कुशों को विधि पूर्वक डोरी से बाँधकर और गाँठ लगाकर रक्खा जाता है। यहाँ वेदिस्तरण के लिए उनकी आवश्यकता होती है, अतः उनको वेदि पर लाकर रक्खा जाता है।

३. 'दिवे त्वा' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ भाष्यकार ने नहीं लिखा, क्योंकि वह अत्यन्त सुगम है। फिर भी हमने मन्त्रों का अक्षरार्थ लिख दिया है।

४. इस ब्राह्मण वाक्य का व्याख्यान भाष्यकार ने आगे 'अग्रादित्रयः······' से आरम्भ करके स्वयं किया है। आपस्तम्ब ने भी 'पोषाय त्वा इति सह स्रुचा पुरस्तात् प्रत्यञ्चं ग्रन्थिं प्रत्युक्ष्य' ऐसा कहकर ग्रन्थिसेचन का विधान किया है। 'सहस्रुचा पुरस्तात् प्रत्यञ्चम्' यह विशेषण ब्राह्मण और सूत्र दोनों में समान है। परन्तु धूर्तस्वामी और सायण ने इसका अलग-अलग अर्थ किया है। धूर्त स्वामी ने लिखा है—'सह स्रुचा हस्तेन पुरस्तात् प्रत्यगपवर्गम्' स्रुक् सहित हाथ से पूर्व से पश्चिम की ओर जल सेचन करे। परन्तु सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान कुछ और ही किया है, उसे मूल में और हिन्दी अनुवाद में ऊपर देखिये।

५. यहाँ से ब्राह्मण के सायण कृत व्याख्यान का अनुवाद प्रारम्भ होता है।

६. 'आदि' पद से मध्य और मूल भाग लिए जाते हैं।

स्वधा पितृभ्य ऊर्भव बर्हिषद्भ्य ऊर्जा पृथिवीं गच्छत

स्वधेति। कल्पः—"अतिशिष्टाः प्रोक्षणीर्निनयति दक्षिणायै श्रोणेरोत्तरस्यै श्रोणेः स्वधा पितृभ्य ऊर्भव बर्हिषद्भ्य ऊर्जा पृथिवीं गच्छतेति" (बौ० श्रौ० १।१३) इति।

हे जल, मया त्वं पितृभ्योदत्तमसि। अतो बर्हिष्यवस्थितेभ्यः पितृभ्यो रसरूपं भव। हे जलावयवाः, भवदीयोद्भूतरसरूपेण पृथिवीं गच्छत। मन्त्रव्याख्यानपूर्वकं विधत्ते—"स्वधापितृभ्य इत्याह। स्वधाकारो हि पितृणाम् ऊर्भवबर्हिषद्भ्य इति दक्षिणायै श्रोणेरोत्तरस्यै निनयति संतत्यै। मासा वै पितरो बर्हिषदः। मासानेव प्रीणाति। मासा वा ओषधीर्वर्धयन्ति। मासाः पचन्ति समृद्ध्यै। अनतिस्कन्दन्ह पर्जन्यो वर्षति। यत्रैतदेवं क्रियते। ऊर्जा-पृथिवीं गच्छतेत्याह। पृथिव्यामेवोर्जं दधाति। तस्मात्पृथिव्या ऊर्जा भुञ्जते" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

तीनों भागों का प्रोक्षण करने के अनन्तर प्रोक्षण से बचे हुए जल से ग्रन्थि का सेचन करे। सेचन करते समय जल को इस प्रकार डाले कि जल पश्चिम की ओर बहे। जल डालने से पहले स्वयं हस्तस्थित प्रोक्षणपात्र के साथ कुश के सामने हाथ फैलावे, और फैलाए हाथ पर रक्खे हुए प्रोक्षण पात्र से ही जल डाले। जैसे प्रसव के समय स्त्रियों और गउओं की योनि से पहले जल निकला करता है, उसी प्रकार का यह प्रोक्षण (जल सेचन) भी है[1]।

स्वधेति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि ग्रन्थि-सेचन से भी बचे हुए प्रोक्षणी के जल को वेदि की दक्षिण श्रोणि से लेकर उत्तर श्रोणि तक - धारा[2] के रूप में—गिरा[3] दे। जल गिराते समय यह मन्त्र बोले—'**स्वधा पितृभ्य…… पृथिवीं गच्छत**' इति।

हे इति। हे जल ! मैंने तुझे पितरों के लिए अर्पित किया है, इसलिए तू कुशाओं पर अवस्थित पितरों के लिए रसरूप हो जा। हे जल के कणों ! तुम अपने उद्भूत (प्रकट) रस के रूप में पृथिवी में चले जाओ। ब्राह्मणवाक्य मन्त्र का व्याख्यान करते हुए प्रोक्षणी जल के शेष भाग का निनयन (गिराना) विधान करता है—'**स्वधा…… ऊर्जा भुञ्जते**' इति। '**स्वधा पितृभ्यः……**' इत्यादि ब्राह्मणसंदर्भ का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं।

---

१. सायण और धूर्त स्वामी के व्याख्यानों का समान तात्पर्य सिद्ध करने के लिए सायण के वाक्य में कुछ थोड़ा सा फेर बदल करना पड़ेगा। 'हस्तस्थित प्रोक्षण पात्रेण सह हस्तं प्रसार्य बर्हिषः पुरस्ताद् उदकं यथा प्रत्यक् सिच्यते, तथोत्क्षिपेत्' ऐसा अन्वय मान लेने पर दोनों के तात्पर्य में भेद नहीं रहता। बर्हि के पूर्वभाग से पश्चिम की ओर जल सेचन रूप अर्थ इस अन्वय से सिद्ध हो जाता है। धूर्त स्वामी का भी यही तात्पर्य है।

२. आपस्तम्ब ने 'संततं निनीय' ऐसा लिखा है, इसलिए हमने 'धारा के रूप में' ऐसा लिख दिया।

३. मूलोद्धृत कल्पसूत्र में पठित 'निनयति' शब्द का तात्पर्य ही 'गिरा दे' इस शब्द से व्यक्त किया गया है।

स्वधाकारः पितॄणां प्रिय इत्यर्थो वाजसनेयिनां प्रसिद्धः। देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च। हन्तकारं मनुष्याः। स्वधाकारं पितरः" (बृ० उ० ५।८।१) इति। श्रुतिः पूर्वमुदाहृता। वेदेर्दक्षिणश्रोणिमारभ्योत्तरश्रोणिपर्यन्तं निनयनेन यजमानस्याविच्छिन्ना प्रजा भवति। मासाभिमानिदेवा एव बर्हिषदः पितर इति तत्प्रतीतौ सत्यामभिमन्तव्य कालात्मका मासा ओषधीर्वर्धयित्वा फलं संपादयन्ति। ततोऽन्नसमृद्धिः। यस्मिन्देशे एतन्निनयनमेवं क्रियते तस्मिन्देशे पर्जन्योऽतिवृष्टचा सस्यमविनाशयन् यथाकालं यथोचितं वर्षति। उदकरसस्य[1] पृथिवीगतत्वात्पृथिवीजन्येनान्नरसेन जना भोगं संपादयन्ति।

शैथिल्यं विधत्ते—"ग्रन्थिꣳविस्रꣳसयति। प्रजनयत्येव तत्" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। बन्धनरूपे[2]गर्भेऽवस्थितस्य बर्हिषो विस्रंसनमेवोत्पादनम्। शिथिलस्य विमोचनं विधत्ते—"ऊर्ध्वं प्राञ्चमुद्गूढं प्रत्यञ्चमायच्छति। तस्मात्प्राचीनꣳरेतो धीयते। प्रतीचीः प्रजा जायन्ते" (तै०ब्रा० ३।३।६) इति।

स्वधाकार इति। स्वधा शब्द का उच्चारण करके समर्पित अन्न जलादि (कव्य[1]) ही पितरों को प्रिय है—यह सिद्धान्त वाजसनेयप्रोक्त शाखा को अध्ययन करने वाले—शुक्ल यजुर्वेदियों को भली प्रकार विदित है। **'देवा उपजीवन्ति······'** इत्यादि श्रुति पहले बताई जा चुकी है। जिसका तात्पर्य यह है कि 'देवता स्वाहाकार और वषट्कार का उपजीवन करते हैं—देवताओं को 'स्वाहा' और 'वौषट्' शब्द का उच्चारण करके ही हविर्द्रव्य दिया जाता है, और उसे ही वे ग्रहण करते हैं। मनुष्य हन्तकार का उपजीवन करते हैं—मनुष्यों[2] के उद्देश्य से दी जाने वाली वस्तु **'इदं मनुष्येभ्यो हन्त'** इस प्रकार हन्त शब्द का उच्चारण करके ही दी जाती है। पितर स्वधाकार का उपजीवन करते हैं—अग्निष्वात्त आदि पितरों को **'इदं पितृभ्यः स्वधा'** इस प्रकार स्वधा शब्द का उच्चारण करके ही देय द्रव्य दिया जाता है, और उसे ही वे ग्रहण करते हैं। वेदि की दक्षिण श्रोणि से लेकर उत्तर श्रोणि तक (अवशिष्ट) प्रोक्षणी जल का निनयन करने से यजमान की संतति विच्छिन्न नहीं होती। मासाभिमानी देवता ही 'बर्हिषद्' पितर कहलाते हैं। उनकी प्रसन्नता होने पर अभिमन्तव्य कालात्मक मास ओषधियों की वृद्धि करके फल को संपादित करते हैं, जिससे अन्न समृद्धि होती है। जिस देश में यह निनयन इस प्रकार किया जाता है, उस देश में मेघ अतिवृष्टि से अन्न का नाश न करके समय पर यथोचित (जितनी-अपेक्षित है उतनी) वर्षा करते हैं। जल रूप रस के पृथिवी में समा जाने से पृथिवी से उत्पन्न होने वाले अन्नरस से लोग सुख समृद्धि प्राप्त करते हैं।

ब्राह्मण वाक्य कुश ग्रन्थि को ढीला करने का विधान करता है—**'ग्रन्थिम्······तत्'** इति। कुशों की गट्ठी की गाँठ ढीली कर दे, बन्धन रूप गर्भ में पड़े हुए कुशों का विस्रंसन करना (उनकी गाँठ को ढीला कर देना) ही उत्पादन है। गाँठ को ढीला करके अब उसे खोलने की विधि बताते हैं—**'ऊर्ध्वं······जायन्ते'** इति।

१. ख. कसस्ययोः पृ। २. क. ग. गर्तेस्थि।

१. पितरों को दिया जाने वाला द्रव्य कहलाता है।
२. यहाँ मनुष्य शब्द से सनक आदि मानव ही लिए जाते हैं।

पश्चात्प्राञ्चमुपगूहतीति हि पूर्वं विहितस्य प्राञ्चमुद्गूढस्य ग्रन्थेरग्रं धृत्वोर्ध्वमुत्कृष्य प्रत्यङ्मुखत्वेन कर्षेत् ।

विष्णोः स्तूपोऽस्य

विष्णोरिति । कल्पः—"विष्णोः स्तूपोऽसीति कर्षन्निवाऽऽहवनीयं प्रति प्रस्तरमुपादत्ते" (आप. श्रौ. २।८।५) इति ।

पश्चाद्[1] इति । पश्चिम[2] से पूर्व की ओर ग्रन्थि का उपगूहन करे यह बात पहले[3] **'पश्चात् प्राञ्चमुपगूहति'** इस वाक्य के द्वारा बताई गई है। इस प्रकार पूर्व की ओर उपगूढ गाँठ के अगले भाग को पकड़ कर ऊपर की ओर खींच कर पश्चिम की ओर खींचे। ऐसा करने से गाँठ खुल जायगी।

भाष्यकार ने मूलोद्धृत ब्राह्मण सन्दर्भ के 'ऊर्ध्वं प्राञ्चमुद्गूढं[4] प्रत्यञ्चम् आयच्छति'[5] इतने ही अंश का व्याख्यान किया है, शेष अंश—तस्मात् प्राचीनम्······जायन्ते—इतना अंश छोड़ दिया है। वह इसलिए कि एक तो यह अंश सुगम है, दूसरे इसके कुछ भाग का द्वितीय अनुवाक में व्याख्यान हो चुका है, देखो स० 'ते माऽऽस्थात्' इस मन्त्र की

---

१. यह 'ऊर्ध्वम्······' इत्यादि ब्राह्मण संदर्भ का व्याख्यान है।

२. यद्यपि आपस्तम्ब ने 'पुरस्तात् प्रत्यञ्चं ग्रन्थिमुपगूहति, पश्चात् प्राञ्चं वा' इस प्रकार पूर्व से पश्चिम की ओर और पश्चिम से पूर्व की ओर, दो तरह से ग्रन्थि का उपगूहन बताया है—आप० श्रौ० सू० प्रश्न १, पटल २, सू० १०। परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण में (काण्ड ३, प्रपा० २, अनुवा० २)' पश्चात् प्राञ्चमुपगूहति' यह एक ही प्रकार बताया गया है। तैत्तिरीय शाखीय भाष्यकार ने भी इसे ही स्वीकार किया है।

३. देखो तै० संहिता अनु० २, 'स ते माऽऽस्थात्' इस मन्त्र की व्याख्या। उसका संक्षेप में तात्पर्य यही है कि गाँठ देने के बाद बचे हुए रस्सी के दोनों सिरों को मिलाकर पश्चिम की ओर खींचकर इस तरह खींच दे कि उनका अग्रभाग पूर्व की ओर ही रहे। यही क्रिया 'पश्चात् प्राञ्चमुपगूहति' के द्वारा बताया गया ग्रन्थि का गूहन या उपगूहन है। इतना ध्यान रहे कि जिनके संप्रदाय में प्रत्यगपवर्ग ('पुरस्तात् प्रत्यञ्चम्) के अनुसार उपगूहन होता है, उनके यहाँ प्रागपवर्ग (पश्चिम से पूर्व की ओर) ग्रन्थि विमोचन होता है। जिनके यहाँ प्रागपवर्ग (पश्चात् प्राञ्चम्—के अनुसार) उपगूहन होता है, उनके यहाँ ग्रन्थि विमोक प्रत्यगपवर्ग होता है। इसीलिये मूलोद्धृत ब्राह्मण में कहा गया है कि 'प्राञ्चमुद्गूढं प्रत्यञ्चमायच्छति' इति। अर्थात् जिस ग्रन्थि का उपगूहन पश्चिम से पूर्व की ओर हुआ है, उसकी मोचन क्रिया प्रत्यगपवर्ग होनी चाहिये, अर्थात् उसकी मोचन क्रिया की समाप्ति पश्चिम की ओर होनी चाहिये। धूर्त स्वामी ने भी—'प्राञ्चमुद्गूढं प्रत्यञ्चमायच्छति' इस आपस्तम्ब सूत्र के भाष्य में लिखा है—'प्रत्यञ्चमुद्गूढं प्राञ्चम्' इति। वस्तुतस्तु प्रागपवर्ग और प्रत्यगपवर्ग उपगूहन और विमोचन का स्वरूप याज्ञिकों के क्रियात्मक अनुष्ठान को प्रत्यक्ष देखकर ही पूर्णतया अवगत हो सकता है।

४. 'उद्गूढम्' का अर्थ है उपगूढम्।

५. आयच्छति-आयच्छेत्, कर्षेत्, खींचे।

हे प्रस्तर, त्वं व्यापिनो यज्ञस्य संघातरूपो धारकोऽसि। तदेतद्दर्शयति—"विष्णोःस्तूपोऽसीत्याह। यज्ञो वै विष्णुः। यज्ञस्य धृत्यै" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। विधत्ते—"पुरस्तात्प्रस्तरं गृह्णाति। मुख्यमेवैनं करोति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। वेदेः पूर्वभागे ब्रह्मा यजमानो वा प्रस्तरं धारयेत्। तच्च सूत्रेऽभिहितम्—"ब्रह्मा प्रस्तरं धारयति यजमानो वा" (आप० श्रौ० २।८।६) इति।

व्याख्या। इस अंश का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—इसीलिए पूर्व[1] की ओर ही वीर्याधान होता है, और पश्चिमाभिमुख ही प्रजा उत्पन्न होती है।

विष्णोरिति। आपस्तम्ब कल्पसूत्र कहता है कि **'विष्णोः स्तूपोऽसि'** इस मन्त्र से प्रस्तर (कुशमुष्टि) का ग्रहण करे। यह प्रस्तर ग्रहण इस प्रकार होना चाहिये कि मानों ग्रहणकर्ता उस कुशमुष्टि को आहवनीय की ओर ले जा रहा हो। तात्पर्य यह है कि कुशों की गट्ठी वेदि पर रखी हुई है, उसे विधिपूर्वक खोल लिया गया है, उसमें से मुट्ठी भर कुश (प्रस्तर) लेने हैं। वेदि की पूर्वदिशा में आहवनीय का स्थान (कुण्ड) होता है। इसलिए कुशमुष्टि लेते समय उन्हें सीधा ऊपर से ही न उठा ले, किन्तु उन्हें आहवनीय (पूर्व) की ओर खींचकर उठावे। **हे** इति। हे प्रस्तर (हे—कुशमुष्टि) **तू** संघात[2] के रूप में (समुदाय के रूप में) व्यापक[3] यज्ञ का धारण करने वाला है। इसी मन्त्रार्थ को ब्राह्मण वाक्य भी प्रकट करता है—**'विष्णोः—यज्ञस्य धृत्यै'** इति। विष्णु यज्ञ को ही कहते हैं, यज्ञ के धारण करने के लिए ही, **'विष्णोः……'** इत्यादि मन्त्र से कुशाभिमानी देवता की स्तुति की गई है।

विधत्ते इति। ब्राह्मण वाक्य भी प्रस्तर ग्रहण का विधान करता है—**'पुरस्तात्……करोति'** इति। **वेदेः**[4] इति। वेदि के पूर्वभाग में ब्रह्मा[5] अथवा यजमान प्रस्तर को धारण करे। ब्रह्मा अथवा यजमान प्रस्तर को ग्रहण करके इसे (प्रस्तर को) मुख्यता देता है—मुख[6] के समान उन्नत बनाता है। **तच्च** इति। और यह = ब्रह्मा अथवा यजमान के द्वारा प्रस्तर ग्रहण आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में विहित है— **ब्रह्मा[7]……यजमानो वा'** इति।

---

१. गर्भाधान कालिक पूर्व दिशा वही है जिधर को मुंह करके गर्भाधान किया जाता है; उससे विपरीत दिशा ही पश्चिम दिशा है।

२. मन्त्रगत स्तूप शब्द का अर्थ है, समुदाय या संघात।

३. मन्त्रगत विष्णु शब्द का अर्थ है—व्यापक—यज्ञ।

४. यहाँ से पुरस्ताद्……' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

५. यद्यपि ब्राह्मण में 'प्रस्तरं गृह्णाति' इतना ही लिखा है, कौन ग्रहण करे यह नहीं लिखा, तथापि भाष्यकार ने आप० श्रौ० सूत्र के आधार पर यह लिख दिया कि ब्रह्मा अथवा यजमान प्रस्तर को धारण करे।

६. मुख से और मुख के समान उन्नतता से यहाँ क्या तात्पर्य है, यह आगे देखो।

७. प्रश्न २, पटल ३, सूत्र ६।

धारणाय मुखसमानमौन्नत्यं हस्तेनाभिनीय विधत्ते—"इयन्तं गृह्णाति। प्रजापतिना यज्ञमुखेन संमितम्" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। वेदिखननवाक्य इवायमभिनयः प्रादेशमात्रपरत्वेन व्याख्येयः।

तदेवानूद्य प्रसंशति—"इयन्तं गृह्णाति। यज्ञपरुषा संमितम्। इयन्तं गृह्णाति। एतावद्वै पुरुषे वीर्यम्। वीर्यसंमितम्" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। परुः पर्व। तच्च यज्ञपुरुषस्य हस्तकर्पूरयोरुभयतः प्रादेशमात्रं भवति।

धारणाय इति। ऋषि प्रस्तर-धारण के लिए मुख के समान उन्नतता का हाथ से अभिनय करके विधान करता है—**'इयन्तम्'''संमितम्'** इति। प्रस्तर[1]-धारण की विधि में केवल इतना ही लिखा गया है कि 'प्रस्तर धारण करे, और उसे (प्रस्तर को) मुख के समान उन्नत करे—ऊँचा उठावे'। परन्तु वहाँ यह नहीं बताया गया कि 'कितना धारण करे—कितना उन्नत करे—कितनी मात्रा में ऊँचा उठावे'। इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए **'इयन्तं गृह्णाति, प्रजापतिना यज्ञमुखेन संमितम्** (गृह्णाति)' यह ब्राह्मण वाक्य प्रवृत्त हुआ है। यहाँ 'इयन्तम्' यह पद हस्ताभिनय द्वारा संकेत मात्र है। **वेदिखनन** इति। वेदिखनन वाक्य[2] की तरह इस अभिनय का भी तात्पर्य 'प्रादेश मात्र' में ही समझना चाहिये, अर्थात् प्रस्तर को प्रादेश मात्र ऊँचा धारण करे 'प्रजापतिना यज्ञमुखेन संमितम्' इस वाक्य की व्याख्या भाष्यकार ने यहाँ नहीं की, क्योंकि वे इसकी व्याख्या वेदिखनन[3] प्रकरण में कर चुके हैं।

तदेव इति। ऋषि पूर्वोक्त अभिनय[4] का अनुवाद करके उसकी स्तुति[5] करता है—**'इयन्तम्'''वीर्य संमितम्'** इति। इतना[6] धारण करे, यज्ञ पर्व के समान ऊँचा उठावे। यही[7] तो पुरुष में वीर्य है—सामर्थ्य है, वीर्य –जितना उठावे। 'यज्ञपरुषा[8]' शब्द में 'परुष' शब्द का अर्थ है 'पर्व-खण्ड'। और वह[9] यज्ञ पुरुष के हाथों की कोहनियों के दोनों ओर

---

१. 'पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति, मुख्यमेवैनं करोति' यही प्रस्तर धारण की विधि है।

२. 'इयतीं खनति, प्रजापतिना यज्ञमुखेन संमिताम्।' यही वेदिखनन-वाक्य है। देखो नवें अनुवाक के 'देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्ति वेधसः' इस मन्त्र का सायण भाष्य और उसका हिन्दी अनुवाद। वहाँ भी 'इयतीम्' यह पद अभिनय द्वारा प्रादेश मात्र परिमाण की ओर ही संकेत करता है।

३. देखो नवें अनुवाक में 'देवस्य सवितुः सवे ''' इत्यादि मन्त्र का सायण भाष्य। वहाँ यही लिखा है कि वेदि का स्वरूप ही यज्ञ पुरुष का मुख है। उसे प्रजापति ने उत्पन्न किया इसलिए वह भी प्रजापति है। उसके समान ही प्रस्तर को उन्नत करे।

४. 'इयन्तं गृह्णाति' इस अभिनय का।

५. इसका तात्पर्य यही है कि 'इयन्तम्''' 'इत्यादि वाक्य अर्थवाद वाक्य है।

६. इतना ऊँचा उठावे।

७. यज्ञ पर्व ही तो।

८. 'यज्ञस्य परुर्यज्ञपरुः, तेन यज्ञपरुषा' यह 'यज्ञपरुषा' शब्द का विग्रह है।

९. खण्ड।

प्रसारितयोरङ्गुष्ठकनिष्ठिकयोरङ्गुल्योर्यावन्मध्यं तावदेव पुरुषे सामर्थ्यं, हानोपादानाद्यशेष-व्यापाराणां तत्रैव निष्पत्तेः। पक्षान्तरं विधत्ते—"अपरिमितं गृह्णाति। अपरिमितस्यावरुद्ध्यै" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। यावत्यौन्नत्ये स्वस्य सौकर्यं तावदेव गृह्णीयात्। तस्यापरिमितसंपत्तये भवति। उत्पवनहेत्वोः पवित्रयोः प्रस्तरे स्थापनं विधत्ते—"तस्मिन् पवित्रे अपि सृजति। यजमानो वै प्रस्तरः। प्राणापानौ पवित्रे। यजमान एव प्राणापानौ दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। प्रस्तरस्य यजमानवद्यज्ञ-सिद्धिहेतुतया तदभेदोपचारः।

प्रादेश[१]-मात्र होता है।

प्रसारितयोर् इति। अँगूठे को और किनारे की सबसे छोटी अँगुली को एक साथ फैलाने पर उन दोनों के बीच का जितना प्रदेश होता है उतना ही पुरुष में सामर्थ्य है। छोड़ना, और ग्रहण करना (लेना देना) आदि सकल क्रियाओं की सिद्धि उसी (सामर्थ्य) पर निर्भर रहती है। तात्पर्य यह है कि कोहनी का निचला और उपरला प्रदेश मिलकर बाहु या भुज कहलाता है। बाहु दाँया और बाँया दो हैं, इन्हीं दोनों बाहुओं के बल पर हमारी आदान प्रदान आदि सकल क्रियाएँ होती हैं। इसीलिए इन्हें ही वीर्य या सामर्थ्य कहा। बाहुओं के उपरले और निचले भाग बिलस्त-बिलस्त भर के हैं, इसीलिए वीर्य को बिलस्त भर का बताया। अब ऋषि इसी[२] विषय में दूसरे पक्ष का विधान करता है—'**अपरिमितम्**···**वरुद्ध्यै**' इति। प्रादेश मात्र ऊँचा उठावे अथवा इससे न्यून अथवा अधिक उठावे इस प्रकार परिमाण के संबन्ध में कोई विशेष नियम न समझो, जितना ऊँचा उठाए रखने में अपने को सुविधा होती है—आयास नहीं होता—उतना ऊँचा रक्खो। ऐसा[३] करना प्रस्तर ग्रहण की अपरिमितता की सिद्धि के लिए होता है। ऋषि उत्पवन के साधन पवित्रों को प्रस्तर पर रखने का विधान करता है—'**तस्मिन्** **दधाति**' इति। उस प्रस्तर पर पवित्रों को स्थापित करे, प्रस्तर यजमान है, और पवित्र प्राण अपान का स्थापन[४] करता है। प्रस्तर, क्योंकि यजमान की तरह ही यज्ञ सिद्धि का साधन है, इसलिए उसमें (प्रस्तर में) यजमान का अभेद बताया।

---

१. यद्यपि 'प्रादेशो देशमात्रे स्यात् तर्जन्यङ्गुष्ठ संमिते' इस मेदिनी कोश के अनुसार अँगूठे और तर्जनी को फैलाने पर जितना प्रदेश घिरता है—उसे ही प्रादेश कहा जाता है तथापि भाष्यकार ने 'वितस्ति' प्रमाण को ही यहाँ 'प्रादेश' माना है। यह बात आगे खुलेगी। वस्तुतः कोहनी का उपरला और निचला भाग प्रादेश मात्र है भी नहीं, वितस्ति (बिलस्त) मात्र है। वितस्ति का लक्षण है—'अङ्गुष्ठे सकनिष्ठे स्याद् वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलः' अँगूठे से लेकर कनिष्ठिका तक के प्रदेश को ही एक वितस्ति (एक बिलस्त) कहते हैं, जो कि लगभग बारह अङ्गुल होता है। संक्षेप में तात्पर्य यही है कि प्रस्तर को एक बिलस्त ऊँचा उठाकर रखना चाहिये।

२. प्रस्तर को पृथ्वी से बिलस्त भर ऊँचा उठाए रहे—यह बात पहले कही गई है, इसी ऊँचा उठाने के संबन्ध में अब दूसरा मत बताते हैं।

३. अपने सौकर्य के अनुसार प्रस्तर धारण करना। 'तस्य अपरिमित संपत्तये भवति' इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि 'ऐसा करना यजमान की अपरिमित संपत्ति के लिए होता है।' भाष्यकार को अपना अभिप्राय स्पष्ट रूप से लिखना चाहिये था।

४. प्राणन और अपानन क्रिया से ही जीवन है। प्रस्तर पर पवित्र स्थापन से यजमान के चिरजीवित्व की कामना की गई है।

ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यो'

ऊर्णेति ! कल्पः—"बर्हिर्वेद्याᳫस्तृणाति देवबर्हिरूर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्य" (बौ० श्रौ० १।१३) इति। अत्र शाखान्तरानुसारेण देवबर्हिरित्येतत्पदं पूरितम्।

हे देवबर्हिः, त्वं कम्बलवन्मृदुरूपं देवानां सुखेनाऽऽसितुं स्थानरूपं त्वां वेद्यां स्तृणामि। व्याचष्टे—"ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामीत्याह। यथा यजुरेवैतत्। स्वासस्थं देवेभ्य इत्याह। देवेभ्य एवैनत्स्वास-

---

ऊर्णेति। **'देव'बर्हिरूर्णाम्रदसम्···देवेभ्यः'** इस मन्त्र से वेदि पर कुशों को बिछावे। **यद्यपि** तैत्तिरीयसंहिता के प्रकृत अनुवाक में **'ऊर्णाम्रदसम्···'** इत्यादि मन्त्र हैं, न कि **'देवबर्हिरूर्णाम्रदसम्···'** इत्यादि, तथापि बौधायन ने शाखान्तर के आधार पर **'ऊर्णाम्रदसम्'** से पहले 'देवबर्हिर्' इस पद को जोड़ दिया। इसी बात को भाष्यकार भी लिखते हैं —**अत्र** इति। यहाँ **ऊर्णाम्रदसम्···'** इत्यादि मन्त्र को दूसरी शाखा के अनुसार 'देवबर्हिर्' इस पद से पूर्ण किया गया है।

हे[2] इति। हे देवसंबन्धी कुश ! तू कम्बल[3] के समान कोमल है और देवताओं के सुखपूर्वक बैठने के लिए उनका (देवताओं का) स्थान है, मैं तुझे वेदि पर बिछाता हूं। ऋषि मन्त्र का व्याख्यान करता है – **'ऊर्णाम्रदसम्···करोति'** इति। मन्त्र का **'ऊर्णाम्रदसं त्वा स्तृणामि'** इतना अंश स्पष्टार्थ[4] है—उसके व्याख्यान की आवश्यकता नहीं है। **स्वासस्थमिति।** 'स्वासस्थं[5] देवेभ्यः' ऐसा कहकर अध्वर्यु कुशों को देवताओं के लिए सुखपूर्वक बैठने का स्थान बनाता है।

---

१. भाष्यकार की यह शैली है कि वे मन्त्र का व्याख्यान करने से पहले 'कल्पः' लिखकर तत् सम्बन्धी बौधायन या आपस्तम्ब कल्पसूत्र को उद्धृत करते हैं। परन्तु यहाँ उन्होंने ऐसा नहीं किया। सूत्र का आकार भी न बौधायन के अनुसार है, न आपस्तम्ब के। हाँ मन्त्र का आकार अवश्य बौधायन के अनुसार ही है। बौधायन का सूत्र यों है —'अथ दक्षिणे वेद्यन्ते बर्हिर्मुष्टिं स्तृणाति देवबर्हिरूर्णाम्रदसम्···देवेभ्य इति' पता नहीं भाष्योक्त सूत्र किस कल्प का है ?
२. यहाँ से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है।
३. मन्त्र में ऊर्णा शब्द का अर्थ यद्यपि 'ऊन' है तथापि लक्षणा द्वारा 'ऊर्णा' शब्द यहाँ ऊन से बने हुए वस्त्र 'कम्बल' आदि का बोधक है—इसीलिए 'ऊर्णाम्रदसम्' का अर्थ 'कम्बल के समान कोमल' ऐसा लिखा।
४. जहाँ मन्त्रार्थ स्पष्ट होता है वहाँ 'यथा यजुरेवैतत्' इस प्रकार लिखा जाता है।
५. आसनम् आसः, सुखेन आसः स्वासः—सुखपूर्वमुपवेशनमित्यर्थः घञ् प्रत्ययः, गति समासश्च। तिष्ठन्ति यस्मिन्निति स्थम्— स्थानमित्यर्थः। 'घञर्थेकविधानम्' इत्यधिकरणे कः। स्वासाय स्थम् = स्वासस्थम्। सायण की व्याख्या के अनुसार 'स्वासस्थ' शब्द का यही विग्रह फलित होता है। भट्ट भास्कर ने इसका विग्रह यों लिखा है—आसितार आसाः, आस् उपवेशने, पचाद्यच्। स्थातारः स्थाः, विच्। समाहार द्वन्द्वः। सु आसस्थं शोभनमासस्थं यस्मिन्निति स्वासस्थम्। यद् वा आसनम् आसस्थम्, असेरथ प्रत्ययः, सकारोपजनश्च। शोभनम् आसस्थं यस्मिन्निति बहुव्रीहिः। फलितार्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। यहां इतनी बात और ध्यान देने की है कि भाष्यकार ने मन्त्र की व्याख्या के रूप में जिस तैत्तिरीय ब्राह्मण को उद्धृत किया है, वह भी 'ऊर्णाम्रदसम्' से ही प्रारम्भ होता है, 'देवबर्हिर्' से नहीं; विदित होता है कि भाष्यकार बौधायन श्रौतसूत्रानुयायी संप्रदाय के थे, इसीलिए उन्होंने तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण की परवाह न करके बौधायन का ही अनुसरण किया और किसी अज्ञात शाखोक्त मन्त्रपाठ को ही स्वीकार किया।

स्थं करोति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। विधत्ते—"बर्हिः स्तृणाति। प्रजा वै बर्हिः। पृथिवी वेदिः। प्रजा एव पृथिव्यां प्रतिष्ठापयति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

तत्रैव विशेषं विधत्ते—"अनतिदृश्नꣳस्तृणाति। प्रजयैवैनं पशुभिरनतिदृश्नं करोति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। भूमिस्वरूपमत्यन्तं यथा न दृश्यते तथा बहुलं स्तृणीयात्। बहुप्रजापशवावृतो यजमानोऽपि वैदेशिकैरदृश्यमानः प्रभुर्भवति।

गन्धर्वोऽसि विश्वावसुर्विश्वस्मादीषतो यजमानस्य परिधिरिड ईडित इन्द्रस्य बाहुरसि (१) दक्षिणो यजमानस्य परिधिरिड ईडितो मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परि धत्तां ध्रुवेण धर्मणा यजमानस्य परिधिरिड ईडितः।

गन्धर्वइति। कल्पः—'अथ प्रस्तरपाणिः प्रागभिसृप्य परिधीन् परिदधाति गन्धर्वोऽसि विश्वावसुर्विश्वस्मादीषतो यजमानस्य परिधिरिड ईडित इति मध्यममिन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो यजमानस्य परिधिरिड ईडित इति दक्षिणम् मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा यजमानस्य परिधिरिड ईडित इत्युत्तरम्" (बौ० श्रौ० १।१३) इति।

ब्राह्मण वाक्य (भी) बर्हिः स्तरण का विधान करता है—'**बर्हिः स्तृणाति**···**प्रतिष्ठापयति**' इति। कुशों को वेदि पर बिछावे। कुश प्रजा स्वरूप हैं, वेदि पृथिवी स्वरूप है, वेदि पर कुशा बिछाकर अध्वर्यु पृथ्वी पर प्रजाओं को प्रतिष्ठापित करता है।

तत्रैव इति। वेदि पर कुश बिछाने के संबन्ध में ही कुछ विशेष विधि बताते हैं –**अनतिदश्नम्** ··**करोति** इति। कुशों को इतना घना बिछावे कि भूमि[1] का स्वरूप बिल्कुल न दीख पड़े, ऐसा करने से यजमान भी अधिक प्रजा और पशुओं से आवृत होकर दूसरों से अदृश्य हो जाता है और फलतः सामर्थ्यवान् होता है।

गन्धर्व इति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि वेदिस्तरण[2] के अनन्तर अध्वर्यु प्रस्तर (कुशमुष्टि) हाथ[3] में लिए हुए पूर्व दिशा की ओर जाकर '**गन्धर्वोऽसि**···"**इन्द्रस्य बाहुरसि**···"**मित्रावरुणौ त्वो**···' इन तीन मन्त्रों से क्रमशः मध्य में (पश्चिम में) दक्षिण में और उत्तर में परिधियों को (समिधाओं को-काष्ठों को) स्थापित करे। इन समिधाओं को 'परिधि'[4] इसलिए कहा गया है कि ये आहवनीय के चारों ओर स्थापित की जाती हैं।

---

१. वेदि का पृष्ठ भाग।

२. वेदि पर कुश बिछाने के बाद।

३. यद्यपि प्रस्तर यजमान या ब्रह्मा के पास है, तथापि परिधि स्थापन करते समय अध्वर्यु प्रस्तर को यजमान से या ब्रह्मा से ले ले।

४. आहवनीयं परितो धीयन्ते स्थाप्यन्ते इति परिधयः। पलाश आदि की बाहु जितनी लम्बी समिधाएँ।

हे मध्यमपरिधे, त्वं विश्वावसुनामा गन्धर्वोऽसि, तद्वद्रक्षकत्वात्। तेन सर्वस्माद्धिंसकाद्यजमानस्य परिपोषकोऽन्नरूपः स्तुतो भव।

एवमुत्तरयोर्योज्यम्। ध्रुवेण धर्मणाऽनुष्ठीयमाननित्यकर्मनिमित्तम्।

हे इति। हे मध्यम परिधि! तू विश्वावसु[1] नामक गन्धर्व है, क्योंकि तू उसके समान (विश्वावसु के समान) रक्षक है। अतएव तू सब हिंसकों[2] से यजमान की रक्षा[3] करने वाला है, तू अन्नरूप[4] है, तू (हमारे द्वारा स्तुत हो)।

एवम् इति। आगे के दोनों[5] मन्त्रों में भी इसी प्रकार अर्थयोजना कर लेनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि द्वितीय मन्त्र में '**इन्द्रस्य बाहुरसि** दक्षिणः—हे दक्षिण परिधि! तू इन्द्र का दाहिना हाथ (महवीर्य) है' यह आदि वाक्य प्रथम मन्त्र के आदि वाक्य से भिन्न है, और प्रथम मन्त्र में '**विश्वस्मा दीषतः**' ये मध्यवर्ती दो पद अधिक हैं, जो आगे के दोनों मन्त्रों में नहीं हैं। द्वितीय मन्त्र का आदि वाक्य अति सरल है, इसीलिए भाष्यकार ने उसके व्याख्यान की आवश्यकता नहीं समझी। '**विश्वस्मादीषतः**' इन दोनों पदों को केवल मन्त्रार्थ करते समय द्वितीय मन्त्र में भी यथा स्थान जोड़ लेना चाहिये—अर्थात् '**त्वं विश्वस्मादीषतो यजमानस्य परिधिः** (असि)' इस प्रकार वाक्य योजना कर लेनी चाहिये। तृतीय मन्त्र का आदि वाक्य है—'**मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्ताम्** – हे परिधि! तुझे मित्र और वरुण देवता ही उत्तर की ओर स्थापित करें'। यह वाक्य प्रथम मन्त्र के आदि वाक्य से भिन्न है, इसका अर्थ भी सरल ही है, अतः इसका भी व्याख्यान भाष्यकार ने नहीं किया, इस तृतीय मन्त्र में '**ध्रुवेण धर्मणा**' ये मध्यवर्ती दो पद प्रथम मन्त्र के मध्यवर्ती दो पदों से भिन्नाकार के हैं, इनकी व्याख्या भाष्यकार ने स्वयं कर दी है—**ध्रुवेण** इति। अनुष्ठीयमान नित्यकर्म के लिए। तृतीय मन्त्र का अर्थ करते समय मध्यम वाक्य और उसका अर्थ इस प्रकार होगा—'**त्वं ध्रुवेण धर्मणा यजमानस्य परिधिः**'

---

१. विश्वानि वसूनि यस्य स विश्वावसुः, 'विश्वस्य वसुराटोः' इस पाणिनि सूत्र से विश्व शब्द के अकार को दीर्घ हुआ।

२. 'ईषतः' शब्द में हिंसार्थक 'ईष्' धातु से शतृ प्रत्यय हुआ है, यद्यपि ईष् धातु आत्मनेपदी है, तथापि व्यत्यय से परस्मैपदी मान लिया गया है। पञ्चमी विभक्ति का रूप है।

३. 'रक्षा करने वाला' यह अर्थ यहाँ 'परिधि' शब्द का है—परितो धत्ते-धारयति-रक्षति-इति परिधिः। 'उपसर्गेघोः किः' इस सूत्र से 'धा' धातु से बाहुलकात् कर्त्ता में 'कि' प्रत्यय हुआ है।

४. 'अन्न रूप' यह अर्थ 'इड' शब्द का है। इष्यते काम्यते सर्वैर्जनैरिति-इड-अन्नम्। यद्यपि इस प्रकार इड् शब्द मूलतः षकारान्त सिद्ध होता है, अकारान्त नहीं, भाष्यकार ने इस पर कुछ नहीं लिखा। तथापि 'ईड्' धातु से पृषोदरादित्वात् क प्रत्यय और ई को ह्रस्व करके कथंचित् सिद्ध हो सकता है। भट्ट भास्कर ने 'इड्' शब्द से अर्श-आदित्वाद् मत्वर्थीय अच् प्रत्यय मानकर 'इड्' शब्द को सिद्ध किया है, और अर्थ लिखा है 'अन्नवान्'। अन्न का साधन होने से परिधि अन्नवान् कहा जा सकता है। परन्तु भट्टभास्कर के मत में भी यदि इष् धातु से क्विप् प्रत्यय करके इड् शब्द सिद्ध किया जायगा तो मूल में तो वह भी षकारान्त ही रहेगा। 'इषेत्वा' इत्यादि मन्त्र से भी यही सिद्ध होता है। 'इड्' इस डकारान्त मूल शब्द की सिद्धि के लिए पृषोदरादित्व आदि किसी उपाय का सहारा उन्हें भी लेना ही पड़ेगा।

५. 'इन्द्रस्य बाहुरसि······' और 'मित्रा वरुणौ त्वो······इन दोनों मन्त्रों में।

विधिपूर्वकं व्याचष्टे—"धारयन् प्रस्तरं परिधीन् परिदधाति। यजमानो वै प्रस्तरः। यजमान एव तत्स्वयं परिधीन् परिदधाति। गन्धर्वोऽसि विश्वावसुरित्याह। विश्वमेवाऽऽयुर्यजमाने दधाति। इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इत्याह। इन्द्रियमेव यजमाने दधाति। मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तामित्याह। प्राणापानौ मित्रावरुणौ। प्राणापानावेवास्मिन् दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

सूर्य॑स्त्वा पु॒रस्ता॑त्पातु॒ कस्या॑श्चिद॒भिश॑स्त्याः

सूर्य इति। बौधायनः—"अथ सूर्येण पुरस्तात्परिदधाति सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्याश्चिदभिशस्त्या" (बौ० श्रौ० १।१३) इति।

(असि) हे उत्तर परिधि ! तू अनुष्ठीयमान नित्यकर्म के लिए यजमान का रक्षक है।' सुरक्षित यजमान ही नित्यकर्मानुष्ठान कर सकता है।

विधि इति। ब्राह्मण वाक्य भी परिधि[1] स्थापन का विधान करके '**गन्धर्वोऽसि**······' इत्यादि पूर्वोक्त तीनों मन्त्रों का व्याख्यान करता है--**धारयन् प्रस्तरम्** इति। प्रस्तर[2] को थामे हुए अध्वर्यु परिधियों को स्थापित करे। प्रस्तर यजमान स्वरूप है, इसलिए मानो यजमान ही स्वयं परिधियों का स्थापन करता है। '**गन्धर्वोऽसि विश्वावसुः**······' ऐसा कहकर यजमान[3] में पूर्ण आयु की स्थापना करता है। '**इन्द्रस्य बाहुरसि**······' ऐसा कहकर यजमान[4] में इन्द्रियों को स्थापित करता है। मित्रा वरुण प्राण अपान[5] स्वरूप हैं, अतः '**मित्रावरुणौ**······' इत्यादि मन्त्र पढ़कर अध्वर्यु यजमान में प्राण[6] और अपान का आधान[7] करता है।

सूर्य इति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि—पश्चिम दक्षिण और उत्तर में परिधियों के परिधान (स्थापन) के अनन्तर पूर्व दिशा में '**सूर्यस्त्वा**······ **दभिशस्त्याः**' इस मन्त्र से सूर्य[8] से परिधान कार्य करे। आपस्तम्ब के मत से

---

१. 'परिधि' नामक तीन समिधाएं जो आहवनीय के पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में क्रमशः रखी जाती हैं।
२. कुशमुष्टि को।
३. यजमान में पूर्ण आयु की स्थापना का तात्पर्य यही है—यजमान पूर्ण आयु प्राप्त करे।
४. यजमान में इन्द्रिय स्थापना का अभिप्राय यही है कि यजमान की इन्द्रियाँ सदा शक्तिमान् रहें, क्षीण शक्ति न हों।
५. मित्र और वरुण देवता।
६. प्राण और अपान—श्वास और निःश्वास।
७. स्थापन।
८. 'सूर्येण पुरस्तात् परिदधाति—पूर्व दिशा में सूर्य से परिधान करे' इस बौधायन कल्पसूत्र का अभिप्राय यह है कि पश्चिम दक्षिण और उत्तर में ही परिधियों का परिधान बताया गया है, पूर्वदिशा में परिधि परिधान का विधान क्यों नहीं किया गया? इस शङ्का का समाधान 'सूर्येण······' इत्यादि कल्पसूत्र से किया गया है। 'परिधीन् परिदधाति रक्षसामपहत्यै' इस ब्राह्मण वाक्य के अनुसार राक्षसों की निवृत्ति के लिए ही परिधि-परिधान किया जाता है। पूर्वदिशा में उदय होने वाला सूर्य अपने स्वरूप से ही राक्षसों का नाशक है। अतः पूर्वदिशा में काष्ठ स्वरूप परिधियों की स्थापना की आवश्यकता नहीं थी। अर्थात् पूर्वदिशा में परिधियों का प्रातिनिध्य स्वयं सूर्य करता है। जो कार्य पश्चिम आदि दिशाओं में परिधियाँ करती हैं, वही काम पूर्वदिशा में सूर्य करता है।

आपस्तम्बः—"आहवनीयमभिमन्त्र्य" (आप० श्रौ० २।६।७) इति । कस्याश्चिदभिशस्त्याः सर्वस्या अपि हिंसायाः। अनेनैवाभिप्रायेण व्याचष्टे—"सूर्यस्त्वा पुरस्तात्पात्वित्याह । रक्षसामपहत्यै । कस्याश्चिदभिशस्त्या इत्याह। अपरिमितादेवैनं पाति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

वीतिहो॑त्रं त्वा कवे द्युमन्त॒ꣳ स॒मिधीमह्यग्ने॑ बृ॒हन्त॑मध्व॒रे

वीतिहोत्रमिति। कल्पः—"ऊर्ध्वे आघारसमिधावा दधाति वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्त७ समिधीमह्यग्ने बृहन्तमध्वर इति" (बौ० श्रौ० १।१३) इति।

हे विद्वन्नग्ने, त्वामध्वरं निमित्तीकृत्य समिधीमहि। कीदृशं त्वाम्? वीतये व्याप्तये समृद्धये होत्रं

'**सूर्यस्त्वा**······' इस मन्त्र का विनियोग आह्वनीय अग्नि के अभिमन्त्रण में है। मन्त्र[1] का पूर्वार्ध सरल है, अतः भाष्यकार ने उसका व्याख्यान नहीं किया, उत्तरार्ध का '**कस्याश्चिदभिशस्त्याः**' इतने अंश का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं—**सर्वस्या**[2] इति। सभी हिंसाओं से—सूर्य[3] पूर्वदिशा में तुम्हारी (यजमान की) रक्षा करे । इसी[4] अभिप्राय से ऋषि[5] भी उक्त मन्त्र का व्याख्यान करता है—'**सूर्यस्त्वा**···**पाति**' इति। राक्षसों के विनाश के लिए ही '**सूर्यस्त्वा**···**पातु**' इतने अंश का उच्चारण किया जाता है। 'कस्याश्चिदभिशस्त्याः' इस अंश का उच्चारण करके अपरिमित-देश-काल-दिशा परिच्छेद शून्य सब प्रकार की हिंसाओं से यजमान की रक्षा करता है।

वीतिहोत्रमिति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि '**वीतिहोत्रं त्वा**······**मध्वरे**' इस मन्त्र से आघार[6] समिधाओं का आधान करे, आधान करते समय समिधाओं का अग्रभाग ऊपर की ओर रहे।

हे इति। हे विद्वान्[7] अग्नि! हम तुम्हें यज्ञ[8] के लिए अच्छी तरह प्रज्वलित कर रहे हैं। तुम कैसे हो? वीति-

---

१. 'सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु—पूर्व दिशा में सूर्य तुम्हारी रक्षा करे' इतना अंश।
२. मन्त्र में 'कस्याश्चिद्' के आगे 'अपि' शब्द का अध्याहार करके 'सर्वस्या अपि' ऐसा अर्थ भाष्यकार ने किया।
३. यह मन्त्र के पूर्वार्ध का अर्थ है।
४. भाष्यकारोक्त अभिप्राय के अनुसार ही।
५. 'सूर्यस्त्वा ······' इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रवक्ता ऋषि। 'अभिशस्ति' शब्द का अर्थ भाष्यकार ने हिंसा किया है, क्योंकि यह शब्द अभिपूर्वक 'शसु हिंसायां' धातु से क्तिन् करने पर बना है।
६. आघार के साथ संबन्ध रखने के कारण समिधाओं को 'आघार समिध्' कहा गया है। अग्नि में समन्त्रक घृत की धारा डालने को ही 'आघार' कहा जाता है। इस समिदाधान का आघार के साथ यही संबन्ध है कि जिस दिशा में आघार की समाप्ति होती है उसी स्थान पर अग्नि में समिधा डाली जाती है, यदि दक्षिण से उत्तर की ओर आघार होता है तो उत्तर दिशा ही समिधा के आधान का स्थान होगा। यदि उत्तर से दक्षिण की ओर आघार होगा तो दक्षिण दिशा ही समिधा के आधान का स्थान माना जाएगा। इसीलिये धूर्तस्वामी ने लिखा है—"**आघार समिदेकाग्नेर्दक्षिणा एकाचोत्तरा**"—आघार समिध् दो हैं एक अग्नि से दक्षिण की ओर, दूसरी उत्तर की ओर।
७. यहाँ से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है, मन्त्रगत कवि शब्द का अर्थ है विद्वान्।
८. 'अध्वरे' में निमित्त अर्थ में सप्तमी है, इसीलिये उसका अर्थ किया—यज्ञ के लिए।

होमो यस्य तं वीतिहोत्रम्। एतमेवार्थं दर्शयति—"वीतिहोत्रं त्वा कव इत्याह। अग्निमेव होत्रेण समर्धयति। द्युमन्तꣳसमिधीमहीत्याह। समिद्धयै। अग्ने बृहन्तमध्वर इत्याह वृद्धयै" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

विशो यन्त्रे स्थो

विश इति। कल्पः—"अन्तर्वेद्युदीचीनाग्रे विधृती तिरश्ची आसादयति विशो यन्त्रे स्थ" इति (बौ० श्रौ० १।१३) इति।

हे दर्भरूपे विधृत्यौ, युवां प्रजाया नियामिके भवथः। एतदेव दर्शयति—"विशो यन्त्रे स्थ इत्याह।

होत्र हो जिसकी व्याप्ति के जिए—समृद्धि के लिए होम किया जाता है, वह हो। दीप्तिमान्[1] हो, और बड़े[2] हो। इसी अर्थ को ब्राह्मण संदर्भ भी प्रकट करता है—**'वीतिहोत्रं त्वा······वृद्धयै'** इति। **वीतिहोत्रं त्वा कवे'** का तात्पर्य है—होत्र-होम—के द्वारा अग्नि को ही समृद्ध करता है। **'द्युमन्तं समिधीमहि'** यह अग्नि के भली प्रकार प्रज्वलित होने के लिए कहा गया है। **'अग्ने बृहन्तमध्वरे'** यह वृद्धि के लिए कहा गया[3] है।

विश इति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है **'विशो यन्त्रे स्थ'** इस मन्त्र से वेदि के मध्य में दो विधृतियों[4] का स्थापन करे, इन विधृतियों को तिरछा रक्खा जाय और इनका अग्रभाग उत्तर की ओर हो।

हे इति। हे दर्भरूप विधृतियो! तुम प्रजा की नियामिका हो। इसी अभिप्राय को ब्राह्मण संदर्भ भी प्रकट करता है—**'विशो यन्त्रे······विशां यत्यै'** इति। 'विशो यन्त्रे स्थ' इस मन्त्र का उच्चारण प्रजाओं के नियन्त्रण[5] के लिए है।

---

१. यह 'द्युमन्तम्' इस शब्द का अर्थ है।

२. यह 'बृहन्तम्' का अर्थ है। भाष्यकार ने द्युमन्तम् और बृहन्तम् का व्याख्यान नहीं किया क्योंकि ये सरल हैं। भट्ट भास्कर ने 'वीतिहोत्रम्' का अर्थ किया है—'वेतव्याकमितव्या (एष्टव्या) होत्रा वाक् स्तोत्ररूपा, होतृव्यापारो वा यस्य तम्' इति। 'समिधीमहि' यह रूप 'ञिइन्धी दीप्तौ' धातु का लिङ् लकार का है। यह धातु रौधादिक् है, 'बहुलं-छन्दसि' से विकरण का लुक् हो गया। अथवा 'छन्दस्युभयथा' के अनुसार आर्धधातुकत्व मानकर 'श्नम्' नहीं हुआ, सार्वधातुक मानकर ङित्त्व होने से न का लोप हो गया।

३. 'वीति होत्रं त्वा······' इस मन्त्र से दक्षिणा आघार समिधा का आधान करे और उत्तरा आघार समिधा का तूष्णीम् (बिना मन्त्रोच्चारण के) आधान करे। बौधायन ने ऐसा ही कहा है।

४. 'समानन्तरगर्भौ विधृती कुरुते' इस आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार बराबर की दो कुशाएँ, जिनके गर्भ में (मध्यभाग में) कुछ न हो, यहाँ 'विधृति' कही गई हैं—'विधृति' इन्हें इसलिए कहा गया है कि इनके ऊपर प्रस्तर आदि रक्खे जाते हैं, और ये विधृतियाँ इनका (प्रस्तरादि का) विशेष रूप से धारण करती हैं।

५. विधि-बोधित यज्ञ का पुरुष रूप से वर्णन हुआ है। जैसे पुरुष के सिर आदि अनेक अङ्ग हैं उसी प्रकार यज्ञ पुरुष के अङ्गों की भी कल्पना की गई है। आहवनीय यज्ञ का सिर है प्रस्तर (कुशमुष्टि) शिखा स्वरूप है; प्रस्तर से अतिरिक्त कुशाएँ केश रोम स्वरूप हैं। विधृतियाँ यज्ञ पुरुष की भौएं हैं, भौएं तिरछी होती हैं, इसलिए इन्हें भी तिरछा रक्खा जाता है। अधिभूत के अनुसार प्रस्तर क्षत्र स्वरूप है और दूसरे कुश प्रजा स्वरूप हैं, इन दोनों के स्वरूप की

विशां यत्यै" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति । विधत्ते—"उदीचीनाग्रे निदधाति प्रतिष्ठित्यै" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति ।

वसू॑नाᳪ रुद्राणा॑मादि॒त्याना॒ᳪ सद॑सि सीद

वसूनामिति । कल्पः—"वसूनाᳪरुद्राणामादित्यानाᳪसदसि सीदेति तयोः प्रस्तरमभ्यादधाति" (आप० श्रौ० २।६।१२) इति । विधृतिद्वयमेव सद इत्यभिप्रेत्याऽऽह—"वसूनाᳪरुद्राणामादित्यानाᳪसदसि सीदेत्याह । देवतानामेव सदने प्रस्तरᳪसादयति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति ।

जु॒हूरु॑प॒भृद्ध्रु॒वाऽसि॑ घृ॒ताची॒ नाम्ना॑ प्रि॒येण॒ नाम्ना॑ प्रि॒ये सद॑सि सीद

जुहूरिति । कल्पः—"प्रस्तरे जुहूᳪसादयति जुहूरसि घृताची नाम्ना प्रियेण नाम्ना प्रिये सदसि

ब्राह्मण ग्रन्थ भी विधृति स्थापन का विधान करता है—**'उदीचीनाग्रे[1]······'** इति। उत्तर की ओर जिनका अग्रभाग है ऐसी दो विधृतियों (कुशों) को स्थापित करे प्रतिष्ठा के लिए।

वसूनामिति । आपस्तम्ब कल्पसूत्र[2] कहता है कि उन दोनों विधृतियों पर **'वसूना······सदसि सीद'** इस मन्त्र से प्रस्तर को स्थापित करे। सरल होने के कारण भाष्यकार ने मन्त्र का व्याख्यान नहीं किया। मन्त्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—'हे प्रस्तर ! तू वसुओं रूद्रों और आदित्यों के सदन में बैठे'। विधृति युगल ही (देवताओं का) सदन है इस अभिप्राय से ब्राह्मण कहता है—**'वसूनाम्······सादयति'** इति। **वसूनाम्······'** इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करके प्रस्तर को विधृति युगल पर रखकर अध्वर्यु उसे (प्रस्तर को) देवताओं के ही सदन में प्रतिष्ठित करता है।

जुहूरिति । बौधायन कल्पसूत्र[3] कहता है कि प्रस्तर पर जुहू को स्थापित करे, जुहू के उत्तर में उपभृत् को और

रक्षा के लिए और इनको मर्यादा में नियन्त्रित रखने के लिए मर्यादा सूत्र अपेक्षित होता है। ये विधृतियाँ मर्यादा सूत्र का प्रतिनिधित्व करती है, मर्यादा बन्धन टेढ़ा ही होता है, वह क्षमा करना नहीं जानता, अतः मर्यादा बन्धन का प्रतिनिधित्व करने वाली विधृतियाँ तिरछी ही रक्खी जाती हैं—विशेष देखना हो तो हमारे परमगुरु महर्षि कल्प श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पति जी का 'यज्ञ मधुसूदन' ग्रन्थ देखें।

१. 'उदीचीनाग्रे निदधाति' इतना अंश विधि है, शेष 'प्रतिष्ठित्यै' अर्थवाद है।

२. बौधायन सूत्र का तात्पर्य यद्यपि आपस्तम्ब के समान ही है तथापि उसके सूत्र के आकार में कुछ अन्तर है—'विधृत्योः प्रस्तरं वसूनां रुद्राणामादित्यानां सदसि सीद' इति बौधायन श्रौतसूत्र १. कण्डिका ११। भाष्योद्धृत आपस्तम्ब सूत्र में भी थोड़ा सा अन्तर है, मैसूर मुद्रित में पाठ है—'अत्यादधाति'। भाष्य में पाठ है—'अभ्यादधाति'।

३. भाष्योद्धृत बौधायन सूत्र में 'प्रस्तरे जुहूं सादयति······' ऐसा पाठ है, जबकि एशियाटिक सोसाइटि मुद्रित बौधायन सूत्र में 'प्रस्तरे जुहूम्······' इतना ही पाठ है, अर्थात् 'सादयति' पद वहाँ नहीं है। आपस्तम्ब के अनुसार जुहू आदि स्रुचों का अग्रभाग पूर्व की ओर होना चाहिये और वे परस्पर असंस्पृष्ट (एक दूसरे से असंलग्न) रहनी चाहिये। वहाँ का सूत्र है—'अनूचीः (प्राची) असंसृष्टाः स्रुचः प्रस्तरे सादयति'।

सीदेत्युत्तरामुपभृतमुपभृदसि घृताची नाम्ना प्रियेण नाम्ना प्रिये सदसि सीदेत्युत्तरां ध्रुवां ध्रुवाऽसि घृताची नाम्ना प्रियेण नाम्ना प्रिये सदसि सीदेति" (बौ० श्रौ० १।१३) इति।

प्रथमद्वितीययोरसि घृताचीत्यादिकमनुषज्यते। व्याचष्टे—"जुहूरसि घृताची नाम्नेत्याह। असौ वै जुहूः। अन्तरिक्षमुपभृत्। पृथिवी ध्रुवा। तासामेतदेव प्रियं नाम। यद् घृताचीति। यद् घृताचीत्याह। प्रियेणैवैना नाम्ना सादयति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

उपभृत् के उत्तर में ध्रुवा को स्थापित करे। जुहू—स्थापन के समय '**जुहूरसि······सदसि सीद**' इस मन्त्र का उच्चारण करे, इसी प्रकार उपभृत् और ध्रुवा को स्थापित करते समय भी क्रमशः '**उपभृदसि······सदसि सीद**' '**ध्रुवासि······सदसि सीद**' इन मन्त्रों का उच्चारण करे। यद्यपि मूल तैत्तिरीय संहिता के प्रकृत (११वें) अनुवाक में '**जुहूरूपभृद्ध्रुवासि घृताची······सदसि सीद**' ऐसा मन्त्र पाठ है, तथापि याज्ञिक संप्रदायानुसार यहाँ तीन मन्त्र निर्दिष्ट हुए हैं, जिनके प्रथम शब्द क्रमशः 'जुहूर्' 'उपभृद्' और ध्रुवा ये हैं। इन तीनों के आगे '**असि घृताची······सीद**' इतना अंश और जोड़कर भाष्योद्धृत कल्पसूत्रोक्त तीन मन्त्र बन जाते हैं, इनमें प्रथम से जुहू का, द्वितीय से उपभृत् का, और तृतीय से ध्रुवा का सादन (स्थापन) होता है।

प्रथम इति। प्रथम[1] और द्वितीय के साथ भी '**असि घृताची**' इत्यादि का संबन्ध होता है। तित्तिर ऋषि उक्त तीनों मन्त्रों की व्याख्या करते हैं—'**जुहूरसि······नाम्ना सादयति**' इति। जुहू द्युलोक है, उपभृत् अन्तरिक्ष लोक है, और ध्रुवा पृथ्वी लोक है। उनका (जुहू आदि का) यही 'घृताची' नाम प्रिय है, अतएव अध्वर्यु उनका प्रिय नाम लेकर ही उन्हें स्थापित करता है। 'जुहूरसि······' इत्यादि मन्त्रों का व्याख्यान भाष्यकार ने नहीं किया है। इनका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—हे स्रुच्! तू जुहू[2] है—होम का साधन है, तू नाम से घृताची है—घृत का धारण करने के कारण तू 'घृताची'[3] कहलाती है, अपने इस (घृताची) प्रिय नाम से उपलक्षित होकर तू अपने प्रिय सदन में (प्रस्तर पर) बैठ जा। हे स्रुच्! तू उपभृत्[4] है, शेष पूर्ववत्। हे स्रुच्! तू ध्रुवा[5] है—निश्चल है। शेष पूर्ववत्।

---

१. संहिता में 'ध्रुवा' के आगे तो 'असि घृताची······' इत्यादि पढ़ा ही हुआ है और तीसरे मन्त्र का प्रारम्भ भी 'ध्रुवासि······' से ही होता है, इसलिए भाष्यकार ने '**प्रथमद्वितीययोरसि घृताचीत्यादिकमनुषज्यते**' ऐसा कहा। प्रथम से मतलब है—'जुहूर्' और द्वितीय से तात्पर्य है 'उपभृत्'।

२. हूयते अनया इति जुहूः। यह जुहू शब्द का विग्रह है। 'द्युति-गमि-जुहोतीनां द्वे च' इस सूत्र से 'हु' धातु से क्विप् हुआ और धातु को द्वित्व हो गया। 'जुहोतेर्दीर्घश्च' से हु को दीर्घ भी हो गया।

३. घृतम् अञ्चति—प्राप्नोतीति घृताची। 'ऋत्विग्दधृग्······' इत्यादि सूत्र से घृतपूर्वक अञ्च धातु से क्विन् हुआ है।

४. उपेत्य जुहूं बिभर्तीति 'उपभृत्'। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' से क्विप् प्रत्यय हुआ है।

५. ध्रुवा नामक स्रुच् जहाँ पर एक बार रख दी गई है, समष्टि यजु से पहले, वह वहीं रहती है वहाँ से हटाई नहीं जाती।

एता असदन्त्सुकृतस्य लोके ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञ नियम् ॥२॥ (बाहुरसि प्रिये सदसि पञ्चदश च)।

एता इति। कल्पः—"अथ स्रुचः सन्ना अभिमृशत्येता असदन्त्सुकृतस्य लोके ता विष्णो पाहि-पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञनियमिति" (बौ० श्रौ० १।१३) इति।

लोकेऽवश्यंभाविफलं तद्रूपत्वेन भाविते प्रस्तरे स्रुचोऽवस्थिताः। एतदेव दर्शयति—"एता असदन्त्सुकृतस्य लोक इत्याह। सत्यं वै सुकृतस्य लोकः। सत्य एवैनाः सुकृतस्य लोके सादयति। ता विष्णो पाहीत्याह। यज्ञो वै विष्णुः। यज्ञस्य धृत्यै। पाहि यज्ञं पाहि मां यज्ञनियमित्याह। यज्ञाय यजमानायाऽऽत्मने। तेभ्य एवाऽऽशिषमाशास्तेऽनार्त्यै" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। धृतिर्यज्ञपुरुषकर्तृकं स्रुचां पोषणम्।

एता इति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि स्रुक् सादन के अनन्तर सादित (स्थापित) स्रुचों को '**एता असदन्......यज्ञनियम्**' इस मन्त्र से स्पर्श करे—अभिमन्त्रित करे। यहाँ भी सुगम समझकर भाष्यकार ने उक्त मन्त्र का व्याख्यान नहीं किया। मन्त्र का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—'ये जुहू आदि स्रुच् याग स्वरूप शुभकर्म के स्थान में अवस्थित हो गई हैं। हे विष्णु! हे यज्ञस्वरूप सर्वव्यापक परमेश्वर! तुम इनकी रक्षा करो। यज्ञ की, यज्ञपति यजमान की, और यज्ञ के नेता मेरी (अध्वर्यु की) भी रक्षा करो।'

लोक इति। लोक में फल अवश्यंभावी होता है, यहाँ भी लोकरूपतया अभिप्रेत प्रस्तर में स्रुचों की अवस्थिति ही अवश्यंभावी फल है। इसी बात को ब्राह्मण वाक्य प्रदर्शित करता है—'**एता असदन्......माशास्तेऽनार्त्यै**' इति। सत्य ही शुभकर्म का लोक (स्थान) है। इन स्रुचों को अध्वर्यु: शुभकर्म के (प्रस्तर रूप) सत्यलोक में ही स्थापित करता है। विष्णु यज्ञस्वरूप हैं, यज्ञ की धृति के (पोषण के) लिए वह विष्णु इनकी रक्षा करे। '**पाहियज्ञम्......**' इत्यादि प्रार्थना करके अध्वर्यु भगवान् विष्णु से यज्ञ के, यजमान के और अपने लिए शुभाशीर्वाद की आशा करता है, जिससे कि इनको किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। ब्राह्मण वाक्य में आए हुए 'धृत्यै' पद के मूल शब्द 'धृति' का अर्थ है—यज्ञ[1] पुरुष के द्वारा जुहू आदि स्रुचों का पोषण।

---

१. ब्राह्मण संदर्भ में 'यज्ञस्य धृत्यै' इस वाक्य में 'यज्ञस्य' यह कर्तृक षष्ठी है, ऐसा समझकर ही भाष्यकार ने 'यज्ञपुरुषकर्तृकं स्रुचां पोषणम्' यह धृति शब्द का अर्थ लिखा है।

अत्र विनियोगः संग्रह

"कृष्ण इध्मं वेदिर्वेदिं बर्हिर्बर्हिः समुक्षति।
दिवे त्रिभिर्बर्हिषोऽग्रमध्यमूलानि चोक्षति ॥१॥
स्वधा शेषं क्षिपेद्भूमौ विष्णोः प्रस्तरमुन्नयेत्।
ऊर्णा बर्हिस्तुतिर्गन्ध त्रिभिस्त्रीन् परिधीन् क्षिपेत् ॥२॥
सूर्योऽभिमन्त्र्य पूर्वाग्निं वीत्याघारसमित् स्थितिः।
विशो आधाय विधृती वसू प्रस्तरसादनम् ॥३॥
जुहूपध्रुभिरासाद्य स्रुच एतास्तु मन्त्रयेत्।
एकादशानुवाकेऽस्मिन्नीरिता मन्त्रविंशतिः ॥४॥" इति।

अथ मीमांसा

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे चिन्तितम्—

"यजमानः प्रस्तरोऽत्र गुणो वा नाम वा स्तुतिः।
सामानाधिकरण्ये न स्यादेकस्यान्यनामता ॥

अत्र इति। अब इस अनुवाक में आए हुए मन्त्रों के विनियोगों को संक्षेप से लिखते हैं—कृष्ण इति। १. **कृष्णइध्मं समुक्षति**='**कृष्णोस्याखरेष्ठो**······**स्वाहा**' इस मन्त्र से काष्ठ-प्रोक्षण करता है। २. **वेदिर्वेदि समुक्षति**='**वेदिरसि**······**स्वाहा**' इस मन्त्र से वेदि का प्रोक्षण करता है। ३. **बर्हिर्बर्हिः प्रोक्षति**='**बर्हिरसि**······**स्वाहा**' इस मन्त्र से कुशों का प्रोक्षण करता है। ४. ५. ६. '**दिवे त्वा**' '**अन्तरिक्षाय त्वा**' '**पृथिव्यै त्वा**' इन तीन मन्त्रों से क्रमशः कुशों के अग्र, मध्य और मूलभाग का सेचन करता है। ७. '**स्वधा पितृभ्यः**······**गच्छत**' इस मन्त्र से शेष जल को भूमि पर डाल दे। ८. '**विष्णोः स्तूपोऽसि**' इस मन्त्र से प्रस्तर (कुशमुष्टि) को उठावे। ९. '**ऊर्णाम्रदसम्**······**देवेभ्यः**' इस मन्त्र से वेदि पर कुश बिछावे। १०. ११. १२. '**गन्धर्वोऽसि**······**इड ईडितः**' '**इन्द्रस्य बाहुरसि**······**इडईडितः**' '**मित्रावरुणौ**······**इड ईडितः**' इन तीन मन्त्रों से क्रमशः तीन परिधियों (बाहु जितने लम्बे तीन पलाश काष्ठों) को स्थापित करे। १३. '**सूर्यस्त्वा**······**दभिशस्त्याः**' इस मन्त्र से आहवनीय को अभिमन्त्रित[1] करे। १४. '**वीतिहोत्रं**······**बृहन्तमध्वरे**' इस मन्त्र से आघार समिधाओं का आधान करे। १५. '**विशो यन्त्रे स्थः**' इस मन्त्र से विधृतियों का आसादन करके, १६. **वसूनां**······**सीद**' इस मन्त्र से उन पर (विधृतियों पर) प्रस्तर को रक्खे। १७. १८. १९. '**जुहूरसि**······**सीद**' '**उपभृदसि**······**सीद**' **ध्रुवासि**······**सीद**' इन तीन मन्त्रों से क्रमशः जुहू आदि तीनों स्रुचों का आसादन करके, २०. '**एता असदन्**······**यज्ञनियम्**' इस मन्त्र से उनको (स्रुचों को) अभिमन्त्रित करे। इस प्रकार ग्यारहवें अनुवाक में बीस मन्त्र कहे गए हैं।

अथ मीमांसा

प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद में विचार किया गया है—**यजमान**[2] इति। इन कारिकाओं का व्याख्यान भाष्यकार

---

१. अभिमन्त्रण आपस्तम्ब के मत से है। बौधायन के मत से इस मन्त्र का विनियोग सूर्य द्वारा परिधान में है।

२. ये तीनों कारिकाएँ 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तर' की हैं। मीमांसा दर्शन में यह विचार प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में १२वें अधिकरण में हुआ है। सूत्र २४वाँ है।

गुणो वा यजमानोऽस्तु कार्ये प्रस्तरलक्षिते।
अंशांशित्वाद्यभावेन पूर्ववन्नात्र संस्तुतिः॥

अर्थभेदादनामत्वं गुणश्चेत्प्रह्रियेत सः।
यागसाधकताद्वारा विधेयप्रस्तरस्तुतिः॥"

(जै० न्या० १।४।३६-३८) इति।

इदमाम्नायते—"यजमानः प्रस्तरः" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। तत्र यजमानस्य प्रस्तरशब्दो नामधेयं, प्रस्तरस्य वा यजमानशब्दो नामधेयम्। कुतः ? उद्भिदायोगेनेत्यादाविव सामानाधिकरण्यादित्येकः पक्षः। गुणविधिरेषइत्यपरः। तथाऽपि यजमानकार्ये जपादौ प्रस्तरस्याचेतनस्य सामर्थ्याभावा-

---

स्वयं करते हैं— **इदम्** इति। वेद में एक वचन है— **यजमानः प्रस्तर** इति। यहाँ जिज्ञासा होती है कि इसका क्या तात्पर्य है—क्या यह वाक्य यह बताता है कि यजमान का नाम 'प्रस्तर' है अथवा प्रस्तर का नाम 'यजमान' है? कारण कि **'उद्भिदा यागेन'** इत्यादि स्थल में जैसे सामानाधिकरण्य (समान विभक्तिकता) होने के कारण 'उद्भिद्' शब्द याग का नाम मान लिया गया है, इसी प्रकार यहाँ भी (**'यजमानः प्रस्तरः'** में भी) दोनों समान विभक्त्यन्त हैं, अतः दोनों एक दूसरे के नाम माने जा सकते हैं। यह एक पक्ष है। यह गुण विधि है, यह दूसरा पक्ष है। अर्थात् यहाँ यजमान रूप गुण का अथवा प्रस्तर रूप गुण का विधान किया गया है। यद्यपि यजमान—कार्य[1] मन्त्र—जपादि को उद्देश्य मानकर प्रस्तर रूप गुण का विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुशमुष्टि रूप प्रस्तर नितान्त जड़ है, वह यजमान-कार्य मन्त्र जपादि में सर्वथा असमर्थ है, तथापि प्रस्तर[2]-कार्य स्रुग्धारणादि को उद्देश्य मान कर यजमान रूप गुण का विधान किया जा सकता है, क्योंकि यजमान प्रस्तर कार्य स्रुग्धारणादि में समर्थ है। इसलिए यहाँ यजमान रूप गुण की विधि है—ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है। ऐसा[3] होने पर यद्यपि पश्चात् पठित प्रस्तर शब्द की प्रस्तर कार्य में लक्षणा माननी पड़ेगी तथापि 'यजमान' शब्द की मुख्यवृत्ति[4] ही रहेगी। उसमें लक्षणा नहीं होगी। पूर्वन्याय[5] (पूर्वाधिकरण) के आधार पर **'यजमानः प्रस्तरः'** को स्तुति (अर्थवाद) वाक्य भी नहीं माना जा सकता। पूर्वन्याय का स्वरूप इस प्रकार है—**'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते-पुत्रोत्पत्ति** होने पर वैश्वानर देवता के उद्देश्य से द्वादशकपाल[6] हवि (पुरोडाश) देवे। यह एक

---

१. 'यजमान' और 'प्रस्तर' दोनों ही सिद्धार्थ बोधक हैं। दो सिद्ध पदार्थों में परस्पर उद्देश्य भाव नहीं होता। अतः 'यजमान' पद की यजमान कार्य में लक्षणा की गई है।
२. 'प्रस्तर' पद की प्रस्तर कार्य में लक्षणा की गई है।
३. यजमान रूप गुण की विधि होने पर।
४. शक्ति द्वारा उपस्थित मुख्यार्थ में ही उसका तात्पर्य होगा। यद्यपि विधेयता साध्य में ही होती है, सिद्ध में नहीं, यजमान सिद्ध है, तथापि 'सिद्ध साध्य-समुच्चारणे सिद्धं साध्यायोपदिश्यते' इस सिद्धान्त के आधार पर साध्यभूत स्रुग्धारणादि क्रिया के साथ संबन्ध होने से सिद्ध भी यजमान साध्यवत् हो जाता है।
५. पूर्वन्याय से यहाँ मतलब है मीमाँसा दर्शन के प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद के ११वें अधिकरण से जो १७वें सूत्र से २२वें सूत्र तक चलता है।
६. बारह कपालों में संस्कृत हवि।

त्प्रस्तरकार्ये स्रुग्धारणादौ यजमानस्य शक्तत्वाद्यजमानरूपो गुणो विधीयते। एवं सति पश्चाच्छ्रुतस्य प्रस्तरशब्दस्य कार्यलक्षकत्वेऽपि प्रथमश्रुतो यजमानशब्दो मुख्यवृत्तिर्भविष्यति। न चात्र पूर्वन्यायेन स्तुतिः संभवति। अष्टाकपालद्वादशकपालयोरिव प्रस्तरयजमानयोरंशांशित्वाभावात्।

"वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (तै० ब्रा० २ प्र० १ अ० १) 'ऊर्जोऽवरुद्धयै" (मै० सं० १।११।८) इत्यादिवत् स्तुतिरिति चेन्न। क्षिप्रत्वादिधर्मवत्कस्यचिदुत्कर्षस्याप्रतीतेः। तस्मान्नामगुणयोरन्यतरत्वमिति प्राप्ते ब्रूमः—गोमहिषयोरिवार्थभेदस्यात्यन्तप्रसिद्धत्वान्न नामत्वं युक्तम्। गुणपक्षे त्वग्नौ प्रहरणस्य

विधि है। इस विधि वाक्य के अनन्तर यह वाक्य पढ़ा गया है—**'यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति—** यदि अष्टाकपाल हवि हो तो यजमान गायत्री के द्वारा ही इस नवजात बालक को ब्रह्मतेज से पवित्र करता है।' यहाँ शङ्का होती है कि इस द्वितीय वाक्य में 'अष्टाकपाल शब्द' कर्म का नाम है अथवा यह उपर्युक्त विधि की स्तुति मात्र है? पूर्व-पक्ष में कहा गया है कि यह कर्म का नाम है। परन्तु सिद्धान्त यह है कि यह नाम नहीं है, क्योंकि यहाँ किसी दूसरे कर्म का विधान नहीं किया गया[1] है। यह तो उपर्युक्त द्वादशकपाल हविर्याग की स्तुति है। द्वादश कपालों में से आठ कपालों की पृथक् स्तुति करके द्वादश कपाल की स्तुति हो जाती है। यही पूर्वन्याय है। जैसे यहाँ 'अष्टाकपाल' शब्द अष्टकपाल स्तुति द्वारा पूर्व विधि का (द्वादश कपाल हविर्याग का) स्तावक माना गया है, इसी प्रकार **'धारयन् प्रस्तरं परिधीन् परि-दधाति, यजमानो वै प्रस्तरः'** इत्यादि स्थलों में प्रस्तर ग्रहणपूर्वक परिधि परिधान की विधि के अनन्तर पढ़ा गया **'यजमानो वै प्रस्तरः'** यह वाक्य भी प्रस्तर स्तुति द्वारा प्रस्तरधारण विधि का स्तावक क्यों न मान लिया जाय, यह सिद्धान्ती का आशय है। इस पर पूर्वपक्षी कहता है—**अष्टाकपाल** इति। अष्टाकपाल में और द्वादश कपाल में जैसे परस्पर अंशांशिभाव[2] है, वैसा (अंशांशिभाव) यजमान और प्रस्तर में नहीं है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि अष्टकपाल स्तुति द्वादश कपाल स्तुति में पर्यवसित हो सकती है, क्योंकि अष्टकपाल द्वादशकपाल समूह के ही एक अंश हैं। अंशों की स्तुति से अंशी की स्तुति हो जाती है। यदि यजमान और प्रस्तर में भी अंशांशिभाव होता तो यजमान शब्द से प्रस्तर स्तुति द्वारा प्रस्तर—ग्रहण पूर्वक परिधि परिधान विधि की स्तुति संपन्न हो जाती। परन्तु यहाँ अंशांशिभाव न होने से ऐसा होना असंभव है।

वायुर्वै इति। **'वायुर्वैक्षेपिष्ठादेवता'**[3]—वायुतीव्रगतिदेवता है' **'ऊर्जोवरुद्धयै'**[4]—पशुओं की प्राप्ति के लिए' इत्यादि वाक्यों के समान भी **'यजमानः प्रस्तरः'** को अर्थवाद नहीं कहा जा सकता। कारण कि **'वायुर्वै···'** कहने से जैसे वायुगत क्षिप्रत्वादि धर्म का उत्कर्ष प्रतीत होता है, वैसे यहाँ किसी का (प्रस्तर-गत किसी धर्म का) उत्कर्ष प्रतीत नहीं होता। इसलिये यहाँ तो नाम और गुण विधि में से ही किसी एक को स्वीकार करना प्राप्त होता है। अब सिद्धान्त पक्ष बताते हैं—

१. 'यत्' पद घटित होने से प्रकृत अधिकरण उसी अध्याय पाद का १२वाँ अधिकरण है। यह विधि नहीं हो सकती।

२. बारह कपालों का समूह अंशी है, आठ कपाल उसके अंश हैं। अंशों की स्तुति होने से अंशी की स्तुति फलित हो जाती है।

३. 'वायुर्वै···' इत्यादि वाक्य 'वायव्यंश्वेतमालभेत भूतिकामः' ऐश्वर्य का इच्छुक वायुदेवताक श्वेत पशु (अज) का आलम्भन करे' इस विधि का स्तावक (अर्थवाद) है।

४. 'ऊर्क् पशवः···ऊर्जोवरुद्धयै' यह वाक्य 'औदुम्बरो यूपो भवति' इस विधि का अर्थवाद है। उदुम्बर (गूलर वृक्ष के) काष्ठ का यूप बनाकर पशु प्राप्त करो।

प्रस्तरविषयत्वाद्यजमाने प्रहृते सति कर्मलोपः स्यात् । तस्माद्विधेयः प्रस्तरो यजमानशब्देन स्तूयते । यथा 'सिंहो देवदत्तः' इत्यत्र सिंहगुणेन शौर्यादिनोपेतो देवदत्तः सिंहशब्देन स्तूयते तथा यजमानगुणेन यागसाधनत्वेन युक्तः प्रस्तरो यजमानशब्देन स्तूयते। एवं "यजमानो वा एककपालः" (मै० सं० १।१०।७) इत्यादिषु द्रष्टव्यम् ।

अथ व्याकरणम्

"कृष्णस्य मृगाख्या चेत् (फि० ११) इति कृष्णशब्दस्याऽऽद्युदात्तः ।

ब्रूम इति । इस विषय में हमारा कथन यह है कि जैसे गौ और भैंस का भेद अत्यन्त प्रसिद्ध है इसी प्रकार यजमान पदार्थ और प्रस्तर पदार्थ का भेद भी अत्यन्त प्रसिद्ध है, फलतः जैसे भैंस को 'गौ' यह नाम नहीं दिया जा सकता अथवा गौ का 'भैंस' यह नाम नहीं हो सकता, इसी प्रकार प्रस्तर का 'यजमान' यह नाम और यजमान का 'प्रस्तर' यह नाम भी नहीं हो सकता। अतः नाम पक्ष सर्वथा अयुक्त है। प्रस्तर-कार्य को उद्देश्य मानकर यजमान रूप गुण का विधान पक्ष भी यहाँ नहीं स्वीकार किया जा सकता, कारण कि ऐसा मानने पर सब प्रस्तर कार्यों का यजमान के साथ ही संबन्ध प्राप्त होगा। प्रस्तर को अन्त में अग्नि में डाल देने का विधान है, फलतः **'यजमानः प्रस्तरः'** इस तथाकथित गुणविधि के अनुसार यजमान को अग्नि में डालना होगा, जिसका परिणाम होगा यजमान के विनाश से कर्म का लोप। इसलिये विधेय प्रस्तर की यजमान शब्द से स्तुति की जाती है—यही मानना यहां उचित है। जैसे **'सिंहो देवदत्तः**—देवदत्त तो सिंह है' इस वाक्य में सिंह के गुण शौर्य आदि से युक्त देवदत्त की सिंह शब्द से स्तुति की जाती है, इसी प्रकार **'यजमानो वै प्रस्तरः'** में यजमान के गुण याग साधनत्व से युक्त प्रस्तर की यजमान शब्द से स्तुति[1] की जाती है। संक्षेप में तात्पर्य यह हुआ कि **'यजमानो वै प्रस्तरः'** यह वाक्य अर्थवाद वाक्य है, प्रस्तरस्तुति द्वारा प्रस्तरग्रहण विधि का स्तावक है। इसी प्रकार **'यजमानो वा एककपालः**—एक कपाल पुरोडाश यजमानस्वरूप है।' इत्यादि में भी समझना[2] चाहिये।

कृष्णस्य इति। **'कृष्णस्य[3] मृगाख्या चेत्**—यदि कृष्ण शब्द मृग के लिए प्रयुक्त हुआ हो तो आद्युदात्त होता है।' प्रकृत ग्यारहवें अनुवाक का पहला मन्त्र है—**'कृष्णोस्याखरेष्ठोऽग्नयेत्वा स्वाहा** इति। यह मन्त्र इध्म **प्रोक्षण** का है। इध्म को **संबोधित** करके कहा गया है—कि हे इध्म (हे काष्ठ) तू कृष्ण है = तू कृष्णमृग है। शेष के लिए भाष्य देखो। यहाँ कृष्ण शब्द **कृष्णमृग** के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः आद्युदात्त है। फलतः 'कृष्णः' इस पद में 'कृ' उदात्त रहेगा और 'ष्ण' शेष निघात

---

१. अर्थात् 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्यों में याग साधनत्वरूप गुण का प्रस्तर में प्रकर्ष प्रतीत होता है, अतः ये भी 'वायुर्वै' इत्यादि की तरह अर्थवाद ही हैं। फलतः पूर्वपक्षी का यह कथन असंगत है कि यहाँ क्षिप्रत्वादि की तरह किसी धर्म का उत्कर्ष प्रतीत नहीं होता।

२. यहां भी एक कपाल हवि में याग—साधनत्व बोधन द्वारा उसकी (एककपाल की) स्तुति की गई है।

३. यह सूत्र फिट् सूत्र के प्रथम पाद का ग्यारहवाँ सूत्र है। वहाँ 'कृष्णस्या मृगाख्याचेत्' ऐसा पाठ है, व्याख्याकारों ने उसका तात्पर्य लिखा है कि यदि कृष्ण शब्द मृग की आख्या नहीं है तो उसको अन्तोदात्तत्व होता है। भट्टभास्कर को माधवोक्त पाठ ही अभिमत है। उनके मत से यहां पूर्व सूत्र से आदि पद की अनुवृत्ति आती है। 'अमृगाख्याचेत्' ऐसा पदच्छेद करने वालों के मत में यहां 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' इस ३२वें सूत्र से आद्युदात्तत्व प्राप्त था उसको बाधकर अमृगाख्या में अन्तोदात्तत्व का विधान करने के लिए यह सूत्र बनाया गया है।

आखरेष्ठ इत्यत्र प्रातिपदिकस्वरेण वा समासस्वरेण वा कृत्प्रत्ययान्तत्वेन थाथादिस्वरेण (पा० ६।२।१४४) वाऽन्तोदात्तत्वम्।

से अनुदात्त होगा। **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** से 'ष्णः' को स्वरित हो जायगा। पद पाठ और संहिता में दोनों जगह स्वरस्थिति यही रहेगी – कृष्णः।

आखरेष्ठ इति। 'आखरेष्ठः' इस पद में प्रातिपदिक स्वर से अथवा समास स्वर से, अथवा कृत् स्वर से अथवा कृत्प्रत्ययान्त होने के कारण थाथादि स्वर से अन्तोदात्तत्व हुआ है। तात्पर्य यह है—यदि 'आखरेष्ठ' शब्द को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मान लिया, जाय तो **'फिषोन्त उदात्तः'** से इसमें अन्तोदात्तत्व स्वर होगा, अर्थात् 'ष्ठः' उदात्त रहेगा, शेष अक्षर 'आ' 'ख' 'रे' शेष निघात से अनुदात्त हो जायँगे। प्रारम्भिक स्वर चिह्न स्थिति यों रहेगी—आखरेष्ठः। संहिता में आखरेष्ठः' के आगे—'अग्नये' पद है। यह चतुर्थ्यन्त है। 'अग्नि+ए' इस अवस्था में प्रातिपादिक स्वर से 'अग्नि' का 'इ' उदात्त है, शेष निघात से 'अ' अनुदात्त है। **'घेर्ङिति'** से 'अग्नि' के 'इ' को 'ए' हो गया, वह भी उदात्तस्थानिक होने से उदात्त ही रहा, उसको **'एचोऽयवायावः'** से 'अय्' आदेश हो गया, वह भी उदात्तस्थानिक होने से उदात्त ही रहा 'अग्नय्—ए' ऐसी स्थिति में 'ए' सुप् होने के कारण अनुदात्त है—फलतः 'अग्नये'' पद में **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** से 'ये' स्वरित हो जायगा।

अब इस 'अग्नये' पद की इसके पूर्ववर्ती 'आखरेष्ठः' पद के साथ संहिता में स्वादि सन्धि होगी। 'आखरेष्ठः स्+अग्नये'' ऐसी अवस्था में 'स्' को 'रु' (र्) हो गया, उसको 'उ' हो गया। यह 'उ' सुप्स्थानिक होने के कारण सुप्त्वाद् अनुदात्त है। 'ष्ठ' के 'अ' के साथ उ' की गुणसन्धि हो गई तो 'ष्ठो' बन गया। यह 'ष्ठो' भी उदात्त ही होगा क्योंकि **'एकादेश उदात्तेनोदात्तः'** सूत्र से उदात्त के साथ होने वाला एकादेश उदात्त ही रहता है। 'आखरेष्ठो+अग्नये' ऐसी अवस्था में **'एङ्पदान्तादति'** सूत्र से पूर्वरूप एकादेश हो गया। अब यहां जिज्ञासा होती है कि क्या यह पूर्वरूप भी पूर्व सूत्र से उदात्त ही माना जायगा? उत्तर है—नहीं। कारण कि **'स्वरितो वा नुदात्ते पदादौ'**[1] इस सूत्र से उक्त पूर्वरूप एकादेश को विकल्प से स्वरित हो जायगा—अतः संहिता में स्वरस्थिति यों रहेगी—आखरेष्ठोऽग्नये। 'आ' और 'ख' को संहिता में स्वरित से परे रहने के कारण 'प्रचय' हो गया। 'रे' को प्रचय नहीं हुआ, किन्तु सन्नतर हो गया, क्योंकि उसके आगे स्वरित है··· **उदात्त स्वरित परस्य सन्नतरः।**

पदकार 'आखरेष्ठ' शब्द को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक नहीं मानते, वे इसमें अवग्रह करते हैं—आखरेष्ठ इत्याखरे-ष्ठः। अवग्रह समासादि में ही होता है। उनके मत से इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी—**आसमन्तात् खनति = भुवं**[2] **मूलैर्खदारयतीत्याखरो वनस्पतिः आङ्पूर्वक 'खनु अवदारणे'** धातु से 'डर्' प्रत्यय हुआ है। यह औणादिक प्रत्यय है—खनतेर्डरोवक्तव्यः। ऐसा भट्ट भास्कर ने लिखा है। यद्यपि उणादि सूत्र सूची में हमें यह सूत्र नहीं मिला, तथापि इसे एकदम अप्रामाणिक नहीं मान सकते। जब कि उणादि के संबंध में सर्वसम्मत यह परिभाषा विद्यमान है—**संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च तपः परे। कार्याद् विद्याद् अनूबन्धमेतच्छास्त्र गुणादिषु।'** इति। वस्तुतस्तु **'खनेर्डडरेकेकवका वाच्याः'**[3] इस वार्तिक से

---

१. पदादि अनुदात्त अक्षर यदि आगे हो तो उदात्त के साथ एकादेश विकल्प से स्वरित हो जाता है—८।२।६।

२. 'वनस्पति' उन वृक्षों को कहते हैं, जिनमें बिना पुष्प के ही फल लग जाते हैं। जैसे वट, अश्वत्थ और प्लक्ष आदि। ये बड़े विशाल होते हैं, इनकी जड़ें पृथ्वी को फाड़कर उसके भीतर बहुत दूर तक चली जाती हैं।

३. यह वार्तिक 'खनो घ च' सूत्र पर है—३।३।१२५। सूत्र की क्रमिक संख्या ३३—४ है और वार्तिक की संख्या २२३८।

वेदिशब्दस्येन्प्रत्ययान्तत्वेन नित्स्वरः (पा० ६।१।१९७)। विष्णुशब्दोनुप्रत्ययान्तः।

यहां करण में 'डर्' प्रत्यय हुआ है। संभव है भट्टभास्कर का संकेत इस वार्तिक की ओर ही है। अस्तु। **आखरेतिऽठतीति—आखरेष्ठः**। '**सुपिस्थः**' से 'कः' प्रत्यय हुआ। '**उपपदमतिङ्**' से समास हो गया। '**तत्पुरुषे कृतिबहुलम्**' से सप्तमी का अलुक् हो गया। '**सुषामादित्वात् षत्वम्**' इति भट्टभास्करः। '**ष्टुना ष्टुः**' से ष्टुत्व हो गया। तत्पुरुष समास होने के कारण '**समासस्य**' सूत्र से अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसको बाधकर '**तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीया सप्तम्युपमानाऽव्यय द्वितीया कृत्याः** ६।२।२। 'इस सूत्र से पूर्वपद प्रकृति स्वर प्राप्त हुआ, उसको भी बधकर '**गतिकारकोपपदात् कृत्**' से कृदुत्तर पद प्रकृति स्वर प्राप्त हुआ। यद्यपि यह कृत्स्वर यहां अन्तोदात्तत्व में ही पर्यवसित होता है, वही हमें अभीष्ट भी है, तथापि व्याकरण नियमानुसार कृत् स्वर का बाधक '**था थ-घञ-क्तजबित्रकाणाम्** ६।२।१४४' यह सूत्र है, इस सूत्र से 'स्थ' के अकार को उदात्त हो गया, क्योंकि 'स्थ' शब्दक रूप कृतप्रत्ययान्त है और 'आखरे' इस उपपद से परे है। संहिता में स्वर चिह्न क्रम का स्वरूप पहले बता दिया गया है। पदपाठ में भी स्वरचिह्न व्यवस्था बतादी गई है। परन्तु उसमें एक दो बाते बतानी हैं, अतः उसकी चर्चा फिर करते हैं—आखरे ष्ठ इत्याखरे। यहां 'त्या' स्वरित है अतः उससे परवर्ती 'ख' और 'रे' प्रचय हो गया। 'रे' को उदात्त परक होने पर भी सन्नतर नहीं हुआ, कारण कि अवग्रह के कारण संहिता का अभाव[1] है, प्रचय और सन्नतर **दोनों ही संहिता में होते हैं**।

वेदि इति। वेदि शब्द इन् प्रत्ययान्त है, अतः वह निदन्तत्वाद् '**निञ्न्त्यादिर्नित्यम्**' से आद्युदात्त है। फलतः संहिता पाठ और पदपाठ दोनों की जगह स्वर चिह्नक्रम यों होगा—वेदिः। शेष निघात से 'दिः' अनुदात्त था, उसको **उदात्तादनुदात्तस्य**......' से स्वरित हो गया।

विष्णु इति। 'विष्णु' शब्द 'नु' प्रत्ययान्त है। यद्यपि सति शिष्ट होने के कारण आद्युदात्तत्वरूप प्रत्यय स्वर के आधार पर ही यहां स्वर संचार व्यवस्था प्रसक्त थी। परन्तु तृतीयानुवाक के व्याकरण प्रकरण में सायण ने कहा है—'**सोमेन्द्र विष्णु शब्दाः वृषादिगताः**' इति। अर्थात् 'विष्णु' शब्द वृषादि होने से '**वृषादीनां च**' से आद्युदात्त है। फलतः अब स्वर संचार व्यवस्था वृषादि स्वर के अनुसार ही होगी। तात्पर्य यह है कि शेष निघात से 'विष्णु' शब्द का 'उ' अनुदात्त रहेगा। संहिता में विष्णु शब्द 'विष्णोः' इस प्रकार षष्ठयन्त पढ़ा गया है। तदनुसार 'विष्णु+अस्' ऐसी अवस्था में, उकार को '**घेर्ङिति**' से गुण हो गया। यह गुण (ओकार) अनुदात्तस्थानिक होने से अनुदात्त ही है। षष्ठी विभक्ति (अस्) भी सुप्त्वाद् अनुदात्त है, अतः '**ङसिङसोश्च**' से होने वाला पूर्वरूप (ओकार) भी अनुदात्त ही रहेगा। संहिता में स्वर स्थिति यों रहेगी—विष्णोः। यहां '**उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः**' से स्वरित नहीं होगा, कारण कि संहिता में उसके आगे 'स्तू' उदात्त[2] है—विष्णोः स्तूपो। हाँ, पद पाठ में 'ष्णोः' को स्वरित हो जायगा। अतः पद पाठ में स्वर स्थिति यों रहेगी—विष्णोः।

---

१. 'रे' और 'स्थ' के मध्य में अर्धमात्राधिक काल व्यवधान से 'अतिशायित सन्निधि' रूप संहिता का अभाव है।

२. 'नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्य गालवानाम्' इस सूत्र से स्वरित का निषेध हो जाता है।

स्तूपशब्दो वृषादिः (पा० ६।१।२०३)। ऊर्णाशब्दस्य वृषादित्वादाद्युदात्तत्वे (पा० ६।१।२०३) सत्युपमानपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् (पा० ६।२।२)।

स्वासस्थमित्यत्र 'नञ्सुभ्याम्'[1] (पा० ६।२।१७२) इत्यन्तोदात्तः।

स्तूप इति। स्तूप शब्द वृषादि है, अतः **'वृषादीनां च'** से आद्युदात्त है। शेष निघात से 'प' अनुदात्त रहेगा। संहिता में स्तूप शब्द प्रथमान्त पढ़ा गया है, और उसके आगे 'असि' शब्द है, जो **'तिङतिङः'** से सर्वानुदात्त है, दोनों की स्वादि सन्धि हुई है। स्तूपस् + असि। इस अवस्था में 'स्' को रुत्व, उत्व और गुण होकर 'स्तूपो' बन जाता है। यहां 'पो' का ओकार भी अनुदात्त स्थानिक होने से अनुदात्त ही रहता है, तदनन्तर अनुदात्त 'असि के 'अ' के साथ पूर्वरूप सन्धि होने पर वह भी अनुदात्त ही रहेगा। 'असि' के आगे संहिता में **'उर्णाम्रदसम्'** यह पद है, जिसका 'ऊ' उदात्त है। उस उदात्त ऊकार के परे रहते 'असि' के 'इ' को 'य्' हो जाता है। फलतः संहिता में 'स्तूपोस्यूर्णाम्रदसम्' पद है, जिसका 'ऊ' उदात्त है। उस उदात्त ऊकार के परे रहते 'असि' के 'इ' को 'य्' हो जाता है। फलतः संहिता में 'स्तूपोस्यूर्णा म्रदसम्' इस प्रकार रूप रहता है। यहाँ भी 'पो' को पूर्ववत् **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** से स्वरित नहीं हुआ, कारण कि उसके आगे 'स्यू' उदात्त है। **'नोदात्तस्वरितोदयम्'''** से स्वरित का निषेध हो गया।

ऊर्णा इति। 'ऊर्णा' शब्द वृषादि होने से आद्युदात्त है। यही इसका प्रकृति स्वर है। 'ऊर्णा' शब्द का **'म्रदसम्'** शब्द के साथ **'उपमानानि सामान्यवचनैः'** सूत्र से समास हो गया। **'समासस्य'** सूत्र से अन्तोदात्तत्व प्राप्त था **'तत्पुरुषे-तुल्यार्थ-तृतीया-सप्तम्युपमानाव्यय द्वितीयाकृत्याः ६।२।२।'** इस सूत्र से उपमान पूर्वपद प्रकृति स्वर हो गया। यहाँ 'ऊर्णा-ऊर्णानिर्मित कम्बल-उपमान है, वह वृषादि होने से आद्युदात्त है, वही यहाँ शेष रहेगा। शेष निघात से र्णा म्र द सम् ये सब अनुदात्त हो गए। 'र्णा' को उदात्त से परे रहने के कारण स्वरित हो गया, और उससे आगे के सब अनुदात्त अक्षरों को प्रचय हो गया। फलतः संहिता में स्वर-स्थिति यों रहेगी—ऊर्णाम्रदसम्। पद पाठ में स्वर स्थिति यों रहेगी—ऊर्णाम्रदसमित्यूर्णा-म्रदसम्। 'म्रदसम्' के 'स' को प्रचय (एक श्रुति) नहीं हुआ, किन्तु **'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः'** इस सूत्र से अनुदात्ततर हो गया। क्योंकि उसके आगे 'इ' उदात्त है। 'म्रदसम्' को स्वरित से परे रहते हुए भी प्रचय (एकश्रुति) नहीं हुआ। क्योंकि अवग्रह के कारण संहिता का अभाव है।

स्वासस्थम्' इति - **'नञ्सुभ्याम्** – ६।२।१७२। नञ् और 'सु' से परे बहुव्रीहि समास में उत्तर पद को अन्तोदात्त हो जाता है' इस सूत्र से 'स्थ' को अन्तोदात्त हो गया। शेष निघात से प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों बनेगी—स्वा स स्थम्।

---

१. जो स्वर यहां बताया गया है, उससे विदित होता है कि यहां बहुव्रीहि समास है, परन्तु भाष्यकार ने 'स्वासस्थम्' पद की व्याख्या की है—हे देव बर्हिः। सुखेन आसितुं स्थान रूपंत्वां वेद्यां स्तृणामि। इस व्याख्या के अनुसार यहां बहुव्रीहि समास प्रतीत नहीं होता। 'स्वास' शब्द में सुपूर्वक आस् धातु से खल् हुआ है। 'स्थ' शब्द में घञर्थे कविधानम्' से 'क' प्रत्यय अधिकरण अर्थ में हुआ है। इस प्रकार से भाष्यकार 'स्वासस्थम्' पद का अर्थ है—सुखपूर्वक बैठने योग्य स्थान। यह अर्थ भाष्यकार की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार ही है। परन्तु इस अर्थ में 'स्वासस्थम्' में बहुव्रीहि समास नहीं माना जा सकता। भट्टभास्कर कहते हैं—शोभना आसाः=आसितारः, स्थाः=स्थातारः यस्मिन्निति स्वासस्थम्। यह 'स्वासस्थम्' का विग्रह और व्याख्यान है। इसके अनुसार 'नञ् सुभ्याम्' सूत्र से अन्तोदात्तत्व संगत है। 'आसाः' में 'आसते' इति आसाः। पचाद्यच् हुआ। 'स्थः' में तिष्ठन्तीति स्थाः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' से विच् प्रत्यय हुआ है।

विश्वावसुरित्यत्र "बहुव्रीहौ विश्वसंज्ञायाम्" (पा० ६।२।१०६) इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। ईषतो यजमानस्येत्युभयत्र लसार्वधातुकस्वरः (पा० ६।१।१८६)।

संहिता में 'स्वा' स्वरित से परे है, अतः उसमें प्रचय (एक श्रुति) हो गया। 'स' के आगे 'स्थ' उदात्त है, अत उसको (स को) अनुदात्ततर हो गया। फलतः संहिता में स्वर स्थिति यों रही—स्वा स स्थम्। पद पाठ में—स्वासस्थमिति सु-आसस्थम्। 'ति' के आगे 'सु' को प्रचय हो गया। 'आ' को प्रचय नहीं होगा, क्योंकि संहिता का अभाव है। 'स' को संहिता के अभाव के कारण और उदात्त परक होने के कारण दोनों तरह से प्रचय नहीं हुआ।

विश्वावसुरिति। विश्वानि वसूनि यस्य यस्मिन् वा स विश्वावसुर्गन्धर्वविशेषः। **'विश्वस्य वसुराटोः'** सूत्र से विश्व शब्द को दीर्घ हो गया। **'बहुव्रीहौ विश्व संज्ञायाम्'** इस सूत्र से पूर्वपदभूत विश्व शब्द को अन्तोदात्त हो गया। **'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'** इस सूत्र से पूर्वपद को यहाँ प्रकृति स्वर प्राप्त था, वह नहीं हुआ। 'विश्व' शब्द 'विश्' धातु से 'क्वन्' प्रत्यय करने पर बनता है, फलतः वह **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** इस सूत्र से आद्युदात्त है, यही यहाँ पूर्वपद प्रकृति स्वर है। यदि 'विश्वावसु' शब्द में पूर्वपद प्रकृति स्वर हो जाता वह आद्युदात्त होता। अब पूर्वपद के (विश्व शब्द के) अन्त को उदात्त हुआ है। शेष निघात व्यवस्था इसी के अनुसार होगी। स्वर क्रम की प्रारम्भिक स्थिति यों रही – वि श्वा व सु:। **'उदात्तादनुदात्तस्य……'** सूत्र से 'व' को स्वरित हो गया। 'सु' को प्रचय प्राप्त था वह नहीं हुआ, क्योंकि संहिता में उसके आगे 'वि' उदात्त है, अतः **'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः'** से 'सु' को सन्नतर हो गया। फलतः संहिता में स्वरचिह्न क्रम यों रहा—वि श्वा व सुः। पद पाठ में—विश्वावसुरिति विश्व वसुः। 'ति' से परे वि को सन्नतर हो गया, क्योंकि उसके आगे 'श्व' उदात्त है। 'विश्व' शब्द को दीर्घ नहीं हुआ; क्योंकि अवग्रह के कारण संहिता का अभाव हो गया।

ईषतो इति। 'ईषतो' पद में और 'यजमानस्य' इस पद में ल सार्वधातुक स्वर (अनुदात्त) हुआ है। ईष गति हिंसादानेषु, अनुदात्तेद् भौवादिक धातु है, व्यत्यय से लट् के स्थान में शतृ प्रत्यय हुआ है। जो शित्वात् सार्वधातुक है, कर्तरिशप् भी हुआ है, अतः **'तास्यनुदात्तेन ङिदुपदेशात्'** इत्यादि सूत्र से अदुपदेश से परे होने के कारण ल सार्वधातुक शतृ (अत्) प्रत्यय को अनुदात्त हो गया। **'धातोः'** इस सूत्र से 'ई' उदात्त है यही धातु स्वर यहाँ स्वरान्तर संचार का अवलम्ब है। फलतः शेष निघात से 'ईषत्' शब्द में प्रारम्भिक स्वर चिह्न स्थिति इस प्रकार होगी—ईषत्। 'ईषत्' से परे ङसि (अस्-पञ्चमी) विभक्ति है जो सुप्त्वाद् अनुदात्त है। अतः विभक्त्यन्त में प्रारम्भिक स्वर स्थिति इस रूप में होगी—ईषतः। **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** के अनुसार 'ष' स्वरति हो जायगा, और 'त' **'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्'** के अनुसार प्रचित हो जायगा। फलतः पदपाठ में निश्चित स्वर स्थिति यों होगी—ई षं तः। प्रचित अक्षर भी उदात्त अक्षर की तरह निश्चिह्न होता है। संहिता में 'ईर्षतः' पद के आगे 'य' उदात्त अक्षर है, तन्मूलक स्वादि संधि होने से 'तः' को 'तो' बन जायगा। अनुदात्तस्थानिक होने से वह भी अनुदात्त ही रहेगा। संहिता में उसको प्रचय नहीं होगा, किन्तु उदात्त परक होने के कारण **'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः'** से अनुदात्ततर हो जायगा। अतः संहिता में निश्चित स्वर स्थिति यों होगी—ईर्षतो।

'यजमान' शब्द स्वरितेत् भौवादिक यज् धातु से लट् और उसके स्थान में शानच् करके बना है। **'कर्तरिशप्'** से शप् भी हुआ है। शप् और शानच् दोनों ही शित्वात् सार्वधातुक हैं। यहाँ शानच् के चित् होने के कारण **'चितः'** सूत्र से 'यजमान' शब्द को अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसको बाधकर **'तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशात्'** इत्यादि सूत्र से अदुपदेश से परे होने

मित्रावरुणावित्यत्र देवताद्वन्द्वस्वर: (पा० ६।२।१४१)।
उत्तरत इत्यत्रातसुच्प्रत्ययान्तत्वेन चित्स्वर: (पा० ६।१।१६३)।

के कारण ल सार्वधातुक शानच् (आन) को सर्वानुदात्त हो गया। यहां धातुस्वर से 'य' उदात्त है वही यहां शेष रहेगा। अग्रिम स्वर संचार व्यवस्था इसी के अनुसार होगी। यजमान शब्द संहिता में षष्ठ्येकवचनान्त (यजमानस्य) पढ़ा गया है, षष्ठी भी 'सुप्' होने के कारण अनुदात्त है। फलत: 'यजमानस्य' पद में शेष निघात के अनन्तर प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों रहेगी—यज॒मा॒न॒स्य॒। 'ज॑' को स्वरित हो गया, क्योंकि वह उदात्त से परे है। शेष मा, न, स्य—इन अक्षरों को स्वरित से परे रहने के कारण प्रचय हो गया। फलत: संहिता और पद पाठ दोनों जगह स्वरस्थिति एक जैसी ही रहेगी—यर्जमानस्य।

मित्रावरुणौ इति। मित्रावरुणौ पद में द्वन्द्व समास होने के कारण **'देवता द्वन्द्वे च'** इस सूत्र से उभय पद प्रकृति स्वर हो गया। तात्पर्य यह है—मित्रश्च वरुणश्च इस विग्रह के अनुसार मित्रा वरुण शब्द में द्वन्द्व समास है, **'देवता द्वन्द्वे च ६।३।२६।'** इस सूत्र से पूर्वपद को आनङ् हो गया। मित्र शब्द प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है, वरुण शब्द उनन् प्रत्ययान्त होने से निदन्तत्वाद् अथवा वृषादित्वाद् आद्युदात्त है। ये ही दोनों यहाँ उभय पद प्रकृति स्वर हैं। इन्हीं के अनुसार शेष निघात व्यवस्था होगी। अत: 'मित्रावरुणौ' पद में प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों रहेगी – मि॒ त्रा व॒ रु॒ णौ॒। 'रु॑' को उदात्त से परे होने के कारण स्वरित हो जायगा। 'णौ' को स्वरित से परे रहने के कारण प्रचय हो जायगा। फलत: संहिता में निश्चित स्वर स्थिति यों रहेगी—मि॒त्रा व रु॑ णौ। पद पाठ में—मि॒त्रावर्रुणा॒विति मि॒त्र-वर्रुणौ। 'मि॒त्रावर्रुणौ' पद द्व्युदात्त है।

उत्तरत इति। :उत्तरत:' शब्द में 'अतसुच्' प्रत्यय होने के कारण चित् स्वर हुआ है। तात्पर्य यह है कि उत्तर शब्द में **'दिक् शब्देभ्य: सप्तमी पञ्चमी'** इत्यादि सूत्र से 'अस्ताति' प्रत्यय प्राप्त था, उसको बाधकर **'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्'** से अतसुच् (अतस्) प्रत्यय हो गया। **'यस्येति च'** सूत्र से 'अ' का लोप होने पर—'उत्तरत:' यह शब्द बना। 'अतसुच्' प्रत्यय चित् है, अत: 'उत्तरत:' पद में 'चित:' सूत्र से अन्तोदात्तत्व हो गया। तदनुसार उक्त शब्द में अतसुच् (अतस्) का 'त' उदात्त रहेगा। शेष सब अक्षर अनुदात्त हो जायँगे। फलत: उक्त शब्द में प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों रहेगी—उ॒ त्त॒ र॒ त:। संहिता में 'उत्तरत:' शब्द से पूर्व 'त्वा' जो शब्द है, युष्मदादेश होने से अनुदात्त है। 'त्वा' और 'उ' की गुणसन्धि होने से 'त्वो' बना, वह भी अनुदात्तस्थानिक होने से अनुदात्त ही रहा। त्वो॒ त्त॒ र॒ त:—ऐसी स्थिति में पूर्ववर्ती मि॒ त्रा व॒ रु॑ णौ—पद के स्वरित 'रु॑' से परे होने के कारण 'त्वो' और 'त्त' को प्रचय[1] हो गया। 'र' को प्रचय नहीं हुआ, कारण कि उसके आगे 'त:' उदात्त है अत: वह **'उदात्तस्वरित परस्य सन्नतर:'** से सन्नतर हो गया। संहिता में निश्चित स्वर-स्थिति यों रही—त्वो त्त र॒ त:। पद पाठ में—उ॒त्त॒र॒त इत्यु॑त्—त॒र॒त:। 'त्युत्' का 'उ॑' उदात्त 'इ' से परे है, इसलिए उसको स्वरित हो गया। उससे परे 'त' को अवग्रह मूलक संहिताभाव के कारण प्रचय नहीं हुआ, 'र' को संहिताभाव और उदात्तपरकत्व इन दोनों कारणों से प्रचय नहीं हुआ।

---

१. यद्यपि 'रु॑' और 'त्वो' के बीच में 'णौ' का व्यवधान है, इसी प्रकार 'रु॑' और 'त्त' के बीच में 'णौ' और 'त्वो' का व्यवधान है, तथापि स्वरित से परे अनुदात्त को प्रचय करने में प्रचित वर्ण कर्तृक व्यवधान नहीं माना जाता। अन्यथा 'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्' सूत्र में 'अनुदात्तानाम्' यह बहुवचन व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि स्वरित से परे अव्यवहित अनुदात्त एक ही हो सकता है। संक्षेप में सार यह निकला कि 'अनुदात्तानाम्' यह जात्याख्यायां बहुवचन है, अत: स्वरिताव्यवहृतपरत्वविशिष्ट अनुदात्तत्वजात्यवच्छिन्न को (यावदनुदात्तो को) प्रचय होता है—यह सूत्रार्थ है। फलत: प्रचितातिरिक्त के व्यवधान होने पर ही प्रचय नहीं होता। प्रचित के व्यवधान में प्रचय हो ही जाता है।

धर्मणेत्यत्र मनिन्प्रत्ययान्तत्वान्नित्स्वरः (पा० ६।१।१९७)। सूर्यशब्दे निपातनादाद्युदात्तः। (पा० ३।१।११४)।

कस्या इत्यत्र "सावेकाचः" (पा० ६।१।१६८)। इति विभक्तेरुदात्तत्वे प्राप्ते "न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः" (पा० ६।१।१८२) इति प्रथमैकवचने साववर्णान्तत्वेन निषिध्यते।

अभिशस्त्या इत्यत्र "तादौ च" (पा० ६।२।५०) इति गतेः प्रकृतिस्वरः।

धर्मणे इति। 'धर्मणा' पद में मनिन् प्रत्ययान्त होने के कारण नित् स्वर हुआ है। तात्पर्य यह है कि 'धृञ्' धातु से **'अन्येभ्योऽपिदृश्यन्ते'** इस सूत्र से मनिन् (मन्) प्रत्यय हुआ है। गुण होकर धर्मन् बना, तृतीया विभक्ति पर रहते धर्मणा बन गया। 'धर्मन्' शब्द निद्न्त होने से आद्युदात्त है। उसके आगे तृतीया विभक्ति सुप्त्वाद् अनुदात्त है। संहिता में स्वर व्यवस्था यों रहेगी—धर्मणा। 'ध' उदात्त है उससे परे 'र्म' और 'णा' शेष निघात से अनुदात्त हो गए थे। 'र्म' को स्वरित हो गया, उससे परे 'णा' को प्रचय प्राप्त था, परन्तु प्रचय न होकर सन्नतर (अनुदात्ततर) हो गया। क्योंकि 'णा' के आगे संहिता में **'यर्जमानस्य'** का 'य' उदात्त है। पद पाठ में स्वर स्थिति यों रहेगी - धर्म'णा।

सूर्य इति। सूर्य शब्द में निपातनाद् आद्युदात्तत्व है। शायद भाष्यकार का अभिप्राय वृषादित्वाद् आद्युदात्तत्व से है। अथवा सूर्य शब्द **'राजसूय सूर्यमृषोद्य:'** इत्यादि सूत्र से क्यबन्त निपातित हुआ है। सरत्याकाश इति सूर्यः। निपातनात् क्यप् भी हुआ और 'सृ' धातु के ऋ को उत्व भी हुआ, वह **'उरण् रपरः'** से रपर हो गया। 'सुर्य' इस अवस्था में 'हलिच' से दीर्घ होकर 'सूर्य' बन गया। क्यप् प्रत्यय पित्त्वादनुदात्त है, अतः धातु स्वर ही शेष रहेगा। यही भाष्यकार के 'निपातनाद् आद्युदात्तत्व' कहने का तात्पर्य है। धातु स्वर से 'सू' उदात्त है, शेष निघात से 'र्य' अनुदात्त है। **'उदात्तादनुदात्तस्य'** इत्यादि सूत्र से 'र्य' को स्वरित हो गया। फलतः संहिता और पद में स्वर स्थिति एक जैसी ही रहेगी—सूर्य':।

कस्या इति। 'कस्याः' पद में **'सावेकाचस्तृतीयादि विभक्तिः'**[1] इस सूत्र से 'किम्' शब्द के आगे की पञ्चमी विभक्ति (स्याः) को उदात्तत्व प्राप्त था। परन्तु हो नहीं सका कारण कि **'न गोश्वन्[2] साववर्णराडङ्क्रुङ् कृद्भ्यः'**[2] इस सूत्र से उसका निषेध हो गया। यह सूत्र कहता है कि प्रथमा विभक्ति के एक वचन में जो अवर्णान्त रहता है, उससे परे प्रागुक्त का (उदात्तत्व का) निषेध होता है। 'किम्' शब्द का स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा के एक वचन में 'का' इस प्रकार अवर्णान्त रूप रहता है। फलतः उससे परे विभक्ति को उदात्त नहीं हुआ। 'क' **'स्वाङ्गशिरामदन्तानाम्'** से उदात्त है, अतः वही शेष रहेगा। 'स्याः' सुप् होने से स्वयं ही अनुदात्त है, शेष निघात से भी अनुदात्त है। **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** से उसको स्वरित हो गया। संहिता और पद पाठ में स्वर संचार समान ही रहेगा—कस्याः।

अभिशस्त्या इति। 'अभिशस्त्याः' पद में **'तादौ[3] च निति कृत्यतौ ६।२।५०'** इस सूत्र से कृत् स्वर को बाधकर, पूर्व गति स्वर ही स्थिर रहा। तात्पर्य यह है—यहां 'शस्ति' उत्तर पद क्तिन्नन्त है, अतः **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** के अनुसार

---

१. जो शब्द सप्तमी के बहुवचन में 'एकाच्' रहे उससे परे तृतीयादि विभक्ति को उदात्त हो जाता है।

२. गो, श्वन्, प्रथमा के एक वचन में अवर्णान्त रहने वाला, राज्, नलोपरहित, अञ्चूतार पर क्रुञ्च, क्विबन्त करोति अथवा कृन्तात—इनसे परे विभक्ति को उदात्तत्व नहीं होता।

३. यह सूत्र 'गतिकारकोपपदात् कृत्' का अपवाद है। इसका अर्थ है = तकारादि नित् तु शब्द भिन्न कृत् परे रहते अनन्तर गति को प्रकृतिभाव हो जाता है।

वीतिहोत्रमित्यत्र "मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः" (पा० ३।३।९६) इति वीधातो-रुदात्तत्वे क्तिन्प्रत्यये सति बहुव्रीहिस्वरः।

घृताचीत्यत्र कृत्स्वरः (पा० ६।२।१३९)।

आद्युदात्त है, यही कृदुत्तरपदप्रकृति स्वर है, जो कि यहाँ **'गतिकारकोपपदात् कृत्'** से प्राप्त होता है। परन्तु तदपवादभूत **'तादौ च निति कृत्य तौ'** इस सूत्र ने कृदुत्तरपद प्रकृति स्वर को बाधकर पूर्वपदभूत 'अभि' में ही प्रकृति स्वर स्थिर किया। 'अभि' का प्रकृति स्वर है, **'निपाता आद्युदात्ताः, उपसर्गाश्चाभिवर्जम्'** के अनुसार अन्तोदात्तत्व[1] फलतः 'अभिशस्त्याः' में 'अभि' का 'इ' उदात्त रहेगा, इसी के अनुसार शेष निघात व्यवस्था होगी। अतः उक्त पद में प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों रहेगी —अ भि श स्त्या:। 'र्श' को स्वरित हो गया और उससे परे 'स्त्याः' को प्रचय (एकश्रुति) हो गया। संहिता में निश्चित स्वर स्थिति यों रहेगी—अ भि र्श स्त्याः। पद पाठ में स्वर क्रम यों रहेगा—अ भि र्श स्त्या इत्यभि श स्त्याः। 'इत्य' से पूर्व 'स्त्याः' को प्रचय नहीं हुआ, क्योंकि उसके आगे 'इ' उदात्त है। 'इत्य' में 'त्य' को स्वरित नहीं हुआ, क्योंकि उसके आगे 'भि' उदात्त है। **'नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यगालवानाम्'** से स्वरित का निषेध हो गया।

वीतिहोत्रम् इति। 'वीतिहोत्रम्' इस पद में[2] वी धातु से **'मन्त्रे वृषेष-पच-मन भू वी रा[3] उदात्तः'** इस सूत्र से उदात्त क्तिन् प्रत्यय करने पर बहुव्रीहि स्वर[4] हो गया। तात्पर्य यह है कि वीतिहोत्र पद में बहुव्रीहि समास है। सायण के मत में 'वीतये=व्याप्तये, समृद्धये, होत्रम्=होमो यस्य तं वीतिहोत्रम्।' यह विग्रह है। यहां पूर्वपद 'वीति' में अन्तोदात्तत्व प्रकृति स्वर है, क्योंकि क्तिन् प्रत्यय उदात्त है जो कि सति शिष्ट होने के कारण बलवान् होने से शेष रहेगा, धातु को शेष निघात से अनुदात्त हो जायगा। **'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'** इस सूत्र से संपूर्ण पद में पूर्वोक्त पूर्वपद प्रकृति स्वर ही शेष रहेगा। शेष निघात से 'हो_ त्र म्' भी निहित हो जायगा। फलतः प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों होगी—वी ति हो_ त्र म्। 'हो' को उदात्त से परे रहने के कारण स्वरित हो जायगा। 'त्रम्' को स्वरित से परे रहने के कारण प्रचय हो जायगा। सिद्धान्ततः संहिता में स्वर स्थिति यों रहेगी—वी ति हो' त्र म्। पदपाठ में स्वर क्रम यों होगा—वी ति हो' त्र मिति वीतिहो_त्रम्। 'मि' से पूर्व त्र को अनुदात्ततर हो गया। क्योंकि उसके आगे 'मि' उदात्त है। स्वरित 'ति' के आगे 'वी' भी अनुदात्ततर ही होगा, क्योंकि उसके आगे 'ति' उदात्त है। अन्त में 'हो_ त्र म्' में निघात ही रहेगा, संहिता के अभाव से स्वरित और प्रचय नहीं होंगे।

घृताची इति। 'घृताची' पद में कृत् स्वर हो गया। भाष्यकार का हार्दिक अभिप्राय यह है कि मूल शब्द **'घृताच्'** है जो कि घृत पूर्वक **'अञ्चु'** धातु से क्विन् प्रत्यय और न्' का लोप करने पर बनता है। 'घृत+अच्' ऐसी स्थिति में 'अच् में क्विन्नन्त होने के कारण **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** से आद्युदात्तत्व हो गया। यही यहाँ भाष्यकार के मत से कृत्स्वर है। तदनुसार शेष निघात से 'घृ' और 'त' अनुदात्त रहेंगे। 'त' के 'अ' को और 'अच्' के 'अ' को **'अकःसवर्णे दीर्घः'** से दीर्घ एकादेश हो गया, वह **'एकादेश उदात्तेनोदात्तः'** से उदात्त रहा। फलतः 'घृताच्' शब्द में स्वर स्थिति यों होगी—घृता च्।

---

१. प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है—अभि।

२. 'वी गति-प्राप्ति-प्रजन-कान्त्यसन-खादनेषु' यह धातु आदादिक है।

३. पञ्चम्यर्थे प्रथमा।

४. पूर्वपद प्रकृति स्वर। 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'—इत्युक्तेः।

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिताभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके एकादशोऽनुवाकः ॥११॥

स्त्रीत्व विवक्षा में उगित्वाद् **'उगितश्च'** सूत्र से ङीप् हो जाता है, ङीप् पित्वाद् अनुदात्त है, उसको **'उदात्ताद-नुदात्तस्य स्वरितः'** इस सूत्र से स्वरित हो जाता है, फलतः पदपाठ में स्वर स्थिति यों रहेगी। घृ ता चीं। हां, संहिता में कुछ अन्तर रहेगा। संहिता में 'घृताची' पद के आगे 'नाम्ना' पद है, जिसमें 'ना' उदात्त है; अतः उदात्त परक होने से **'नोदात्तस्वरितोदयम्'''''** ' इत्यादि सूत्र से स्वरित का निषेध हो जायगा, फलतः 'ची' अनुदात्त ही रहेगा। संहिता में स्वर क्रम यों होगा—घृ ताची। शङ्का—स्त्रीत्व विवक्षा होने पर 'घृत+अच्' ऐसी अवस्था में 'अच्' के 'अ' को न तो उदात्त ही होगा और न सवर्ण दीर्घ ही। कारण कि स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् होने पर **'अचः'** सूत्र से भ संज्ञा मूलक 'अच्' के 'अ' को लोप की प्राप्ति रहेगी। अतः **'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः'** इस परिभाषा के अनुसार निमित्त के विनाशोन्मुख होने पर तत्प्रयुक्त उदात्त स्वर और सवर्णदीर्घ दोनों ही नहीं हो सकेंगे। ऐसी स्थिति में 'त' के उदात्तत्व की संभावना ही नहीं है।

समाधान—'घृत+अच्+ई' ऐसी अवस्था में 'अचः' से 'अच्' के 'अ' का लोप तो अवश्य होगा, परन्तु **'चौ'**[1] ६।३।१३८ से 'घृत' के 'त' को दीर्घ हो जायगा, तदनन्तर दूसरे **'चौ'** ६।१।२२२ सूत्र से 'ता' को उदात्त हो जायगा। फलतः पूर्वबोधित स्वर संचार में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। 'च्' शेष है, जो व्यञ्जन है, अच् नहीं है, उदात्तादि स्वर अच् को ही होते हैं। यदि कृत् स्वर से कृदन्त को होने वाला स्वर भाष्यकार को अभिप्रेत है तो वह 'घृत' पद का स्वर हो सकता है, क्योंकि घृत पद क्तान्त होने से कृदन्त है। ऐसा मानने पर 'घृताची' पद में संहिता पद पाठोक्त स्वर संचार क्रम व्याकरणोपपन्न भी हो जाता है। 'घृत' शब्द 'घृ क्षरण दीप्त्योः' अथवा 'घृ सेचने' धातु से क्त प्रत्यय करने पर बनता है। पहला जुहोत्यादि का छान्दस है, दूसरा भ्वादि का है। 'क्त' प्रत्यय, प्रत्यय-स्वर से उदात्त है, सतिशिष्ट होने से धातु स्वर की अपेक्षा वही बलवान् है। फलतः घृत शब्द अन्तोदात्तत्व ठहरता है **'घृतादीनां च'** इस फिट् सूत्र से भी घृत शब्द अन्तोदात्त है। तदनुसार शेष निघात व्यवस्था होने पर प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों होगी—घृ ता ची 'ची' का 'ई' ङीप् का है, अतः स्वतः ही अनुदात्त है, उसे **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** से स्वरित प्राप्त था, परन्तु संहिता में उसके आगे 'ना' अक्षर उदात्त है, अतः **'नोदात्त-स्वरितोदयमगार्ग्यगालवानाम्'** इससे स्वरित का निषेध हो गया। फलतः संहिता में पूर्वोक्त ही स्वर स्थिति रही। पदकारों ने 'घृताची' में समास नहीं माना, अतः उन्होंने इसमें अवग्रह नहीं दर्शाया। वहाँ स्वर स्थिति यों रहेगी—घृ ता चीं। चीं को स्वरित हो जायगा। यद्यपि संहिता पद पाठोक्त स्वर संचार की उपपत्ति उक्त रीति से हो जाती है, तथापि भाष्योक्ति की उपपत्ति हमारी समझ में नहीं आई।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता के प्रथम काण्ड में प्रथम प्रपाठक के ग्यारहवें अनुवाक पर श्री सायणाचार्य कृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

१. लुप्ताकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्य दीर्घः स्याद् इति सूत्रार्थः।

२. लुप्ताकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्यान्तोदात्तः इति सूत्रार्थः।

॥ श्रीः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता

सायणभाष्यसहिता हिन्द्यनुवादसमेता च

प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके

द्वादशोऽनुवाकः

एकादशेऽनुवाक इध्माबर्हिः स्रुचां प्रोक्षणादितन्त्रमुक्तम्। तत्राऽऽज्यहविषा पूर्णानां स्रुचां यदासादनमुक्तं तेन पुरोडाशसांनाय्ययोरपि वेद्यामासादनमुपलक्ष्यते। ते मन्त्रास्त्वच्छिद्रकाण्डादौ (तै० ब्रा० ३।७।५) द्रष्टव्याः। सर्वेषु हविःष्वासादितेष्वग्नावभ्याहितानामिध्मकाष्ठानामुपरि होतुमाघारो द्वादशे विधीयते।

द्वादश अनुवाक के सायण भाष्य का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ

एकादशे इति। ग्यारहवें अनुवाक में काष्ठ, कुश और जुहू आदि स्रुचों का प्रोक्षण आदि कर्म कलाप बता दिया गया है। वहां घृत रूप—हवि से पूर्ण स्रुचों का जो वेदि पर आसादन (स्थापन) बताया गया है वह वेदि पर पुरोडाश और सांनाय्य (दही और दूध) के आसादन का भी उपलक्षक[1] है। पुरोडाश और सान्नाय्य का आसादन करने के मन्त्र तैत्तिरीय संहिता के अच्छिद्र काण्ड आदि में देखिये। सब हवियों का आसादन हो जाने के अनन्तर अग्नि में डाले हुए इध्म[2] काष्ठों के ऊपर डालने के लिए आघार[3] का विधान बारहवें अनुवाक में होगा।

---

१. तात्पर्य यह है कि यद्यपि वहां वेदि पर घृत पूर्ण स्रुचों का ही आसादन शब्दतः बताया गया है, तथापि उससे पुरोडाश, दूध, दही का आसादन भी समझ लेना चाहिये, क्योंकि घृत की तरह ये भी हवियाँ हैं।

२. द्वितीय अनुवाक में यज्ञोपयोगी काष्ठ और कुशों का आहरण बताया गया है। लकड़ियों की और कुशों की पृथक् पृथक् दो गट्ठियाँ बना ली जाती हैं। ग्यारहवें अनुवाक में उन गट्ठियों को वेदि पर रखने का विधान किया गया है लकड़ी की गाँठ खोल दी जाती है। इस गाँठ को इध्म कहते हैं, इध्म शब्द का अर्थ है—ईंधन, अग्नि को तीव्र करने वाले काष्ठ के टुकड़े। इस इध्म नामक गाँठ में से लिये जाने वाले काष्ठ खण्ड, जिन्हें 'समिधा' भी कहा जाता है, इध्म काष्ठ कहलाते हैं। अथवा इध्म शब्द को केवल विशेषण समझें, इस पक्ष में 'इध्म काष्ठ' का अर्थ होगा—अग्नि को संधुक्षित करने वाली समिधाएँ।

३. 'आघार' एक प्रकार की आज्याहुति है, अग्नि में डाली हुई समिधाओं के ऊपर उत्तर से दक्षिण की ओर या दक्षिण से उत्तर की ओर जो घृत की धारा छोड़ी जाती है उसे ही आघार कहते हैं। 'आघरणम्—क्षारणम् आघारः', यह 'आघार' शब्द की व्युत्पत्ति है। 'घृ क्षरण दीप्त्योः' धातु से णिजन्त से घञ् प्रत्यय हुआ है। कोई 'आहरणं प्रक्षेप आघारः' ऐसा विग्रह करते हैं। उनके मत से यहाँ 'गूढोत्मा' की तरह वर्ण विकार मानना होगा। तदनुसार 'ह्' को 'घ्' हो गया।

भुव॑नमसि॒ वि प्र॑थस्वाग्ने॒ यष्ट॑रि॒दं नम॑ः ।

भुवनमिति। कल्पः—"अथाग्रेण जुहूपभृतौ प्राञ्चमञ्जलिं करोति भुवनमसि विप्रथस्वाग्ने यष्टरिदं नम इति" (बौ० श्रौ० १।१५) इति।

जुहूपभृद्भ्यां पूर्वस्मिन्देश आहवनीयं प्रत्ययमञ्जलिः। हे यागनिष्पादकाग्ने, त्वं भुवनमसि। भवन्त्यस्माद्भूतानीति भुवनम्। अतो भूतकारणत्वाद्विस्तृतो भव। तुभ्यमिदमञ्जलिरूपं नमोऽस्तु।

अस्य मन्त्रस्य द्वितीयाघारशेषत्वादमन्त्रकस्य प्रथमाघारस्य पूर्वमनुष्ठेयत्वात्तं विधित्सुस्ततः पूर्वं होतारं प्रति प्रैषमन्त्रमुत्पादयति—"अग्निना वै होत्रा। देवा असुरानभ्यभवन्। अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्याह भ्रातृव्याभिभूत्यै" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति।

हे होतः, इध्मकाष्ठैः समिध्यमानस्याग्नेरनुरूपान्मन्त्रान् ब्रूहि। तमिमं प्रैषमध्वर्युर्ब्रूयात्। देवाः पूर्वं स्वकीयेषु यागेषु वह्निं होतारं कृत्वा तन्मुखेनासुरानजयन्। अतोऽद्यापि वैरितिरस्काराय

भुवनमिति। बोधायन कहते हैं—वेदि पर रक्खी हुई घृत पूर्ण स्रुचों का अभिमन्त्रण आदि कर्म कलाप करने के अनन्तर जुहू और उपभृत् के पूर्व की ओर के देश में (अवस्थित) आहवनीय के प्रति (आहवनीय के आगे) '**भुवनमसि**······ **नमः**' इस मन्त्र से अञ्जलि बाँधे -- अञ्जलि बाँधकर प्रार्थना करे। अथवा नमस्कार[1] करे।

जुहूप इति। यह कल्पसूत्रोक्त अञ्जलि जुहू और उपभृत् के पूर्वदेश में अवस्थित आहवनीय अग्नि के प्रति है। **हे** इति। हे याग को निष्पन्न करने वाली आहवनीय अग्नि! तू भुवन है=भूतों का कारण है। जिससे[2] भूत पैदा होते हैं उसे ही भुवन कहते हैं। अतः भूतों का हेतु होने के कारण तू विस्तृत हो=विशेष रूप से फैल जा। तेरे लिए यह अञ्जलि रूप नमस्कार हो।

अस्य इति। यह ('**भुवनमसि**······' इत्यादि) मन्त्र द्वितीय आघार का अङ्ग है, प्रथम आघार बिना मन्त्र के ही किया जाता है, उसको (प्रथम आघार को) विधान करने की इच्छा से ऋषि[3] उससे (प्रथमाघार से) पहले होता के प्रति प्रैषमन्त्र की कल्पना करता है—'**अग्निना**······**भ्रातृव्याभिभूत्यै**' इति। देवताओं ने अग्निरूप होता के द्वारा[4] ही असुरों को दबाया था। अतः शत्रुओं के (असुरों के) अभिभव के लिए '**अग्नये**······**अनुब्रूहि**' इस प्रैषमन्त्र को अध्वर्यु बोलता है।

हे इति। हे[5] होता तुम, समिधाओं से प्रदीप्त होते हुए अग्नि के अनुरूप मन्त्रों का उच्चारण करो। इस प्रैषमन्त्र को अध्वर्यु बोले। देवताओं ने कभी पहले अपने यज्ञों में अग्नि को होता बनाकर उसकी सहायता से असुरों को जीता था। अतः आज भी वैरी का पराभव करने के लिये मन्त्र सहित समिधाओं के द्वारा अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिये।

---

१. मस्तक झुकाकर नमस्कार करे।

२. यह भुवन शब्द का विग्रह है।

३. ब्राह्मण ग्रन्थ प्रवक्ता।

४. सहायता से।

५. यह प्रैषमन्त्र का अनुवाद है।

समन्त्रकैः काष्ठैरग्निः प्रज्वलितः कार्यः। संख्याविशिष्टमिध्मं विधत्ते—"एकविꣳशतिमिध्मदारूणि भवन्ति। एकविꣳशोवै पुरुषः। पुरुषस्याऽऽप्त्यै" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति। "दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविꣳशः" (तै० सं० ६।१।१) इत्यन्यत्राऽऽम्नातम्।

होत्रा "प्र वो वाजा अभिद्यवः" (ऋ० सं० ३।२७।१) इत्यादिष्वृक्षु सामिधेनीसंज्ञकास्वनूच्यमानासु काष्ठानामग्नौ प्रक्षेपं विधत्ते—"पञ्चदशेध्मदारुण्यभ्यादधाति। पञ्चदश वा अर्धमासस्य रात्रयः अर्धमासशः संवत्सर आप्यते" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति। कियत्संख्यैरर्धमासैश्चतुर्विंशतिसंख्याकैरित्यर्थः। अवशिष्टानां षण्णां काष्ठानां विनियोगमाह—"त्रीन् परिधीनुपरिदधाति। ऊर्ध्वे समिधावादधाति। अनूयाजेभ्यः समिधमतिशिनष्टि। षट् संपद्यन्ते। षड्वा ऋतवः। ऋतूनेवप्रीणाति" (तै० ब्रा० ३।३।७)

ऋषि संख्या सहित समिधाओं का विधान करता है—**'एकविंशतिम्······एक विंशो वै पुरुषः'**[1] इति। इक्कीस समिधाएँ होनी चाहियें, इक्कीसवाँ पुरुष है। पुरुष स्वरूप की प्राप्ति के लिए (पूर्णता के लिए)। **दश**[2] इति। दस हाथों की उँगलियाँ और दस पाओं की (मिलकर बीस होती हैं)। इक्कीसवाँ आत्मा है। यह बात कहीं दूसरी जगह कही गई है।

होत्रा इति। होता जब **'प्रवो वाजा अभिद्यवः······'** इत्यादि 'सामिधेनी'[3] नामक ऋचाओं को बोल रहा हो उस समय अग्नि में समिधाओं के डालने का विधान ब्राह्मण वाक्य करता है—**'पञ्चदशे·····आप्यते'** इति। पन्द्रह[4] समिधाएँ क्रमशः अग्नि में डाले। आधे मास में (एक पक्ष में) पन्द्रह रातें होती हैं। आधे आधे मास से (एक एक पक्ष से) मिलकर—एक संवत्सर पूरा[5] हो जाता है। **कियत्**[6] इति। कितने अर्ध मासों से संवत्सर पूरा होता है? चौबीस अर्धमासों से संवत्सर पूरा होता है—यह तात्पर्य है। अब अवशिष्ट छ काष्ठों (समिधाओं) का विनियोग बताते हैं—**'त्रीन्······ प्रीणाति'** इति। तीन परिधियां[7] (बाहु जितने लम्बे तीन काष्ठ) स्थापित करे। ऊर्ध्वाग्र[8] दो[9] समिधाओं का आधान करे। एक समिधा अनुयाजों के लिए (अनुयाज देवताओं के लिए) बचा ले। इस प्रकार सब मिलकर (३+२+१) छ संख्या

---

१. 'एकविंशतिम्······' इत्यादि तो विधि वाक्य है। 'एकविंशो वै······' यह अर्थवाद है।

२. यह वाक्य किसी दूसरी जगह का है।

३. समिधाय् आधानी सामिधेनी। 'समिधाम् आधाने षेण्यण्' इस सूत्र से 'समिध्' शब्द से 'षेण्यण्' प्रत्यय हुआ, आदि वृद्धि, ङीष् और 'य्' का लोप होकर 'सामिधेनी' शब्द बना। जिन ऋचाओं से समिधाओं का आधान होता है, उन्हें 'सामिधेनी' कहते हैं। 'सम्यग् इध्यते=दीप्यतेऽग्निर्याभिस्ताः सामिधेन्य ऋचः' यह विग्रह भी इसका देखा गया है।

४. 'पञ्चदश सामिधेन्यो भवन्ति' इस श्रुति के अनुसार सामिधेनी ऋचा पन्द्रह हैं। अतः समिधाएँ भी पन्द्रह ही होती हैं।

५. एक संवत्सर चौबीस अर्धमासों का होता है, अतः एक संवत्सर में (२४ × १५) तीन सौ साठ रातें होती हैं।

६. मूल ब्राह्मण में 'अर्धमासशः······' इत्यादि वाक्य उत्तर स्वरूप है, इसके अनुरूप प्रश्न वाक्य की कल्पना 'कियत्···' इत्यादि से भाष्यकार ने की है।

७. आहवनीय अग्नि के पश्चिम दक्षिण और उत्तर में क्रमशः तीन काष्ठ रक्खे जाते हैं, उन्हें ही 'परितोधीयन्ते-स्थाप्यन्ते' इस विग्रह के अनुसार परिधि कहते हैं। देखो ग्यारहवें अनुवाक का सायण भाष्य।

८-९. इनका अग्रभाग ऊपर की ओर रखना पड़ता है इसलिए इन्हें 'ऊर्ध्वाग्र' कहा गया है। ये दो समिधाएँ आघार समिधाएँ हैं। 'ऊर्ध्वे आघारसमिधावादधाति' आप० श्रौ० २।३।६। 'ऊर्ध्वाग्रे आदधाति' रुद्रदत्त प्रणीत सूत्र दीपिका।

इति। 'गन्धर्वोऽसि (तै० सं० १।१।११) इत्यादयः परिधिमन्त्राः। वीतिहोत्रम् (तै० सं० १।१।११) इत्यादिरूर्ध्वसमिन्मन्त्रः। ते च पूर्वानुवाकेऽभिहिताः।

अग्निप्रज्वलनाय वायूत्पादनं विधत्ते—"वेदेनोपवाजयति। प्राजापत्यो वै वेदः। प्राजापत्यः प्राणः। यजमान आहवनीयः। यजमान एव प्राणं दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति वेदस्य प्रजापतिश्मश्रुत्वात्प्राजापत्यत्वम्। प्राणवायोः प्रजापतिसृष्टतश्च प्राजापत्यत्वम्। आहवनीयस्य प्रस्तरन्यायेन यजमानत्वम्।

आवृत्तिं विधत्ते—"त्रिरुपवाजयति। त्रयो वै प्राणाः। प्राणानेवास्मिन् दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति। प्राणोऽपानोव्यानश्चेति प्राणानां त्रित्वम्।

पूरी हो जाती हैं। छ ऋतुएँ होती हैं ऐसा करके ऋतुओं[1] को ही तृप्त करता है। 'गन्धर्वोऽसि……' इत्यादि तीन परिधि-परिधान के मन्त्र हैं और 'वीतिहोत्रम्……' इत्यादि ऊर्ध्व समिधाओं[2] का मन्त्र है, ये सब पूर्व (११वें) अनुवाक में बता दिये गए हैं।

अग्नि इति। अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए ऋषि वायूत्पादन[3] का विधान करता है—'**वेदेन**[4]……**दधाति**' इति। वेद से (कुशमुष्टि से) अग्नि को हवा देवे। वेद प्रजापति संबन्धी[5] है। प्राण भी प्रजापति[6] संबन्धी है। यजमान—यज्ञ साधन होने के कारण—आहवनीय अग्नि के सदृश है। आहवनीय अग्नि को हवा देना यजमान में ही प्राणों का आधान करना है। **वेदस्य** इति। प्रजापति का श्मश्रु होने के कारण वेद प्रजापति संबन्धी है। प्राणवायु को प्रजापति ने उत्पन्न किया है, इसलिए वह (भी) प्रजापति संबन्धी है। प्रस्तर न्याय[7] से यजमान में आहवनीयता है।

आवृत्तिम् इति। ऋषि उपवाजन[8] (वायूत्पादन) की आवृत्ति का विधान करता है—'**त्रिरुपवाजयति**…… **दधाति**' इति। तीन बार उपवाजन करे (हवा देवे)। तीन ही तो (मुख्य) प्राण हैं—प्राण, अपान और व्यान। आहवनीय अग्नि को तीन बार हवा देकर अध्वर्यु यजमान में प्राणों का आधान करता है।

---

१. ऋत्वभिमानी देवताओं को।

२. आघार समिधाओं का।

३. अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए उसे पङ्खा आदि के द्वारा हवा देने की आवश्यकता होती है। उसी हवा देने को यहाँ भाष्यकार ने वायूत्पादन (वायु का उत्पादन) कहा है।

४. 'वेदेन उपवाजयति' इतना अंश विधिवाक्य है, शेष अर्थवाद है।

५-६. वेद और प्राण के साथ प्रजापति का क्या संबंध है—यह बात पीछे बता दी गई है।

७. मीमांसा के प्रथमाध्याय में चौथे पाद का १२वाँ अधिकरण ही 'प्रस्तर न्याय' कहलाता है। वहाँ 'यजमानः प्रस्तरः' इस वाक्य पर विचार किया गया है, वहां यही निर्णय किया गया है कि उक्त वाक्य प्रस्तर का स्तावक है, जैसे यजमान यज्ञ का साधक है वैसे ही प्रस्तर भी, इसलिए प्रस्तर यजमान स्वरूप है। प्रकृत में भी उपर्युक्त न्याय से ही आहवनीय को यजमान कहा गया है, क्योंकि वह भी यजमान की तरह यज्ञ का साधक है। देखो ११वें अनुवाक के सायण भाष्य का 'अथ मीमांसा' प्रकरण।

८. वैदिक संस्कृत में पङ्खा आदि के द्वारा हवा देने को 'उपवाजन' कहते हैं। लौकिक संस्कृत में उसी को 'उपवीजन' कहते हैं। 'उपवाजयति' 'उपवीजयति' दोनों का तात्पर्य एक ही है।

अनेकगुणविशिष्टं प्रथमाघारं विधत्ते—"वेदेनोपयत्य स्रुवेण प्राजापत्यमाघारयति।

यज्ञो वै प्रजापतिः। यज्ञमेव प्रजापतिं मुखत आरभते।

अथो प्रजापतिः सर्वा देवताः। सर्वा एव देवताः प्रीणाति" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति। उपयत्य वेदस्योपरि स्रुवमवस्थाप्येत्यर्थः। आहुतीनामादित्वादयमाघारो यज्ञस्य मुखम्। तस्मिन्मुखे यज्ञस्रष्टृत्वेन यज्ञरूपं प्रजापतिमेवाऽऽरब्धवान् भवति। प्रजापतेः सर्वदेवतारूपत्वोपपादनं वाजसनेयिन एवमामनन्ति—

अनेक इति। ऋषि अनेक[1] गुण सहित प्रथम आघार (पहली आज्याहुति) का विधान करता है—'**वेदेन**[2]······ **प्रीणाति**' इति। स्रुव को वेद के ऊपर रखकर उससे (स्रुव से) प्रजापति देवताक (प्रजापति देवता के उद्देश्य से) आघार का (आज्याहुति का) आघारण (प्रक्षेप) करे—संक्षेप में तात्पर्य यह है कि वेद[3] नामक कुशमुष्टि के ऊपर स्रुव को रखकर उससे प्रजापति देवता के लिए अग्नि में आज्याहुति डाले। ब्राह्मण वाक्य में आए हुए 'वेदेन उपयत्य'[4] इस पद समूह का अर्थ है—'वेद के ऊपर स्रुव को रखकर।'

यज्ञो वै इति। यज्ञ ही प्रजापति है, यज्ञरूप प्रजापति का ही मुख से (प्रथम आज्याहुति द्वारा) प्रारम्भ करता है। आहुतियों में प्रथम आहुति होने के कारण आघार ही यज्ञ का मुख[5] है। यज्ञ स्रष्टा[6] अध्वर्यु ने मुख स्वरूप प्रथम आघाराहुति के रूप में मानो यज्ञ स्वरूप प्रजापति के निर्माण का प्रारम्भ कर दिया है।

अथो इति। प्रजापति सर्व देवता-स्वरूप है, इसलिए अध्वर्यु यज्ञरूप प्रजापति का प्रथम आघार रूप आज्याहुति से प्रारम्भ करके सब देवताओं को ही तृप्त करता है। प्रजापति के सर्वदेवता स्वरूप होने का उपपादन वाजसनेयि शाखा के अध्येता ऋषिगण इस प्रकार करते हैं—'**तद्यदिदम्**······**सर्वे देवाः**' इति। यह जो एक एक देवता को लक्ष्य करके कहते हैं कि 'अमुक का यजन करो,' 'अमुक का यजन करो', ये सब देवता इसी प्रजापति की विभिन्नरूपा सृष्टि है, वस्तुतः

१. 'अनेक गुण सहित' का तात्पर्य यहां यही है कि केवल आघार का विधान नहीं है किन्तु आघार की अङ्गभूत अन्य वस्तुओं का भी यहाँ विधान है। इसका स्पष्टीकरण आगे हिन्दी अनुवाद और टिप्पणी में देखो।

२. 'वेदेन····· आघारयति' इतना अंश तो विधिवाक्य है, शेष 'यज्ञो वै······प्रीणाति' इतना अंश अर्थवाद है।

३. इस विधिवाक्य में चार बातों का विधान है—उनमें सबसे मुख्य है आघार (आज्याहुति)। शेष तीन उस आघार के अङ्ग हैं (गुण हैं)। पहला अङ्ग है प्रजापति देवता, किसको आज्याहुति? प्रजापति देवता को। किससे आहुति दे? स्रुव से, इसलिए दूसरा अङ्ग (गुण) है 'स्रुव'। किस स्रुव से आहुति दे? जो वेद के ऊपर रक्खा हुआ है, इसलिए वेद के ऊपर स्रुव को रखना तीसरा अङ्ग है (गुण है)। इसीलिए भाष्यकार ने लिखा है -'अनेकगुणविशिष्ट प्रथमाघार विधत्ते' इति।

४. उपपूर्वक यम् धातु से ल्यप् प्रत्यय करके यह रूप बना है। उपपूर्वक यम् धातु का अर्थ है 'संबन्धः'। यहाँ याज्ञिक संप्रदायानुसार वेद के ऊपर स्रुव को रखना ही वेद का स्रुव से संबन्ध है।

५. चितेरा किसी पुरुष के चित्र को बनाते समय पहले उसके मुख का ही निर्माण करता है, शेष अङ्गों का चित्रण पीछे करता है। प्रकृत में भी यज्ञरूप प्रजापति का चित्रण उसके मुख स्वरूप प्रथम आघाराहुति से ही प्रारम्भ होता है।

६. आघाराहुति अध्वर्यु का कर्म है, इसलिए अध्वर्यु ही यज्ञस्रष्टा है। 'यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः'—अध्वर्यु ही यज्ञ के स्वरूप का निर्माण करता है, इस श्रुति के आधार पर भी वस्तुतः अध्वर्यु को ही यज्ञ स्वरूप निर्माता कहा गया है। देखो ऋग्वेद सायणभाष्य भूमिका और निरुक्त का नैघण्टुक काण्ड।

"तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवाः" (बृ० उ० १।४।६) इति। आग्नीध्रं प्रति प्रैषमन्त्रमुत्पादयति—"अग्निमग्नीत्त्रिस्त्रिः संमृड्ढीत्याह। त्र्यावृद्धि यज्ञः। अथो रक्षसामपहत्यै" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति।

यैर्दर्भैरिध्मः पूर्वं संनद्धस्तैरग्निज्वालायां संमार्जनमभिनेतव्यम्।

हेऽग्नीदिति संबोध्य तत्रासौ प्रेष्यते। त्रिस्त्रिरिति वीप्सा परिधिसंमार्जनापेक्षा।

यही (प्रजापति) सर्वदेवता[1] स्वरूप है—सर्वदेवमय है। ऋषि आग्नीध्र के प्रति बोले जाने वाले प्रैषमन्त्र की कल्पना करता है—'**अग्निम्**······**रक्षसामपहत्यै**' इति। 'हे अग्नीत्[2] ? तुम तीन तीन बार अग्नि का सम्मार्जन करो' इस प्रकार अध्वर्यु कहे। क्योंकि यज्ञ त्र्यावृत् होता है। 'त्र्यावृत्' का अभिप्राय पहले कई बार बता दिया गया है। विशेष भूमिका में देखो। राक्षसों के अपघात के लिए भी तीन बार संमार्जन होता है।

यैर्दर्भैर् इति। जिन कुशों[3] से पहले लकड़ियों को बाँधा था उनसे ही अग्नि ज्वाला के संमार्जन का अभिनय[4] करना चाहिये।

हे इति। 'हे अग्नीत्' इस प्रकार संबोधित करके अग्नि सम्मार्जन कर्म में आग्नीध्र को प्रेरित[5] किया जाता है। **'त्रिः' 'त्रिः' यह जो दो बार 'त्रिः' शब्द का उच्चारण किया गया है यह—अग्नि से अतिरिक्त-परिधि[6] संमार्जन की अपेक्षा से किया गया है।**

---

१. पुरुष सूक्त में 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा यज्ञ स्वरूप प्रजापति के द्वारा ही सब देवताओं की उत्पत्ति बताई गई है। कार्य कारण में अभेद होता है। इसलिए प्रजापति को सर्वदेवता स्वरूप कहना ठीक ही है।

२. आग्नीध्र का दूसरा नाम 'अग्नीध्' भी है।

३. इध्म और बर्हि के आहरण प्रकरण में यह बात बताई गई है कि इध्म (समिधाओं) के गट्ठ को कुशों से बनाई गई रस्सी से बाँध दे। देखो संहिता का इध्मा बर्हिः संपादन प्रकरण। गट्ठ को खोलकर और उस रस्सी के बटों को ढीला करके उसे पुनः कुशों के रूप में परिणत कर दिया जाता है। उन्हीं कुशों से अग्नि का संमार्जन होता है।

४. अग्नि का संमार्जन असंभव है, कारण कि अग्नि का सम्पर्क होते ही कुश जल जायँगे, तीन बार तो दूर की बात है, एक बार भी अग्नि का संमार्जन नहीं हो सकता, इसीलिये भाष्यकार ने कहा 'अग्निज्वालायां संमार्जनमभिनेतव्यम्' इति। अर्थात् दूर से ही ऐसा अभिनय करे कि मानो कुशों से अग्नि का संमार्जन कर रहा है।

५. 'अग्निम् अग्नीत्! त्रिस्त्रिः समृड्ढि' इस प्रैषमन्त्र के द्वारा।

६. प्रैषमन्त्र में 'त्रिः त्रिः' यह वीप्सा में द्विर्वचन हुआ है, वीप्सा वहीं हुआ करती है जहाँ विधेय का संबंध अनेकों के साथ बताना हो, जैसे 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' इस वाक्य में विधेय सेचन क्रिया का अनेक वृक्षों के साथ संबन्ध बताना अभीष्ट है, अर्थात् वक्ता का अभिप्राय यह है कि सेचक प्रत्येक वृक्ष को सींचता है, विधेय सेचन-क्रिया की यहाँ व्यापकता बताई गई है, 'व्याप्तुमिच्छा वीप्सा' इस व्युत्पत्ति से भी वीप्सा शब्द का उक्त अभिप्राय ही फलित होता है। परन्तु प्रकृत में अग्नि 'समृद्धि' से एकमात्र आहवनीय अग्नि के साथ ही विधेय सम्मार्जन क्रिया का संबंध बताया गया है, अतः वीप्सा नहीं है, वीप्सा के अभाव में 'त्रिः त्रिः' यह द्विर्वचन अशास्त्रीय है, 'तीन बार अग्नि का सम्मार्जन करे—

तद्विधत्ते—"परिधीन्त्संमार्ष्टि। पुनात्येवैनान्" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति। प्रतिपरिधि त्रिरावृत्ति विधत्ते—"त्रिस्त्रिः संमार्ष्टि। त्र्यावृद्धि यज्ञः। अथो मेध्यत्वाय। अथा एते वै देवाश्वाः। देवाश्वानेव तत्संमार्ष्टि। सुवर्गस्य लोकस्य समष्टचै" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति। देवाश्वत्वेन भाविताः स्वर्गप्राप्तये भवन्ति। द्वयोराघारयोः क्रमेण गुणभेदं विधत्ते—"आसीनोऽन्यमाघारयमाघारयति। तिष्ठन्नन्यम्। यथाऽनो वा रथं वा युञ्ज्यात्। एवमेव तदध्वर्युर्यज्ञं युनक्ति। सुवर्गस्य लोकस्याभ्यूढचै" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति।

तदिति। ऋषि परिधि संमार्जन का विधान करता है—'**परिधीन्**''**एनान्**' इति। परिधियों का संमार्जन करे, **संमार्जन** करके आग्नीध्र इन्हें (परिधियों को) पवित्र ही करता है। ऋषि प्रत्येक परिधि के तीन बार संमार्जन की आवृत्ति **का विधान करता है**—'**त्रिस्त्रिः**''**समष्ट्यै**'इति। परिधियों में प्रत्येक का तीन तीन बार संमार्जन करे। यज्ञ क्योंकि, त्र्यावृत् होता है, परिधियों में यज्ञ योग्यता की प्राप्ति के लिए भी संमार्जन करे। एक[1] बात और भी है, ये परिधियाँ देवों के अश्व हैं, अतः आग्नीध्र इन परिधियों का संमार्जन करके देवों के अश्वों का ही संमार्जन करते हैं, स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिए।

देवा इति। इन[2] परिधियों की देवाश्वों के रूप में भावना स्वर्ग प्राप्ति रूप प्रयोजन के लिए होती है। अर्थात् परिधियों में देवाश्वत्व की भावना स्वर्ग की साधक होती है। दोनों (प्रथम और द्वितीय) आधारों के भिन्न भिन्न गुणों का (अंगों का) क्रमशः विधान करते हैं—'**आसीनो...लोकस्याभ्यूढ्यै**' इति। पहले आघार का प्रक्षेप बैठे बैठे[3] करे, दूसरे का

त्रिर् अग्नि समृद्धि' इतना ही पर्याप्त है। इस शङ्का के समाधान के लिए ही भाष्यकार ने लिखा—'त्रिस्त्रिरिति वीप्सा परिधि संमार्जनापेक्षा –'त्रिस्त्रिः' यह वीप्सा में द्विर्वचन परिधि संमार्जन की अपेक्षा से है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि यहाँ भी विधेय संमार्जन का संबंध अनेकों के साथ ही बताना है। अग्नि संमार्जन के बाद आगे परिधियों का (परिधि नामक काष्ठों का) भी संमार्जन बताया गया है। उसकी अपेक्षा से ही 'त्रिः त्रिः' ऐसा कहा। अर्थात् अग्नि और परिधियों का तीन-तीन बार संमार्जन करे। यहाँ तीन बार अग्नि का और तीन बार परिधियों का संमार्जन अपेक्षित है। 'अग्नीत्! परिधींश्चाग्निं च त्रिस्त्रिः समृड्ढि—इत्याग्नीध्रं प्रति संप्रैषं कुर्यात्" यह दर्शपूर्णमास-पद्धति वाक्य भी उक्त अर्थ का समर्थन करता है। अथवा आवृत्तिगत त्रित्व का अत्यन्तायोगव्यवच्छेद बताने के लिए यहाँ 'त्रिस्त्रिः' यह द्विर्वचन किया गया है। जैसे 'पठ पठ पुस्तकम्' 'कुरु कुरु कार्यम्' इत्यादि में पठन क्रिया और करण क्रिया का अत्यन्तायोगव्यवच्छेद बताने के लिए द्वित्व किया गया है—पढ़ो ही, पढ़ने से रुको मत, कार्य करो ही, कार्य करने से रुको मत। इसी प्रकार यहाँ भी तीन बार संमार्जन की आवृत्ति करो ही—यह बताने के लिए 'त्रिः त्रिः' यह वीप्सा की गई है।

१. मूल में 'अथो' शब्द 'अपि' के अर्थ में है। हमने उस अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए, 'एक बात और भी है' यह वाक्य लिखा है।

२. मूल में 'देवाश्वत्वेन भाविताः' यह परिधियों का हेतुगर्भ विशेषण है, उसी हेतु को प्रकट करने के लिए हमने भाष्य का तात्पर्यानुवाद किया है।

३. बैठना प्रथम आघार का गुण (अङ्ग) है और खड़ा होना द्वितीय आघार का गुण है।

शकटस्य प्राथमिकं बलीवर्दयुगमुपर्यासीनेन प्रेर्यते। द्वितीयतृतीयादिकं तु भूमौ स्थितेन। तद्वदाघाररथः स्वर्गलोकमभिलक्ष्य वहनाय भवति।

एतद्रथवेदनं प्रशंसति—"वहन्त्येनं ग्राम्याः पशवः। य एवं वेद" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति। बलीवर्दाश्वादयो ग्राम्याः। तिष्ठन्नन्यमिति विहितस्य द्वितीयाघारस्य संबन्धिषु मन्त्रेषु प्रथमं मन्त्रं व्याचष्टे—"भुवनमसि वि प्रथस्वेत्याह। यज्ञो वै भुवनम्। यज्ञ एव यजमानं प्रजया पशुभिः प्रथयति। अग्ने यष्टरिदं नम इत्याह। अग्निर्वै देवानां यष्टा। य एव देवानां यष्टा। तस्मा एव नमस्करोति"

खड़े होकर। जैसे गाड़ीवान् या कोचवान् गाड़ी को या रथ को जोतता है, उसी[1] प्रकार का अध्वर्यु भी यजमान को स्वर्ग की ओर ले जाने के लिए शकटरूप या रथरूप यज्ञ को जोतता है—यज्ञाङ्ग आधार की योजना करता है।

शकटस्य[2] इति। शकट में पहले जुतने वाले बैलों के जोड़े को शकट के जुए के ऊपर बैठकर ही चलाया जाता है, परन्तु दूसरी तीसरी बार जुतने वाले को भूमि पर खड़े खड़े ही। जैसे रथ किसी को कहीं पर पहुंचाने के लिए होता है, उसी प्रकार आधाररूप रथ भी स्वर्गलोक के प्रति यजमान को वहन करने के लिए होता है।

एतद् इति। यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग आघार को रथरूप से जानने की ऋषि प्रशंसा करता है—**'वहन्त्येनम्...य एवं वेद'** इति। जो इस प्रकार जानता है—यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग आघार को रथरूप से जानता है—ग्राम्य पशु उसका वहन करते हैं, अर्थात् उसे अनेक पशुरूप वाहन प्राप्त होते हैं। बैल अश्व आदि ग्राम्य पशु कहलाते हैं। 'तिष्ठन्नन्यम्'[3] इस वाक्य से विहित द्वितीय आघार के मंत्रों में प्रथम मंत्र की व्याख्या ऋषि यों करता है—**'भुवनमसि...नमस्करोति'** इति। हे यज्ञ! तुम भुवन हो—समस्त[4] भूतों के कारण हो, अतः खूब फैलो। यज्ञ ही भुवन है, यज्ञ ही यजमान को प्रजा (संतति) और पशुओं से विस्तृत करता है—समृद्ध बनाता है। हे देवताओं का यजन (पूजन) करने वाले अग्नि! यह तुम्हारे लिए नमस्कार है। अग्नि ही देवताओं का यष्टा—पूजक—है। पूर्वोक्त (**'भुवनमसि...'** इत्यादि मन्त्र के भाष्योक्त व्याख्यान में कथित) निर्वचन के (**'भवन्ति अस्माद् भूतानीति भुवनम्'** इस व्युत्पत्ति के) अनुसार भूतोत्पत्ति का कारण होने से अग्नि से अभिन्न[5] यज्ञ

१. यह वाक्य 'एवमेव···लोकस्याभ्यूढ्यै' इस मूलोक्त भाष्य का अनुवाद है। वह धातु द्विकर्मक है, स्वर्गलोक को अभिवहन का प्रधानकर्म मान कर सरी तरह भी इसका अनुवाद किया जा सकता है—उसी प्रकार अध्वर्यु भी स्वर्ग सुख को यजमान तक पहुंचाने के लिए शकटरूप या रथरूप यज्ञ को जोतता है। अर्थात् यज्ञ यजमान के लिए स्वर्ग सुख का वाहक है।

२. नए-नए बैल को जुए में जोतकर गड्डे के ऊपर बैठकर ही चलाया जा सकता है, अन्यथा वह आदत न होने से जुए को फैंक देता है। आदत पड़ने पर खड़े-खड़े भी उसे चलाया जा सकता है।

३. इस वाक्य से 'खड़ा होकर दूसरा आघार (दूसरी आज्याहुति) डाले' इस प्रकार दूसरे आघार का विधान किया गया है। 'भुवनमसि···' इत्यादि मन्त्र द्वितीय आघार का शेष है—यह बात भाष्यकार ने प्रकृत (बारहवें) अनुवाक के प्रथम मन्त्र के व्याख्यान के अन्त में स्वयं कही है।

४. पुरुष सूक्त में यज्ञ पुरुष से ही समस्त भूतों की उत्पत्ति बताई गई है।

५. 'भुवनमसि···' इत्यादि मन्त्र के व्याख्यान में भाष्यकार ने अग्नि को 'भुवन' कहा है, परन्तु ब्राह्मण कहता है 'यज्ञो वै भुवनम्—यज्ञ ही भुवन है।' इस प्रकार भाष्यकार ने अपने वाक्य का ब्राह्मण वाक्य से आपाततः प्रतीयमान विरोध का परिहार करने के लिए ही यज्ञ को अग्नि से अभिन्न कहा है। अग्नि ही यज्ञ का कारण है, यज्ञ कार्य है कार्य कारण में अभेद होता है, इसलिए यज्ञ अग्नि से अभिन्न है। यदि अग्नि भुवन है तो अग्नि से अभिन्न यज्ञ भी भुवन है।

(तै॰ ब्रा॰ ३।३।७) इति। पूर्वोक्तनिर्वचनेन भूतोत्पत्तिकारणत्वादग्न्यभिन्नो यज्ञो भुवनम्। यष्टा देवपूजकः। अग्निश्च हव्यवहनेन देवान् पूजयति।

जुह्वेह्यग्निस्त्वा ह्वयति देवयज्याया उपभृदेहि देवस्त्वा सविता ह्वयति देवयज्याया।

जुह्वेहीति। कल्पः—"अथाऽऽदत्ते दक्षिणेन जुहूं जुह्वेह्यग्निस्त्वा ह्वयति देवयज्याया इति सव्येनोपभृतमुपभृदेहि देवस्त्वा सविता ह्वयति। देवयज्याया इति" (बौ॰ श्रौ॰ १.१५) इति।

अनयोर्मन्त्रयोरग्नि सवितृव्यवस्था युक्तेत्याह—"जुह्वेह्यग्निस्त्वा ह्वयति देवयज्याया उपभृदेहिदेवस्त्वा सविता ह्वयति देवयज्याया इत्याह। आग्नेयी वै जुहूः। सावित्र्युपभृत्। ताभ्यामेवैने प्रसूत आदत्ते" (तै॰ ब्रा॰ ३।३।७) इति। अग्निसवितारौ जुहूपभृतोः स्रुचोरभिमानिदेवते।

अग्नाविष्णू मा वामव क्रमिषं वि जिहाथां मा मा सं ताप्तं लोकं मे लोककृतौ कृणुतं।

अग्नाविष्णू इति। बौधायनः—"अत्याक्रामञ्जपत्यग्नाविष्णू मा वामवक्रमिषं वि जिहाथां मा मा सं प्राप्तं लोकं मे लोककृतौ कृणुतम्" (बौ॰ श्रौ॰ १.१५) इति। अत्याक्रमणप्रकार आपस्तम्बेन दर्शितः—

भी भुवन है'। 'यष्टा' शब्द का अर्थ है 'देव पूजक'। क्योंकि अग्नि हव्य[1]वहन के द्वारा देवताओं का पूजन करता है।

जुह्वे हीति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि नमस्काराञ्जलि के अनन्तर अध्वर्यु **'जुह्वेहि ··· देवयज्यायै'** इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जुहू को और **'उपभृदेहि ··· देवयज्यायै'** इस मन्त्र से बाएं हाथ से उपभृत् को उठावे। हे जुहू! देवयजन के लिए तुझे अग्निदेव बुला रहा है, तू आ। हे उपभृत्! देवयजन के लिए सवितृ देवता तुझे बुला रहा है, तू आ।

अनयोर् इति। इन दो मन्त्रों में क्रमशः अग्नि और सविता का सम्बन्ध व्यवस्थित है—अर्थात् प्रथम मन्त्र में जुहू के साथ अग्नि देवता का ही और द्वितीय मन्त्र में उपभृत् के साथ सवितृ देवता का ही सम्बन्ध बताया गया है, यह व्यवस्था युक्ति-युक्त है इस बात को ऋषि यों सूचित करता है—**'जुह्वे ह्यग्निस्त्वा ··· आदत्ते'** इति। जुहू अग्नि[2] देवता सम्बन्धी है, और उपभृत्[3] सवितृ देवता सम्बन्धी है। उन्हीं दोनों से (अग्नि और सविता से) अनुज्ञात होकर ही अध्वर्यु इन दोनों का (जुहू और उपभृत् का) ग्रहण करता है। अग्नि और सविता जुहू और उपभृत् नामक स्रुचों के अभिमानी देवता हैं।

अग्नाविष्णू इति। बौधायन कहते हैं कि स्रुचों के आगे की ओर (पूर्व की ओर) और मध्यम परिधि के पश्चिम की ओर बीच के मार्ग से गुजरते हुए अध्वर्यु **'अग्नाविष्णू ··· कृणुतम्'** इस मन्त्र को जपे। गुजरने का प्रकार आपस्तम्ब ने बताया है—स्रुचों के आगे के मार्ग से इस तरह गुजरे कि प्रस्तर का अतिक्रमण न हो—अर्थात् न तो प्रस्तर को ऊपर से लांघा जावे और न ही उसका पांव से स्पर्श हो। इसी मार्ग में विधृति नामक कुशों के ऊपर प्रस्तर (कुशमुष्टि)

---

१. देवताओं को उद्देश्य करके दिया जाने वाला अन्न आदि 'हव्य' कहलाता है, उस हव्य को देवताओं तक पहुंचाने वाला अग्नि है। अग्नि में ही हवि या हव्य डाला जाता है। अतः हव्य को देवताओं तक पहुंचाने के कारण अग्नि को यष्टा या देव पूजक कह सकते हैं।

२. 'जुहू, पर्णमयी होती है—ढाक की लकड़ी से बनाई जाती है, ढाक को आग्नेय वृक्ष माना गया है।

३. 'उपभृत्' अश्वत्थ-पीपल की लकड़ी से बनाई जाती है, वह सावित्र वृक्ष है।

"अग्नाविष्णू मा वामवक्रमिषमित्यग्रेण स्रुचोऽपरेण मध्यमं परिधिमवक्रामन्प्रस्तरं[1] दक्षिणेन पदा दक्षिणाऽतिक्रामत्युदक् सव्येन" (आप० श्रौ० २।१३।५) इति। मध्यमपरिधेः पुरतोऽवस्थित आहवनीयोऽग्निस्ततः पश्चात् स्रुवामग्रभागे शास्त्रदृष्ट्याऽवस्थितो यज्ञाभिमानी विष्णुः।

हेऽग्नाविष्णू, आघारहोमार्थं युवयोर्मध्ये गच्छन्नप्यहं पादेन युवां माऽवक्रमिषम्। मम गमनावकाशाय युवां वियुक्तौ भवतम्। मां प्रति संतापं मा कुरुतम्। किं च स्थानकारिणौ[2] युवां मम गमनस्थानं

स्थापित किया हुआ है (देखो पिछला ११वां अनुवाक) उत्तर से दक्षिण की ओर जाते हुए दाहिने पांव से और दक्षिण से उत्तर की ओर बांए पांव से प्रस्तर को लांघने या स्पर्श करने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है, इसीलिए आपस्तम्ब ने लिखा है—'**अनवक्रामं' प्रस्तरं दक्षिणेन पदा दक्षिणातिक्रामति, उदक सव्येन**'। उत्तर से दक्षिण की ओर जाते समय पहले दाहिना पांव उठावे लौटते समय (दक्षिण से उत्तर की ओर आते समय) पहले बायां पांव उठावे '**मार्गातिक्रमण**'[2] के समय जिस मन्त्र का जप किया जाता है उसमें 'अग्नाविष्णू'[3] शब्द से अग्नि और विष्णु देवताओं को संबोधित किया गया है, प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध देवता को ही संबोधन करना प्राप्त है, प्रकृत में मार्ग के साथ आपाततः किसी विशेष देवता का संबन्ध सिद्ध नहीं होता, अतः भाष्यकार मार्ग के साथ अग्नि और विष्णु देवता का संबन्ध सिद्ध करते हैं—**मध्यम** इति। मध्यम परिधि के आगे (पूर्व की ओर) आहवनीय अग्नि अवस्थित[4] है, और उसके (मध्यम परिधि के) पश्चिम में अवस्थित स्रुचों के अग्रभाग में शास्त्रदृष्टि से (शब्द-प्रमाण से) यज्ञाभिमानी[5] विष्णु अवस्थित है, (देखो भूमिका)। 'आघार' नामक आज्यहोम के लिए अध्वर्यु को इन दोनों के (अग्नि और विष्णु के—अर्थात् मध्यम परिधि और स्रुचों के) बीच के मार्ग से जाना है, अतः जाने अनजाने इनको पांव से छूने का प्रसंग उपस्थित हो सकता है, उससे बचने के लिए मन्त्र में अग्नि और विष्णु से प्रार्थना की गई है।

हे इति। हे अग्नि और विष्णु देवताओ! आघार नामक होम के लिए आप दोनों के मध्य से गुजरता हुआ भी मैं पांव से आपका स्पर्श न कर सकूं, अतः मुझे रास्ता देने के लिए आप दोनों रास्ते से अलग हो जावें। आप-अपने तेज

१. ख. मनतिक्रा। २. ख. कारणौ।

१. भाष्योद्धृत सूत्र में 'अवक्रामम्' ऐसा नञ् रहित पाठ है। वस्तुतः नञ् सहित पाठ ही ठीक है। क्योंकि अवक्रमण का निषेध करना है न कि विधान। 'अनवक्रामम्' यह णमुल् प्रत्ययान्त पद है, 'पुनः-पुनः' अर्थ में णमुल् प्रत्यय है। 'अनवक्रम्य अनवक्रम्य' यह उसका अर्थ है—कभी भी उल्लङ्घन न करके।

२. मध्यम परिधि और स्रुचों के बीच के मार्ग से गुजरते समय, जिसकी चर्चा भष्योद्धृत आपस्तम्ब श्रौ० सू० में की गई है।

३. अग्निश्च विष्णुश्च 'अग्नाविष्णू'। 'देवता द्वन्द्वे च' इस सूत्र से अग्नि शब्द के 'इ' कार को 'आ' हो गया है।

४. यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। मध्यम परिधि के पूर्व में ही आहवनीय अग्नि विद्यमान रहती है।

५. 'अग्नाविष्णू···' इत्यादि मन्त्र संबंधी ब्राह्मण से यही विदित होता है कि स्रुचों के अग्रभाग में यज्ञाभिमानी विष्णु देवता अवस्थित है। आगे भाष्यकार स्वयं उस ब्राह्मण को उद्धृत करेंगे।

कुरुतम्। यथोक्तमर्थं दर्शयति—"अग्नाविष्णू मा वामवक्रमिषमित्याह अग्निः पुरस्तात्। विष्णुर्यज्ञः पश्चात्। ताभ्यामेव प्रतिप्रोच्यात्याक्रामति। वि जिहाथां मा मा सं ताप्तमित्याहाहिꣳसायै। लोकं मे लोककृतौ कृणुतमित्याह। आशिषमेवैतामाशास्ते" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति।

विष्णोः स्थानमसि

विष्णोरिति। बौधायनः—"स्थानं कल्पयति विष्णोः स्थानमसीति" (बौ० श्रौ० १।१५) इति। आपस्तम्बः—"विष्णोः स्थानमसीत्यवतिष्ठतेऽन्तर्वेदि दक्षिणः पादो भवत्यवघ्नः सव्यो'र्ध्वस्तिष्ठन् दक्षिणं परिधिसंधिमन्ववहृत्य" (आप० श्रौ० २।१३।७, ८) इति।

से मुझे संतप्त न करें, आप दोनों स्थान बनाने[1] वाले (स्थान दो)। मन्त्र[2] के पूर्वोक्त अर्थ को भाष्यकार ब्राह्मण में दिखाते हैं—**'अग्नाविष्णु···माशास्ते'** इति। 'अग्नाविष्णू! मा वाम् अवक्रमिषम्' इस मन्त्र को अध्वर्यु इसलिए बोलता है कि वह अग्नि और यज्ञरूप विष्णु इन दोनों देवताओं को सूचित करके ही मार्ग को लांघ रहा है। अग्नि पूर्वदिशा में अवस्थित है और यज्ञरूप विष्णु पश्चिम[3] में (स्रुचों के अग्रभाग में)। **'वि जिहाथां मा, मा संताप्तम्'** इस मन्त्र भाग का प्रयोग इसलिए करता है कि हिंसा[4] न हो। **'लोकं मे लोककृतौ कृणुताम्'** इस मन्त्र के इस भाग से अध्वर्यु स्थान प्राप्ति रूप मनोरथ की ही देवताओं से आशा करता है।

विष्णोरिति। बौधायन ऋषि कहते हैं (१-१५) कि **'विष्णोः स्थानमसि'** इस मन्त्र से यज्ञ पुरुष विष्णु के-स्थान की कल्पना करे। आपस्तम्ब कहते हैं कि **'विष्णोः···'** इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करके खड़ा हो जावे, वेदि के मध्य में दाहिना पांव रखे और बाँए पांव को दाहिने पांव का **'अवघ्न'** बनावे—अर्थात् बांए पांव की उंगली से दाहिने पांव की एड़ी का स्पर्श करता रहे, और खड़े-खड़े ही (बिना झुके) दक्षिण दिशा की परिधि[5] संधि से प्रारम्भ करके—

---

१. ग. व्योऽथोर्ध्व।

---

१. 'स्थान बनाने वाले' यह भाष्योक्त 'स्थान कारणौ' पद का अर्थ है। कहीं 'स्थान कमरिणौ' यह पाठ भी है, यही पाठ ठीक भी है, 'स्थान कारणौ' यह पाठ अशुद्ध है क्योंकि कारण शब्द क्लीबलिङ्ग है, 'कारणे' ऐसा होना चाहिये। अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

२. स्वकृत मन्त्रार्थ को ब्राह्मण वाक्य में दिखाने का तात्पर्य यही है कि हमारा किया हुआ मन्त्रार्थ स्वकल्पित नहीं है किन्तु श्रुति सम्मत है।

३. आहवनीय अग्नि के पश्चिम में ही स्रुचों की स्थापना की जाती है, स्रुचों का अग्रभाग पूर्व की ओर रहता है, अतः अग्नि की अपेक्षा स्रुचों का अग्रभाग पश्चिम में ही माना जायगा। इसीलिए कहा 'विष्णुर्यज्ञः पश्चात्'।

४. देवताओं का अवक्रमण—पादस्पर्शादि जनित तिरस्कार भी हिंसा ही है, उनके तेज से अध्वर्यु का संतप्त होना भी हिंसा ही है—दोनों हिंसाओं से बचने के लिए वह (अध्वर्यु) देवताओं से अपने लिए मार्ग देने की प्रार्थना करता है।

५. ग्यारहवें अनुवाक में परिधि नामक तीन काष्ठों के स्थापन का विधान बताया गया है। ये काष्ठ आहवनीय के पश्चिम दक्षिण और उत्तर में स्थापित किये जाते हैं, आघार का प्रक्षेप दक्षिण परिधि से ही प्रारम्भ होना है।

हे भूप्रदेश, त्वं यज्ञपुरुषस्य स्थानमसि । यज्ञपुरुषप्रयुक्तमतिशयं दर्शयति—"विष्णोः स्थानमसीत्याह। यज्ञो वै विष्णुः। एतत्खलु वै देवानामपराजितमायतनम्। यद्यज्ञः। देवानामेवापराजित आयतने तिष्ठति" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति ।

* देवयजनभूव्यतिरिक्तभूमेरसुराधीनतया तत्र देवानां पराजयेऽपि यज्ञप्रदेशोऽपराजितः ।

इत इन्द्रो॑ अकृणोद्वीर्या॑णि समा॒रभ्यो॒र्ध्वो अ॑ध्व॒रो दि॑वि॒स्पृश॒मह्रु॑तो य॒ज्ञो य॒ज्ञप॑तेरिन्द्रा॑वा॒न्त्स्वाहा॑ ।

इत इति। बौधायनः—"अन्वारब्धे यजमाने मध्यमे परिधौ संस्पृशन्नृजुस्तिष्ठन्नृजु (माघार) माघारयति संततं प्राञ्चमव्यवच्छिन्दन्नित इन्द्रो अकृणोद्वीर्याणि समारभ्योर्ध्वो अध्वरो दिविस्पृशमह्रुतो यज्ञो यज्ञपतेरिन्द्रावान्स्वाहेति" (बौ० श्रौ० १।१५) इति।

आघार[1] का प्रक्षेप करे।

हे इति। हे भू प्रदेश ! तू यज्ञ पुरुष (विष्णु) का स्थान है। ऋषि यज्ञपुरुष संबन्ध के कारण भूप्रदेश का अतिशय (उत्कर्ष) बताता है—'विष्णो···तिष्ठति' इति। विष्णु यज्ञस्वरूप है, यह जो यज्ञ (यज्ञभूमि) है यह देवताओं का अपराजित स्थान है, देवताओं के अपराजित स्थान में ही विष्णु रहता है। 'यज्ञो वै विष्णुः···' इत्यादि ब्राह्मण का संक्षिप्त सारार्थ भाष्यकार स्वयं बताते हैं।

देवयजन इति। देवयजन भूमि से अतिरिक्त भूमि पर असुरों का आधिपत्य होता है, वहां[2] देवों का पराजय होने पर भी यज्ञप्रदेश असुरों से अपराजित ही रहता है।

इत इति। **बौधायन** इति। बौधायन (१।१५) कहते हैं कि – यजमान के अन्वारब्ध[3] हो जाने पर अध्वर्यु 'इत इन्द्रो···' इत्यादि मन्त्र से आघाराहुति देवे। यजमान सीधा खड़ा रहे, आहुति मध्यम परिधि का स्पर्श करती हुई सीधी, निरन्तर, और विच्छेद रहित पूर्वदिशा की ओर जानी चाहिए।

---

१. भाष्योद्धृत आपस्तम्ब श्रौ० सू० 'अन्ववहृत्यं' तक है, जो कि उत्तरकाल की क्रिया की अपेक्षा रखता है, उसे हमने दर्शपूर्णमास पद्धति के अनुसार 'आघारमाघारयति—आघार का प्रक्षेप करे।' लिखकर पूरा कर दिया है। इसके अतिरिक्त प्रकृत आपस्तम्ब श्रौ० सूत्र० का भाष्योद्धृत पाठ 'भवत्यबघ्नः' के बाद सव्योर्ध्वः ऐसा है, परन्तु इसका एक पाठान्तर भी है—'सव्योऽथोर्ध्वः'। हमें यही ठीक लगता है, इसके अनुसार ही हमारा अनुवाद है। विशेष्य के साथ विशेषणान्तर का समास उचित नहीं।

२. देवयजन भूम्यतिरिक्त भूमि में।

३. 'अन्वारम्भ' शब्द का अर्थ है स्पर्श, आहुति के समय यजमान को अध्वर्यु का स्पर्श किये रहना चाहिये।

आपस्तम्बः—"समारभ्योर्ध्वो अध्वर इति प्राञ्चमुदञ्चमृजुᳬसंततं ज्योतिष्मत्याघारमाघारयन्सर्वाणीध्मकाष्ठानि सᳬस्पर्शयति" (आप० श्रौ० २।१४।१) इति ।

अस्य मते 'इत इन्द्रः' इति वाक्यं पूर्वमन्त्रशेषः । इतो देवयजनस्थानबलादिन्द्रोऽसुरवधरूपाणि वीर्याण्यकरोत् । यज्ञपतेर्यजमानस्य यज्ञ आघारः स्वाहा देवतायै दत्तः । कीदृशो यज्ञः ? इन्द्रदेवताकत्वेनेन्द्रवान्नैर्ऋतीं राक्षसीं दिशं समारभ्योर्ध्वो दीर्घोऽध्वरो हिंसारूपेण विच्छेदनरहित ऐशानीं दैविकीं दिशं स्पृशति । अह्रुतोऽकुटिलः । इन्द्रशब्दसूचितं दर्शयति—"इत इन्द्रो अकृणोद्वीर्याणीत्याह । इन्द्रियमेव

आपस्तम्ब कहता है कि 'समारभ्योर्ध्वोऽध्वरः···' इत्यादि मन्त्र[1] से प्रज्वलित अग्नि में ईशान कोण में आघार आज्याहुति डाले । आघार की धारा सीधी और निरन्तर (अविच्छिन्न[2]) हो । समग्र समिधाएं (इध्म काष्ठ) एक दूसरी से सटी हुई हों। यहां एक शङ्का होती है कि भाष्यकार ने आपस्तम्ब के मत से 'विष्णोः स्थानमसि' इस मन्त्र का और 'समारभ्यो···स्वाहा' इस मन्त्र का विनियोग तो बताया परन्तु 'इत इन्द्रो अकृणोद्वीर्याणि' इस मन्त्र का विनियोग नहीं बताया, ऐसा क्यों ? यह मन्त्र प्रकृत बारहवें अनुवाक में आया हुआ है, अपनी रीति के अनुसार भाष्यकार प्रत्येक मन्त्र का विनियोग बताकर उसका व्याख्यान करते हैं । क्या इस मन्त्र की सत्ता आपस्तम्ब स्वीकार नहीं करता ? इस शङ्का का उत्तर भाष्यकार स्वयं देते हैं—

अस्य इति । आपस्तम्ब के मत से 'इत इन्द्रो···वीर्याणि' इतना वाक्य पूर्वमन्त्र का (विष्णोः स्थानमसि—इस मन्त्र का) ही भाग है, अर्थात् आपस्तम्ब के मत से 'विष्णोः स्थानमसीत इन्द्रो अकृणोद् वीर्याणि' पूरा[3] मन्त्र इस प्रकार है। अब भाष्यकार 'इत इन्द्रो···' इत्यादि अवशिष्ट मन्त्रभाग का व्याख्यान करते हैं—इतो इति। देवयजन स्थान (यज्ञ भूमि) के प्रभाव से इन्द्र ने असुरवधरूप पराक्रम किया । यज्ञपति—यजमान का आघाररूप यज्ञदेवता के लिए समर्पित[4] कर दिया गया है । वह कैसा यज्ञ है ? इन्द्रवान् है, क्योंकि इन्द्र[5] उसका देवता है राक्षसी दिशा से—दक्षिण दिशा से उसका प्रारम्भ[6] हुआ है वह ऊर्ध्व है—दीर्घ है, अध्वर है—(अविच्छिन्न[7] होने के कारण) हिंसारूप विच्छेद से रहित है, अह्रुत

१. प्रकृत आप० श्रौ० सू० का पूर्वांश इस प्रकार है—अथोर्ध्वस्तिष्ठन् दक्षिणं परिसंधिमन्वहृत्य—इति । इसको ध्यान में रखते हुए बौ० सू० के 'मध्यमें परिधौ संस्पृशन्' इस अंश पर भी विशेष दृष्टि डालते हुए तथा 'समारभ्य' इत्यादि प्रकृत मन्त्र के सायणभाष्य पर विचार करते हुए आपस्तम्ब का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि यह आघाराहुति नैर्ऋत्यकोण की परि० सं० का स्पर्श करती हुई सीधी ईशान की ओर जाती है ।

२. जो बीच में न टूटे ।

३. 'विष्णोः स्थानमसीत इन्द्रो अकृणोद् वीर्याणि' इत्युदङ्मुखोऽवस्थायान्तर्वेद्यां दक्षिणं पादं संस्थाप्य तत्पार्ष्णौ च वहिष्ठेव सव्यपादाङ्गुलिना स्पृशन्न प्रह्वन् दक्षिणं परिधिसंधिमन्ववहृत्य (आरभ्य) यजमानेनान्वारब्धः' इस आपस्तम्ब श्रौतसूत्रानुसारिणी दर्शपूर्णमास पद्धति के वाक्य के अनुसार भाष्यकार का कथन ठीक है । बौधायन के मत से यह अंश द्वितीय मन्त्र (समारभ्य··· इत्यादि) का आदि भाग है ।

४. 'समर्पित' स्वाहा शब्द का अर्थ है, भाष्यकार ने 'दत्तः' लिखा है । उसका भी 'समर्पित' में ही तात्पर्य है ।

५. प्रथम आघार का देवता प्रजापति है । द्वितीय आघार का देवता इन्द्र है, यह द्वितीय आघार का ही प्रकरण है ।

६. दक्षिणं परिधिसंधिम् अन्ववहृत्य (आरभ्य) के अनुसार द्वितीय आघार दक्षिण दिशा से ही प्रारम्भ होता है ।

७. बौधायन श्रौतसूत्र में 'अव्यवच्छिन्दन्' ऐसा पाठ है, उसी के अनुसार भाष्यकार ने यह अर्थ किया । मन्त्रार्थ करते समय श्रीसायण की दृष्टि सूत्र और ब्राह्मण से कभी नहीं हटती ।

यजमाने दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति । ऊर्ध्वशब्देन वृद्धिः सूचितेत्याह—"समारभ्योर्ध्वो अध्वरो दिविस्पृशमित्याह वृद्ध्यै" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति। समारभ्येति पदसूचितं दर्शयति—"आघारमाघार्यमाणमनुसमारभ्य । एतस्मिन् काले देवाः सुवर्गं लोकमायन् । साक्षादेव यजमानः सुवर्गं लोकमेति। अथो समृद्धेनैव यज्ञेन यजमानः सुवर्गं लोकमेति" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति ।

देवाः स्वयं यागं कुर्वन्तोऽध्वर्युमनु तमाघारं स्पृष्ट्वा विलम्बमन्तरेण स्वर्गं गताः। साक्षादेवाविलम्बेनैव ।

किं च सम्यगारभ्येत्यनेन समृद्धिः सूचिता। अह्रुतशब्दार्थं दर्शयति—"अह्रुतो यज्ञो यज्ञपतेरित्याहानार्त्यै" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति। इन्द्रशब्दार्थमाह—"इन्द्रावान्त्स्वाहेत्याह—इन्द्रियमेव यजमाने दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति ।

है—अकुटिल है—कल्याणकारी है, और देव संबन्धी ईशान[1] दिशा का स्पर्श करता है। **'इत इन्द्रो···'** इस मन्त्रभाग में इन्द्र शब्द से सूचित अर्थ को ब्राह्मण वाक्य प्रकट करता है—**'इतइन्द्रो···दधाति'** इति। **'इत इन्द्रो···'** इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करके अध्वर्यु यजमान में इन्द्रिय का आधान करता है—अथवा यजमान में इन्द्र संबन्धिबल का आधान करता है। **'समारभ्योर्ध्वो···'** इत्यादि मन्त्र[2] में अथवा मन्त्र[3] भाग में 'ऊर्ध्व' शब्द से वृद्धि सूचित की गई है—इस बात को ब्राह्मण वाक्य सूचित करता है—**'समारभ्यो···वृद्ध्यै'** इति। 'समारभ्य' इस पद से सूचित अर्थ को ब्राह्मण वाक्य प्रकट करता है—**'आघार···लोकमेति'** ज्यों ही आघार नामक आज्य होम प्रारम्भ हुआ त्यों ही (उसी समय) देवता स्वर्गलोक में पहुंच गए। यजमान भी अबिलम्ब ही स्वर्गलोक में जाता है। समृद्ध यज्ञ के द्वारा ही यजमान को स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है।

देवा[4] इति। देवता स्वयं याग करते हुए अध्वर्यु के बाद उस आघार का (आज्याहुति का) स्पर्श करके बिना विलम्ब के स्वर्ग में गए। 'साक्षादेव' पद का अर्थ है—बिना विलम्ब के ही।

किंच इति। समारभ्य (**सम्यग् आरभ्य**=अच्छी तरह आरम्भ करके) इस पद से समृद्धि सूचित की गई है। 'अह्नुत' शब्द का तात्पर्य बताते हैं—**'अह्नुतो···नार्त्यै'** इति। यजमान का यज्ञ अकुटिल है, इसलिये वह पीड़ा के लिए नहीं है—किन्तु कल्याणकारी है। इन्द्र[5] शब्द का तात्पर्य बताते हैं—**'इन्द्रावान्···दधाति'** इति। इन्द्रावान् स्वाहा कहकर अध्वर्यु यजमान में इन्द्रिय का अथवा इन्द्र संबन्धिबल का आधान करता है।

---

१. आप० श्रौ० सू० में 'प्राञ्चमुदञ्चम्' ऐसा पाठ है, जिसका तात्पर्य ईशानकोण से ही है। आघार धारा का दक्षिण से ईशान की ओर ही विधान है। अतः यह अर्थ भी—सूत्रानुसार ही है।

२. आपस्तम्ब के मत में 'समारभ्य' पद से ही मन्त्र का प्रारम्भ होता है।

३. बौधायन के मत से 'इत इन्द्रो' से मन्त्र का प्रारम्भ होता है, इसलिए 'समारभ्य···' इत्यादि मन्त्र का भाग है।

४. 'देवा···' इत्यादि वाक्य 'आघारमाघार्यमाणमनु···' इत्यादि ब्राह्मण का भाष्यकार कृत व्याख्यान है।

५. 'इन्द्रावान्' शब्द का। वेद में मतुप् प्रत्यय परे रहते पूर्ववर्ण को दीर्घ हो जाता है।

बृहद्भा

बृहदिति। कल्पः "बृहद्भा इति स्रुचमुद्गृह्णाति" (बौ० श्रौ० १।१५) इति । अनेनाऽऽघारेण ज्वालारूपं यथा बृहद्भवति तथाऽयमग्निर्भासते । ततो जुहूर्मादह्यतामित्युद्गृह्णाति । अधिकभासनेन स्वर्गः स्मार्यत इत्याह—"बृहद्भाइत्याह। सुवर्गो वै लोको बृहद्भाः । सुवर्गस्य[1] लोकस्य समष्ट्यै" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति ।

पाहि माऽग्ने दुश्चरितादा मा सुचरिते भज ।

पाहीति। कल्पः—"अथासंस्पर्शयन्स्रुचावुदङ्ङत्याक्रामञ्जपति पाहि माग्ने दुश्चरितादा मा सुचरिते भजेति" (बौ० श्रौ० १।१५) इति ।

भज स्थापय । जुहूपभृतोः परस्परमसंस्पर्शयन्नविशिष्टं प्रतिनिवृत्याऽऽगमनं विधत्ते—"यजमानदेवत्या वै जुहूः । भ्रातृव्यदेवत्योपभृत् प्राण आघारः । यत्संस्पर्शयेत् । भ्रातृव्येऽस्य प्राणं दध्यात् ।

बृहदिति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है—'**बृहद्भाः**' इस मन्त्र को बोलकर स्रुच् को ऊपर उठावे। इस[1] आघार से यह अग्नि इस प्रकार भासित हो रहा है जैसे यह ज्वालारूप होकर बहुत बड़ा बन गया हो। इस ज्वाला से यह जुहू जले नहीं इसलिए उसे ऊपर उठाता है। अधिक[2] भासन से स्वर्ग की याद दिलाई गई है—यह बात ब्राह्मण वाक्य कहता है—'**बृहद्भाः'''समष्ट्यै**' स्वर्गलोक ही 'बृहद् भाः' है—अधिक भासित होने वाला है। इसलिए आघाराहुति से अग्नि को 'बृहद्भाः' बनाना स्वर्गलोक की प्राप्ति के लिए होता है।

पाहीति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि जुहू के उद्ग्रहण के अनन्तर, अध्वर्यु दोनों स्रुचों को (जुहू और उपभृत् को) एक दूसरे से अलग रखते हुए उत्तर की ओर लौटता है, लौटते हुए वह—"**पाहि''भज**' इस मन्त्र को जपे।

भज इति। मन्त्र में भज[3] शब्द का अर्थ है स्थापय-स्थापित कर। **भाष्यकार** ने सुगम होने के कारण पूरे मन्त्र का व्याख्यान नहीं किया। हम मन्त्रार्थ लिख देते हैं—हे अग्निदेव ! तुम दुश्चरित से मेरी रक्षा करो—मुझे बचाओ, और मुझे सुचरित में स्थापित करो—सन्मार्ग में लगाओ। **जुहूप** इति। ब्राह्मण वाक्य जुहू और उपभृत् को परस्पर न मिलाने का और साधारण[4] तौर से लौटकर आने का विधान करता है—'**यजमान'''दधाति**' इति। जुहू का देवता यजमान है—अर्थात् जुहू

---

१. क. ग. ड. च. ति । सुवर्गप ।

---

१. यह 'बृहद्भाः' इस मन्त्र का अर्थ है।

२. 'वृहन् सन् भासते इति बृहद् भाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'बृहद् भाः' का अर्थ है—अधिक भासित होने वाला।

३. 'भज' से तात्पर्य है 'आभज'। मन्त्र में 'आ मा सुचरिते भज' ऐसा पदच्छेद है, 'आ' उपसर्ग का सम्बन्ध 'भज' के साथ होता है।

४. लौटना क्रिया का अङ्गभूत किसी गुणविशेष का यहाँ विधान नहीं है, इसी बात को सूचित करने के लिए, 'अविशिष्टम्' पद कहा।

असꣳस्पर्शयन्नत्याक्रामति। यजमान एव प्राणं दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति।

यजमानवद्यागे प्रत्यासन्नत्वाज्जुहूर्यजमान इति मन्यते। औपभृतस्याऽऽज्यस्य जुहूद्वारा होम इति व्यवहितत्वमुपभृतः। ततो भ्रातृव्यो देवता। अर्थवादान्तरे वा एतदेवद्रष्टव्यम्।

मन्त्रस्य पदार्थवाक्यार्थौ दर्शयति—"पाहि माऽग्ने दुश्चरितादा मा सुचरिते भजेत्याह। अग्निर्वाव पवित्रम्। वृजिनमनृतं दुश्चरितम्। ऋजुकर्मꣳसत्यꣳसुचरितम्। अग्निरेवैनं वृजिनादनृताद्दुश्चरितात्पाति। ऋजुकर्मे सत्ये सुचरिते भजति। तस्मादेवमाशास्ते। आत्मनो गोपीथाय" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति। कायिकं निषिद्धाचरणं वृजिनं, विहिताचरणमृजुकर्म, वाचिके सत्यानृते।

म॒खस्य॒ शिरो॑ऽसि॒ सं ज्योति॑षा॒ ज्योति॑रङ्क्ताम् (१) ॥

(अह्॒रु॑त॒ एक॑वि꣫ꣳशतिश्च) ।

मखस्येति। कल्पः—"जुह्वा ध्रुवां समनक्ति मखस्य शिरोऽसि सं ज्योतिषा ज्योतिरङ्क्तामिति

यजमान स्वरूप है, और उपभृत् का देवता भ्रातृव्य[1] है—शत्रु है। आधार प्राण स्वरूप है। यदि जुहू और उपभृत् को परस्पर संयुक्त करेगा तो इसके (यजमान के) प्राण को भ्रातृव्य (शत्रु) में स्थापित करेगा। इसलिए दोनों को अलग अलग रखते हुए ही लौटे। ऐसा करने से अध्वर्यु यजमान में ही प्राण का आधान करेगा।

यजमानवद् इति। यजमान की तरह जुहू भी याग में प्रत्यासन्न-साक्षात् संबद्ध है। इसलिए जुहू यजमान स्वरूप मानी जाती है। उपभृत् व्यवहित है—याग से साक्षात् संबद्ध नहीं है, क्योंकि उपभृत् में लिए हुए आज्य (घृत) का जुहू के द्वारा ही होम होता है - उपभृत् से नहीं। इसलिए उपभृत् का देवता भ्रातृव्य (शत्रु) ही है। यही बात दूसरे अर्थवाद में भी बताई गई है।

मन्त्रस्य इति। ऋषि मन्त्र के पदार्थ और वाक्यार्थ को बतलाता है—'पाहिमाग्ने···गोपीथाय' इति। अग्नि निश्चित रूप से पवित्र है वृजिन (निषिद्धाचरण) और अनृत (मिथ्या भाषण) दुश्चरित है। ऋजुकर्म (छल छिद्र शून्य-शास्त्र विहित आचरण) और सत्य भाषण सुचरित हैं। अग्नि ही अध्वर्यु और यजमान को वृजिन और अनृतरूप दुश्चरित से बचाती है, और ऋजुकर्म और सत्य स्वरूप सुचरित में (सन्मार्ग में) स्थापित करती है। इसलिए वह अध्वर्यु का (यजमान) आत्मरक्षा के लिए अग्नि से ऐसी आशा करता है। शरीर के द्वारा किया जाने वाला शास्त्रनिषिद्ध कार्य 'वृजिन' शब्द का अर्थ है। शास्त्रविहित कर्म ऋजुकर्म कहलाता है। सत्य और अनृत वाचिक हैं—वाणी के द्वारा होते हैं।

मखस्येति। बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि **'मखस्य···ज्योतिरङ्क्ताम्'** इस मन्त्र से जुहू से (जुहू में अवशिष्ट आज्य

---

१. भ्रातृव्य शब्द का यौगिक अर्थ है—भ्रातुष्पुत्र-भाई का लड़का, भतीजा। परन्तु भाई का लड़का पितामह की संपत्ति में समान रूप से हिस्सेदार होता है। एक संपत्ति के दो हिस्सेदारों में बहुधा कलह हो ही जाता है, परिणाम स्वरूप वे आपस में शत्रुभाव रखने लगते हैं, अतः भ्रातृव्य शब्द क्रमशः अब शत्रु का ही बोधक हो गया है। पितामह की संपत्ति में पिता का साक्षात् सम्बन्ध है, परन्तु भ्रातुष्पुत्र का भाई के द्वारा (अपने पिता के द्वारा) इसलिए याग से व्यवहित उपभृत् का देवता संपत्ति से व्यवहित भ्रातृव्य को बताया गया है।

त्रिः" (बौ० श्रौ० १।१५) इति।

हे आघारशेष, त्वं यज्ञस्य शिरोवदुत्तममङ्गमसि। अतस्त्वद्रूपेण ज्योतिषा ध्रौवाज्यरूपं ज्योतिः समङ्क्तां संयुज्यताम्। समञ्जनं विधत्ते—"शिरो वा एतद्यज्ञस्य। यदाघारः। आत्मा ध्रुवा। आघारमाघार्य ध्रुवाꣳसमनक्ति। आत्मन्नेव यज्ञस्य शिरः प्रतिदधाति" (तै. ब्रा. ३।३।७) इति। गलादधस्तनो देह आत्मा। पूर्वपक्षत्वेन द्विरावृत्तिं विधत्ते—"द्विः समनक्ति। द्वौ हि प्राणापानौ" (तै. ब्रा. ३।३।७) इति।

से) ध्रुवा को (ध्रुवा में स्थित आज्य को) समञ्जित करे, अर्थात् जुहू में आघाराहुति से बचे हुए घृत को ध्रुवा स्थित घी में ही डाल दे। यह क्रिया तीन बार होनी चाहिये। यहाँ एक शंका होती है कि सूत्र में तो 'जुह्वा' और 'ध्रुवाम्' पढ़ा है, न कि 'जुह्वाज्येन' 'ध्रुवाज्यम्' फिर आपने सूत्र का यह अर्थ कैसे किया कि जुहू के आज्य से ध्रुवा के आज्य का समञ्जन करे—संमिश्रण करे। इसका समाधान यह है कि जिस मन्त्र से समञ्जन करने का विधान है उसमें '**ज्योतिषा ज्योतिरङ्क्ताम्**' ऐसा लिखा है, जिससे यह प्रतीत होता है कि ज्योति के द्वारा ज्योति का समञ्जन करना है, जुहू और ध्रुवा में स्थित आज्य ही ज्योतिः स्वरूप है—तेजो रूप है, घृत को तैजस माना ही गया है, इसलिए जुहू और ध्रुवा पद की जुहूस्थ और ध्रुवास्थ आज्य में लक्षणा[1] की जाती है। इसलिए 'जुह्वा' का अर्थ होता है—'**जुहूस्थेन आज्येन**—जुहूस्थ घृत से', और '**ध्रुवाम्**' का अर्थ होता है—ध्रुवास्थम् आज्यम्-ध्रुवास्थ आज्य को।

हे[2] इति। हे आघार से बचे हुए आज्य! तुम सिर के समान यज्ञ के उत्तमाङ्ग हो। अतः त्वद्रूप (जुहूस्थ आज्य रूप) तेज से ध्रुवास्थ आज्यरूप तेज समञ्जित हो—मिश्रित हो। ऋषि समञ्जन का विधान[3] करता है—'**शिरो वा**··· **प्रतिदधाति**' इति। यह जो आघार (हूयमान आज्य) है, यह यज्ञ का सिर है, ध्रुवा (ध्रुवास्थ-आज्य) यज्ञ का आत्मा (गले से नीचे का भाग-धड़) है। आज्याहुति देकर (आघारमाघार्य) बचे हुए आज्य से ध्रुवास्थ आज्य का समञ्जन करे। यह समञ्जन करना यज्ञ की आत्मा में (धड़ में) सिर का संयोजन करना है। ब्राह्मण वाक्य में आए हुए 'आत्मा' शब्द का तात्पर्य है—ग्रीवा से नीचे का प्रदेश-धड़ ऋषि पूर्वपक्ष[4] के रूप में समञ्जन की दो बार आवृत्ति का विधान करता है—'**द्विः समनक्ति**·· **प्राणापानौ**' इति। दो बार समञ्जन करे क्योंकि प्राण[5] और अपान दो हैं।

---

१. 'मखस्य शिरोसि' इति जुह्वा ध्रुवां द्विस्त्रिर्वा समनक्ति इस आपस्तम्ब श्रौ० सू० की रुद्रदत्त प्रणीत सूत्रदीपिका में लिखा है—'ध्रुवेति ध्रुवास्थमाज्यं लक्ष्यते ज्योतिषा ज्योतिरङ्क्ताम्' इति लिङ्गात्।

२. यह मन्त्रार्थ है।

३. 'आघारमाघार्य समनक्ति' यह समञ्जन की विधि है, शेष अर्थवाद है।

४. सायणाचार्य मुख्य रूप से बौधायन के अनुयायी हैं, बौधायन ने तीन बार समञ्जन की आवृत्ति बताई है, अतः उन्होंने द्विरावृत्ति पक्ष को पूर्वपक्ष कहा है। परन्तु आपस्तम्ब 'द्विस्त्रिर्वा समनक्ति' इस वाक्य से द्विरावृत्ति और त्रिरावृत्ति का विकल्प मानता है, उदितानुदित होम के समान या षोडश ग्रहणाग्रहण के समान।

५. यही दो जीवन के हेतु हैं, अतः द्विः समञ्जन भी ध्रुवाज्य में प्राणापान के आधान के समान है।

सिद्धान्तमाह—"तदाहुः। त्रिरेव समञ्ज्यात्। त्रिधातु हि शिर इति। शिर इवैतद्यज्ञस्य। अथो त्रयो वै प्राणाः। प्राणानेवास्मिन् दधाति" (तै. ब्रा. ३।३।७) इति। त्वगसृगस्थिरूपा विस्पष्टास्त्रयो धातवो यस्य तत्त्रिधातु। मन्त्रगतज्योतिः शब्दविवक्षां दर्शयति—"मखस्य शिरोऽसि सं ज्योतिषा ज्योतिरङ्क्तामित्याह। ज्योतिरेवास्मा उपरिष्ठाद्दधाति। सुवर्गस्य लोकस्यानुख्यात्यै" (तै. ब्रा. ३।३।७) इति। अस्य ध्रौवाज्यशेषस्योपरि स्थापितेनाऽऽघारशेषाज्येनात्युज्ज्वलसत्प्रदीपेनैव स्वर्गलोकः प्रकाशितो भवति।

अत्र विनियोगसंग्रहः—

"ध्रुवाग्नेरञ्जलिं कृत्वा जूपद्भ्यां तयोर्ग्रहः।
अग्ना दक्षिणदिग्गामी विष्णोः स्थित्वा समाहुतिः'[1] ॥१॥
बृहद्भाः स्रुचमुद्गृह्य पाहि प्रतिनिवर्तते।
मख ध्रुवामनक्ति त्रिर्नव मन्त्रा इहेरिताः ॥२॥

अब सिद्धान्त बताते हैं—'**तदाहुः**···**दधाति**' इति। याज्ञिक कहते हैं कि तीन बार[1] ही समञ्जन करे। क्योंकि सिर में तीन धातु[2] होते हैं, यह समञ्जन यज्ञ के सिर के तुल्य है, और प्राण भी तीन होते हैं—प्राण, अपान और व्यान। तीन बार समञ्जन करके तीन प्राणों का ही इसमें आधान करता है। त्रिधातु शब्द का अर्थ लिखते हैं—**त्वगसृग्** इति। त्वचा, रुधिर और हड्डी रूप स्पष्टतया दृश्यमान तीन धातु जिसमें रहते हैं—उसे 'त्रिधातु' कहते हैं। मन्त्र[3] में 'ज्योतिः' शब्द साभिप्राय है इस बात को ब्राह्मण वाक्य सूचित करता है—'**मखस्य**··**नुख्यात्यै**' इति। 'मखस्य···' इत्यादि **मन्त्र** से ध्रुवाज्य के ऊपर ज्योतिः (प्रकाश) का ही स्थापन करना है, किसलिए? स्वर्गलोक के प्रकाश के लिए। ध्रुवा[4] में बचे हुए इस आज्य के ऊपर स्थापित आघाराहुति से बचे हुए आज्य से उज्ज्वल और श्रेष्ठ प्रदीप के समान स्वर्गलोक प्रकाशित होता है।

अथ इति अब विनियोग संग्रह लिखा जाता है—'**ध्रुवाग्ने**·····**इहेरिताः**' इति। १. '**भुवनमसि**······' इस मन्त्र से अग्नि के लिए अञ्जलि बाँधकर, २.३. '**जुह्वेहि**·····' **उपभृदेहि**······' इन दो मन्त्रों से जुहू और

१. क ग च समाहुतिः।

१. बौधायन के मत से 'त्रिरेव समञ्ज्यात्—तीन बार ही समञ्जन करे' में 'एव' पद द्विरावृत्ति की व्यावृत्ति करता है। अतः उसके मत से त्रिरावृत्ति पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष है।

२. 'दधाति शरीरमिति धातुः' इस व्युत्पत्ति से शरीर के धारक पोषक रस, असृग् मास, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातु कहलाते हैं।

३. 'मखस्य शिरोऽसि संज्योतिषा ज्योतिरङ्क्ताम्' इस मन्त्र में।

४. यज्ञ में आज्यस्थाली नाम का एक पात्र होता है, इसमें यज्ञ के उपयोग में आने वाला आज्य (घी) भरा होता है, इसीलिए इसे आज्यस्थाली कहते हैं। जब भी आज्याहुति के लिए आज्य की आवश्यकता होती है तो पहले ध्रुवा नामक स्रुच् में आज्यस्थाली से घी लिया जाता है और ध्रुवा से ही आज्य लेकर आज्याहुति दी जाती है। उसका बहुत-सा आज्य आहुतियों में लग जाता है, कुछ थोड़ा-सा उसमें शेष भी रह जाता है—उसे ही भाष्यकार ने 'ध्रौवाज्य' शेष-ध्रुवा में बचा हुआ आज्य कहा है। इसी प्रकार ध्रुवा से जुहू द्वारा आज्य लेकर आघार नामक आज्याहुति दी जाती है, उससे भी थोड़ा-सा आज्य बच जाता है, उसे भाष्यकार ने 'आघार शेष' कहा है।

अथ मीमांसा

"अग्ने यष्टरिदं नमः, "अग्निर्वै देवानां यष्टा" (तै. ब्रा. ३।३।७) इत्यनयोर्मन्त्रब्राह्मणयोरग्नि-देवताया यागाधिकारः प्रतीयते। तदयुक्तम्। नवमाध्यायप्रथमपादोक्तदेवताधिकरणविरोधप्रसङ्गात्। तत्र ह्येवं चिन्तितम्—

"देवः प्रयोजकोऽपूर्वं वाऽऽद्योऽस्य फलदत्वतः।

न विधेये गुणो ह्येषोऽपूर्वस्य फलितोचिता" (जै. न्या. ९।१।८) इति।

"आग्नेयोऽष्टाकपालः" इत्यादिषु सर्वेषु कर्मसु मन्त्रतन्त्ररूपाणामनुष्ठेयानामङ्गानामग्न्यादिर्देवः प्रयोजकः। कुतः। यागेन पूजिताया देवतायाः फलप्रदत्वात्। संभवति च फलप्रदत्वं मन्त्रार्थवादादिभ्यो विग्रहादिपञ्चकावगमात्। विग्रहो हविः स्वीकारस्तद्भोजनं तृप्तिः प्रसादश्चेत्येतच्चेतनस्योचितं पञ्चकम्।

उपभृत् का ग्रहण करे। ४. **'अग्नाविष्णू······'**[1] इस मन्त्र से दक्षिण दिशा की ओर जावे। ५. **'विष्णो स्थानमसि'** इस मन्त्र से खड़ा होकर, ६. **'समारभ्योर्ध्वो······'** इस मन्त्र से आघाराहुति देवे। ७. **'बृहद्भाः······'** इस मन्त्र से स्रुच् को उठाकर, ८. **'पाहि माग्ने······'** इस मन्त्र से उनकी ओर लौटे। ९. **'मखस्य शिरोऽसि······'** इस मन्त्र से तीन बार ध्रुवा का समञ्जन करे। इस प्रकार इस बारहवें अनुवाक में नौ मन्त्र कहे गए हैं।

अथ मीमांसा

'अग्ने[1] यष्टरिदं नमः' 'अग्निर्वै देवानां यष्टा' इन मन्त्र और ब्राह्मण वाक्यों से प्रतीत होता है कि अग्नि देवता का यज्ञ में अधिकार है। परन्तु यह युक्त नहीं है, कारण कि याग में देवताधिकार मानने से—मीमांसा दर्शन के नवें अध्याय के प्रथमपाद में वर्णित देवताधिकरण[3] से विरोध होगा। वहाँ इस प्रकार विचार किया गया है—

"देवः[4]······फलितोचिता" इति। यह जैमिनीय न्याय माला विस्तर की कारिका है, इसका व्याख्यान भाष्यकार ने स्वयं किया है—**आग्नेयो** इति। **'आग्नेयोऽष्टाकपालः** —अग्नि देवता के उद्देश्य से आठ कपालों में संस्कृत हवि (पुरोडाश) देवे' इत्यादि सब कर्मों में मन्त्र[5] तन्त्र[6] रूप जो अनुष्ठेय अङ्ग हैं, उनका प्रयोजक अग्नि आदि देवता है—अर्थात् इन कर्मों में अग्नि आदि देवताओं की ही प्रधानता है। क्यों? इसलिए कि याग के द्वारा पूजित देवता ही फल देने वाला है। देवता में फलदान सामर्थ्य की संभावना है, क्योंकि शरीर आदि पाँच वस्तुएं—जो फलदाताओं में हुआ

---

१. 'अग्ने······' इत्यादि मन्त्रवाक्य हैं। 'अग्निर्वै······' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य है। दोनों का व्याख्यान बारहवें अनुवाक के भाष्य में देखो।

२. 'अग्ने······' इत्यादि मन्त्रवाक्य है, 'अग्निर्वै······' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य है। दोनों का व्याख्यान बारहवें अनुवाक के भाष्य में देखो।

३. यह देवताधिकरण उक्त अध्याय पाद का पाँचवाँ अधिकरण है, और ६ से १० तक पाँच सूत्रों में वर्णित हुआ है।

४. इस कारिका का हिन्दी अनुवाद हम भाष्यकार के व्याख्यान के अनुवाद के अन्त में देंगे।

५. मन्त्रोच्चारण पूर्वक ही कर्म किये जाते हैं, इसलिये मन्त्र भी कर्माङ्ग हैं।

६. अङ्गरूप कर्म समूह को तन्त्र कहते हैं। जो कर्म एक बार करने से ही अनेकों का उपकारक होता है, उसे भी तन्त्र कहते हैं।

"सहस्राक्षो गोत्रभिद्वज्रबाहुः" (तै. ब्रा. २।३।१४) इति विग्रहः। "अग्निरिदꣳहविरजुषत" (तै. ब्रा. १।५।१०) इति हविः स्वीकारः। "अद्धीदिन्द्र प्रस्थितेमा हवीꣳषि" (ऋ. १०।११६।८) इति हविर्भोजनम्। "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति" (तै. ब्रा. २।५।४) इति तृप्तिप्रसादौ। ततः सेवितराजादिवत्पूजितदेवतायाः फलप्रदत्वेन प्राधान्यात्सैवाङ्गानां प्रयोजिकेति प्राप्ते ब्रूमः—"किं देवतायाः फलप्रदत्वलक्षणं प्राधान्यं शब्दादापाद्यते, वस्तुसामर्थ्याद्वा। नाऽऽद्यः। स्वर्गकामो यजेतेति शब्दे विधेयस्य यागस्यैव फलप्रदत्वावगमात्। द्रव्यदेवते तु सिद्धत्वेन विध्यनर्हे। तत्र यथा द्रव्यस्य विधेयं प्रति गुणभावस्तथा देवताया अपि। यदि यागस्य कालान्तरभाविफलं प्रति व्यवहितत्वं तर्हि तत्साधनभूता देवता ततोऽपि

करती हैं वे—उसमें (देवता में) हैं। वे पाँच वस्तुएं ये हैं—१. शरीरधारी होना, २. हवि स्वीकार करना (पुरोडाश आदि के रूप में दी गई भेंट को स्वीकार कर लेना), ३. हवि का उपभोग करना, ४. उससे तृप्ति का अनुभव करना, ५. और प्रसन्न होना। देवता में इन पाँचों वस्तुओं का होना हमें मन्त्रों से और अर्थवाद आदि[1] से प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—'**सहस्राक्षो[2] गोत्रभिद् वज्रबाहुः**—इन्द्र हजार आँखों वाला है, उसके हाथ में वज्र है, वह पहाड़ों को तोड़ देता है' इस मन्त्र से प्रतीत होता है कि इन्द्र देवता शरीरधारी है। '**अग्निरिदं हविरजुषत**—अग्नि देवता ने इस हवि को स्वीकार कर लिया' इस मन्त्र से अग्नि देवता का हवि स्वीकार करना प्रतीत होता है। '**अद्धीन्द्र! प्रस्थितेमा हवींषि**—हे इन्द्र इन प्रस्तुत हवियों का आस्वाद लो' इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि देवता भेंट का उपभोग भी करते हैं। '**तृप्तएवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति**—इन्द्र तृप्त होकर ही यजमान को प्रजा (संतान) और पशुओं से तृप्त करता है' इस ब्राह्मण वाक्य से देवता में तृप्ति और प्रसाद दोनों ही प्रतीत होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सेवित राजा जैसे—सेवक के लिए फलदाता है उसी प्रकार पूजित देवता भी—पूजक यजमान के प्रति फलदाता होता है। फलप्रदाता होने के कारण ही देवता की प्रधानता है, और वही सारे अङ्ग कर्मों का प्रयोजक है। यह पूर्वपक्ष है, इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि देवता में जो आप फलप्रदत्व रूप प्रधानता बताते हैं वह शब्द प्रमाण (श्रुति प्रमाण) के आधार पर बताते हैं अथवा देवतागत सामर्थ्य के आधार पर? शब्द प्रमाण के आधार पर तो आप देवता में फलप्रदत्वरूप प्राधान्य नहीं सिद्ध कर सकते, क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इस श्रुतिरूप शब्दप्रमाण से तो विधेययाग में ही फलप्रदत्ता प्रतीत होती है, देवता में नहीं। द्रव्य और देवता तो सिद्ध पदार्थ हैं, उनका विधान हो ही नहीं सकता—साध्य ही विधेय होता है। यद्यपि '**दध्ना जुहोति**' इत्यादि स्थलों में दध्यादि सिद्ध द्रव्य का भी विधान देखा गया है, इसी प्रकार "**आग्नेयोऽष्टा कपालो भवति**" इत्यादि स्थल में भी सिद्ध रूप अग्नि आदि देवता का भी विधान हो सकता है, तथापि '**दध्ना जुहोति**' इत्यादि स्थलों में जैसे दध्यादि द्रव्य विधेय होम के प्रति गुणीभूत माना जाता है, उसी प्रकार '**आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति**', इत्यादि स्थल में अग्नि आदि देवता भी विधेय याग के प्रति गुणीभूत स्वीकार किया जाता है, अर्थात् वहाँ उसको (देवता को) प्रधानता प्राप्त नहीं होती। कदाचित् कहो कि याग को फलप्रद नहीं माना जा सकता, क्योंकि याग की समाप्ति के अनन्तर स्वर्ग रूप फल की प्राप्ति नहीं होती, कालान्तर में होती है, कार्यरूप फल में और कारण में व्यवधान नहीं होना चाहिये—अर्थात् कार्योत्पत्ति से पूर्वक्षण में कारण को अवश्य विद्यमान रहना चाहिये, यदि वह (तथाकथित कारण) कार्योत्पत्ति से पूर्व क्षण में नहीं रहता तो उसे कारण (फलोत्पादक-फलप्रद) नहीं कह सकते। यदि याग कालान्तरभावि स्वर्ग आदि फल के प्रति व्यवहित है—स्वर्गादि फल की उत्पत्ति से पूर्वक्षण में नहीं रहता, तो देवता तो स्वर्गादि फल से और भी अधिक व्यवहित

१. आदि पद से इतिहास, पुराण आदि लेना।

२. आँखों और बाहुओं का होना शरीरधारी में ही संभव है।

व्यवहिता। का तर्हि फलस्य गतिः। अपूर्वमिति वदामः। तच्च श्रुत्या श्रुतार्थापत्त्या वा प्रतीयमानत्वाच्छाब्दमिति तस्य फलप्रदत्वमुचितम्। नापि वस्तुसामर्थ्याद्देवस्य फलप्रदत्वं विग्रहादिपञ्चकप्रतिपादकयोर्मन्त्रार्थवादयोः स्वार्थे तात्पर्याभावात्। अन्यथा 'वनस्पतिभ्यः स्वाहा, मूलेभ्यः स्वाहा, तूलेभ्यः स्वाहे-

---

है, क्योंकि देवता[1] याग का साधन है, देवता होगा, तो याग होगा, याग होगा तो स्वर्गादि फल उत्पन्न होगा। तात्पर्य यह है कि यदि स्वर्गादि फल के प्रति व्यवहित होने मात्र से याग को फलप्रद नहीं कहा जा सकता, तो देवता को सुतरां फलप्रद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्वोक्त रीति से वह याग से भी अधिक व्यवहित है।[2] यदि देवता भी फलोत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता, तो फलोत्पत्ति का कारण कौन होगा? इस प्रश्न का उत्तर हमारी ओर से यही है कि अपूर्व[3] फलोत्पत्ति का कारण है। और वह (अपूर्व) श्रुति[4] प्रमाण से अथवा श्रुतार्थापत्ति[5] प्रमाण से प्रतीत होता है इसलिए शाब्द है, शाब्द (शब्द प्रमाण सिद्ध) होने के कारण उसको (अपूर्व को) फलप्रद कहना उचित है। इसलिए शब्द प्रमाण के आधार से तो देवता में फल प्रदत्वरूप प्राधान्य नहीं माना जा सकता—यह बात सिद्ध हो गई। देवतागत सामर्थ्य से भी देवता में

---

१. देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ही याग कहलाता है। इसलिए सिद्ध है कि बिना देवता और द्रव्य के याग का स्वरूप ही नहीं बन सकता। अतः देवता याग का साधन है—यह कथन उचित ही है।

२. यह कर्म में देवता को ही प्रयोजक या प्रधान मानने वाले की उक्ति है—'का तर्हि फलस्य गतिः' इस वाक्य का यह अनुवाद है।

३. यागजन्य अपूर्व—अतिशय विशेष, जो आत्मा में संस्काररूप से अवस्थित रहता है और समयान्तर में स्वर्गादिरूप फल की उत्पत्ति करता है। जैसे आज का बोया हुआ बीज कालान्तर में फल उत्पन्न करता है।

४. 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुति। इस श्रुति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ज्योतिष्टोमयाग स्वर्ग का साधक है। परन्तु याग समाप्ति के अनन्तर ही स्वर्ग प्राप्ति नहीं होती, अतः याग समाप्ति और स्वर्ग सिद्धि के मध्य में कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये जो उभय संबन्धी अर्थात् याग समाप्ति और स्वर्ग सिद्धि दोनों के साथ सम्बन्ध रखने वाली हो। अन्यथा श्रुतिबोधित स्वर्ग साधकत्व याग में अनुपपन्न ही रहेगा। विधि वाक्योक्त, याग और स्वर्ग के साधन साध्यभाव को उपपन्न करने वाली दोनों को जोड़ने वाली वह वस्तु अपूर्व ही हो सकती है, वह अपूर्व विधिरूप श्रुत्यतिरिक्त प्रमाण के द्वारा अज्ञेय है, केवल श्रुति सामर्थ्य से ही गम्य है—इसलिये उसे शाब्द कहना उचित ही है। इसीलिये मण्डनमिश्र ने 'मीमांसानुक्रमणिका में कहा है—'विधेर्बलात् तावदपूर्वसिद्धिः' इति।

५. जहाँ एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विसंवाद हो वहाँ विसंवाद को दूर करने के लिये अर्थान्तर कल्पनारूप अर्थापत्ति प्रमाण माना जाता है। जैसे 'देवदत्त जीता है, पर घर पर उसका अभाव है; यहाँ एक प्रमाण से देवदत्त का जीवित रहना सिद्ध है, दूसरा प्रमाण उसका अभाव बताता है, इसलिए दोनों का विसंवाद या विरोध है, इसके परिहार के लिए यहाँ यह कल्पना की जाती है कि 'वह बाहर है'। प्रकृत में भी श्रुति प्रमाण से याग में स्वर्ग साधनत्व सिद्ध है, परन्तु याग समाप्ति के बाद ही स्वर्गानुपलब्धि होने से प्रत्यक्षतः वह असिद्ध है, अतः शब्द और प्रत्यक्ष का विसंवाद हुआ, उसके परिहार के लिये यहाँ अर्थापत्तिरूप अर्थान्तर कल्पना की गई है, वह अर्थान्तर 'अपूर्व' है। 'अपूर्व' उसे इसीलिए कहा गया कि वह याग से पूर्व नहीं था। याग के बाद ही सत्ता में आया। स्वर्गसाधनत्व रूप श्रुतअर्थ के आधार पर ही उसकी कल्पना की गई है, इसीलिये उसे श्रुतार्थापत्ति कहा गया, श्रुतार्थापत्ति-बोध्य होने से शाब्द कहना भी अनुचित नहीं है।

त्यादिमन्त्रेष्वपि देवत्वं विग्रहादियुक्तं कल्प्येत। तच्च प्रत्यक्षविरुद्धम्। अतो न राजादिवत्फलप्रदत्वम्। किं च विग्रहादिमद्देवतावाद्यपि न विना कर्मणा फलमभ्युपगच्छति। ततः प्राप्ताप्राप्तविवेकेनोभयवादिसिद्धस्य यागस्यैव फलप्रदत्वमस्तु। किं च मातापितृगुर्वादिशुश्रूषाया देवतां विनैव फलप्रदत्वमुभयवादि-

---

फलप्रदत्व रूप प्रधानता सिद्ध नहीं होती। देवता में शरीर आदि पाँच वस्तुओं का होना ही तो उसका वस्तुगत सामर्थ्य है, जिसकी सत्ता आप मन्त्र और अर्थवाद के बल पर सिद्ध करते हैं, परन्तु स्मरण रहे—देवता में शरीर आदि पाँच वस्तुओं का सम्बन्ध बताने वाले मन्त्र और अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता। अन्यथा **'वनस्पतिभ्यः स्वाहा, मूलेभ्यः स्वाहा, तूलेभ्यः स्वाहा'** इत्यादि मन्त्रों में चर्चित वनस्पत्यादि पदार्थों में भी शरीरादि युक्त देवत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। जो कि प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। इसलिये राजा आदि के दृष्टान्त के आधार पर देवता को फलप्रद नहीं कह सकते। एक बात और भी है, जो व्यक्ति देवता को शरीरादिमान् मानता है, वह भी बिना कर्म के फलोत्पत्ति स्वीकार नहीं करता। ऐसी स्थिति में प्राप्ताप्राप्त[1] विवेक के आधार पर उभयवादिसिद्ध[2] याग को ही फलप्रद क्यों नहीं मान लिया जाता। एक बात और है, माता पिता गुरु आदि की शुश्रूषा (सेवा) को, हम तुम दोनों ही, बिना देवता के ही फलप्रद मानते हैं। इसलिए[3] अङ्गभूत कर्मों के अनुष्ठान में फलप्रद अपूर्व ही प्रयोजक है—यही पक्ष ठीक है। यदि देवता को ही फलप्रद मानकर कर्मानुष्ठान का प्रयोजक मानोगे तो आग्नेययाग में उपदिष्ट (विहित) प्रयाजादि अङ्गों का सौर्यादियागों में ऊह[4] नहीं हो सकेगा, क्योंकि उनमें अग्नि देवता का संबन्ध नहीं है। यदि अपूर्व को प्रयोजक मानेंगे तो आग्नेययाग की तरह **'सौर्यं चरुं निर्वपेत्'** इत्यादि से विहित सौर्यादि याग का प्रयोजक भी अपूर्व ही होगा, अतः वहाँ (सौर्यादियाग में) आग्नेययाग के अङ्गभूत प्रयाजादि अङ्गों का ऊह हो सकेगा—यह भी देवता को प्रयोजक न मानने में और अपूर्व को प्रयोजक मानने में एक विशेषता है। इसीलिये मीमांसानुक्रमणिका में मण्डनमिश्र ने लिखा है **'धर्मास्त्वपूर्वेण खलु**

---

१. प्राप्ताप्राप्त विवेक का तात्पर्य यह है—यागादि कर्म की फलप्रदता श्रुति सिद्ध है, वादी भी बिना कर्म के फलसिद्धि स्वीकार नहीं करता, इसलिए उसके मत में भी यागादि कर्म में कथंचित् फलप्रदत्व है ही। अतः यागादि कर्म में फलप्रदत्व उभयथा प्राप्त है। इसके विपरीत देवता में फलप्रदत्व निर्बल प्रमाण के आधार पर वादि मात्राभ्युपगत है, और वह (वादी) भी कर्म के बिना देवता में फलप्रदत्व स्वीकार नहीं करता। अतः स्वातन्त्र्येण देवता में फलप्रदत्व सर्वथा अप्राप्त है, अतः प्राप्त को स्वीकार करना और अप्राप्त के लिए व्यर्थ क्लेश न करना यही यहाँ प्राप्ताप्राप्त विवेक है।

२. विग्रहादिमद्देवतावादी और अविग्रहादिमद्देवतावादी इन दोनों के मत में सिद्ध।

३. यदि देवता ही फलप्रद हो सकता है तो शास्त्रविहित माता, पिता आदि की सेवा का कोई फल नहीं होना चाहिये, माता, पिता की सेवा कोई ऐसा कर्म नहीं है कि जो किसी देवता को उद्देश्य करके द्रव्यत्याग रूप हो। 'मातृ देवो भव' इत्यादि स्थल में श्रूयमाण माता आदि का देवत्व औपचारिक है। यह शुश्रूषा भी अपूर्व द्वारा ही फलवती होती है, क्योंकि शुश्रूषा की समाप्ति में तत्काल स्वर्गादि फल उपलब्ध नहीं होता। अतः अपूर्व ही फल प्रदान द्वारा कर्मानुष्ठान का प्रयोजक है।

४. अतिदिष्टपदार्थस्य कार्यवशाद्रूपान्तर कारणम्—ऊहः, अतिदिष्टपदार्थ का कार्यानुरोध से रूपान्तर करना ही ऊह कहलाता है। इसका विशेष विवेचन पहले किया जा चुका है।

सिद्धम्। तस्मात्फलप्रदमपूर्वमेवाङ्गानुष्ठाने प्रयोजकम् । देवस्य प्रयोजकत्वे सत्याग्नेययाग उपदिष्टानि प्रयाजाद्यङ्गानि सौर्यादियागेष्वग्न्यभावादनूह्यानि। अपूर्वस्य प्रयोजकत्वे तत्सत्त्वादूह्यानीति विशेषः।

तदिदं देवताधिकरणमग्न्यादिदेवानां कर्माधिकारे विरुध्यते।

प्रयुक्ताः"[1] इति। इस प्रकार कारिका[2] के भाष्य कृत व्याख्यान का अनुवाद तो समाप्त हो गया। अब कारिका का अनुवाद करते हैं। कर्मों का प्रयोजक देवता है या अपूर्व है? यह संदेह है. इसमें पहला पक्ष (देवता प्रयोजक है—यह पक्ष) ठीक है, क्योंकि देवता ही फल देने वाला है। सिद्धान्त बताते हैं, न इति। देवता कर्मों का प्रयोजक है—यह पक्ष युक्ति युक्त नहीं। देवता तो विधेययाग में गुणीभूत है, अतः फलप्रदत्व प्रयोजकत्व या प्राधान्य उसमें नहीं हो सकता। अपूर्व में ही फलप्रदत्व-मानना-युक्ति युक्त है।

तदिदम् इति। यही (पूर्वोक्त) देवताधिकरण है। यदि अग्नि आदि देवताओं का भी कर्म में अधिकार माना जायगा तो, इस अधिकरण से विरोध[3] होगा।

---

१. यद्यपि 'अपूर्वेण प्रयुक्ताः' कहकर वहाँ याग प्रयुक्तत्व की व्यावृत्ति बताई गई है, देवता-प्रयुक्तत्व की नहीं, तथापि समान न्याय से देवता प्रयुक्तत्व की व्यावृत्ति भी समझ लेनी चाहिये। जैसे धर्मों को (अङ्गभूत कर्मों को) याग प्रयुक्त मानने पर यागमात्र में उनका सम्बन्ध प्राप्त होने से अतिव्याप्ति होती है, उसी प्रकार देवता प्रयुक्त मानने पर तत्तद्देवता से ही संबद्ध (विकृति) कर्म में उनका संबन्ध प्राप्त होगा सब विकृतियों में नहीं, अतः अव्याप्ति होगी। इसलिये अपूर्व को अङ्गानुष्ठान का प्रयोजक बताकर यहाँ याग प्रयुक्तत्व की तरह देवता प्रयुक्तत्व की भी व्यावृत्ति की गई है—यही समझना।

२. 'देवः प्रयोजकोऽपूर्वम्' इत्यादि, भाष्योद्धृत कारिका।

३. देवताओं का कर्माधिकार स्वीकार करने से इस देवताधिकरण का विरोध कैसे होगा यह बात भाष्यकार ने यहां स्पष्ट नहीं की। आपाततः विरोध प्रतीत नहीं होता, विरोध तो तब प्रतीत होता यदि इस अधिकरण में देवताओं के कर्माधिकार का निषेध किया जाता। इस अधिकरण में तो इतना ही बताया गया है कि कर्मों का प्रयोजक अपूर्व है, देवता नहीं। ठीक है, फिर भी विचार करने पर विरोध अवश्य प्रतीत होता है। यदि 'अग्नेयष्टुरिदं नमः, अग्निर्वैदेवानां यष्टा' इत्यादि वाक्यों के आधार पर अग्नि आदि देवताओं का कर्म में अधिकार मान लिया जाय, तो, अग्नि आदि देवताओं में प्रयोजकत्व की शङ्का का कोई आधार नहीं रह जायगा। क्योंकि याग का स्वरूप बताते हुए पहले कहा गया है कि देवता को उद्देश्य करके द्रव्य का त्याग ही याग है। यदि अग्नि आदि यज्ञ करेंगे तो स्वातिरिक्त किसी देवतान्तर के उद्देश्य से करेंगे, वही यज्ञ का प्रयोजक होगा, अपने उद्देश्य से तो द्रव्य त्याग का विधान है नहीं। फिर अग्नि आदि देवताओं में प्रयोजकत्व की शङ्का का क्या मूल? जब उसमें प्रयोजकत्व की संभावना ही नहीं, तो उसका निराकरण भी अभित्तिचित्रण मात्र है। इस प्रकार अग्न्यादि देवताओं का कर्माधिकार स्वीकार कर लेने से यह देवताधिकरण ही निर्मूल हो जाता है। इसी बात को व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र के देवताधिकरण में स्पष्ट किया है, भाष्यकार ने भी व्यासजी के उस अधिकरण को विरोध की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए यहां उद्धृत कर दिया है।

अत एव वैयासिकदेवताधिकरणसूत्रेषु जैमिनिपक्ष एवमुपन्यस्तः—"मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः" (ब्र० सू० १।३।३१) इति। अस्यायमर्थः—अस्ति हि काचन मधुविद्या, छन्दोगैराम्नातत्वात्। तस्यामादित्यो मधुत्वेन ध्यातव्यः। वसवो रुद्रा आदित्या मरुतः साध्याश्चेत्येते देवगणाः। परित उपविश्य तन्मधूपजीवन्ति। ईदृशेनोपासनेन वस्वादिमहिमानं प्राप्नुवन्तीति श्रूयते। तस्यां विद्यायां मनुष्याणामधिकारः संभवति। वस्वादिदेवतास्तु कानन्यान्वस्वादीनुपासीरन् कं चान्यं वस्वादिमहिमानं प्राप्नुयुः। आदित्यश्च कमन्यमादित्यं मधुत्वेनोपासीत्। तस्माद्देवानामनधिकारं जैमिनिर्मन्यत इति।

तर्हि विद्यान्तरेऽधिकारोऽस्त्वित्याशङ्क्योत्तरमेवं सूत्रितम्—"ज्योतिषि भावाच्च" (ब्र० सू० १।३।३२) इति। न खल्वादित्यो नाम कश्चिच्चेतनो विग्रहवान् देवोऽस्ति। किं त्वस्मिन् दृश्यमाने ज्योतिर्मण्डले भवत्यादित्यशब्दप्रयोगः। एवमङ्गारेष्वग्निशब्दः। यदि विग्रहवती देवता स्यात्तदानीमृत्विगादिव-

अत एव इति। इसीलिए[1] व्यासोक्त[2] देवताधिकरण के सूत्रों में जैमिनि मुनि के पक्ष को इस प्रकार (निम्नोक्त रीति से) प्रदर्शित किया गया है—'**मध्वादि**''**जैमिनिः**'[3] इति। इसका अर्थ यह है—सामवेदियों के द्वारा—छान्दोग्य उपनिषद् में—बताई गई कोई मधु विद्या है, उसमें बताया गया है कि आदित्य की मधुरूप से भावना (ध्यान) करनी चाहिये। वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्य ये देवगण चारों ओर बैठकर उस मधु का उपजीवन[4] करते हैं। ऐसी उपासना से उपासक लोग—वसु आदि देवताओं की महिमा को प्राप्त करते हैं—ऐसी श्रुति है। उस मधु विद्या में मनुष्यों का ही अधिकार हो सकता है, वसु[5] आदि देवता किन दूसरे वसु आदिकों की उपासना करेंगे और कौन सी दूसरी वस्वादि महिमा है जिसे वे प्राप्त करेंगे और आदित्य किस दूसरे आदित्य की मधुरूप से उपासना (ध्यान) करेगा। इसलिए जैमिनि मधु विद्या में देवताओं का अनधिकार मानता है।

तर्हि इति। यदि मधु विद्या में असंभव होने से अधिकार नहीं है तो न सही, दूसरी विद्याओं में तो उनका अधिकार हो सकता है—इस शङ्का का उत्तर वहां '**ज्योतिषि भावाच्च**' इस सूत्र से दिया गया है। आदित्य नाम का कोई शरीरधारी चेतन देवता नहीं है। किन्तु इस प्रत्यक्ष दृश्यमान-सूर्यरूप-ज्योति मण्डल में ही 'आदित्य' शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार अङ्गारों में अग्निशब्द का प्रयोग होता है—अर्थात् अग्नि भी शरीरधारी कोई चेतन देवता नहीं है।

१. जैमिन्युक्त देवताधिकरण द्वारा फलित देवताओं के कर्मानधिकार को स्पष्ट करने के लिए।

२. व्यासकृत ब्रह्मसूत्रोक्त।

३. मध्वादि विद्याओं में देवताओं का अधिकार नहीं है—ऐसा जैमिनि मुनि कहते हैं, क्योंकि वहां उनका अधिकार असंभव है—यह सूत्र का साधारण अर्थ है। असंभव होने के कारण भाष्य में आगे बताए गए हैं।

४. यही मधु उनका जीवन है, इसी से वे जीवित हैं। यही यहां उपजीवन का तात्पर्य है।

५. उपासना में उपास्य उपासक का भेद होता है, देवता ही उपास्य होते हैं, वे वसु रुद्र आदि ही हैं, उनसे अतिरिक्त तो कोई दूसरे वस्वादि हैं ही नहीं, तो ये वसु, रुद्र आदि देवता किनकी उपासना करेंगे, देव महिमा की प्राप्ति ही तो देवोपासना का फल है, वह देव महिमा तो वसु आदि देवों में पहले से ही सिद्ध है, इन वस्वादि देवों की महिमा से अतिरिक्त और कोई देव महिमा है ही नहीं। अतिरिक्त देव हो तो अतिरिक्त महिमा भी हो, अतिरिक्त देव ही नहीं तो अतिरिक्त महिमा कहां से।

त्कर्मण्युपलभ्येत। किंचैकस्य यजमानस्य यागे हविः स्वीकर्तुं गत्वा तदानीमेवान्येषां यागेषु गन्तुं न शक्नुयात्। अत एवाऽऽम्नायते—"कस्य वाऽह देवा यज्ञमागच्छन्ति कस्य वा न बहूनां यजमानानाम्" (तै. सं. १।६।७) इति। किं च विग्रहवत्सु देवेषु मृतेषु वैदिकानामग्नीन्द्रादिशब्दानामभिधेयाभावाद्वेदस्याप्रामाण्यं प्रसज्येत। तस्मान्मृगतृष्णादिवाक्येष्विव "सहस्राक्षो गोत्रभिद्" (तै. सं. २।३।१४) इत्यादि वाक्येषु कश्चिद्विकल्पप्रत्ययो जायते। "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (यो. सू. १।९) इति तल्लक्षणम्।

"मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः।
एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः॥"

इत्यत्र विनैव बाह्यवस्तुना यथा कश्चिदाकारविशेषो मनसि प्रतिभासते तथैव देवतावाक्येषु। तस्मात् अग्निर्वै देवानां यष्टा" (तै. ब्रा. ३।३।७) इति वाक्यबलाद्देवानां यागाधिकारो वक्तुं न शक्यः।

अत्रोच्यते—देवानामधिकाराभावः कुत इति वक्तव्यम्। देहाद्यभावाद्वा, सत्यपि देहादावर्थि-

---

यदि सचमुच शरीरधारी कोई देवता होता तो यज्ञ में ऋत्विज् आदि की तरह उपलब्ध होता। एक बात और है, शरीरधारी **देवता जिस समय एक यजमान के यज्ञ में हवि स्वीकार करने के लिए गया है** उसी समय वह दूसरे यजमानों के यागों में **नहीं जा सकता। इसी वास्ते तो श्रुति में कहा गया है—**बहुत से यजमानों में देवता किसके यहां जाते हैं, किसके यहां नहीं जाते? इतना ही नहीं, देवताओं को शरीरधारी मानने पर उनको मरणधर्म भी मानना ही होगा, उनके मरने पर वेद में व्यवहृत जो अग्नि इन्द्र आदि शब्द हैं, उनका वाच्यार्थ ही लुप्त हो जायगा, जिससे वेद को अप्रामाण्य प्राप्त होगा। इसलिए मृगतृष्णादि शब्द घटित[1] वाक्यों से जैसे विकल्पात्मक (वस्तुशून्य) ज्ञान होता है इसी प्रकार **'सहस्राक्षो गोत्रभिद्'** इत्यादि वाक्यों से भी विकल्पात्मक ज्ञान ही होता है। विकल्पात्मक ज्ञान का लक्षण है—**'शब्दज्ञाना:[2]···विकल्प'** इति जो ज्ञान **शब्दज्ञान** के अनन्तर जन्म तो लेता है, परन्तु वस्तुशून्य होता है, अर्थात् उसके विषय की पारमार्थिक सत्ता नहीं होती उसे **विकल्पात्मक ज्ञान कहते हैं।**

मृगतृष्णा[3] इति। मृगतृष्णा के जल में स्नान करके, गगन कुसुम से बने शिरोभूषण से विभूषित, खरगोश के सींग से बना धनुष लटकाए यह बन्ध्या पुत्र जा रहा है। इन शब्दों से जैसे कोई ऐसा विशेष आकार मन में प्रतिभासित होता है, जिसकी स्थूल जगत् में कोई सत्ता नहीं है, इसी तरह देवताओं का स्वरूप आदि बताने वाले **'वज्रहस्तः पुरन्दरः'** इत्यादि वाक्यों से भी। इसलिए **'अग्निर्वै देवानां यष्टा'** इत्यादि वाक्यों के आधार पर देवताओं का यागाधिकार नहीं सिद्ध किया जा सकता।

अत्रो इति। इस विषय में हमारा कथन यही है कि आप देवताओं का कर्म में अनधिकार किस कारण से कहते

---

१. इसका उदाहरण भाष्यकार स्वयं आगे लिख रहे हैं।
२. यह योगदर्शन का सूत्र है, देखो समाधिपाद वृत्ति निरूपण प्रकरण।
३. यही मृगतृष्णादि वाक्य है, जिसकी भाष्यकार ने पहले चर्चा की है। रेतीले मैदानों में जब रेत कड़ी धूप से खूब तप जाती है और उसमें झाल निकलने लगती है, तब दूर से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो जल लहरें मार रहा है, उसी को मृगतृष्णा कहते हैं, प्यासे मृग पानी समझकर उसकी ओर दौड़ते हैं, इसीलिए उसे 'मृगतृष्णा' कहा।

त्वसामर्थ्य विद्यारूपाणामधिकारहेतूनामभावाद्वा, सत्स्वपि तेषु शास्त्रेण निषिद्धत्वाद्वा । प्रथमपक्षेऽपि देहाद्यभावः कुत इति वाच्यम् । प्रमाणाभावाद्वा बाधकसद्भावाद्वा ।

नाऽऽद्यः । मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणयोगि प्रत्यक्षलोकप्रसिद्धीनां तत्प्रमाणत्वात् । "देवो वः सविता प्रार्पयतु" (तै. सं. १।१।१) "रुद्रस्य हेतिः परि वो वृणक्तु" (तै. सं. १।१।१) इत्यादयश्चेतनोचित-व्यवहाराभिधायिनो बहवो मन्त्राः पूर्वमुदाहृताः। "अग्ने यष्टरिदं नमः", "इत इन्द्रो अक्रुणोद्वीर्याणि"

हैं—यह बताइये। उनका शरीरादि नहीं है—इसलिए क्या उनका कर्म में अनधिकार है? अथवा शरीर आदि के होते हुए भी कर्माधिकार के हेतु[1] अर्थित्व सामर्थ्य और विद्या (ज्ञान) उनमें नहीं है—इसलिए वे कर्म में अनधिकृत हैं? अथवा कर्माधिकार हेतुओं के होते हुए भी शास्त्र उन्हें—यागादि-कर्मों से रोकता है? शरीरादि का अभावरूप प्रथम हेतु के विषय में भी आपको यह बताना होगा कि देवताओं का शरीरादि क्यों[2] नहीं है, क्या उनके शरीरादिमान् होने में काई प्रमाण नहीं है? अथवा उनको शरीरादिमान् मानने में कोई बाधक[3] है।

नाद्य इति। पहली बात तो नहीं बन सकती—अर्थात् देवताओं के शरीरादिमान् होने में कोई प्रमाण नहीं है यह बात आप नहीं कह सकते। कारण कि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण, योगिप्रत्यक्ष और लोकप्रसिद्धि ये सब, देवताओं के शरीरधारित्व होने में प्रमाण हैं। **'देवो[4] वः सविता प्रार्पयतु' 'रुद्रस्य[5] हेतिः परिवो वृणक्तु'** इत्यादि देवताओं में चेतनोचित[6] व्यवहार बताने वाले, बहुत से मन्त्र पहले बता दिए गए हैं। **'अग्ने[7] यष्टरिदं नमः' 'इत[8] इन्द्रो अक्रुणोद् वीर्याणि'** इत्यादि मन्त्रों का उदाहरण तो प्रकृत में दिया ही जा रहा है। **'अथा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम्' 'अग्ने त्वं सुजागृहि'** इत्यादि मन्त्रों को उदाहरण रूप में उपस्थित किया जायगा। **'तं गायत्र्याहरत्'**—गायत्री उसे लाई'

---

१. फलेच्छा, फलजनक कर्म करने का सामर्थ्य और उस कर्म का पूरा ज्ञान—ये तीन बातें जिसमें हैं, वही कर्म करने का अधिकारी होता है, दूसरा नहीं। फलेच्छा ही अर्थित्व है, कर्म करने की शक्ति या दक्षता ही सामर्थ्य है, लंगड़ा, लूला, अन्धा, बहिरा, जराजीर्ण तथा निर्धन व्यक्ति कर्म करने में असमर्थ होता है। कर्म का असंदिग्ध ज्ञान ही विद्या है, ये तीनों कर्माधिकार के हेतु माने गए हैं, इसीलिए 'स्वाराज्य सिद्धि' में लिखा गया है—'अर्थी दक्षो द्विजोहं बुध इति मतिमान् कर्मसूक्तोऽधिकारी' इति। यद्यपि द्विजत्वाभिमान को भी इस वचन में कर्माधिकार का हेतु बताया गया है, तथापि भाष्यकार ने इस हेतु पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया है इसलिए यहां उसका उल्लेख नहीं किया। ये सब कर्माधिकार के हेतु देवताओं में नहीं हैं, इसका विवरण आगे दिया जायगा।

२. किस आधार पर तुम देवताओं के शरीरधारित्व का निषेध करते हो—यह प्रश्न का अभिप्राय है।

३. 'अनुपपत्ति' बाधक शब्द का अभिप्राय है।

४. सवितृ देव तुम्हें प्रेरित करे—यह मन्त्रार्थ है।

५. कृ० य० तै० सं० (प्र० भा० पृ० ४६)।

६. कृ० य० तै० सं० (प्र० भा० पृ० ४६)।

७,८. इन दोनों मन्त्रों का व्याख्यान इसी बारहवें अनुवाक में हो चुका है।

इत्यादय उदाह्रियन्ते । "अथा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान् व्यस्यताम्" (तै. सं. १।१।१३) "अग्ने त्वꣳसु जागृहि" (तै. सं. १।२।३) इत्यादय उदाहरिष्यन्ते । "तं गायत्र्याहरत्" (तै. ब्रा. ३।२।१) पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त" (द्र. मै. सं. ३।१०।२) "देवासुराः संयत्ता आसन्" (तै. सं.२ ।३।७) इत्यादयोऽर्थवादाः । इतिहासो भारतादिः । पुराणं ब्राह्मपाद्मवैष्णवादि । योगिप्रत्यक्षं योगशास्त्रे "मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्" (यो. सू. ३।३२) इत्यादि सूत्रेषु प्रसिद्धम् । लोकप्रसिद्धिश्च चित्रकारादितत्तन्मूर्तिलेखनादिभिर्द्रष्टव्या । नापि द्वितीयो बाधकस्यानुपलम्भात् । वनस्पतितन्मूलादीनामपि विग्रहादिमत्त्वप्रसङ्गो बाधक इति चेत् । न । तस्येष्टत्वात् । प्रत्यक्षविरोध इति चेन्न । स्थावररूपस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तदभिमानिदेवतानामप्रत्यक्षत्वात् । सन्ति हि सर्वेषु वस्तुष्वभिमानिदेवताः ।

'पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त—देवताओं ने पुरुषरूप पशु का आलम्भन किया' 'देवासुराः संयत्ता आसन्—देवता और असुर परस्पर युद्ध में प्रवृत्त हुए' इत्यादि अर्थवाद हैं। इतिहास से तात्पर्य भारत[1] आदि से है। पुराण[2] से तात्पर्य ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव (विष्णु पुराण) आदि—अठारह पुराणों से है। योगि[3] प्रत्यक्ष योगशास्त्र में **'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्'** इत्यादि सूत्रों में बताया गया है। लोकप्रसिद्धि से तात्पर्य चित्रकारादि द्वारा तत्तद् देवताओं की मूर्तियों के निर्माण आदि से है। द्वितीय बात भी नहीं बन सकती—अर्थात् देवताओं को शरीरादिमान् मानने में कोई बाधक है (अनुपपत्ति है) यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि कोई भी बाधक उपलब्ध नहीं है। कदाचित् कहो कि—है तो सही बाधक, देवताओं को शरीरादिमान् मानने में वनस्पति और उनके मूल आदि को भी शरीरादिमान् मानना पड़ेगा। यह[4] कोई बाधक नहीं है, ऐसा[5] तो हम मानते ही हैं। ऐसा[6] मानने में प्रत्यक्ष प्रमाण[7] का विरोध होगा, यह भी ठीक नहीं। वनस्पतियों का स्थावर भले ही

---

१. जैसा कि राजशेखर ने कहा है—"पुराणप्रविभेद एवेतिहासः" (इत्येके) इसी संदर्भ में उन्होंने परक्रिया और पुराकल्प के रूप में इतिहास की गति दो प्रकार की बतलाई है और बहुनायक से संबद्ध होने के कारण महाभारत को पुराकल्पात्मक इतिहास माना है। (का० मी० द्वि० अ०)।

२. अठारहपुराणों की सङ्केतात्मक सूची का निम्नलिखित पद्य स्मरणीय है—

म-द्वयं भ-द्वयं चैव ब्र-त्रयं व-चतुष्टयम् ।
अ-न-प-लिङ्ग-कू-स्कानि पुराणानि प्रचक्षते ॥

यह पद्य संकेतात्मक रूप से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार 'मत्स्य-मार्कण्डेय (२ मादि), भविष्य भागवत (२ भादि) ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, ब्राह्म (३ ब्रादि), वामन, वराह, विष्णु, वायु (४ वादि), अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म एवं स्कन्द' पुराणों का ग्रहण होता है।

३. द्र० पा० यो० द० (पृ० ३४८)।

४. वनस्पति आदि में शरीरादिमत्त्व की प्रसक्ति।

५. वनस्पति आदि को शरीरादिमान् मानना तो हमें इष्ट ही है।

६. वनस्पति आदि का शरीरादि संबन्ध मानने में।

७. प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोध बताने वाले व्यक्ति ने यह समझा हुआ है कि हाथ पैर आंख कान आदि अङ्गों वाले मनुष्य पशु आदि प्राणी ही शरीरधारी कहे जाते हैं, वनस्पत्यादि में कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां होती नहीं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसलिए उनको शरीरधारी कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है भाष्यकार इस प्रत्यक्ष विरोध का परिहार दूसरी तरह

अत एव श्रूयते—"अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः । यजमानदेवत्या वै जुहूः । भ्रातृव्यदेवत्योपभृत्" (तै. ब्रा. ३।३।५) इति। नात्र दृश्यमाना अन्तरिक्षयजमानभ्रातृव्या विवक्षिताः। किंतु तदभिमानिदेवताः। एवं च सत्यभिमानिनीभिः सहाभेदविवक्षया "वायवः स्थोपावयः स्थ" (तै. सं. १।१।१), "जुह्वेह्यग्निस्त्वा ह्वयति देवयज्याया उपभृदेहि देवस्त्वा सविता ह्वयति" इत्यादीनि चेतनोचितानि संबोधनान्युपपद्यन्ते ।

प्रत्यक्ष हो, परन्तु उनके अभिमानि देवता अप्रत्यक्ष हैं। संक्षेप में भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि '**वनस्पतिभ्यः स्वाहा, मूलेभ्यः स्वाहा, तूलेभ्यः स्वाहा**' इन वैदिक वाक्यों में वनस्पति आदि शब्दों से वनस्पत्याद्यभिमानि देवता विवक्षित हैं, उन्हीं के उद्देश्य से उक्त मन्त्रों में स्वाहा शब्द से द्रव्यत्याग (हविः प्रदान) बताया गया है। वे यदि प्रत्यक्ष होते और उनमें हस्तपादादि अङ्गों का चक्षुरादि इन्द्रियों का अभाव प्रत्यक्षतः सिद्ध होता तो, प्रत्यक्ष विरोध माना जा सकता था, सो तो है नहीं इसलिए स्थावर रूप में प्रत्यक्ष विरोध दिखाना निरर्थक है, क्योंकि वनस्पत्यादि का स्थावर रूप यहां विवक्षित ही नहीं है। सब वस्तुओं में उनके अभिमानी देवता होते हैं। इसी बात को बताने के उद्देश्य से श्रुतियाँ प्रवृत्त हुई हैं—'**अन्तरिक्ष देवत्याः खलु वै पशवः**—पशुओं का अन्तरिक्ष देवता है' '**यजमान देवत्या वै जुहूः**—जुहू का देवता यजमान है' '**भ्रातृव्यदेवत्योपभृत्**' उपभृत् का देवता भ्रातृव्य है'। इन श्रुतियों में दृश्यमान अन्तरिक्ष, यजमान और भ्रातृव्य विवक्षित नहीं हैं। किन्तु इसके (पशु आदिकों के) अभिमानी देवता विवक्षित हैं। ऐसा[1] मान लेने पर अपने अपने अभिमानी देवताओं के साथ वस्तुओं की अभेद विवक्षा होने से '**वायवः[2] स्थोपावयः स्थ**' '**जुहू[3] एहि अग्निस्त्वा ह्वयति देवयज्याया उपभृत् ! एहि**

करेंगे। वह आगे स्वयं देखिये। परन्तु वस्तुतः वनस्पति भी वैशेषिक के मत से शरीरधारी ही हैं, भले ही उनका शरीर जाहिरा हिताहित प्राप्ति परिहारार्थ क्रिया रूप चेष्टा से रहित है, उनमें ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां भी नहीं हैं, तथापि अविकसित मनःशक्ति उनमें भी है, वे भी सुख दुःख का अनुभव करते हैं। इसलिए भगवान् मनु ने कहा है 'अन्तः संज्ञा भवन्त्येते, सुख दुःख समन्विताः' अर्थात् अन्तश्चेतना इनमें (तरुगुल्मलतादि में) भी है, जिसके सहारे ये सुख दुःख का अनुभव करते हैं। जैसे मानव शरीर कट-फट जाने से फिर ठीक हो जाता है, उसी प्रकार वनस्पतियों में भी भग्नक्षत संरोहण देखा जाता है, इससे इनमें प्राणवायु के संचार का अनुमान होता है, इसलिए इनको अर्धचेतन प्राणी भी कह सकते हैं। स्वर्गीय श्री जगदीशचन्द्र वसु ने तो स्वनिर्मित वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा वृक्षों में चेतना को सिद्ध कर दिया था।

१. सब वस्तुओं के अपने-अपने अभिमानी देवता होते हैं—ऐसा मान लेने पर।

२. यह मन्त्र प्रथम अनुवाक में आया है, इसकी व्याख्या वहीं देखिये।

३. यह मन्त्र इसी बारहवें अनुवाक में आया है, इसकी व्याख्या हो चुकी है। हमने इस को यहां संबोधन विभक्ति को स्पष्ट करने के लिए संधि विच्छेद करके लिखा है।

किं निमित्तोऽयं देवताभिव्यक्त्यभिनिवेश इति चेत्। तव किं निमित्तोऽयं देवताप्रद्वेषाभिनिवेशः। "ज्योतिषि भावाच्च" (ब्र. सू. १।३।३२) इति जैमिनिमतस्य सूत्रितत्वादिति चेत्। किं बादरायणस्य मतं न पश्यसि? स ह्येवं सूत्रयामास—"अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" (ब्र. सू. २।१।५) इति। अस्यायमर्थः—वाक्चक्षुरादीन्द्रियाणां परस्परकलहश्रुतिषु "मृदब्रवीत्" (श. ब्रा. ६।१।३।४) "आपोऽब्रुवन्"

देवस्त्वा सविता ह्वयति' इत्यादि चेतनोचित[1] संबोधन उपपन्न हो जाते हैं।

किं निमित्तो इति। पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि '**जुहः! एहि**' '**उपभृत्! एहि**' इत्यादि स्थलों में सर्वत्र जड़वाची 'जुहू' आदि पदों से चेतन देवता की अभिव्यक्ति का यह आग्रह क्यों? सिद्धान्ती प्रतिबन्दी से उत्तर देता है—आप ही बताइये कि आपको भी देवताओं के विग्रहादि मत्त्व से यह विद्वेष क्यों? कदाचित् कहो कि '**ज्योतिषि भावाच्च**' इस सूत्र में वर्णित जैमिनि मत के आधार पर ही हम देवताओं के विग्रहादि मत्त्व का निराकरण करते हैं। ठीक है, परन्तु आप व्यास जी के मत से क्यों अनभिज्ञ हैं? व्यास जी का सूत्र है—'**अभिमानि व्यपदेशस्तु[2] विशेषानुगतिभ्याम्**'। इसका तात्पर्य यह है—कुछ श्रुतियां ऐसी हैं जिनमें वाक् चक्षु आदि इन्द्रियों का पारस्परिक कलह वर्णित हुआ है। **मृदब्रवीत्**—मिट्टी (पृथ्वी) बोली' '**आपोऽब्रुवन्**—जल बोले' इस प्रकार की भी कुछ श्रुतियां हैं। इनमें इन्द्रिय वाचक पदों से इन्द्रियाभिमानी और 'मृत्' आदि पदों से मृदाद्यभिमानी देवता ही व्यपदिष्ट (व्यवहृत-प्रतिपादित) हुए हैं। क्योंकि इन्द्रिय संवाद वाक्य के प्रारम्भ में ही '**एता देवताः**' ऐसा कहकर वाक् आदि इन्द्रियों को 'देवता' शब्द से विशेषित किया गया है। और दूसरे स्थल पर यह भी श्रुति है—'**अग्निर्···प्राविशत्**' इति। अर्थात् अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हुआ। वायु प्राण बनकर नासिका में (नासिका के दोनों छिद्रों में) प्रविष्ट हुआ और आदित्य चक्षु (प्रकाशक चक्षु इन्द्रिय) बनकर आंखों में (अक्षि गोलकों में) प्रविष्ट हुआ। इससे यह बताया गया कि सब इन्द्रियों में देवतानुगति[3] है—देवताओं का संबन्ध है। संक्षेप में सूत्र का आशय यह हुआ कि इन्द्रिय कलह श्रुति में इन्द्रियों को देवता शब्द से विशेषित किया गया है और उनमें देवतानुगति बताई गई है इसलिए वहां इन्द्रियवाचक पद इन्द्रियाभिमानी देवताओं के ही बोधक हैं। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि सूत्रकार को 'विशेषण और अनुगति' रूप हेतुओं के द्वारा यह सिद्ध करने की क्या आवश्यकता थी कि इन्द्रिय कलह श्रुति

---

१. 'सिद्धस्याभिमुखीकरणं संबोधनं विदुः' किसी व्यक्ति को अपने अभिमुख करना ही संबोधन कहलाता है। संबोधन चेतन का ही होता है, जड़ का नहीं।' जुहू और उपभृत् काष्ठ निर्मित यज्ञ पात्र हैं। अत एव जड़ हैं। उनका संबोधन असङ्गत है। यह तभी संगत हो सकता है जब जुहू और उपभृत् शब्दों से उनके (जुहू और उपभृत् के) अभिमानी देवता विवक्षित हों। जुहू में और उसके अभिमानी देवता में, इसी प्रकार उपभृत् में और उसके अभिमानी देवता में अभेद मानकर, पात्र वाचक जुहू और उपभृत् शब्दों का पात्राभिमानी देवताओं के लिए प्रयोग भी असङ्गत नहीं होता। 'वायवः स्थ' में भी वायु को परम्परा संबन्ध से वत्सों का अभिमानी देवता माना गया है, इसलिए उन दोनों का अभेद मानकर वत्सों को ही 'वायवः' कहा गया है, देखो प्रथम अनुवाक में 'वायवः स्थ' का सायण भाष्य।

२. 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है।

३. अग्नि वायु और आदित्य का देवतात्व—'तिस्र एव देवता भवन्ति, अग्निः पृथिवी स्थानः, वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्ष स्थानः, सूर्यो द्युस्थान, इस निरुक्त वाक्य से सिद्ध है।

(श० ब्रा० ६।१।३।२) इत्यादि श्रुतिषु चाभिमानिदेवता व्यपदिश्यन्ते। इन्द्रिय संवादवाक्यस्याऽऽदावेवाऽऽह "एता देवताः" (ऐउ १।२।१) इति देवताशब्देन विशेषितत्वात्। अन्यत्र च "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" (ऐउ. १।२।४) इत्यादिना सर्वेष्वेवेन्द्रियेषु देवतानुगतिश्रवणादिति।

बाधकान्तरं तु बादरायण एवाऽऽशङ्क्य निराचष्टे। तदीयं सूत्रमेतत्—"विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्" (ब्र. सू. १।३।२७) इति। ऋत्विग्दृष्टान्तेन यः कर्मणि विरोधः सोऽपि नास्त्येकस्य युगपद्बहुगृहभोजनासंभवेऽपि बहुकर्तृकनमस्कारस्वीकारः संभवतीत्यनेकप्रकारदर्शनात्। इह च यागस्योद्देशत्यागात्मकत्वान्नमस्कारन्यायेन बहवो यजमाना युगपदेकां देवतामुद्दिश्य हवींषि त्यजेयुः।

में इन्द्रिय बोधक पद इन्द्रियाभिमानी देवताओं के बोधक हैं? इसका उत्तर यह है कि 'कलह' चेतन का धर्म है, इन्द्रियां तो जड़ हैं, जड़ इन्द्रियों में पारस्परिक कलह अनुपपन्न है उसकी उपपत्ति तभी हो सकती है जब वहाँ इन्द्रिय वाचक पदों से इन्द्रियाभिमानी देवता व्यपदिष्ट हों। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध इन्द्रियाभिमानि व्यपदेश का व्यास जी ने प्रत्यक्ष श्रुति द्वारा भी समर्थन और अनुमोदन[1] किया है। समानन्याय से **'मृदब्रवीत्'** **'आपोऽब्रुवन्'** इत्यादि स्थल में भी मृज्जलाभिमानी देवता का ही ग्रहण होता है।

बाधकान्तरम् इति। देवताओं को विग्रहादिमान् मानने में दूसरा[2] भी बाधक प्रमाण है, जिसकी उत्थापना और निराकरण स्वयं व्यास जी ने ही किया है। उनका सूत्र है—**'विरोधः···दर्शनात्'** इति ऋत्विज् आदि के दृष्टान्त से कर्म में जो विरोध दिखाया गया है, वह भी कुछ नहीं। पहले कहा गया है कि देवता को विग्रहादिमान् मानने में यह दोष होगा कि जैसे विग्रहवान् ऋत्विज् एक काल में एक ही यजमान के यहां आर्त्विज्य (पौरोहित्य) कर सकता है, उसी समय वह वह दूसरे के याग में उपस्थित नहीं हो सकता, उसी प्रकार विग्रहादिधारी देवता भी एक काल में एक ही यजमान के यहां उपस्थित हो सकता है, दूसरे के यहां नहीं। ऐसी स्थिति में समान देवताक अनेक यज्ञ एक काल में (युगपत्) सम्पन्न नहीं हो सकेंगे। यही कर्म विरोध है। यह भी कुछ नहीं। क्योंकि क्रिया के अनेक प्रकार हैं। भले ही एक व्यक्ति युगपत् अनेक घरों में भोजन न कर सके, परन्तु वह अनेक कर्तृक नमस्कारों का स्वीकार युगपत् भी कर सकता है। तात्पर्य यह है—कि आप यह नियम नहीं बना सकते कि सब क्रियाएं एक व्यक्ति द्वारा युगपत् नहीं हो सकतीं, कुछ नहीं हो सकतीं तो कुछ हो भी सकती हैं। प्रकृत में यजन क्रिया उद्देश्य से हविस्त्याग क्रिया ही याग है, बहुत से यजमान एक काल में एक देवता के उद्देश्य से हविस्त्याग कर सकते हैं, नमस्कार न्याय से। जैसे राजा के नगर प्रवेश के समय सारी प्रजा एक साथ राजा को नमस्कार करती है। और राजा भी उन बहुकर्तृक अनेक नमस्कारों को हाथ जोड़कर युगपत् स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार अनेक कर्तृक अनेक हविस्त्यागों को देवता भी स्वीकार कर लेता है।

---

१. इन्द्रिय कलहश्रुति को अर्थवाद मानने वालों के प्रति भी इन्द्रियाभिमानि देवता व्यपदेश सिद्ध करने की आवश्यकता थी।

२. पहला बाधक था वनस्पत्यादि में भी विग्रहादिमत्त्व की प्रसक्ति, जिसका निराकरण इष्टापत्ति मानकर किया गया है।

अथवा देवतानां योगसामर्थ्याद्युगपदनेकशरीरप्राप्तिः श्रुतिस्मृत्योर्दृश्यते । तैश्च शरीरैर्युगपद्बहुषु यागेषु युगपद्गच्छेयुः ।

न चानुभवविरोधस्तामन्तर्धानादिशक्तिमत्त्वेनायोग्यानुपलब्धेः ।

अथवा[1] इति । उपर्युक्त कर्म विरोध का एक दूसरा भी परिहार है । देवता योग सामर्थ्य से एक काल में अनेक शरीर धारण कर सकते हैं—यह बात श्रुति और स्मृति में दृष्ट है । उन अनेक शरीरों से वे युगपत् होने वाले अनेक यागों में युगपत् उपस्थित हो सकते हैं ।

न चा इति । पूर्वपक्षी कहता है कि ऐसा मानना अनुभव के विरुद्ध होगा । पूर्वपक्षी का हार्दिक अभिप्राय यह है कि देवताओं को यज्ञ में किसी भी शरीर से उपस्थित होते किसी ने भी नहीं देखा, फिर यज्ञ में उनकी उपस्थिति किस प्रमाण के आधार पर मानी जाय, अतः अनुपलब्धि प्रमाण से यही मानना चाहिये कि यज्ञ में देवता का अभाव ही रहता है । यदि यज्ञ में देवता होता तो ऋत्विज् आदि की तरह अवश्य उपलब्ध होता, उसकी वहां अनुपलब्धि है, इसलिए वह वहां नहीं है । अनुपलब्ध होने पर भी किसी की सत्ता को स्वीकार करना अनुभव विरुद्ध है । सिद्धान्ती कहता है—**तासाम्** इति । देवताओं में दृष्टि से ओझल हो जाने की (अन्तर्धान होने की) शक्ति है, इसलिए देवताओं की अनुपलब्धि योग्य की अनुपलब्धि नहीं है, योग्यानुपलब्धि न होने से यज्ञ में देवता की उपस्थिति का अभाव निष्प्रमाणिक है, फलतः देवता के न दीखने मात्र से अनुभव विरोध बताना सर्वथा असङ्गत है । सिद्धान्ती का हार्दिक अभिप्राय यह है कि जो वस्तु स्वयं प्रत्यक्ष के योग्य होती है उसी वस्तु के अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है । परमाणु अतीन्द्रिय है, प्रत्यक्ष के अयोग्य है, इसलिये उसके अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता । देवता भी अन्तर्धान शक्ति युक्त होने के कारण प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं, इसीलिये उसके अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता । प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थ की ही अनुपलब्धि उसके अभाव का ज्ञान करा सकती है, देवता प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें छिपे रहने की शक्ति है, अतः उसकी अनुपलब्धि योग्य की अनुपलब्धि नहीं है, योग्यानुपलब्धि न होने से उसके अभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।

---

१. 'अथवा' पद से यह सूचित होता है कि भाष्यकार को उपर्युक्त समाधान में कुछ अरुचि है । वह अरुचि इसलिए है कि देवता के विग्रहादिमत्त्व पक्ष में यह स्वीकार किया गया है कि देवता हविः स्वीकार के साथ साथ हवि का उपभोग करते हैं और उससे तृप्ति का भी अनुभव करते हैं । ऐसी स्थिति में नमस्कार न्याय लागू नहीं हो सकता । नमस्कार कोई खाद्य पदार्थ नहीं है, वह तो नमस्कर्ता की नमस्कार्य के प्रति एक भक्तिपूर्ण भावना है, जिसे वह हाथ जोड़कर प्रकाशित करता है, इसी प्रकार इस नमस्कार को स्वीकार करना भी नमस्कार्य की नमस्कर्ता के प्रति वात्सल्य और स्नेह पूर्ण एक मानसिक भावना है । जिसे वह अपने हाथ की वर मुद्रा से प्रकाशित करता है । इस नमस्कार क्रिया को एक के उद्देश्य से एक काल में अनेक भी कर सकते हैं, और ऐसे अनेक कर्तृक अनेक नमस्कारों को एक व्यक्ति एक काल में भी स्वीकार कर सकता है, परन्तु विग्रहवान् देवता यदि ऋत्विज् की तरह यज्ञ में उपस्थित नहीं है, तो उसको उद्देश्य करके हवि कैसे दी जा सकती है, अनुपस्थित व्यक्ति हवि को कैसे स्वीकार करेगा और कैसे उसका उपभोग करेगा । इसलिए देवता के विग्रहादिमत्त्व पक्ष में एक देवता एक काल में एक याग में ही उपस्थित हो सकता है, फलतः अनेक यजमान एक देवतोद्देश्यक हविस्त्याग रूप अनेक याग एक काल में नहीं कर सकते । इसलिए कर्म विरोध बना ही रहता है । उक्त उत्तर से कर्म विरोध का संतोषजनक परिहार नहीं होता ।

नापि विग्रहवतीषु देवव्यक्तिषु मृतासु वैदिकशब्दस्यार्थाभावो जातेरेव शब्दार्थत्वात् । अतो वनस्पतिमूलजुहूपभृदाद्यचेतनद्रव्येषु सर्वेष्वभिमानिनीनां विग्रहवतीनां चेतनानां देवतानामभ्युपगमेऽपि न बाधः कश्चित् ।

मृगतृष्णिकाखपुष्पादिष्वपि वनस्पत्यादिष्विव देवताभ्युपगमः प्रसज्येतेति चेन्न ।

यदा "मृगतृष्णायै स्वाहा खपुष्पाय स्वाहा" इति वेदवाक्यं दर्शयिष्यसि तदाऽभ्युपगमिष्यामः ।

अतः प्रमाणसद्भावादबाधकाभावाच्च सन्त्येव देवतानां विग्रहादयः ।

योग्यानुपलब्धि[1] उसी वस्तु की मानी जाती है जिसके विषय में यह कहा जा सके कि 'यदि होता तो उपलब्ध होता'। देवता, पिशाच आदि के विषय में उक्त बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि वे होते हुए भी उपलब्ध नहीं होते, अतः उनकी अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं है, योग्यानुपलब्धि न होने के कारण देवता के अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

नापि इति । विग्रहवती देवताओं के मृत हो जाने पर 'इन्द्र' 'अग्नि' आदि वैदिक शब्दों का अर्थ लुप्त हो जायगा—यह जो दोष देवताओं के विग्रहादिमत्त्व पक्ष में दिया गया है, वह भी नहीं होता, कारण कि जाति ही पदार्थ है, अर्थात् इन्द्र, अग्नि आदि पदों की शक्ति जाति में है, व्यक्ति में नहीं, व्यक्ति अनित्य होता है, जाति नित्य है, उसका विनाश नहीं होता । इसलिए वनस्पति, मूल, जुहू, उपभृत् आदि सकल अचेतन द्रव्यों में विग्रहवान् तदभिमानी चेतन देवताओं को स्वीकार करने पर भी कोई बाध (अप्रामाण्य) नहीं होता ।

मृगतृष्णिका[2] इति । पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि ऐसे तो वनस्पति आदियों की तरह मृगतृष्णा, खपुष्प आदि में भी देवता को मानने का प्रसङ्ग होगा ।

यदा इति । सिद्धान्ती उत्तर देता है कि जब तुम '**वनस्पतिभ्यः स्वाहा, मूलेभ्यः स्वाहा**' इत्यादि वाक्यों की तरह '**मृगतृष्णायै स्वाहा, खपुष्पाय स्वाहा**' इत्यादि वेदवाक्य दिखाओगे तब हम[3] उनमें भी देवता को मान लेंगे ।

अतः इति । इस प्रकार प्रमाणों के सद्भाव से और बाधक युक्ति आदि के अभाव से यह सिद्ध हो जाता है कि देवता विग्रहादिमान् हैं। देवताओं का कर्म में अधिकार नहीं है—इसके तीन कारण बताए गए थे । पहला कारण था कि उनका शरीरादि नहीं है, उसका खण्डन कर दिया गया । दूसरा हेतु है—देवताओं में कर्माधिकार के हेतुओं का अभाव । अर्थित्व, सामर्थ्य और विद्या ये तीन कर्माधिकार के हेतु माने गए हैं, फलेच्छा ही अर्थित्व है, स्वर्गादि फल की इच्छा रखने वालों के लिए ही दर्शपौर्णमासादि[4] यागों का विधान किया गया है। देवताओं को स्वर्ग आदि की

---

१. बहुत से विद्वान् योग्यानुपलब्धि शब्द में कर्मधारय समास करते हैं, उनके मत से अनुपलब्धिगतयोग्यता प्रतियोगिसत्त्व प्रसञ्जन प्रसञ्जित प्रतियोगिकत्वरूपा है । जो प्रकृत में नहीं है । अतः देवता की अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि न होने से उसके अभाव का ज्ञान नहीं करा सकती ।

२. अभिमानि देवतावादी की हंसी उड़ाने के लिए ही यह शङ्का की गई है ।

३. अर्थात् हमारा अभिमानिदेवतावाद निर्मूल नहीं है । जहां प्रमाण मिलता है, वहां स्वीकार करते हैं, जहां प्रमाण नहीं है, वहां स्वीकार भी नहीं हैं ।

४. 'दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं ।

नाप्यर्थित्वाद्यधिकारकारणाभावादिति; द्वितीयः पक्षो युक्तः। आदित्यवस्वादीनां स्वस्वपदस्य प्राप्तत्वेन तत्प्राप्तिहेतावुपासने यागे वाऽर्थित्वाभावेऽपि फलान्तरहेतौ तत्संभवात्।

सत्यसंकल्पानां तेषां संकल्पादेव फलसिद्धौ न यागादिप्रवृत्तिरिति चेन्न। संकल्प इव यागादावपि प्रयासबुद्ध्यभावेन प्रवृत्तिसंभवात्।

श्रूयन्ते हि बहुशो वेदवाक्यानि—"अग्निष्टोमेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत्। तां अग्निष्टोमेनैव पर्यगृह्णात्" (तै. सं. ७।१।१) इति। "बृहस्पतिरकामयत। श्रन्मे देवा दधीरन्। गच्छेयं पुरोधामिति। स

इच्छा हो ही नहीं सकती, स्वर्गादि फल उन्हें पहले ही प्राप्त है। देवताओं का नाम ही 'दिविषदः—स्वर्ग में रहने वाले' हैं। अतः फलेच्छा रूप अर्थित्व के अभाव से देवताओं का कर्म में अधिकार नहीं हो सकता। सामर्थ्य का अर्थ है क्षमता। यह क्षमता दो प्रकार की है एक शारीरिक क्षमता दूसरी धन संबन्धी क्षमता, यद्यपि ये दोनों प्रकार की क्षमताएँ देवताओं में विद्यमान हैं, तथापि फलेच्छा न होने से सर्वथा अनुपयोगी हैं, निस्पृह व्यक्ति के लिए क्षमता और उसका अभाव समान है। यागादि कर्मों का असंदिग्ध ज्ञान ही विद्या है, देवताओं के पास यह नहीं है, उपनयनपूर्वक वेदाध्ययन करने वालों को ही यागादि का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। **'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यपयीत, एकादशवर्षं राजन्यम्, द्वादशवर्षं वैश्यम्**, इत्यादि वैदिक प्रमाण से ब्राह्मणादि वर्णों का ही उपनयन पूर्वक यज्ञ विज्ञान प्रतिपादक वेदाध्ययन में अधिकार बताया गया है। देवताओं में तो वर्णव्यवस्था है ही नहीं। अतः उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार भी नहीं है, वेदाध्ययन के अभाव में याग ज्ञान असंभव है, अतः विद्या के अभाव से देवताओं का कर्म में अधिकार नहीं है। इस दूसरे हेतु का खण्डन करने के लिए लिखते हैं—**नाप्यर्थित्वा** इति। अर्थित्व आदि कर्माधिकार कारणों के अभाव से देवता कर्म में अनधिकृत हैं—यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है। कारण कि, यद्यपि आदित्य वसु आदि देवताओं को अपना अपना पद (स्व-स्व महिमा) पहले ही प्राप्त है, इसलिये उसकी (स्व स्व महिमा की) प्राप्ति के हेतु उपासना में और स्वर्गादि प्राप्ति के हेतु याग में, फल की चाह न होने से भले ही उनकी प्रवृत्ति न हो, तथापि इनसे[1] अतिरिक्त फलों के हेतुभूत कर्मों में तो उनकी प्रवृत्ति संभव है। तात्पर्य यह है कि प्राप्त वस्तु की इच्छा न हो यह संभव नहीं। आदित्य वसु आदि देवताओं को स्व स्व महिमा पहले ही प्राप्त है, स्वर्ग तो उनका घर ही है—इसलिए देवताओं में एतद् विषयक इच्छा का न होना अस्वाभाविक नहीं है, परन्तु इनसे अतिरिक्त भी तो प्राप्तव्य हो सकता है उसकी प्राप्ति के हेतु कर्मान्तर में देवता की प्रवृत्ति संभव है।

सत्य इति। कदाचित् कहो कि देवता तो सत्य संकल्प हैं, उन्हें संकल्पमात्र से फलसिद्धि हो जाती है, ऐसी स्थिति में उनकी यागादि में प्रवृत्ति क्यों होगी? यह प्रश्न ठीक नहीं, क्योंकि संकल्प भी तो एक मानसिक क्रिया ही है, उसमें जैसे उनकी प्रवृत्ति हो जाती है, उसी तरह, इस बुद्धि से कि 'यागादि में हमें कोई प्रयास नहीं होगा' यागादि में भी उनकी प्रवृत्ति हो सकती है।

श्रूयन्ते इति। इस[2] सम्बन्ध में बहुत से वेदवाक्य भी सुने जाते हैं—अर्थात् ऐसे बहुत से वेदवाक्य हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि देवताओं ने भी यज्ञ किये थे। जैसे **'अग्निष्टोमेन······पर्यगृह्णात्'** इति। प्रजापति ने अग्निष्टोम नामक याग के द्वारा प्रजा की सृष्टि की, और अग्निष्टोम द्वारा ही प्रजा का परिग्रह (रक्षण) किया। **'बृहस्पति······**

---

१. स्व महिम प्राप्ति और स्वर्ग से अतिरिक्त।

२. देवताओं के यागकर्तृत्व के विषय में।

एवं चतुर्विꣳशतिरात्रमपश्यत्। तमाहरत्। तेनायजत। ततो वै तस्मै श्रद्देवा अदधतागच्छत्पुरोधाम्" (तै. सं. ७।४।१) इति।

इदानीं मनुष्य एव सत्रे भाविसंज्ञया प्रजापतिबृहस्पत्यादिशब्दैरुच्यत इत चेत्।

अस्त्वेवं¹ नक्षत्रेष्टौ। तत्र हि यजमानो देवता चेत्युभयमेकेनैव शब्देन व्यवहृतम्—"अग्निर्वा अकामयत। अन्नादो देवानाꣳस्यामिति। स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निरवपत्" (तै. ब्रा. ३।१।४) इति।

पुरोधाम्' इति। बृहस्पति ने इच्छा की कि देवता मुझ पर श्रद्धा करें, और मैं उनका पौरोहित्य प्राप्त करूं। उसने एतदर्थ **'चतुर्विशतिरात्र'** नामक सत्र का संकल्प किया, उसका अनुष्ठान किया, उससे यजन किया, तब देवताओं ने उस पर श्रद्धा की और वह देवताओं का पुरोहित बना।

इदानीम् इति। कदाचित् कहो कि अग्निष्टोमयाग और चतुर्विशति रात्र सत्र का अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति मनुष्य ही थे, ब्राह्मण¹ वाक्य में उनका 'प्रजापति' और 'बृहस्पति' इन भावि संज्ञाओं से निर्देश हुआ है। तात्पर्य यह है कि अग्निष्टोम और चतुर्विशति रात्र के अनुष्ठान के फल के रूप में उन्हें 'प्रजापतित्व'² और 'बृहस्पतित्व' प्राप्त होना था, अतः उन्हें पहले ही से 'प्रजापति' और 'बृहस्पति' कह दिया गया। यह कथन ठीक नहीं।

अस्त्वेवम् इति। नक्षत्रेष्टि³ में ऐसा⁴ हो सकता है क्योंकि वहाँ यजमान और देवता दोनों का समान नाम से ही व्यवहार हुआ है। उदाहरणार्थ इस श्रुति को लीजिये—**'अग्निर्वा······निरवपत्'** इति। अग्नि ने कामना की कि मैं देवताओं में अन्नाद बन जाऊँ, उसने अग्निरूप⁵ कृत्तिकाओं के लिए (उनके उद्देश्य से) अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप किया। यहाँ यजमान और देवता दोनों ही अग्निशब्द से व्यवहृत हुए हैं। यदि दोनों ही शब्द देवता के वाचक मान लिए जायँ तो अग्नि देवता के द्वारा स्वयं अपने लिए अष्टाकपाल हवि का निर्वाप अनुपपन्न होगा। इसलिए यहाँ प्रथम अग्नि शब्द यजमान के लिये आया है, यही मानना उचित है। यह उसकी भावी संज्ञा है। नक्षत्रेष्टि अनुष्ठान के रूप में उसे अग्नित्व (अग्रणीत्व) प्राप्त होने वाला है, अतः उसे पहले ही अग्नि कह दिया गया। सर्वत्र ऐसा नहीं होता।

---

१. ख. अस्त्येवं।

---

१. 'अग्निष्टोमेन प्रजापतिः प्रजा असृजत' 'बृहस्पतिरकामयत' इत्यादि पूर्वोक्त ब्राह्मण वाक्यों में।

२. 'प्रजानां पतिः प्रजापतिः' बृहतां देवानां पतिः बृहस्पतिः। सुडागम और त् का लोप होता है।

३. नक्षत्र रूप देवता के उद्देश्य से जिस इष्टि में हवि दी जाती है, वह नक्षत्रेष्टि है।

४. भावि संज्ञा के द्वारा यजमान का निर्देश।

५. इसी श्रुति के आधार पर मुहूर्त्तचिन्तामणि के 'नासत्यान्तक वह्निः······' इत्यादि पद्य में वह्नि को (अग्नि को) कृत्तिका नक्षत्र का स्वामी कहा गया है। तीन ताराओं का समूह कृत्तिका है, अतः 'उद्भूतावयव भेदविवक्षया कृत्तिकाभ्यः' यह बहुवचन प्रयुक्त हुआ है।

इह तु बाधकाभावान्मुख्या[1] एव प्रजापतिबृहस्पत्यादयः। अन्यथा वशिष्ठविशेषणं विरुध्येत[2]। तच्चैवमाम्नायते—"वशिष्ठो हतपुत्रोऽकामयत बिन्देय प्रजाम्" (तै. सं. ७।४।७) इति। तस्मादर्थिनो देवा यागादिषु प्रवर्तेरन्। सामर्थ्यमपि धनवत्त्वं[3] तेषामस्त्येव। उपनयनपूर्वकाध्ययनाभावेऽपि स्वयं भातत्वाद्वेदानामस्त्येव विद्या।

निषेधं च न पश्यामः, "तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः" (तै०सं० ७।१।१) इति वत् "द्वेवा अनवक्लृप्ताः" इत्यश्रवणात्। प्रत्युत "देवा वै यद्यज्ञेऽकुर्वत तदसुरा अकुर्वत" (तै० सं० १।७।३) इति बहुशः श्रुतम्। आघारब्राह्मणेऽपि श्रूयते—"देवा वै सामिधेनीरनूच्य यज्ञं नान्वपश्यन्त्स प्रजापतिस्तूष्णीमाघारमाघारयत्ततो वै देवा यज्ञमन्वपश्यन्" (तै० सं० २।५।११) इति। "असुरेषु वै यज्ञ आसीत्तं देवास्तूष्णीꣳहोमेनावृञ्जतः" (तै० सं० ६।३।७) इति। सर्वोऽप्ययमर्थवादः इति चेत्, बाढम्। न खलु वयमप्येतमनर्थवादं ब्रूमः।

इह तु इति। यहाँ तो (**अग्निष्टोमेन प्रजापतिरसृजत, बृहस्पतिरकामयत**—इन ब्राह्मण वाक्यों में तो) किसी बाधक[1] (अनुपपत्ति) के न होने से प्रजापति और बृहस्पति आदि मुख्यार्थ ही हैं। अन्यथा '**वशिष्ठो हतपुत्रोऽकामयत विन्देय प्रजाम्**—हत पुत्र (जिसके सब पुत्र मारे गए, उस) वशिष्ठ ने कामना की कि मुझे सन्तान प्राप्त हो' इस श्रुति वाक्य में 'हत पुत्र' यह वसिष्ठ का विशेषण असङ्गत हो जायगा। इसलिए देवता अर्थी[2] (फलाभिलाषी) हो सकते हैं, और अर्थित्व के कारण उनकी यागादि में प्रवृत्ति हो सकती है। धनवत्त्व[3] रूप सामर्थ्य भी उनमें है ही। उपनयन पूर्वक वेदाध्ययन यद्यपि वे नहीं करते, तथापि वेदशास्त्र उन्हें स्वयं प्रतिभात हैं – अतः वे विद्यमान भी हैं। इसलिए कर्माधिकार के अर्थित्व आदि तीनों हेतु देवताओं में विद्यमान हैं, अतः उनकी यागादि में प्रवृत्ति हो सकती है।

अब कर्मानधिकार के शास्त्र निषेध रूप तृतीय हेतु का खण्डन करते हैं—**निषेधम्** इति। ऐसा कोई निषेध वाक्य भी हम नहीं देखते हैं, जिससे देवताओं का कर्माधिकार निषिद्ध हो। '**तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः**—इसलिए शूद्र यज्ञ कर्म में अनधिकृत है' इत्यादि वचन के समान '**देवा अनवक्लृप्ताः**—देवता कर्म में अनधिकृत हैं' ऐसा कोई भी वेदवाक्य नहीं है। इसके विपरीत 'यज्ञ में देवताओं ने जो कुछ किया वही असुरों ने भी किया' यह बात वेद में बहुधा कही गई है। जिससे स्पष्ट सिद्ध होता कि देवताओं का कर्म में अधिकार है। आघार[4] ब्राह्मण की श्रुति है—'**देवा**

---

१. क. बाधामा। २. क. त। वसि। ३. क. वत्त्वे ते।

---

१. नक्षत्रेष्टि में तो बाधक था, इसलिए वहाँ भावि संज्ञाश्रयण से यजमान को अग्नि शब्द से कहा गया। प्रकृत में तो कोई बाधक है नहीं, न कोई प्रमाण ही है जिसके आधार पर यह माना जा सके कि प्रजापति, बृहस्पति आदि शब्द भावि संज्ञाश्रयण के आधार पर अपने मुख्यार्थ को छोड़कर प्रवृत्त हुए हैं।

२. (अ) 'अर्थी' शब्द में 'अर्थाच्चासन्निहिते' इस वचन से अर्थ शब्द से असान्निध्य अर्थ में इनि प्रत्यय हुआ है। अर्थी वही कहलाता है जिसके पास अर्थ न हो—अर्थ का असान्निध्य हो।

३. (आ) अर्थित्व होने से अप्राप्त अर्थ की प्राप्ति के लिए कोई भी व्यक्ति अपने शारीरिक सामर्थ्य और वित्त, पुत्र, पशु आदि के रूप में अपने सांयोगिक सामर्थ्य का भी प्रयोग कर ही लेता है, इसीलिए 'देवता में आर्थित्व के अभाव में सामर्थ्य भी अनुपयुक्त है, यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि देवता में आर्थित्व है, यह बात सिद्ध कर दी गई है।

४. 'आघार ब्राह्मण' से तात्पर्य है उस ब्राह्मण वाक्य का जिसमें आघार नामक आज्याहुति की चर्चा हुई है।

महातात्पर्येण विधिं प्रशंसतोऽवान्तरतात्पर्येण स्वार्थेऽपि प्रामाण्यात् भूतार्थवादत्वे का तव हानिः। यदा प्रजापतिरमन्त्रकं प्रथममाघारं प्राजापत्यमनुतिष्ठति तदा कमन्यं प्रजापतिं मनसा ध्यायेदिति चेत् पूर्वकल्पेऽतीतं ब्रह्माण्डान्तरे वर्तमानं वा ध्यायतु। यथा देवदत्तः स्वयमन्यस्य पिताऽपि सन्विद्या-

---

वै……यज्ञमन्वपश्यन्' इति। असुरों के पास में यज्ञ था। उसको देवतालोग मौनपूर्वक होम के द्वारा ले आये। इस प्रकार यह सब अर्थवाद है ऐसा कहते हैं तो ठीक है। हम सब भी इसे अनर्थवाद नहीं कहते हैं।

बहु प्रयास से विधि की प्रशंसा करते हुए अवान्तर तात्पर्य से अर्थवाद के अपने अर्थ में प्रामाणिकता होने से तुम्हारी क्या हानि है? जब प्रजापति के लिये प्रजापति देवताक अमंत्रक प्रथमाघार दिया जाता है, तब किसी अन्य प्रजापति का ध्यान करना चाहिये ऐसा कहें तो, पूर्वकल्प में बीता हुआ प्रजापति को ध्यान करे।

महा इति। अर्थवाद वाक्यविधि के स्तावक हैं, इसलिए विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता होने के अनन्तर इनका महातात्पर्य विधेय अर्थ में ही होता है— इसमें जरा भी संदेह नहीं, तथापि इन विधि प्रशंसक वाक्यों का अवान्तर तात्पर्य भी है, जिसके कारण इनका स्वार्थ में प्रामाण्य है, और स्वार्थ में प्रामाण्य के कारण ही इनको भूतार्थवाद[1] मानने में तुम्हारी क्या हानि है? देवतानधिकारवादी पुनः शङ्का करता है— **यदा** इति। जब प्रजापति प्रजापतिदेवताक प्रथम आघार का बिना मन्त्र के (चुपचाप) अनुष्ठान करेगा, उस समय वह अपने से अतिरिक्त किस दूसरे प्रजापति का ध्यान करेगा? तात्पर्य यह है कि आघार नामक दो आज्याहुतियाँ होती हैं, पहली प्रजापति के लिए, दूसरी इन्द्र के लिए। प्रथम आहुति यद्यपि तूष्णीम् (चुपचाप) अनुष्ठान करेगा, उस समय वह अपने से अतिरिक्त किस दूसरे प्रजापति का ध्यान करेगा? तात्पर्य यह है कि आघार नामक दो आज्याहुतियाँ होती हैं, पहली प्रजापति के लिए, दूसरी इन्द्र के लिए। प्रथम आहुति यद्यपि

---

१. यद्यपि भाष्यकार की अपनी भूमिका में अर्थवाद के भेदों की चर्चा पर्याप्त रूप में हो चुकी है, तथापि विशद ज्ञान के लिए संक्षेप से पुनः इस विषय की चर्चा करते हैं। अर्थवाद तीन प्रकार का होता है—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। जहाँ अर्थवाद प्रमाणान्तर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है, वहाँ गौणअर्थ लिया जाता है, मुख्यार्थ नहीं, जैसे 'ग्रावाणः प्लवन्ते' में पत्थरों का तैरना बताया गया है, जो कि प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, अतः यहाँ गौणअर्थ लिया जाता है, ऐसे अर्थवाद को 'गुणवाद' कहते हैं। जो अर्थवाद प्रमाणान्तर से अवधारित अर्थ को बताता है वह अनुवाक कहलाता है' जैसे 'द्विः संवत्सरस्य सस्यं पच्यते' यहां यह बताया गया है कि वर्ष में दो फसलें होती हैं। यह प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध बात है, क्योंकि हम साल की दो फसलें प्रत्यक्ष देखते हैं, अतः यह अनुवाद है—सिद्ध का ही पुनः कथन है। जहाँ दोनों बातें नहीं हैं, प्रमाणान्तर का विरोध भी नहीं है, और वह अर्थ प्रमाणान्तर से सिद्ध भी नहीं है, ऐसे अर्थवाद वाक्य को 'भूतार्थवाद' कहते हैं। जैसे 'देवा वै यद् यज्ञेऽकुर्वत तद् असुरा अकुर्वत्। यहाँ देवकर्तृक यज्ञ में प्रमाणान्तर का विरोध भी नहीं है, और यह देवकर्तृक यज्ञ शब्दातिरिक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से सिद्ध भी नहीं है। अतः इसे भूतार्थवाद कहना चाहिये। देवकर्तृक यज्ञ प्रत्यक्षादि प्रमाणातिरिक्त शब्दप्रमाण से ही सिद्ध है, अतः भूतार्थ है, असदर्थ नहीं है, भूतार्थ कहो, या सदर्थ कहो—दोनों का तात्पर्य एक ही है। भूतार्थ कथन करने के कारण उसे भूतार्थवाद कहा जाता है। ऐसे भूतार्थ प्रतिपाद अर्थवाद वाक्यों का स्वार्थ में प्रामाण्य न मानने में कोई अकाटच तर्क नहीं है। विशेष भाष्यकारीय भूमिका में और उसके हिन्दी अनुवाद में देखो।

धनादिभिः स्वपित्रा समानोऽपि सन् स्वपितरं नमस्करोति। यथा वा ब्राह्मणकर्तृके श्राद्धे ब्राह्मणान्तरं भोज्यते तद्वत्।

यदि तत्र स्वसमानस्य पितुर्ब्राह्मणान्तरस्य च पूजया तुष्टः परमेश्वरः फलं दद्यात्तर्हि स किमस्य प्रजापतेः फलदाने विस्मरिष्यति निद्रास्यति वा। "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति" (तै० सं० २।५।४) इत्यत्रापीन्द्रविग्रहेऽवस्थितोऽन्तर्याम्यैव फलस्य दाता। अत एव बादरायणः—"फलमत उपपत्तेः"

तूष्णीम् (चुपचाप) दी जाती है, तथापि मन से प्रजापति का ध्यान करना आवश्यक है। यदि प्रजापति देवता भी कर्म में अधिकृत होगा तो वह किस दूसरे प्रजापति का ध्यान करेगा? उससे अतिरिक्त कोई दूसरा प्रजापति तो है ही नहीं[1]। देवताधिकारवादी उत्तर देता है—**पूर्व** इति। पूर्वकल्प के अतीत प्रजापति का अथवा[2] दूसरे ब्राह्मण में वर्तमान प्रजापति का ध्यान करेगा। जैसे देवदत्त स्वयं अन्य का (यज्ञदत्त आदि का) पिता होते हुए विद्या, धन आदि से अपने पिता (विष्णुदत्त) के सदृश भी अपने पिता को नमस्कार करता है, अथवा जैसे एक ब्राह्मण जब अपने पिता का श्राद्ध करता है तो दूसरे (अपने से अतिरिक्त) ब्राह्मण को भोजन कराता है, उसी प्रकार एक ब्रह्माण्ड का प्रजापति भी जब स्वयं यज्ञ करता है तो दूसरे ब्रह्माण्ड के प्रजापति को उद्देश्य करके हवि दे सकता है और उसका अनुध्यान कर सकता है। पहले दृष्टान्त में बताया गया है कि श्राद्धादि में ब्राह्मण ब्राह्मण को भोजन कराता है। इन्हीं दृष्टान्तों से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रजापत्यादि देवता भी प्रजापत्यादि के उद्देश्य से हविस्त्याग रूप याग आदि कर सकते हैं। प्रथम दृष्टान्त में नमस्कर्ता और नमस्कार्य दोनों ही पिता हैं, परन्तु व्यक्ति का भेद है, द्वितीय दृष्टान्त में भोजयिता और भोजयितव्य दोनों ही ब्राह्मण हैं, परन्तु व्यक्ति भेद है, इसी प्रकार देवताओं में भी जाति निमित्तक संज्ञाओं का अभेद होते हुए भी यष्टा और यजनीय का भेद समझना चाहिये तब कोई अनुपपत्ति नहीं रहती।

यदि इति। यदि वहाँ[3] स्व सदृश पिता की और दूसरे ब्राह्मण की पूजा से प्रसन्न होकर परमेश्वर फल दे सकता है तो क्या वह परमेश्वर इस[4] प्रजापति को फलदान के समय भूल जायगा या उसे नींद आ जायगी। पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि पहले तो आपने कहा कि अपूर्व ही फलदाता है और अब कहते हो कि ईश्वर फल देता है—इन परस्पर विरुद्ध वचनों की क्या सङ्गति? दूसरे ईश्वर को फलदाता मानने से **'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति'** इत्यादि श्रुतियों का भी विरोध होगा, क्योंकि इनमें इन्द्र आदि देवताओं को ही फल प्रदाता कहा गया है। सिद्धान्ती उत्तर देता है—तृप्त इति। **'तृप्त एवैनमिन्द्रः······'** इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य यही है कि इन्द्र आदि देवताओं के विग्रह में अवस्थित अन्तर्यामी परमेश्वर ही फल देता है। इसीलिए[5] व्यास जी ने ब्रह्मसूत्र में **'फलमत······'** इत्यादि सूत्र

१. यह शङ्का केवल प्राजापत्य आहुति के लिए नहीं हैं, किन्तु ऐन्द्र आहुति के लिए भी यह शङ्का हो सकती है, यदि इन्द्र देवता भी यज्ञ में अधिकृत होगा तो वह स्वातिरिक्त किस दूसरे इन्द्र का अनुध्यान करेगा इत्यादि।

२. प्रथम पक्ष में अरुचि है, कारण कि विद्यमान के उद्देश्य से हवि दी जाती है, जो अतीत हो गया है, है ही नहीं उसे हवि देने का क्या लाभ।

३. ऐसे स्थल में जहाँ एक पिता दूसरे पिता को नमस्कार करता है या एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को भोजन कराता है।

४. जो प्रजापति दूसरे प्रजापति का यजन करता है।

५. ईश्वर ही वस्तुतः फल प्रदाता है—इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए।

(ब्र० सू० ३।२।३८) इति सूत्रयामास। ईश्वरस्य फलदातृत्वेऽपि नापूर्ववैयर्थ्यं फलविशेषे तत्तारतम्ये चापूर्वस्यैव नियामकत्वात्। जैमिनिश्चापूर्वाङ्गीकारेण परितुष्टो न देवतां द्वेष्टि। तावतैव स्वापेक्षितोहाध्याय-

लिखा है, जिसका तात्पर्य है— कर्मों का फल परमेश्वर से ही प्राप्त होता है, क्योंकि परमेश्वर के पक्ष में ही उपपत्ति ठीक बैठती है। विनश्वर कर्म में फल प्रदत्व नहीं बन सकता। अपूर्व में भी अचेतन होने से फल प्रदत्व संभव नहीं है, अतः सर्वज्ञ परमेश्वर ही फल प्रदाता है। ईश्वर[1] को फल प्रदाता मान लेने पर भी अपूर्व व्यर्थ नहीं है, क्योंकि फल विशेष के प्रति और फल में तारतम्य के प्रति अपूर्व ही नियामक है। पूर्वपक्षी[2] शङ्का करता है कि जैमिनि के मत से फिर भी विरोध रहेगा ही, क्योंकि जैमिनि अपूर्व को ही फल प्रदाता मानता है, परमेश्वर की चर्चा उसने नहीं की। इसका उत्तर देते हैं— **जैमिनिश्च** इति। यद्यपि जैमिनि स्वर्गादि रूप फल के प्रति अपूर्व को कारण मानकर संतुष्ट हो गया (फलप्रदातृत्व के संबन्ध में और अधिक छानबीन उसने नहीं की) तथापि उसने देवता के प्रति (परमेश्वर के प्रति) द्वेष प्रकट नहीं किया—अर्थात् ईश्वर का खण्डन नहीं किया। क्योंकि उतने ही से—अपूर्व को फल प्रयोजक मानने ही से—उनके (जैमिनि के) अपेक्षित ऊहाध्याय के आरम्भ की सङ्गति बैठ जाती है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि यदि अपूर्व को फल प्रयोजक न माना जावे तो मीमांसा दर्शन का अतिदेश प्रकरण[3] अनावश्यक सा हो जायगा, और अतिदेश के अनावश्यक ठहरने से ऊह प्रकरण[4] भी अनावश्यक हो जायगा, क्योंकि ऊह अतिदिष्ट पदार्थ में ही हुआ करता है। ऊह प्रकरण की संगति बिठाने के लिए ही जैमिनि ने 'फल प्रयोजक मानकर उनके ऊह प्रकरण की संगति बैठाई', अतः वे अपूर्व पर ही रुक गए, उन्होंने इस पर और अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी। अपूर्व को फल प्रयोजक मानकर अतिदेश प्रकरण और उसके (अतिदेश के) आधार पर प्रवृत्त होने वाला ऊहाध्याय किस प्रकार आवश्यक हो जाते हैं—इस बात को संक्षेप में यों समझना चाहिये—वेद में कर्मों का वर्गीकरण कई प्रकार से हुआ है। प्रकृति विकृति भेद से भी एक वर्गीकरण है—अर्थात् वेद में कुछ कर्म 'प्रकृति' और कुछ विकृति कहलाते हैं। जैसे—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम ये सब प्रकृति हैं। **'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस-कामः'** इत्यादि वाक्यों से विहित सौर्येष्टि आदि विकृति हैं। प्रकृति में समस्त धर्म (इति कर्त्तव्यता स्वरूप समस्त अङ्ग-कर्म) साक्षात् शब्दतः बता दिये जाते हैं, परन्तु विकृति में वे (धर्म) साक्षात् नहीं बताए जाते। उनके विषय में केवल इतना कह दिया जाता है कि

१. यदि ईश्वर ही फल देने वाला है तो सबको एक जैसा ही फल क्यों नहीं देता, किसी को दुःख देता है तो किसी को सुख देता है, ऐसा वैषम्य क्यों? इसका उत्तर यही है कि परमेश्वर भी शुभाशुभ अपूर्व को ध्यान में रखकर ही फल देता है, अतः सुख दुःख आदि फल विशेष के प्रति अपूर्व ही नियामक है। इसी प्रकार एक शङ्का यह भी होती है कि दर्शपौर्णमास आदि अनेक कर्मों का स्वर्गरूप फल ही वेद में बताया गया है, इन कर्मों में बहुत से आपेक्षिक रूप से अल्पायास साध्य हैं, बहुतों में अत्यधिक आयास होता है। जब सब कर्मों का स्वर्ग प्राप्ति रूप एक ही फल है, तो अनेक कर्मों का विधान व्यर्थ है, स्वल्पायास साध्य एक ही कर्म का विधान उचित है। इसका उत्तर भी यही है कि अपूर्व में तारतम्य होने से स्वर्गरूप फल में भी तारतम्य होता है। कोई स्वर्ग अधिक काल तक रहता है, तो कोई स्वल्पकालिक होता है। अतः एक जाति के फल में भी तारतम्य का नियामक अपूर्व ही है।

२. यद्यपि यह शङ्का मूल में नहीं लिखी गई है तथापि उत्तर के आधार पर इसकी कल्पना कर ली गई है।

३. मीमांसा दर्शन का सातवाँ और आठवाँ अध्याय।

४. मीमांसा दर्शन का नवम अध्याय।

स्याऽऽरम्भसिद्धेः ।

न च प्रजापति कर्तृके याग ऋत्विजामभावः । देवान्तराणामृत्विक्त्वात् । नन्वार्त्विज्यं विप्र-

'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या—प्रकृति के समान विकृति को करो' वति प्रत्यय घटित होने के कारण यह वाक्य 'अतिदेश-वाक्य' कहलाता है ।

यहाँ यह शङ्का होती है कि **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या'** इस अतिदेश वाक्य की कोई आवश्यकता नहीं, इसकी आवश्यकता इसलिए मानी गई है कि प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास याग के अङ्गभूत प्रयाजादि का संबन्ध विकृतियों के साथ भी हो । परन्तु वह उक्त अतिदेश के बिना भी प्राप्त है, कारण कि प्रयाजादि धर्म याग प्रयुक्त हैं, याग के अङ्ग हैं, याग स्वरूप निष्पत्ति से अतिरिक्त उनका और कोई प्रयोजन नहीं हैं, अतः वे सकल याग साधारण हैं, प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास याग के साथ ही उनका संबन्ध है—ऐसी बात नहीं है, याग मात्र के साथ उनका संबन्ध है । विकृति भी एक याग ही है, अतः विकृति में भी वे स्वतः प्राप्त हैं—उपदेश मात्र से प्राप्त हैं, फलतः अतिदेश की कोई आवश्यकता नहीं रहती । इसका उत्तर यह है कि प्रयाजादि धर्म याग-प्रयुक्त नहीं है, याग प्रयुक्त तो वे तब होते जब याग मुख्य होता, मुख्य वही होता है जो साक्षात् फल साधक होता है, याग साक्षात् फल साधक नहीं है, क्योंकि याग समाप्ति के अनन्तर स्वर्गादि रूप फल की प्राप्ति नहीं होती । तो फिर प्रयाजादि का प्रयोजक कौन ? अपूर्व ही उनका प्रयोजक है । क्योंकि वही साक्षात् स्वर्गादि फल साधक है, वही मुख्य है, उसकी (अपूर्व की) निष्पत्ति के लिए ही प्रयाजादि का अनुष्ठान होता है । अतः **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** यहाँ कारणभूत याग और इति कर्तव्यता स्वरूप उसके प्रयाजादि धर्म दोनों ही का पहले अपूर्व के साथ ही अन्वय होता है । अङ्गाङ्गिभाव से उनका[1] अन्वय तो पाष्ठिक है । फलतः अपूर्व विशेष और उसका साधनभूत याग विशेष इन दोनों से संबद्ध प्रयाजादि धर्म जिस प्रकरण[2] में उपदिष्ट हुए हैं, वहीं वे व्यवस्थित हैं—नियन्त्रित हैं । अर्थात् प्रकरण के आधार पर प्रयाजादि धर्मों का संबन्ध प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास याग के ही साथ है, यागान्तर से उनका संबन्ध सर्वथा अप्राप्त है, यागान्तर से भी उनका संबन्ध कराने के लिए अतिदेश अनिवार्य रूप से आवश्यक है । ऊह अतिदिष्ट पदार्थ में ही होता है, अतः सिद्ध हुआ कि मीमांसा का अतिदेश प्रकरण और ऊह प्रकरण दोनों ही के लिये अपूर्व को ही स्वर्गादि फल के प्रति प्रयोजक मानना आवश्यक है । यदि देवता भी कर्म में अधिकृत माने जायँगे तो उनके कर्म में आर्त्विज्य (ऋत्विज् का काम) कौन करेगा, क्योंकि ऋत्विक् कर्म तो ब्राह्मण वर्ण का मनुष्य ही कर सकता है, देवताओं में तो वर्ण व्यवस्था है ही नहीं इत्यादि कतिपय प्रश्नों का उत्तर देने के लिए लिखते हैं—

नच इति । प्रजापति कर्तृक यज्ञ में ऋत्विजों का अभाव रहेगा—यह नहीं कह सकते, दूसरे[3] देवता ऋत्विक् का काम कर सकते हैं । यद्यपि आर्त्विज्य ब्राह्मण के लिए ही बताया गया है, इसीलिए बारहवें[4] अध्याय के अन्त में विचार किया गया है कि क्या[5] आर्त्विज्य (ऋत्विक् का काम) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के लिए है अथवा केवल

१. दर्शपूर्णमास्य याग और प्रयाजादि का ।

२. दर्शपूर्णमास प्रकरण में उपदिष्ट हैं, अतः दर्शपूर्णमास में ही वे व्यवस्थित हैं ।

३. प्रजापति से अतिरिक्त ।

४. जैमिनीय न्यायमाला के ।

५. यहाँ से 'आर्त्विज्यम्···तत्स्मृतेः' इस मूलोक्त कारिका की व्याख्या प्रारम्भ होती है ।

स्यैव। तथा च द्वादशाध्यायस्यावसाने चिन्तितम्—

"आर्त्विज्यं किं त्रिवर्णस्थं विप्रगाम्येव वाऽग्रिमः।
विद्यावत्त्वान्न तद्युक्तं ब्राह्मणस्यैव तत्स्मृतेः॥"

(जै० न्या० १२।४।१७) इति।

"प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा" (या० स्मृ० १.११८) इति स्मृतिः। नायं दोषः। तत्र क्षत्रियवैश्ययोरार्त्विज्यं नास्तीत्येतावदेव विवक्षितं न तु देवानां तन्निवार्यते, मन्त्रब्राह्मणयोस्तदवगमनात्। "पृथिवी होता। द्यौरध्वर्युः। रुद्रोऽग्नीत्। बृहस्पतिरुपवक्ता" (तै० आ० ३।३) "अग्निर्होता। अश्विनावध्वर्यू। त्वष्टाऽग्नीत्। मित्र उपवक्ता" (तै० आ० ३।३) इति मन्त्राः। अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू

ब्राह्मण ही उसमें अधिकृत हैं? पूर्वपक्ष है कि तीनों ही वर्ण ऋत्विक् का काम कर सकते हैं, क्योंकि वे तीनों ही विद्यावान् हैं, अर्थात् वेद विद्या को जानने वाला व्यक्ति ही वेदोक्त कर्मों के अनुष्ठान का अधिकारी है, वेदाध्ययन उपनयन संस्कार का अधिकार है, अतः तीनों ही कर्म ऋत्विक् वर्ण कर सकता है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। क्योंकि '**प्रतिग्रहो**···तथा ब्राह्मण के लिए प्रतिग्रह (दान लेना) यज्ञ कराना (आर्त्विज्य करना) और पढ़ाना ये तीन कर्म अधिक हैं' यह स्मृति[1] वाक्य बताता है कि आर्त्विज्य ब्राह्मण का ही काम है। तथापि यह[2] कोई दोष नहीं है, कारण कि उक्त स्मृति वाक्य में 'क्षत्रिय और वैश्य आर्त्विज्य नहीं कर सकते' इतना ही विवक्षित है, देवताओं के लिए ऋत्विक् कर्म का निषेध वहां नहीं किया गया है। कदाचित् कहो कि देवताओं का आर्त्विज्य कहीं (श्रुति स्मृति आदि में) बताया भी तो नहीं गया है इसका उत्तर है—**मन्त्र** इति। मन्त्र और ब्राह्मण से देवताओं के आर्त्विज्य की प्रतीति होती है—'**पृथिवी होता** पृथिवी[3] (अग्नि) होता है' **द्यौरध्वर्युः** द्यौ[4] (इन्द्र) अध्वर्यु है, **रुद्रोऽग्नीन्** रुद्र अग्नीध्र है' '**बृहस्पत्तिरुपवक्ता** बृहस्पति उपवक्ता है' '**अग्निर्होता**—अग्नि होता है' '**अश्विनावध्वर्यू**—अश्विनी कुमार अध्वर्यु हैं' '**त्वष्टाग्नीत्**—त्वष्टा अग्नीध्र है' '**मित्र उपवक्ता**—मित्र उपवक्ता हैं' ये मन्त्र हैं—जिससे देवताओं के ऋत्विक् कर्माधिकार की प्रतीति होती है। '**अश्विनौ**···**आस्ताम्**—अश्विनौ देवताओं के अध्वर्यु थे' यह ब्राह्मण वाक्य है जिससे देवता के ऋत्विक् कर्माधिकार का बोध होता है। **त्रैवर्णिकानाम्** इति। कदाचित् कहो कि त्रैवर्णिकों (ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों) के लिए ही क्रमशः वसन्त आदि कालों में अग्न्याधान[5] कर्म का विधान है। देवताओं

---

१. पूर्ण स्मृति वाक्य इस प्रकार है—

इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च।
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा॥

यज्ञ करना, वेद पढ़ना और दान देना ये क्षत्रिय और वैश्य के कर्म हैं, परन्तु ब्राह्मण के इन तीनों के अतिरिक्त प्रतिग्रह (दान लेना) आदि तीन कर्म और भी हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय, ११८ श्लोक।

२. स्मृति वाक्य में ब्राह्मण को ही ऋत्विक् कर्म का अधिकार बताया गया है—इतने मात्र से देवता अनधिकृत नहीं हो सकते।

३-४. यथा अग्निगर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी—जैसे पृथिवी के गर्भ में अग्नि है, इसी प्रकार द्युलोक के गर्भ में 'इन्द्र' है—इस श्रुति के आधार पर पृथ्वी का अग्नि अर्थ किया गया और 'द्यौः' का इन्द्र।

५. वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीन् आदधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः। इस श्रुति के आधार पर।

आस्ताम्" इति ब्राह्मणम् । त्रैवर्णिकानामेव वसन्तादिकालेष्वाधानविधानाद्देवानां वर्णाश्रमाभावान्ना[1]-स्त्याधानमिति चेन्न । तद्विधानस्य मानुष्यविषयत्वात् । वर्णाश्रमप्रयुक्ता विधयो मनुष्याणामेव सन्ति । देवास्तु न वर्णाश्रमधर्ममनुतिष्ठन्ति । किन्तु काम्यकर्मण्याधानमपि देवानामाम्नातम्—"प्रजापती रोहिण्यामग्निमसृजत । तं देवा रोहिण्यामादधत । तं पूषाऽऽधत्त । तं त्वष्टाऽऽधत्त । तं मनुराधत्त । तं धाताऽऽधत्त" (तै० ब्रा० १।१।२) इति । तदेवं देवानां यागाधिकारे विघ्नाभावात् । "अग्निर्वै देवानां यष्टा" (तै० ब्रा० ३।३।७) इत्येतदिह सुस्थितम् । सर्वत्र च मन्त्रब्राह्मणेतिहासपुराणादिवादाः सुतरामुज्जीविताः ।

प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादे चिन्तितम्—

"अग्निहोत्रं जुहोत्याघारमाघारयतीत्यमू ।
विधेयौ गुणसंस्कारावाहोस्वित्कर्मनामनी ।।
अग्नये होत्रमत्रेति बहुव्रीहिगतोऽनलः ।
गुणो विधेयो नामत्वे रूपं न स्यात्क्षरद्घृते ।।

में क्योंकि वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं है, अतः उनके लिए अग्न्याधान कर्म प्राप्त ही नहीं है, तात्पर्य यह है कि यागादि कर्म अग्नि साध्य हैं, अतः अग्नि को उत्पन्न करने के लिए अग्न्याधान कर्म किया जाता है उस अग्न्याधान कर्म में देवताओं का अधिकार ही नहीं है, अतः अग्नि के अभाव में अग्नि साध्य यागादि कर्मों में देवताओं का अधिकार किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है । इसका उत्तर देते हैं—**इति चेन्न** इति । यह कथन ठीक नहीं । अग्न्याधान विधि का विषय केवल मनुष्य हैं, देवता नहीं । अर्थात् ब्राह्मण वसन्त ऋतु में अग्नि का आधान करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में करे और वैश्य शरद् ऋतु में करे इत्यादि काल विशेष में आधान का नियम करे । केवल मनुष्यों के उद्देश्य से किया गया है, देवताओं के उद्देश्य से नहीं, देवता तो किसी भी काल में अग्न्याधान कर सकते हैं । वर्णाश्रम प्रयुक्त[1] विधियाँ मनुष्यों ही के लिए हैं । देवता लोग वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठान नहीं करते हैं । किन्तु काम्य कर्म में देवताओं के लिए भी आधान बताया गया है—'**प्रजापती धत्त**' इति । प्रजापति ने रोहिणी नक्षत्र में अग्नि को उत्पन्न किया—अग्न्याधान कर्म किया । देवताओं ने रोहिणी नक्षत्र में अग्नि का आधान किया । पूषा ने अग्नि का आधान किया, त्वष्टा ने किया, मनु ने किया, और धाता ने किया । अब इस देवताधिकार प्रकरण का उपसंहार करते हैं—**तदेवम्** इति । इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर देवताओं के यागाधिकार में कोई बाधा नहीं है, फलतः '**अग्निर्वैदेवानां यष्टा**' यह सिद्धान्त यहाँ सुस्थिर समझिये । और स्थलों पर भी देवताओं को याग कर्ता घोषित करने वाली मन्त्र, ब्राह्मण, इतिहास, पुराण आदि की उक्तियों को भी अच्छी तरह समर्थित समझिये ।

प्रथमा इति । मीमांसा दर्शन के प्रथमाध्याय के चौथे पाद में 'अग्निहोत्र' और 'आघार' इन दो शब्दों के विषय में विचार किया गया है—**अग्निहोत्रम्** इति । '**अग्निहोत्रम् क्रियात्वतः**' से पाँचों कारिकाएँ 'जैमिनीयन्यायमाला विस्तर' की हैं, इनका व्याख्यान भाष्यकार ने स्वयं किया है, अतः हम उसी व्याख्यान का अनुवाद करते हैं । व्याख्यान के अनुवाद के अन्त में कारिकाओं का भी अनुवाद कर देंगे ।

---

१. क. ग. नास्त्यपूर्वमाधा ।

---

१. जहाँ वर्ण और आश्रम अधिकारी के विशेषण हैं, वे विधियाँ ।

संस्क्रियाऽऽघारमाघारयतीत्युक्ता द्वितीयया।
आघारेत्यग्निहोत्रेति यौगिके कर्मनामनी ॥
अग्निर्ज्योतिरिति प्रोक्तो मन्त्राद्देवस्तथा घृतम्।
चतुर्गृहीतवाक्योक्तं द्वितीयायास्त्वियं गतिः ॥
नासाधिते हि धात्वर्थे करणत्वं ततोऽस्य सा।
साध्यतां वक्ति संस्कारो नैवाऽऽशङ्क्यः क्रियात्वतः ॥"

(जै० न्या० १।४।८-१२) इति।

"अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामत्वे द्रव्यदेवतयोरभावाद्यागस्य स्वरूपमेव न सिध्येत्। ततोऽग्निदेवतारूपो गुणोऽनेन दर्विहोमे विधीयते। आघारशब्दश्च "घृ क्षरणदीप्त्योः" इत्यस्माद्धातोरुत्पन्नः क्षरद्घृतमाचष्टे। तस्मिंश्च घृते द्वितीयाविभक्त्या संस्कार्यत्वं प्रतीयते। तच्च संस्कृतं

'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य में यदि 'अग्निहोत्र' शब्द को कर्म का नाम समझा जावे तो द्रव्य और देवता के अभाव से याग का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि 'देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ही याग है' इस नियम के आधार पर कह सकते हैं कि द्रव्य, देवता और त्याग ही याग का स्वरूप बनाते हैं। यहाँ 'जुहोति' से त्याग तो बताया है, परन्तु द्रव्य और देवता की यहाँ चर्चा नहीं है, अतः यहाँ याग स्वरूप अनिष्पन्न है, स्वरूप के बिना नाम करण निरर्थक है। इसलिए अग्निहोत्र शब्द से दर्विहोम में अग्नि देवता रूप गुण का विधान किया जाता है—अर्थात् **'अग्निहोत्रं जुहोति'** यह गुण विधि[1] है। इसी प्रकार **'आघारमाघारयति'** इस विधि वाक्य में जो 'आघार' शब्द है वह **घृक्षरण-दीप्त्योः'** इस धातु से बना है, और टपकते हुए घृत का[2] बोधक है, आघार शब्द के आगे जो द्वितीया विभक्ति है, उससे उस घृत में संस्कार्यता[3] बोधित होती है, और वह संस्कृत घृत उपांशु[4] याग में द्रव्य (हवि) होता है। अर्थात् उस संस्कृत घृत का उपांशु याग में उपयोग होता है। इसलिए 'अग्निहोत्र' और 'आघार' ये दोनों शब्द क्रमशः गुण और संस्कार के विधायक हैं—यह पूर्वपक्ष है। इसके उत्तर में हमारा निवेदन यह है कि "**अग्निर्**···**स्वाहा** इति सायं जुहोति **सूर्यो**···**स्वाहा** इति प्रातः—**'अग्निर्ज्योतिः···'** इस मन्त्र से सायं काल और **'सूर्योज्योतिर्ज्योतिः···'** इस मन्त्र से प्रातः काल हवन करे" इस हवन विधि के द्वारा अग्नि देवता तो प्राप्त है, अतः[5] वह विधेय नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ अग्निहोत्र शब्द प्रातः सायं नियम से किये

---

१. 'अग्नये होत्रं यत्र' इस बहुव्रीहि समासीय विग्रह के अनुसार, 'जुहोति' पद से होम का अनुवाद करके अग्नि देवता रूप गुण का विधान है।

२. 'आ समन्ताद् जिघर्ति-क्षरतीत्याघारः' इस विग्रह के अनुसार।

३. जैसे **'व्रीहीन् प्रोक्षति'** इस वैदिक वाक्य में और 'वस्त्रं क्षालयति' इस लौकिक वाक्य में द्वितीया विभक्ति के द्वारा व्रीहि और वस्त्र में क्रमशः प्रोक्षणजन्य और क्षालनजन्य संस्कार प्रतीत होता है। उसी प्रकार यहाँ भी घृत में आघारण-जन्य संस्कार प्रतीत होता है।

४. संस्कार की सार्थकता तभी होती है जब संस्कृत वस्तु का कहीं अन्यत्र उपयोग हो, इसी बात को बताने के लिए लिखा गया कि उस संस्कृत घृत का उपांशु याग में उपयोग होता है। पूर्णमास में प्रजापति देवता के लिए उपांशु (चुपचाप) आज्याहुति दी जाती है, वही उपांशु याग है।

५. विधेय वही होता है जो अप्राप्त हो। प्राप्त का विधान नहीं होता, 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'।

घृतमुपांशुयागे द्रव्यं भवति । तस्मादग्निहोत्राघारशब्दौ गुणसंस्कारयोर्विधायकाविति प्राप्ते ब्रूमः—"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति। सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातः" (तै० ब्रा० २।१।९) इति विहितेन मन्त्रेण प्राप्तत्वाद्देवता न विधेया । ततोऽग्निसूर्यदेवताकस्य सायं प्रातः काल[1]-योर्नियमेनानुष्ठेयस्य कर्मणोऽग्निहोत्रमिति यौगिकं नामधेयम् । योगश्च बहुव्रीहिणा दर्शितः । "चतुर्गृहीतं वा एतदभूत्तस्याऽऽघारमाघाय" इत्याज्यद्रव्यस्य प्राप्ततया क्षरद्घृतसंस्कारस्याविधेयत्वादाघारशब्दोऽपि यौगिकं कर्मनामधेयम् । यस्मिन् कर्मणि नैर्ऋतीं दिशमारभ्यैशानीं दिशमवधिं कृत्वा संतत्या घृतं क्षार्यते तस्य कर्मण एतन्नाम ।

ननु नामत्वे सति "उद्भिदा यजेत" (द्र० तां० ब्रा० १९।७।३) "ज्योतिष्टोमेन यजेत" (द्र० श० ब्रा० १०।१।२६) इत्यादाविव धात्वर्थेन करणेन सामानाधिकरण्यायाग्निहोत्रेण जुहोत्याघारेणाऽऽघार-

---

जाने वाले-होमरूप-कर्म का यौगिक[1] नाम है । और योग (अवयवार्थ) बहुव्रीहि समासीय विग्रह के द्वारा-ऊपर द्वितीय[2] कारिका में—दिखा दिया गया है । 'आधार' शब्द भी यौगिक[3] है और कर्म का नाम है । क्षरद् घृत का (टपकते हुए आज्य का) संस्कार यहाँ विधेय नहीं है, क्योंकि "**चतुर्गृहीतम् आघार्य**— यह आज्य चार बार—ध्रुवा से जुहू में—लिया गया था, इसका आघारण अग्नि में धारा रूप से प्रक्षेप करके" इस वचन से वह आज्य रूप हवि पहले से ही—प्राप्त है । जिस **कर्म में नैर्ऋति दिशा से आरम्भ कर ईशान कोण तक** निरन्तर धारा रूप से आज्य का प्रक्षेप किया जाता है, उस **कर्म का नाम आघार है ।**

ननु इति । पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि 'अग्निहोत्र' और 'आघार' शब्दों को यदि कर्म-नाम मानोगे तो 'उद्भिदा[4] यजेत **ज्योतिष्टोमेन[5] यजेत**' इत्यादि में जैसे धात्वर्थयाग के साथ सामानाधिकरण्य (**अभेद**) के लिए तृतीया विभक्ति होती है, इसी प्रकार प्रकृत में '**अग्निहोत्रेण जुहोति**' '**आघारेणाघारयति**' इस प्रकार तृतीया विभक्ति होनी चाहिये । संक्षेप में पूर्वपक्षी का तात्पर्य यह है कि **उद्भिदा यजेत पशुकामः**' में यज्यर्थ याग का पशुकर्मक भावना में करणत्वेन अन्वय होता है, '**पशुकामः पुरुषो यागेन पशून् भावयेत्** पशु चाहने वाला व्यक्ति याग द्वारा पशुओं को उत्पन्न करे' । पुनः जिज्ञासा होती है कि '**केन यागेन पशून् भावयेत्**—किस याग से पशुओं को उत्पन्न करे' । जिसका उत्तर होता है कि '**उद्भिदा यागेन पशून् भावयेत्** उद्भिद् याग से पशु उत्पन्न करे । इससे सिद्ध है कि उद्भिद् पदार्थ का **यजि पदार्थ याग के साथ अभेदान्वय होता है । यजि पदार्थ याग करण है,** इसलिए उस यजि पदार्थ याग से अभिन्न उद्भिद् पदार्थ भी

---

१. क. ग. लयो. क्रमेणानु ।

---

१. 'योग' शब्द का अर्थ है—'अवयवार्थ' । अवयवार्थ जिन शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त है, वे यौगिक कहलाते हैं ।
२. 'अग्नये, होत्रं हविः, अत्र' यह कारिकोक्त विग्रह है, ऐसा अन्य पदार्थ प्रधान विग्रह बहुव्रीहि में ही होता है ।
३. 'आघार्यते आज्यमस्मिन्' इस विग्रह के अनुसार णिजन्त से घञ् प्रत्यय हुआ है । अथवा 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' से 'घ' प्रत्यय हुआ है ।
४. उद्भिदा यजेत पशुकामः—पशु चाहने वाला पुरुष उद्भिद् नामक याग से यजन करे ।
५. ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः—स्वर्ग चाहने वाला पुरुष ज्योतिष्टोम नामक याग से यजन करे ।

यतीति तृतीयया भवितव्यम् ।

नैष दोषः । अनुष्ठानादूर्ध्वं धात्वर्थस्य सिद्धत्वाकारेण करणत्वेऽपि ततः पूर्वं साध्यत्वाकारं वक्तुमग्निहोत्रमाघारमिति द्वितीयाया युक्तत्वात् । न चात्र द्वितीयानुसारेण व्रीहीन् प्रोक्षतीत्यादाविव

करण है, करण में तृतीया विभक्ति होती है, अत: 'उदभिद्' शब्द के आगे 'उद्भिदा'[1] इस प्रकार तृतीया विभक्ति आई है।

नैष इति । यह कोई दोष नहीं है, अनुष्ठान के अनन्तर धात्वर्थ याग में सिद्धता के कारण करणत्व होने पर भी अनुष्ठान से पहले वह (धात्वर्थ) साध्य ही है, उसकी इस साध्यता को बताने के लिए 'अग्निहोत्रम्' 'आघारम्'[2] यह द्वितीया युक्त ही है। **संक्षेप** में तात्पर्य यह है कि करणत्वादि धर्म सिद्ध पदार्थ में ही हो सकते हैं। 'चाकू से काटता है, लाठी से मारता है' इत्यादि में चाकू और लाठी आदि पदार्थ पहले से ही सिद्ध हैं, अतः उनका काटने और मारने में करण रूप से उपयोग हो सकता है। ऐसी बात यहाँ नहीं है। याग जरूर करण है, परन्तु प्रकृत में वह सिद्ध नहीं है जिससे कि उसका चाकू आदि की तरह करण रूप से पशु भावना में उपयोग हो सकता। अभी तो उसे सिद्ध करना है, फिलहाल वह साध्य ही है, उसकी साध्यता को बताने के लिए ही अग्निहोत्र और आघार शब्दों से द्वितीया की गई है। कदाचित् कहो कि द्वितीया से तो जैसे **'व्रीहीन् प्रोक्षति'** में व्रीहिगत संस्कार प्रतीत होता है उसी प्रकार यहाँ अग्निहोत्र और आघार में भी संस्कार प्रतीत होगा। तात्पर्य यह है कि द्वितीया विभक्ति कर्म में होती है, ईप्सिततम[3] ही कर्म कहलाता है, वस्तु का क्रियाजन्य फलाश्रय बनना ही उसकी ईप्सिततमता है। अतः जैसे प्रोक्षण क्रियाजन्य संस्कार रूप फल का आश्रय होने के कारण व्रीहि कर्म कहलाते हैं, इसी प्रकार होम और आघारण से जन्य संस्कार का आश्रय होने के कारण अग्निहोत्र और आघार भी कर्म कहलाएँगे। फलतः प्रोक्षण की तरह हवन और आघारण को भी संस्कार कर्म मानना पड़ेगा। अर्थात् संस्कार को यहाँ विधेय कहना ही पड़ेगा। यह कथन ठीक नहीं। कारण कि व्रीहि शब्द का अर्थ धान्य रूप वस्तु विशेष जैसे लोक प्रसिद्ध है, ऐसा अग्निहोत्र शब्द का और आघार शब्द का अर्थ कोई द्रव्य विशेष लोक प्रसिद्ध नहीं है, यहाँ तो अग्निहोत्र और आघार शब्द क्रिया वाचक ही माने गए हैं। तात्पर्य यह है कि संस्कार किसी सिद्ध वस्तु का ही किया जा सकता है, जैसे **वस्त्रं क्षालय** वस्त्र को धो डालो' इस लौकिक व्यवहार में वस्त्र एक लोक प्रसिद्ध द्रव्य (पदार्थ) है, क्षालन क्रिया द्वारा उसका संस्कार यहाँ विवक्षित हो सकता है, इसके विपरीत अग्निहोत्र और आघार शब्दों से कोई भी ऐसा प्रसिद्ध पदार्थ (द्रव्य) उपस्थित नहीं होता जिसमें संस्कार की विवक्षा हो सकती, इनका अर्थ तो वैदिक प्रसिद्धि के अनुसार ही कल्पना करना होगा। वैदिक प्रसिद्धि के अनुसार तो ये दोनों शब्द क्रियावाची ही माने गए हैं, क्रिया साध्य होने के कारण संस्कार्य नहीं हो सकती। अतः यहाँ द्वितीया से भी संस्कार की शङ्का नहीं की जा सकती। इसलिए अग्निहोत्र और आघार शब्द, दर्विहोम[4] और उपांशु याग में क्रमशः गुण और संस्कार के विधायक नहीं हैं, किन्तु कर्मान्तिर के नाम हैं। **अग्निहोत्रम्**···' इत्यादि पांच कारिकाओं का सरल शब्दार्थ इस प्रकार है—**'अग्निहोत्रं जुहोति' 'आघारमाघारयति'** इन दोनों वाक्यों में 'अग्निहोत्र' और 'आघार' शब्दों से क्या क्रमशः गुण और संस्कार विधेय हैं? अथवा ये दोनों पृथक्-पृथक् कर्मों के नाम हैं? पूर्वपक्ष यह है कि **'अग्नये होत्रम् अत्र'** इस बहुव्रीहि समासीय विग्रह में जो अग्नि देवतारूपवर्ति पदार्थ है उसी का 'अग्निहोत्रं जुहोति'

१. यदि करण में तृतीया होती है तो याग बोधक 'यज्' धातु से भी तृतीया होनी चाहिये? यह शङ्का निपट अवैयाकरण की ही हो सकती है, क्योंकि उसे विदित नहीं है कि धातुओं से स्वर विभक्तियां नहीं होती हैं।
२. 'अग्निहोत्र' और 'आघार' शब्दों का तृतीयान्त न होना कोई दोष नहीं है।
३. 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार।
४. 'दर्विहोम' लौकिक वैदिक होम सामान्य कालीन है। देखो मीमांसानुक्रमणिका अध्याय ८, पाद ४, अधिक० १.२.३।

संस्कारः शङ्कनीयः। व्रीहिशब्दवदग्निहोत्राघारशब्दयोः प्रसिद्धद्रव्यवाचकत्वाभावेन क्रियावाचित्वाभ्युपगमात्। तस्मादग्निहोत्राघारशब्दौ दर्विहोमोपांशुयागयोर्गुणसंस्कारविधायिनौ न भवतः किन्तु कर्मान्तरयोर्नामनी[१]।

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादे चिन्तितम्—

"अग्निहोत्राघारवाक्यमनुवादोऽथवा विधिः।
अरूपत्वात्तु दध्यादिवाक्येनोक्तमनूद्यते ॥
गुण्यसिद्धौन दध्यादिर्गुणोदुष्टा विशिष्टता।
रूपंदध्यादिमन्त्राभ्यामतोऽसौ गुणिनोविधिः ॥" (जै० न्या० २.२.१३-१४) इति ॥

के 'अग्निहोत्र' पद से गुण रूप से विधान होता है। क्योंकि अग्निहोत्र शब्द को नाम मानने में यज्ञ का स्वरूप[१] नहीं बनता। इसी प्रकार 'आघारमाघारयति' में 'आघारम्' इस द्वितीया[२] विभक्ति से आघार पदवाच्य क्षरद् घृत में (टपकते हुए आज्य में) संस्कार विधेय है। सिद्धान्त यह है कि यहाँ अग्निहोत्र शब्द और आघार शब्द यौगिक हैं और पृथक् पृथक्—कर्मों के नाम हैं। 'अग्निर्ज्योति···' इत्यादि मन्त्र से अग्नि देवता[३] प्राप्त है। इसी प्रकार 'चतुर्गृहीतं वा···' इस वाक्य से—संस्कृत आज्य भी प्राप्त है। द्वितीया विभक्ति की संगति इस प्रकार है— धात्वर्थ याग तब तक कारण नहीं बन सकता जब तक वह असाधित है—सिद्धावस्था को प्राप्त नहीं हुआ है, द्वितीया विभक्ति धात्वर्थ याग की साध्यता बताती है—अर्थात् द्वितीया[४] विभक्ति का प्रयोग धात्वर्थ याग की साध्यता बताने के लिए हुआ है। आघार शब्द[५] क्रिया वाची है। अतः संस्कार[६] की आशङ्का नहीं करनी चाहिये।

द्वितीयाध्यायस्य इति। मीमांसा दर्शन के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद[७] में यह विचार किया गया है कि अग्निहोत्रवाक्य[८] और आघारवाक्य[९] का अनुवाद स्वरूप है अथवा विधि वाक्य हैं? **अग्निहोत्रा** इति। **'अग्निहोत्रा···विधिः'** ये दोनों कारिकाएँ 'जैमिनीयन्यायमाला विस्तर' की हैं। इनका व्याख्यान भाष्यकार ने स्वयं किया है। हम उसी व्याख्यान का यहाँ अनुवाद कर रहे हैं। व्याख्यान के अनुवाद के अन्त में कारिकाओं का सरलार्थ भी लिख दिया जायगा।

१. द्रव्य और देवता से ही यज्ञ का स्वरूप बनता है, सो यहाँ है नहीं।
२. व्रीहीन् प्रोक्षति' 'व्रीहीन् अवहन्ति' इत्यादि की तरह द्वितीया विभक्ति कर्म-भूत प्रातिपदिकार्थ में संस्कार्यता बताती है।
३. विधि अप्राप्त की होती है, अग्निदेवतारूप गुण पहले से ही प्राप्त है। अतः यह गुण विधि नहीं हो सकती।
४. द्वितीया विभक्ति बोध्य कर्म चार प्रकार का होता है—उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और ज्ञाप्य। यहाँ अग्निहोत्र और आघार उत्पाद्य कर्म हैं।
५. आघार शब्द अग्निहोत्र शब्द का भी उपलक्षक है, अर्थात् वह भी क्रिया वाचक है।
६. संस्कार शब्द को यहाँ गुण विधि का भी उपलक्षक समझो, अर्थात् अग्निहोत्र शब्द के क्रिया वाचक होने के कारण 'अग्निहोत्रं जुहोति' में गुण विधि की शङ्का भी नहीं करनी चाहिये।
७. यह अधिकरण मूलोक्त अध्याय पाद का पाँचवाँ अधिकरण है, और १३ से १६ सूत्र तक चलता है।
८. 'अग्निहोत्रं जुहोति' यही अग्निहोत्र वाक्य है।
९. 'आघारमाघारयति' यही आघार वाक्य है।

इदमाम्नायते—"अग्निहोत्रं जुहोति" इति, "दध्ना जुहोति" इति, "पयसा जुहोति" (द्र० कासं० ६।३) इति च। इदमपरमाम्नायते—"आघारमाघारयति" (तै० ब्रा० ३।३।७) इति, "ऊर्ध्वमाघारयति" (तै० सं० ४।१।१४) इति, "ऋजुमाघारयति" (तै० सं० २।५।११) इति च। तत्राग्निहोत्रवाक्यं दध्यादि-

इदमिति। वेद में एक जगह पढ़ा गया है—**अग्निहोत्र[1] जुहोति, दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति**—इति। दूसरी जगह पढ़ा गया है—**आघारमाघारयति**[2], **ऊर्ध्वमाघारयति, ऋजुमाघारयति**—इति। दोनों स्थानों पर तीन तीन वाक्य हैं। यहाँ सन्देह[3] होता है कि क्या अन्तिम दो वाक्य पृथक् पृथक् को कर्मों का विधान करते हैं, और प्रथम वाक्य उनका अनुवाद मात्र करता है, स्वतन्त्र रूप से कर्म विधायक नहीं है, अथवा प्रथम वाक्य कर्मविधायक है और उसके द्वारा विहित कर्म में अन्तिम दो वाक्यों से पृथक् पृथक् गुणों का विधान किया जाता है? पूर्वपक्ष यह है कि अग्निहोत्र वाक्य[4] दध्यादि वाक्य[5] विहित कर्मसमुदाय[6] का अनुवाद है। इसी प्रकार आघारवाक्य[7] भी ऊर्ध्वादि वाक्य[8] विहित कर्म समुदाय[9]

१. 'अग्निहोत्रं' शब्द कर्म का नाम है—यह पहले बताया जा चुका है, अतः इस वाक्य का सीधा अर्थ है—अग्निहोत्र नामक हवन करे। दूसरे दो वाक्यों का अर्थ है 'दधि से हवन करे, दूध से हवन करे'।

२. 'आघार' शब्द भी कर्म का नाम है। दो आज्याहुतियाँ दी जाती हैं—पहली प्रजापति देवता के लिए, दूसरी इन्द्र देवता के लिए। इन्हीं दो आज्याहुतियों का नाम 'आघार' है। वाक्य का सीधा अर्थ है आघार नामक आज्याहुति देवे। दूसरे दो वाक्यों का क्रमशः अर्थ है—सीधा खड़ा होकर आघारण करे। (आज्याहुति देवे)। ऋजु (अवक्र) आघारण करे। यद्यपि 'आसीनोऽन्यम् (प्रथमं प्रजापति देवताकम् आघारम्) आघारयति, तिष्ठन्नन्यम् (द्वितीय-मिन्द्रदेवताकम्) इस श्रुति के अनुसार, और 'आसीनः······प्रजापतिं मनसाध्यायन्······ऋजुं संततम्······आघारमाघारयन्······' इस आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार प्रथम आघार बैठकर ही किया जाता है, अतः 'ऊर्ध्वमाघारयति' में ऊर्ध्वत्व की संगति नहीं बैठती, तथापि यह विधि द्वितीय आघार के ही अभिप्राय से है, ऐसा मानने में कोई हानि नहीं। 'तिष्ठन्नन्यम्' इस उपर्युक्त श्रुति के अनुसार, और 'अथोर्ध्वस्तिष्ठन्······ऋजुं संततम्······आघारमाघारयन्' इस आप० श्रौ० सू० के अनुसार इन्द्रदेवताक द्वितीय आघार खड़ा होकर ही किया जाता है। सूत्रगत 'ऊर्ध्व' शब्द का अर्थ रुद्रदत्त ने 'अप्रह्वः' ऐसा लिखा है। झुके हुए को ही 'प्रह्वः' कहते हैं। इसीलिए हमने 'ऊर्ध्वम्' का अर्थ सीधा (बिना झुके) ऐसा किया है। आपस्तम्ब के आघार सूत्र में पठित 'ऋजुम्' शब्द का अर्थ रुद्रदत्त ने 'अवक्रम्' ऐसा लिखा है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि यह ऋजुता (अवक्रता) किसका विशेषण है। 'ऋजुम् आघारम्' इस प्रकार अन्वय करने से तो ऋजु शब्द आघार का विशेषण प्रतीत होता है, परन्तु आघारगत ऋजुता से क्या तात्पर्य है इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है, स्यात् यह अभिप्राय हो कि आज्य इधर उधर छलके नहीं सीधी धारा के रूप में अग्नि में गिरे।

३. यद्यपि अधिकरण रचना में संदेह (संशय) का स्वरूप बताना आवश्यक है, तथापि भाष्यकारने संदेह के आकार को सुगम समझकर व्यर्थ ग्रन्थ विस्तार से बचने के लिए उसे यहाँ नहीं लिखा। तथापि हमने संदेह का स्वरूप लिख दिया है।

४. 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य।

५. दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति—ये दोनों वाक्य दध्यादि वाक्य हैं।

६. दधि होम और दुग्ध होम इन दोनों कर्मों का समुदाय।

७. 'आघारमाघारयति' यह आघार वाक्य हैं।

८. 'ऊर्ध्वमाघारयति' 'ऋजुमाघारयति'—ये दोनों वाक्य ऊर्ध्वादि वाक्य हैं।

९. ऊर्ध्वाघारण और ऋज्वाघारण इन दोनों कर्मों का समुदाय।

वाक्यविहितस्य कर्मसमुदायस्यानुवादः। आघारवाक्यं तूर्ध्वादिवाक्य विहितस्य तस्येति। न त्वेतद्वाक्यद्वयं कर्मविधायकम्। कुतः? द्रव्यदेवतालक्षणस्य यागरूपस्याभावादितिचेत्तत्र वक्तव्यम्। किं दध्यादिवाक्येन गुणमात्रं विधीयते किं वा गुणविशिष्टं कर्म। नाऽऽद्यः। अग्निहोत्रादिवाक्यस्य त्वन्मते कर्मविधायकत्वाभावेन गुणिनः कस्यचिदासिद्धौ गुण्यनुवाद पुरः सरस्य गुणमात्रविधानस्यासंभवात्। द्वितीये विधिगौरवं

का अनुवाद है—ये दोनों[१] वाक्य स्वतन्त्र रूप से कर्मविधायक नहीं हैं। कारण कि इन[२] दोनों वाक्यों में द्रव्य देवता लक्षण[३] याग का स्वरूप निर्दिष्ट नहीं है। **इतिचेद्**[४] इति। ऐसी स्थिति में पूर्वपक्षी के प्रति यह प्रश्न किया जा सकता है कि **दध्यादि** वाक्य[५] से क्या दध्यादि[६] गुणमात्र का विधान किया जाता है अथवा दध्यादि गुण विशिष्ट कर्म का? प्रथम[७] पक्ष तो संभव नहीं, क्योंकि तुम्हारे (पूर्वपक्षी) के मत में अग्नि होत्रादि[८] वाक्य कर्म विधायक तो हैं नहीं, अतः गुणी (गुण की अपेक्षा रखने वाला मुख्य) कर्म असिद्ध है, गुणी[९] का अनुवाद करके ही गुण का विधान किया जाता[१०] है, अतः गुणी के अभाव में गुण्यनुवाद[११] पूर्वक होने वाला गुण का विधान असंभव है। द्वितीय पक्ष[१२] में विधि गौरव होगा। तात्पर्य यह है कि यदि **'दध्ना जुहोति'** इस वाक्य

१. अग्निहोत्र वाक्य और आघार वाक्य।
२. अग्निहोत्र वाक्य और आघार वाक्य में।
३. द्रव्य और देवता ही मुख्य रूप से याग के घटक होते हैं। इनकी उक्त वाक्यों में चर्चा नहीं है।
४. यहां से सिद्धान्त पक्ष प्रारम्भ होता है।
५. दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति, ऊर्ध्वमाघारयति, ऋजुमाघारयति इन वाक्यों से।
६. दधि, पय, ऊर्ध्वत्व और ऋजुत्व ये गुण।
७. दध्यादि गुण मात्र का विधान पक्ष।
८. अग्निहोत्रं जुहोति, आघारमाघारयति—ये वाक्य।
९. गुण सापेक्ष मुख्य कर्म का।
१०. गुणी का अनुवाद करके ही गुण का विधान किया जाता है—इसको इस लौकिक उदाहरण से समझिये। किसी के प्रति कहा गया कि 'आम्रं चूष—आम चूसो' फिर कहा गया 'मधुरं चूष—मीठा चूसो'। यहाँ दूसरे वाक्य में चूसने का विधान नहीं है, क्योंकि चूसने का विधान तो 'आम्रं चूष' इस पहले ही वाक्य से कर दिया गया है, जो एक बार विहित हो गया, पुनः उसका विधान करने से पुनरुक्ति होती है, जो कि एक बड़ा दोष है, अतः दूसरे वाक्य में चूसने का विधान नहीं है, किन्तु 'चूष' पद के द्वारा प्रथम वाक्य सिद्ध आम्रचूषण का अनुवाद करके माधुर्य गुण का विधान किया गया है—अर्थात् मीठा आम चूसो। यदि पहली विधि (आम्रचूष) न हो तो 'मधुरं चूष' यह वाक्य माधुर्य गुण का विधान नहीं कर सकता, क्योंकि यह जिज्ञासा बनी रहती है—'मधुर क्या चूसे? गुण तो आश्रय सापेक्ष होता है। अतः गुण का विधान पूर्वसिद्ध गुणी का अनुवाद करके ही होता है। इस बात को आप इस प्रकार भी समझ सकते हो कि किसी को उद्देश्य करके ही किसी का विधान किया जाता है, निरुद्देश्य विधान नहीं होता। 'मधुरं चूष' से माधुर्य का विधान तब तक नहीं हो सकता जब तक आम्रादि कोई उद्देश्य न हो। प्रकृत में भी दध्यादि गुण का विधान तब तक नहीं हो सकता जब तक दध्यादि गुण का आश्रय गुणी सिद्ध न हो, अथवा दध्यादि के प्रति उद्देश्य (अनुवाद्य) जब तक कोई नहीं होगा तब तक दध्यादि गुण विधेय नहीं बन सकते।
११. गुणी के अनुवाद के अनन्तर।
१२. गुण विशिष्ट की विधि मानने में।

स्यात्। तच्च सत्यां गतावयुक्तम्, अतोऽग्निहोत्रादिवाक्यं कर्मविधायकम्। तत्र द्रव्यं दध्यादिवाक्यैर्लभ्यते। देवता तु मान्त्रवर्णिकी।

आघारेऽप्येवं द्रव्यदेवते उन्नेतव्ये।

को स्वतन्त्र रूप से कर्मान्तर का विधायक मानेंगे तो यहाँ दो विधियाँ माननी पड़ेंगी—एक स्वर्गादि[1] फल को उद्देश्य करके होम की विधि दूसरे होम को उद्देश्य करके दधि की विधि। फलतः वाक्यभेद नामक दोष होगा। वाक्यभेद से बचने के लिए आपको दधि पद में मत्वर्थ लक्षणा स्वीकार करनी पड़ेगी, उस समय **'दध्ना जुहोति'** का वाक्यार्थ होगा **'दधिमता होमेन इष्टं भावयेत्'**। जैसे **'सोमेन यजेत'** का वाक्यार्थ होता है—**'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्'** इति। इस प्रकार वाक्यभेद से छुटकारा मिलने पर भी लक्षणा मूलक गौरव तो रहेगा ही। उपाय[2] रहते वह (विधि गौरव) उचित नहीं। अतः अग्निहोत्रादि[3] वाक्य कर्म विधायक हैं। सिद्धान्ती का तात्पर्य यही है कि **'अग्निहोत्रं जुहोति', 'आघारमाघारयति'** इन वाक्यों को कर्म विधायक मानने से विधि गौरव नहीं[4] होता। **'दध्ना जुहोति' ऊर्ध्वमाघारयति'** इत्यादि वाक्यों को गुण विशिष्ट कर्म विधायक मानने से ही उपर्युक्त रीति से विधि गौरव होता है। रही यह बात कि उक्त वाक्यों में द्रव्य और देवता का निर्देश न होने से याग का स्वरूप नहीं बनता है, इसका उत्तर देते हैं—**तत्र द्रव्यम्** इति। वहाँ (अग्निहोत्रादि कर्म में) द्रव्य दध्यादि वाक्य[5] से प्राप्त है। देवता मन्त्राक्षरों[6] से ही सिद्ध है। अर्थात् अग्निहोत्र विधि की द्रव्याकाङ्क्षा **'दध्ना जुहोति' पयसा जुहोति'** इन वाक्यों को दध्यादि गुणमात्र विधायक मानकर शान्त हो जाती है, इसी प्रकार देवताकाङ्क्षा अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरित्यादि मन्त्र से शान्त हो जाती है। इस प्रकार द्रव्य देवता लक्षण यागस्वरूप भी सिद्ध हो जाता है।

आघारे इति। इसी प्रकार **'आघारमाघारयति'** इस विधि के द्वारा बोधित आघाराख्य याग में भी द्रव्य और देवता की कल्पना कर लेनी चाहिये। **"चतुर्गृहीतं वा एतदभूत्, तस्याघारमाघार्य···"** इस ब्राह्मण वाक्य के द्वारा आज्यरूप द्रव्य की प्राप्ति हो जाती[7] है, **"समारम्भ्योर्ध्वो[8] अध्वरो दिविस्पृशमह्रुतो यज्ञो यज्ञपतेरिन्द्रावान्त्स्वाहा"** इस मन्त्र से

---

१. जहाँ कोई फल नहीं बताया गया है, वहाँ विश्वजिन्न्याय से स्वर्ग फल मान लिया जाता है, कहीं रात्रिसत्रन्याय से अर्थवादोक्त प्रतिष्ठा आदि फल मान लिए जाते हैं।

२. यदि बिना वाक्यभेद के और बिना लक्षणा के ही विधि गौरव से बचा जा सकता है, तो व्यर्थ उन्हें स्वीकार करने से क्या लाभ। इनसे बचने का उपाय अगले वाक्य में बताया गया है।

३. 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'आघारमाघारयति' ये दोनों वाक्य।

४. क्योंकि ये दोनों वाक्य विशिष्ट के विधायक नहीं हैं, केवल अग्निहोत्र होम और आघाराघारण के विधायक हैं।

५. दध्यादि वाक्य से तात्पर्य है—दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति—इन वाक्यों से।

६. 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरिति सायं जुहोति' इस विधिवाक्य में निर्दिष्ट मन्त्र के अक्षरों से ही अग्निरूप देवता ज्ञात हो जाता है।

७. देखो प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद का तीसरा अधिकरण, मीमाँसा के इसी अध्याय पाद का चौथा सूत्र।

८. इस मन्त्र से द्वितीय आघार का अनुष्ठान होता है। एतद् मन्त्रगत 'इन्द्रावान्' शब्द भाष्यकार ने व्याख्यान किया है—इन्द्र देवताकत्वेन इन्द्रवान्।

दशमाध्यायस्य तृतीयपादे चिन्तितम्—

"हिरण्यगर्भ आघारे पूर्वस्मिन्नुत्तरेऽथ वा ।
लिङ्गादाद्ये समं लिङ्गं क्लृप्तकार्यत्वतोऽन्तिमे ॥"

(जै० न्या० १०।३।३) इति ॥

वायव्यपशौ "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इत्याघारमाघारयति" (तै० सं० ५।५।१) इति। श्रुतो मन्त्रः पूर्वस्मिन्नाघारे स्यात्। कुतो मन्त्रलिङ्गात्। प्रकृतौ प्राजापत्यः पूर्व आघारः। अस्मिन्नपि मन्त्रे

इन्द्र देवता प्राप्त है, अतः आघार विधि में भी द्रव्य देवता लक्षण याग स्वरूप का अभाव नहीं रहता। उक्त[1] कारिकाओं का सरलार्थ इस प्रकार है—अग्निहोत्र[2] वाक्य और आघार[3] वाक्य क्या दध्यादि वाक्य विहित का अनुवाद रूप हैं अथवा स्वतन्त्र रूप से कर्म विधायक हैं ? पूर्वपक्ष है—अग्निहोत्रादि वाक्य रूप रहित होने से (द्रव्य देवता लक्षण याग स्वरूप का अभाव होने से) दध्यादि वाक्योक्त का ही अनुवाद करते हैं। सिद्धान्त है—गुणी की असिद्धि से (गुण सापेक्ष अनुवाद्य कर्म के अभाव से) दध्यादि गुण का विधान तो हो नहीं सकता, और गुण विशिष्ट की विधि मानने से दोष (विधि गौरव रूप दोष) होता है। अतः अग्निहोत्रादि वाक्य गुणी का (गुण सापेक्ष मुख्य कर्म का) विधायक[4] है। याग स्वरूप द्रव्य और देवता की प्राप्ति क्रमशः दध्यादि वाक्य से (दध्ना जुहोति-इत्यादि वाक्यों से) और मन्त्र से (**अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा** इस मन्त्र से) प्राप्त हो जाती है।

मीमांसा दर्शन के दशम अध्याय के तृतीय पाद[5] में विचार किया गया है कि '**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे-इत्याघार-माघारयतिहिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे···**' इत्यादि मन्त्र से आघार संज्ञक आघारण (आज्य होम) कर्म करे' इस श्रुति से विहित '**हिरण्यगर्भः···**' इत्यादि मन्त्र प्रथमाघार के लिए है अथवा द्वितीय आघार के लिए।

हिरण्यगर्भ इति। यह कारिका 'जैमिनीय न्याय माला विस्तर' की है। इसका व्याख्यान भाष्यकार ने स्वयं किया है। हम उस व्याख्यान का ही पहले अनुवाद कर रहे हैं। कारिका का सरल अर्थ व्याख्यान के अनुवाद के अन्त में दे दिया जायगा।

वायव्यपशौ इति। वायुदेवताक पशुयाग[6] में यह श्रुति पढ़ी गई है—'**हिरण्य···इत्याघारमाघारयति**' इति। इस श्रुति के द्वारा विहित मन्त्र[7] प्रथम आघार में प्रयुक्त होना चाहिये, क्योंकि मन्त्रोक्त[8] लिङ्ग से ऐसा ही प्रतीत होता है।

---

१. 'अग्निहोत्रा···' इत्यादि पूर्वोक्त दो कारिकाओं का।
२. 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य।
३. 'आघारमाघारयति' यह वाक्य।
४. दध्यादि वाक्योक्त का अनुवाद नहीं है।
५. तृतीय पाद के द्वितीय अधिकरण में। यह अधिकरण तेरहवें सूत्र से चौदहवें सूत्र तक चलता है।
६. 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूति कामः' इति, श्रुति से विहित पशुयाग में।
७. 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे···' यह मन्त्र।
८. 'हिरण्यगर्भ' शब्द ही यहाँ मन्त्रोक्त लिङ्ग है।

हिरण्यगर्भशब्देन प्रजापतिरभिधीयते। "प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः" (तै० सं० ५।५।१) इति वाक्यशेषादिति प्राप्ते ब्रूमः। अन्तिम आघारेऽयं मन्त्रः। कुतः? क्लृप्तकार्यत्वात्। प्रकृतावमन्त्रकः प्रथम आघारः, प्रजापतिं मनसा ध्यायन्नाघारयतीति ध्यानमात्रस्याभिधानात्। तूष्णीमाघारयतीत्यमन्त्रत्वं साक्षादेव श्रुतम्। द्वितीये त्वाघारे[1] "ऊर्ध्वो अध्वरः" (तै० सं० १।१।१२) इत्याद्यैन्द्रो मन्त्रो विहितः। अतो मन्त्रकार्यं तत्र क्लृप्तम्। तस्माद्द्वितीयाघारे हिरण्यगर्भमन्त्रविधिः।

यत्तु प्रजापतिदेवतालिङ्गं तदिन्द्रेऽपि समानम्। इन्द्रोऽपि हि प्रजानां पतिः। तस्मादूर्ध्वो अध्वरः इति मन्त्रं बाधित्वा हिरण्यादिमन्त्रस्तत्र विधीयते।

प्रकृतियाग में (दर्शपूर्ण मासेष्टि में) प्रथम आघार प्रजापति देवताक होता है। प्रकृत मन्त्र में भी 'हिरण्यगर्भ' शब्द से प्रजापति ही अभिहित (उक्त) होता है—अर्थात् हिरण्यगर्भ शब्द का अर्थ प्रजापति है। कारण कि पशुयाग प्रकरण के वाक्य शेष[1] में '**प्रजापतिर्वै-हिरण्यगर्भः** प्रजापति ही हिरण्यगर्भ है' ऐसा कहा है। यह पूर्व पक्ष है। इस पूर्व पक्ष के उत्तर में हमारा यह निवेदन है कि '**हिरण्यगर्भः**···' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग द्वितीय आघार में ही होना चाहिये, क्योंकि मन्त्रोच्चारण-जन्य उपकार[2] द्वितीय आघार में ही माना गया है। प्रकृति याग में प्रथम आघार अमन्त्रक (मन्त्रोच्चारण के बिना ही) होता है। कारण कि '**प्रजापतिं मनसाध्यायन्न-आघारयति**—प्रजापति का मन से ध्यान करते हुए प्रथम आघार का अनुष्ठान करे' इस प्रकार आघारानुष्ठान के समय केवल ध्यान ही करना बताया गया है, मन्त्रोच्चारण का विधान नहीं है, श्रुति तो साक्षात् ही '**तूष्णीम् आघारयति**—प्रथम आघार को चुपचाप करे, इस प्रकार प्रथम आघार के मन्त्र रहित होने का विधान करती है।' इसके विपरीत द्वितीय आघार में '**ऊर्ध्वो अध्वर**···" इत्यादि इन्द्र-देवताक मन्त्र का विधान किया गया है—अर्थात् द्वितीय आघार मन्त्रोच्चारण के साथ होता है। इसलिए द्वितीय आघार में मन्त्र प्रयोगजन्य अतिशय पहले से ही क्लृप्त (स्वीकृत) है। अतः द्वितीयाघार के लिए ही '**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**···' इस मन्त्र का विधान है—यही मानना उचित है।

यत्तु इति। यह जो कहा गया है कि प्रजापति देवतारूप लिङ्ग से प्रथम आघार में इसका विनियोग होना चाहिये, यह ठीक नहीं। कारण कि 'हिरण्यगर्भ' इस शब्द का अर्थ 'प्रजापति' अवश्य है, तथापि प्रजापतित्व इन्द्र में भी समान रूप से विद्यमान[5] है, इन्द्र भी प्रजापति है। इसलिए द्वितीय आघार में प्राप्त, '**ऊर्ध्वो अध्वरः**···' इत्यादि मन्त्र को बाधकर, '**हिरण्यगर्भः**···' इत्यादि मन्त्र का विधान किया जाता है। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि वायव्य पशुयाग दर्शपूर्णमासेष्टि की विकृति है, अतः आघार तो उसमें प्रकृति से ही प्राप्त है, उस प्रकृति प्राप्त आघार का अनुवाद करके मन्त्र विशेषरूप गुण

---

१. **ख. घारे समारभ्योर्ध्वोऽ।**

---

१. उपसंहार में।
२. अतिशय विशेष।
३. यह वाक्य आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का है। देखो दर्शपूर्णमास प्रकरण प्रश्न २, खण्डिका १२।
४. आपस्तम्ब के अनुसार 'समारभ्योर्ध्वो···' ऐसा पाठ होना चाहिये। 'ऊर्ध्वो अध्वरो···' इत्यादि पाठ या तो किसी शाखान्तर का है, अथवा लेखक के प्रमाद से 'समारभ्य' पद और 'गुण संधि' दोनों रह गए हैं।
५. अतः लिङ्ग अनैकान्तिक होने से इस बात का निर्णायक नहीं हो सकता कि यह मन्त्र प्रथमाघार के लिए ही है, द्वितीय के लिए नहीं।

तृतीयाध्यायस्याष्टमे पादे चिन्तितम्—

"मा मा सं ताप्तमित्येतत्कस्मिन्स्यादिति[1] पूर्ववत्।
अध्वर्यावस्तु तत्त्वेन स्वामिकर्मोपयोगतः॥"

(जै० न्या० ३।८।२१) इति॥

मा मेति मन्त्रोक्तं संतापाभावरूपं फलं यजमाने स्यादध्वर्यौ वेति संदेहः। पूर्वाधिकरणे "ममाग्ने

का विधान यहाँ किया गया है। यह मन्त्र विशेष विधि पूर्वाघार के लिए है या द्वितीयाघार के लिए इस संशय का निराकरण, द्वितीयाघार के लिए मन्त्र विशेष-विधि को स्वीकार करके कर दिया गया है। प्रथमाघार के विरुद्ध यहाँ युक्ति है कि वह सर्वथा अमन्त्रक होता है, मन्त्र प्रयोग वहाँ सर्वथा अप्राप्त है, मन्त्र प्रयोग द्वितीय आघार में ही होता है, वहाँ **'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'** इस अतिदेश से **'ऊर्ध्वो अध्वरः···'** इत्यादि इन्द्रदेवताक मन्त्र पहले से ही प्राप्त हैं उस मन्त्र बाध करने के लिए ही यह हिरण्यगर्भ-देवताक मन्त्रविधि है।

तृतीयाध्यायस्य इति। मीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय के अष्टम पाद में (१५ वें अधिकरण[1] में) यह विचार किया गया है कि **'मा मा संताप्तम्'**[2] इस अध्वर्यु प्रोक्त मन्त्र में संतापाभावरूप फल की जो आशंसा की गई है, वह संतापाभावरूप फल यजमान में अभीष्ट है अथवा अध्वर्यु में।

मा मा इति। यह 'जैमिनीयन्यायमाला विस्तर' की कारिका है। इसमें अति संक्षेप से उपर्युक्त विचार उपस्थित किया गया है। इसका व्याख्यान भाष्यकार ने स्वयं किया है, उसका अनुवाद और स्पष्टीकरण हम नीचे दे रहे हैं, अन्त में कारिका का सरल अनुवाद भी दे दिया जायगा।

मामेति इति। **'मा मा संताप्तम्**—हे अग्नि और विष्णु देवताओ तुम मुझे संतप्त न करना' इस मन्त्र में कथित (प्रार्थित) संतापाभाव रूप फल यजमान में रहेगा अथवा अध्वर्यु में—यह संदेह है। संदेह का कारण यह है कि अध्वर्यु तो दक्षिणा द्वारा यजमान से क्रीत है, अतः दक्षिणा लाभातिरिक्त कोई भी यज्ञफल उसको प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए संतापाभावरूप फल यजमान में ही प्राप्त होता है। परन्तु यज्ञ में उपर्युक्त मन्त्र को अध्वर्यु पढ़ता है, अतः मन्त्रगत मा (मुझको) पद से अध्वर्यु ही लिया जाना चाहिए, फलतः संतापाभाव रूप फल अध्वर्यु में प्राप्त है, अतः दोनों प्रकार के हेतुओं से उक्त संदेह हो सकता है। पूर्वपक्ष यह है कि पूर्वाधिकरण[3] में कहा गया है कि यद्यपि **"ममाग्ने[4]! वर्चो विहवेष्वस्तु"** यह मन्त्र अध्वर्यु के द्वारा बोला जाता है, तथापि 'मम' शब्द लक्षणा से अध्वर्यु के स्वामी यजमान को ही लक्षित[5] करता है। दूसरे, **'स्वर्ग कामो यजेत'** इस वाक्य में आत्मने पद के द्वारा यह प्रतीत होता है कि अङ्ग सहित याग का फल (स्वर्गादि

---

१. **ख. स्मिन्स्वामिनी पू।**

---

१. यह अधिकरण उक्त अध्याय पाद के २८ वें सूत्र में वर्णित है।
२. प्रकृत बारहवें अनुवाक में 'अग्नाविष्णू···मा मा संताप्तं लोकं मे···कृणुतम्' यह मन्त्र आया है, इसका व्याख्यान हो चुका है। इसमें अग्नि और विष्णु से संतापाभाव की प्रार्थना की गई है।
३. उक्त अध्याय पाद के १४ वें अधिकरण में। यह अधिकरण २५ वें सूत्र से २७वें सूत्र तक चलता है।
४. हे अग्निदेव! 'वर्चस्' शब्द से उपलक्षित जो भी फल यज्ञाङ्ग होमों का हो सकता है, वह मुझे विशेष रूप से प्राप्त हो—यह मन्त्रार्थ है।
५. लक्षणा से बताता है, अर्थात् 'मम' का अर्थ है—'अध्वर्युस्वामिनो यजमानस्य-अध्वर्यु के स्वामी यजमान को'।

वर्चः" (तै० सं० ४।७।१४) इत्यध्वर्युणा पठ्यमानेऽपि मन्त्रे ममेति शब्दोऽध्वर्युस्वामिनं यजमानं लक्षयति। स्वर्गकामो यजेतेत्यात्मनेपदेन साङ्गयागफलस्य स्वर्गस्य यजमानगामिताया अवगमात्।

ततो यथा वर्चो यजमाने भवति तथा संतापाभावोऽपि यजमानगामीति प्राप्ते ब्रूमः —"अध्वर्यावसंतप्ते सत्यविघ्नेन स्वामिनः कर्म समाप्यते। तस्मादध्वर्युगतोऽपि संतापाभावो यजमानस्यैव फलमिति नात्र पूर्ववदस्योपचारः।

साधक अपूर्व) यजमान को ही मिलता है, अतः संतापाभावरूप फल भी यजमान में ही रहता है—यही मानना उचित है। तात्पर्य यह है कि जैसे 'मम' पद लक्षणा से अध्वर्यु के स्वामी यजमान को लक्षित करता है, उसी प्रकार **'मा मा संताप्तम्'** में भी 'मा' (मुझको) पद अध्वर्यु के स्वामी यजमान को ही लक्षित करेगा। 'यज्' धातु स्वरितेत् है, स्वरितेत् धातु से आत्मने पद तभी होता है, जब फल कर्तृगामी[1] हो, कर्ता यजमान है, अध्वर्यु तो यजमान का दक्षिणा क्रीत प्रतिनिधि है, अतः 'यजेत' यहाँ आत्मने पद का प्रयोग भी संतापभाव रूप फल को यजमान में ही बताता है।

ततो इति। इसलिए जैसे **'वर्चस्'**=तेज यजमान में रहता[2] है, उसी प्रकार संतापाभाव भी यजमान में ही रहेगा। ऐसी स्थिति में **'मा मा संताप्तम्'** में एक 'मा' शब्द का अर्थ होगा 'मेरे स्वामी यजमान को'। समग्र मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा कि 'हे अग्नि और विष्णु देवताओ, तुम मेरे स्वामी यजमान को संतप्त न करना।' **इति प्राप्ते ब्रूम** इति। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में हमारा निवेदन यह है—कि अध्वर्यु यदि संताप रहित होगा तो स्वामी का (यजमान का) कर्म (यागानुष्ठान) निर्विघ्न संपन्न हो सकेगा। इसलिये यहाँ अध्वर्यु में स्थित भी संतापाभावयजमानाभीप्सित कर्म सम्पत्ति का साधक होने से यजमान का ही है। अतः पूर्वाधिकरणोक्त लक्षणा का अवसर यहाँ नहीं है—अर्थात् पूर्वाधिकरण की तरह उपचार[3] से फल को यजमानगामी बनाने की आवश्यकता यहाँ नहीं है।

---

१. 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार।

२. यहाँ दो 'मा' शब्द हैं, एक 'अस्मद्' शब्द का द्वितीया का एक वचन है, दूसरा 'माङ्' अव्यय है, अतः एव 'संताप्तम्' में 'न माङ्योगे' से अट् का आगम नहीं हुआ।

३. उपचार का अर्थ है यहाँ लक्षणा। अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है। 'ममाग्ने वर्च···' इस मन्त्र में 'वर्चस्' शब्द से विवक्षित स्वर्गापूर्वादि फल का संबन्ध अध्वर्यु के साथ कथमपि नहीं बन सकता। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि श्रुति वाक्यों में यजमान में ही फल संबन्ध बताया गया है। अध्वर्यु यजमान नहीं है, अतः 'मम' शब्दार्थ अध्वर्यु में अन्वयानुपपत्ति (फल सम्बन्धानुपपत्ति) होने से 'मम' शब्द में लक्षणा उचित है। 'मा मा संताप्तम्' में यह बात नहीं है, कारण कि 'मा' शब्दार्थ अध्वर्यु में संतापाभावरूप फल बाधित नहीं है, असंतप्त (मन और शरीर से स्वस्थ) अध्वर्यु ही यजमान कार्य याग में सहायक हो सकता है। स्वस्थ भृत्य ही स्वामी का कार्य अच्छी तरह कर सकता है। अतः यजमान को अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का दक्षिणाजन्य संतोष के अतिरिक्त मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य भी अभीप्सित है। अतः 'मा मा संताप्तम्' में अन्वयानुपपत्तिरूप लक्षणा का हेतु न होने से, लक्षणा नहीं हो सकती।

अथ व्याकरणम्—

भुवनशब्दो नियतनपुंसकलिङ्गत्वादाद्युदात्तः। अग्न इत्यत्र वाक्यादित्वान्न निघातः।

"आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्" (पा० ८।१।७२) इति तस्याविद्यमानवद्भावाद्यष्टरित्येतस्य पदात्परत्वाभावान्न निघातः। किंतु षाष्ठमामन्त्रिताद्युदात्तत्वम् (पा० ६।१।१९८)।

अब व्याकरण लिखते हैं—

भुवन इति। भुवन शब्द नित्यनपुंसक होने के कारण **'नब्विषयस्यानिसन्तस्य'** इस फिट् सूत्र से आद्युदात्त है। 'भुवनम्' में संहिता और पद पाठ में स्वर[1] स्थिति एक जैसी ही रहेगी—भुवनम्। 'व' को **'उदात्तादनुदात्तस्य···'** के अनुसार स्वरित हो गया और 'न' को **'स्वरितात् संहितायाम्···'** से प्रचय हो गया।

अग्न इति। 'अग्ने' यह संबोधन पद वाक्य के आदि में है, अतः इसको निघात नहीं हुआ। **तात्पर्य** यह है—जो आमन्त्रित पद (संबोधन विभक्त्यन्त) किसी पद से परे होता है, और पाद के आदि में स्थित नहीं होता उसको आष्टमिक (अष्टमाध्यायोक्त) '**आमन्त्रितस्य च**' इस सूत्र से निघात (सर्वानुदात्तत्व) होता है। प्रकृत में जो संबोधन विभक्त्यन्त (आमन्त्रित) 'अग्ने' यह पद है, वह वाक्य के आदि में होने के कारण किसी पद से परे नहीं है, अतः यहाँ उक्त आष्टमिक निघात की प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु यहाँ षष्ठाध्यायोक्त **'आमन्त्रितस्य च'** इस सूत्र से आद्युदात्त स्वर होगा। अतः 'अग्ने' में 'अ' उदात्त है और 'ग्ने' शेष निघात से अनुदात्त है, संहिता में 'ग्ने' शेष निघात से अनुदात्त है, संहिता में 'ग्ने' को उदात्त से परे रहने पर भी स्वरित नहीं होगा, कारण कि उसके आगे 'य' उदात्त[2] है। हाँ, पद पाठ में स्वरित हो जायगा—अग्ने'।

आमन्त्रितम् इति। '**आमन्त्रितं पूर्वविद्यमानवत्**' इस सूत्र से 'अग्ने' यह आमन्त्रित पद अविद्यमानवत् है—न होने के बराबर है, अतः 'यष्टः' इस पद में पद से परे न होने के कारण निघात नहीं हुआ, किन्तु षाष्ठिक-षष्ठाध्यायोक्त—'**आमन्त्रितस्य च**' इस सूत्र से होने वाला आद्युदात्त स्वर ही हुआ। तात्पर्य यह है कि प्रकृत बारहवें सूत्र का प्रथम मन्त्र यों है—**भुवनमसि वि प्रथस्वाग्ने यष्टरिदं नमः**। यहाँ 'अग्ने' और 'यष्टः' ये दोनों ही संबोधन विभक्त्यन्त हैं। पहले में स्वर संचार क्रम बताते हुए यह कहा गया था कि 'अग्ने' पद वाक्य के आदि में है, अतः किसी पद से परे न रहने के कारण यहाँ आष्टमिक निघात नहीं हुआ। यहाँ शङ्का होती है कि 'यष्टः' पद तो वाक्य के आदि में नहीं है, अतः किसी पद से परे न रहने के कारण यहाँ आष्टमिक निघात नहीं हुआ। यहाँ शङ्का होती है कि 'यष्टः' पद तो वाक्य के आदि में नहीं है और वह 'अग्ने' पद से परे है, फिर उसे संबोधन विभक्त्यन्तत्व प्रयुक्त आष्टमिक निघात क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर भाष्यकार ने पाणिनि व्याकरण के अनुसार यह दिया कि पूर्ववर्ती संबोधन पद अविद्यमानवत् माना जाता है, फलतः 'यष्टः' यह संबोधन पद भी वाक्य का आदि ही रहा और पद से परे नहीं माना गया, अतः इसको भी आष्टमिक निघात नहीं हुआ, किन्तु षष्ठाध्यायोक्त '**आमन्त्रितस्य च**' इस वचन से 'अग्ने' के समान आद्युदात्त ही माना गया। प्रारम्भिक स्वर स्थिति शेष निघात से यों रहेगी—यष्टः। 'ष्टः' को उदात्त से परे रहने के कारण स्वरित हो जायगा। संहिता में निश्चित स्वर स्थिति इस प्रकार होगी—यष्टः। पद पाठ में भी यही स्थिति रहेगी।

---

१. यह प्रारम्भिक स्वर स्थिति है।

२. 'नोदात्त स्वरितोदयम्···' इत्यादि से स्वरित का निषेध है।

३. इस मन्त्र में तीन वाक्य हैं, जैसे पहला है—भुवनमसि। दूसरा है—वि प्रथ स्व। तीसरा है—अग्ने यष्टरिदं नमः। तीसरे में 'यष्टः' यह पद तृजन्त 'यष्टृ' शब्द का संबोधन में प्रथमा का एक वचन है।

अग्नाविष्णू इत्यत्रापि तद्वत् । न विद्यते ध्वरो विघ्नो हिंसा यस्य सोऽध्वरः । "नञ्सुभ्याम्" (पा० ६।२।१७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ।

दिविस्पृशमित्यत्र कृत्स्वरः (पा० ६।२।१३९) ।

अग्नाविष्णू इति । 'अग्नाविष्णू' इस पद में भी पूर्ववत् ('अग्ने' पद के समान ही) स्वर संचार समझो । तात्पर्य यह है—'अग्नाविष्णू' पद में अग्निश्च विष्णुश्चेति अग्नाविष्णू । **'देवताद्वन्द्वे च'** सूत्र से पूर्वपद को आनङ् हो गया । अग्नाविष्णू पद भी संबोधन है (आमन्त्रित है) । यहाँ भी वाक्यादि होने से आष्टमिक निघात नहीं हुआ किन्तु षाष्ठिक आमन्त्रित स्वर—आद्युदात्त हुआ । फलतः 'अग्नाविष्णू' शब्द में 'अ' उदात्त रहेगा और शेष अनुदात्त हो जायँगे । **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** से 'ग्ना' को स्वरित हो गया । 'वि' को प्रचय हो गया । यह प्रचय 'ष्णू' को भी प्राप्त था, परन्तु हुआ नहीं, कारण कि उसके आगे 'मा' उदात्त है । **'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः'** इस सूत्र से सन्नतर (अनुदात्ततर) हो गया । फलतः संहिता में स्वर स्थिति यों रही—अ ग्ना विष्णू । पदपाठ में अग्नाविष्णू इत्यग्नाविष्णू । 'इ' से पूर्व ष्णू अनुदात्ततर है । 'ग्ना' से 'वि ष्णू' में प्रचय नहीं हुआ । अवग्रह के कारण संहिता का अभाव है ।

न विद्यते इति । जिसमें ध्वर = हिंसा नहीं है वह 'अध्वर' है । 'अध्वर' पद में **'नञ्सुभ्याम्'** इस सूत्र से उत्तर पद के ('ध्वर' पद के) अन्तिम अक्षर को ('र' को) उदात्त स्वर हो गया है । शेष निघात से 'अ,' 'ध्व' दोनों ही अनुदात्त रहेंगे । संहिता में 'अध्वर' पद से पूर्व 'र्वो' अक्षर है और वह उदात्त है, अतः उस उदात्त से परे रहने के कारण 'अध्वर' शब्द का आदि अक्षर 'अ' स्वरित हो गया । और उससे परे 'ध्व' को प्रचय नहीं हुआ, क्योंकि उसका 'र' उदात्त है, फलतः वह अनुदात्ततर हो गया । संहिता में अध्वर शब्द प्रथमान्त है, जो कि स्वादि सन्धि के कारण 'अध्वरो, बन गया है । अन्तिम 'ओ' 'एकादेश' 'उदात्तेनोदात्तः' के अनुसार उदात्त ही है—फलतः संहिता में स्वर स्थिति यों रहेगी—अध्वरो (अध्वरः) । पदपाठ में भी संहिता के समान ही स्वरक्रम रहा—अ ध्वरः ।

दिविस्पृशम् इति । 'दिविस्पृशम्' इस पद में कृत् स्वर हुआ है । तात्पर्य यह है कि 'दिविस्पृश्' शब्द में दिविस्पृशतीति 'दिविस्पृश्' इस विग्रह के अनुसार **'स्पृशोऽनुदके क्विन्'** इस सूत्र से क्विन् प्रत्यय हुआ है । यहाँ **'तत्पुरुषे तुल्यार्थ'** इत्यादि सूत्र से 'दिवि' में प्रकृति स्वर प्राप्त हुआ था, उसको बाधकर **'गतिकारकोपपदात् कृत्'** से कृदुत्तरपद-प्रकृति स्वर हो जाता है, क्विन्' कृत प्रत्यय है और वह नित् है, अतः **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** से निदन्त 'स्पृश्' को आद्युदात्त हो गया । यही आद्युदात्त यहाँ कृदुत्तर प्रकृति स्वर है । इसके अनुसार 'दिविस्पृशम्' में 'स्पृ' उदात्त होगा और शेष अनुदात्त हो जायँगे, प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों होगी—दि वि स्पृ श म् । 'श' मे 'अ' अम् विभक्ति का आद्यवयव है, जो विभक्ति के सुप् होने के कारण स्वतः ही अनुदात्त है । संहिता में 'दि वि स्पृ श म्' इस पद से पूर्व 'ऐ' अक्षर उदात्त है, उससे परे रहने के कारण 'दिं' को स्वरित हो गया । 'वि' को प्रचय न होकर सन्नतर हो गया । 'दिं विस्पृशम्' से आगे संहिता में 'अ' है, जो उदात्त है, अतः उससे पूर्ववर्ती 'श' को उदात्त 'स्पृ' से परे रहने पर भी स्वरित नहीं हुआ, अनुदात्त ही रहा, **'नोदात्तस्वरितोदयम्'''** इस सूत्र से स्वरित का निषेध हो गया । फलतः संहिता में स्वर स्थिति यों रही—दिं वि स्पृ श म् । पद पाठ में स्वर क्रम यों रहेगा—दि वि स्पृ श मि तिं । दिविस्पृशम् । 'मि' से पूर्व 'श' को स्वरित नहीं हुआ । **'नोदात्त'''** इत्यादि से उसका निषेध हो गया । 'तिं' से आगे 'दि' और 'वि' को प्रचय हो गया । यद्यपि 'वि' को सन्नतर होना चाहिये, क्योंकि उसके आगे 'स्पृ' उदात्त है, तथापि सन्नतर नहीं हुआ, कारण कि प्रचय और सन्नतर दोनों ही संहिता में होते हैं, यहाँ अवग्रह होने से 'स्पृ' इस उदात्त अक्षर की अतिशयितसन्निधि नहीं है । 'शं' को उदात्त से परे रहने के कारण और उसके आगे किसी उदात्त अक्षर के न रहने के कारण स्वरित हो गया ।

अह्रुत इत्यत्राव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरः (पा० ६।२।२)।
दुश्चरितादित्यत्रापि तद्वत्।

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीय-संहिताभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके द्वादशोऽनुवाकः ॥ १२ ॥

अह्रुत इति। 'अह्रुतः' में अव्यय पूर्वपद प्रकृति स्वर हुआ है। तात्पर्य यह है—'ह्वृ कौटिल्ये' धातुमे 'क्त' प्रत्यय करने पर वेद में 'ह्वृ' को **'ह्रु ह्वरेश्छन्दसि'** सूत्र से 'ह्रु' आदेश हो जाता है, इस तरह 'ह्रुत' शब्द बनता है। तदनन्तर 'नञ्' के साथ उसका समास होकर 'अह्रुत' शब्द बनता है। **'न लोपो नञः'** से 'न' का लोप हो जाता है। विशेष्य निघ्न होने के कारण पुल्लिङ्ग प्रथमा में 'अह्रुतः' ऐसा रूप होता है। यहाँ **'समासस्य'** सूत्र से अन्तोदात्तत्व प्राप्त था। उसको बाधकर **'तत्पुरुषे तुल्यार्थ…'** इस सूत्र से यहाँ अव्यय पूर्वपदप्रकृति स्वर हो गया। 'अव्यय' शब्द से यहाँ **'अव्यये नञ्-कु-निपातानाम्'** इस वार्तिक के अनुसार नञ् आदि का ही ग्रहण होता है। 'नञ्' निपात होने से आद्युदात्त है। शेष निघात इसी स्वर के अनुसार होगा। फलतः प्रारम्भिक स्वरस्थिति यों होगी—अ ह्रु तः। **'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः'** से 'ह्रु' को स्वरित हो गया। 'तः' को प्रचय हो गया। पद पाठ में स्वर स्थिति ऐसी ही रहेगी—अह्रुतः। संहिता में प्रारम्भिक स्थिति में 'तः' अनुदात्त था; उसकी पदान्तर के साथ स्वादि सन्धि होने से 'तो' बन गया वह भी अनुदात्तस्थानिक होने से अनुदात्त ही रहा। **'स्वरितात् संहितायाम्'** इत्यादि सूत्र से उसको प्रचय हो गया। फलतः संहिता में स्वरस्थिति में तो कोई अन्तर नहीं होगा, केवल पद के आकार में कुछ अन्तर होगा—अह्रुतो।

दुश्चरिताद् इति। दुश्चरितात् में भी पूर्ववत् ही स्वरस्थिति है। 'दुश्चरित' शब्द में प्रादि समास है। आगे उसके पञ्चमी विभक्ति है, जो सुप्त्वाद् अनुदात्त है। यहाँ भी **'समासस्य'** से 'दुश्चरित' को अन्तोदात्तत्व प्राप्त था परन्तु **'तत्पुरुषे तुल्यार्थ…'** इत्यादि सूत्र से पूर्वपद प्रकृति स्वर हो गया। चादि निपातों में **'उपसर्ग-विभक्ति-स्वर-प्रतिरूपकाश्च'** ऐसा लिखा गया है, अतः उपसर्ग निपात भी हैं, और निपात होने से अव्यय भी हैं। 'निपाता आद्युदात्ताः, उपसर्गाश्चाभिवर्जम्' के अनुसार 'दुस्' भी आद्युदात्त है, यही यहाँ पूर्वपदप्रकृति स्वर है। इसी के अनुसार शेष निघात व्यवस्था होगी। तदनुसार प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों रहेगी—दु श्च रि ता त्। 'श्च' को स्वरित हो जायगा, 'रि' को प्रचय होगा, 'ता' को संहिता में सन्नतर हो जायगा, क्योंकि संहिता में उसके आगे 'दा' (आ) उदात्त है। अन्ततः संहिता में स्वर स्थिति यों रही—दुश्चरिताद्। हाँ पदपाठ में कुछ अन्तर रहेगा—दुश्चरितादिति दुः-चरितात्। 'ता' को सन्नतर हुआ है, क्योंकि उसके आगे 'दि' उदात्त है। 'ति' को स्वरित नहीं हुआ, क्योंकि उसके आगे 'दुः' उदात्त है। **'नोदात्त स्वरितोदयम्…'** से स्वरित का निषेध हो गया। 'चरितात्' में संहिता के अभाव से शेष निघात ही बना रहा।

कृष्णयजुर्वेदीय-तैत्तिरीय-संहिता के प्रथम काण्ड में प्रथम प्रपाठक के द्वादश अनुवाक पर श्रीसायणाचार्य कृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

॥ श्रीः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता

सायणभाष्यसहिता हिन्द्यनुवादसमेता च

प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके

त्रयोदशोऽनुवाकः

द्वादशेऽनुवाक आघारावुक्तौ । अथ पञ्च प्रयाजाः । द्वावाज्यभागौ । त्रयः प्रधानयागाः । एकः स्विष्टकृत् । इडाभागभक्षणम् । त्रयोऽनूयाजा इत्येतावदनुष्ठातव्यम्[1] । तन्मन्त्रास्तु हौत्रत्वादध्वर्युकाण्ड एतस्मिन्नाऽऽम्नाताः । उपरितनास्तु स्रुग्व्यूहनादिमन्त्रा आध्वर्यवत्वादिह त्रयोदशेऽनुवाक आम्नायन्ते ।

तेरहवें अनुवाक के सायण भाष्य का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ

द्वादशे इति । बारहवें अनुवाक में आघार नामक दो आज्याहुतियों का वर्णन हुआ । आघार के अनन्तर पाँच[1] प्रयाज, दो[2] आज्य भाग, तीन प्रधान[3] याग, एक स्विष्ट-कृत्[4], इडाभाग[5] भक्षण और तीन अनुयाज[6] इतने कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है । इन कर्मों में उपयुक्त होने वाले मन्त्र होता को बोलने पड़ते हैं, अतः इस अध्वर्यु काण्ड[7] में नहीं पढ़े गए ।

---

१. ख. वद्वक्तव्यम् ।

---

१. समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति—इन पाँच वाक्यों से विहित पाँच याग ही पाँच प्रयाज कहलाते हैं ।

२. आज्यभागौ यजति—इस वाक्य से विहिति अग्नि और सोमदेवता के उद्देश्य से दी जाने वाली दो आज्याहुतियाँ ही आज्यभाग कहलाती हैं ।

३. प्रधान देवता के उद्देश्य से जो याग किया जाता है उसे प्रधान याग कहते हैं, फल विशेष के उद्देश्य से विहित देवता ही प्रधान देवता कहलाता है ।

४. स्विष्टकृत् भी एक याग है—यह प्रधान याग का 'सुष्ठु इष्टं करोति प्रधान यागस्य' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पोषक है ।

५. 'इडा' शब्द का प्रयोग कितने ही अर्थों में होता है, इडा एक देवता विशेष है, एक पात्र का नाम भी इडा है, इडा पात्र में रक्खे जाने के कारण पुरोडाशादि हविर्द्रव्य भी इडा कहलाते हैं । इडा कर्म विशेष भी है ।

६. 'अनु=पश्चात्, इज्यते यैः' इस विग्रह के अनुसार प्रधान याग के अनन्तर जिन तीन मन्त्रों से देवताओं का यजन किया जाता है, वे 'अनुयाज' कहलाते हैं ।

७. अध्वर्यु-करणीय क्रियाएँ ही जहाँ विशेष रूप से बताई गई हैं, संहिता का वह प्रकरण 'अध्वर्यु काण्ड' कहलाता है । तैत्तिरीय संहिता का प्रथम काण्ड अध्वर्यु काण्ड है ।

वाजस्य मा प्रसवेनोद् ग्राभेणोदग्रभीत् । अथा सपत्नाꣳ इन्द्रो मे निग्राभेणाधराꣳ अकः । उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवा अवीवृधन् । अथा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम् ।

वाजस्येति । कल्पः—"अथोदङ्ङध्वर्युः प्रत्याक्रम्य यथायतनं स्रुचौ सादयित्वा वाजवतीभ्यां स्रुचौ व्यूहति वाजस्य मा प्रसवेनोद्ग्राभेणोदग्रभीदिति दक्षिणेन जुहूमुद्गृह्णात्यथा सपत्नाꣳइन्द्रो मे निग्राभेणाधराꣳअकरिति सव्येनोपभृतं निगृह्णात्युद्ग्राभं[1] च निग्राभं च ब्रह्मदेवा अवीवृधन्निति प्राचीं जुहूमूहत्यथा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यतामिति प्रतीचीमुपभृतं प्रत्यूहति" (बौ. श्रौ. १.१९) इति ।

इनके आगे के 'स्रुग्व्यूहन'[1] आदि कर्मों के मन्त्र अध्वर्यु-पठनीय होने के कारण इस तेरहवें अनुवाक में बताए गए हैं ।

वाजस्येति । कल्प इति । बौधायन कल्पसूत्र कहता है कि अनुयाज कर्म के अनन्तर अध्वर्यु उत्तर की ओर लौटकर, अपने अपने आयतन[2] (स्थान) के अनुसार स्रुचों (जुहू और उपभृत्) को रखकर वाजवती[3] (वाजशब्द युक्त) ऋचाओं के द्वारा स्रुचों (जुहू और उपभृत्) का व्यूहन[4] करे । 'वाजस्य मा'''उदग्रभीत्' इस मन्त्र से दाहिने हाथ से जुहू को ऊपर उठावे (ऊपर रखे) और 'अथा'''अकः' इस मन्त्र से बाँए हाथ से उपभृत् को उठाकर जुहू से नीचे रक्खे । फिर[5]

१. ख. भं चेति जुहूमुद्यच्छति निग्राभं चेत्युपभृतं च ।

१. 'जुहू' का पूरब की ओर और 'उपभृत्' का पश्चिम की ओर अपसारण (हटाना) ही स्रुग्व्यूहन् कर्म कहलाता है, 'श्रौतपदार्थ निर्वचनम्' ग्रन्थ में लिखा है कि मन्त्र से वेदि के दक्षिण तक जुहू को और वेदि की उत्तर श्रोणि तक उपभृत् को सरका देना ही 'स्रुग्व्यूहन्' कर्म है । जुहू का अग्रभाग पूरब की ओर और उपभृत् की पश्चिम की ओर रहना चाहिये ।

२. 'आयतन' का अर्थ है स्थान । 'यथायतनम्' का तात्पर्य है कि जो स्रुच् जिस स्थान पर रक्खी थी उसे वहीं पर रख दे ।

३. यद्यपि 'वाजवतीभ्याम्' यह द्विवचन है, इसके अनुसार दोनों मन्त्रों को 'वाज' शब्द से युक्त होना चाहिये, परन्तु ऐसा है नहीं, पहले मन्त्र में तो वाज शब्द है, परन्तु दूसरे में नहीं है । तथापि 'द्वितीयस्य वाजवतीत्वोपचारः प्रथम साहचर्याद् द्रष्टव्यः' इस रुद्रदत्त प्रणीत सूत्रदीपिका के कथन के अनुसार द्वितीय मन्त्र को वाज शब्द युक्त मान लेना चाहिये ।

४. 'व्यूहन' का अर्थ है यहाँ विविध (पूर्व पश्चिम) दिशाओं की ओर अपसारण करना-हटाना ।

५. यद्यपि बौधायन ने 'उद्ग्राभं च' 'निग्राभं च' इन अंशों को पृथक् मन्त्रों के रूप में उद्धृत नहीं किया और नहीं इनका कोई विनियोग बताया, प्रत्युत 'उद्ग्राभं च निग्राभं च'''अवीवृधन्निति प्राचीं जुहूमूहति' इस प्रकार एक मन्त्र का ही अंश उन्हें बताया, तथापि आपस्तम्बीय दर्शपौर्णमास पद्धति में "उद्ग्राभं च इति जुहूं किंचिदुद्यम्य, निग्राभं च इति उपभृतं निगृह्य" इस प्रकार दोनों अंशो को पृथक् पृथक् मन्त्र माना गया है । आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में भी 'उद्ग्राभं चेति जुहूमुद्यच्छति निग्राभं चेत्युपभृतं नियच्छति' इस प्रकार उक्त दोनों अंशों का पृथक्-पृथक् मन्त्रों के रूप में ही निर्देश हुआ है । इसी आधार पर हमने भी मूल में उद्धृत बौधायन सूत्र के हिन्दी अनुवाद में 'उद्ग्राभं च' 'निग्राभं च' को पृथक्-पृथक् मन्त्र माना है और उनका विनियोग बताया है ।

अन्नस्य प्रसवहेतुना मुष्टचा जुह्वा ऊर्ध्वग्रहणेनेतो मामूर्ध्वमग्रहीत् । अथोपभृतो नीचग्रहणेन मम वैरिणो निकृष्टान्रुद्धानकरोत् । परं ब्रह्मदेवाश्च ममोत्कर्षं वैरिणो निकर्षं च वर्धितवन्तः । अथेन्द्राग्नी मम सपत्नान्विष्वग्गतयः स्वस्थानभ्रष्टा यथा भवन्ति तथा विशेषेण प्रवर्तयेताम् ।

एतन्मन्त्रव्याख्यानात्पूर्वमिडाभक्षणादिकं विधीयते । तस्य स्रुग्व्यूहनात्प्रागनुष्ठेयत्वात् ।

तत्रेडाभागस्य पुरोडाशादपच्छेदं विधत्ते—"धिष्णिया वा एते न्युप्यन्ते । यद्ब्रह्मा । यद्धोता । यदध्वर्युः । यदग्नीत् । यद्यजमानः । तान्यदन्तरेयात् । यजमानस्य प्राणान्त्संकर्षेत् । प्रमायुकः स्यात् ।

'उद्ग्राभं च' ऐसा बोलकर जुहू को कुछ ऊपर उठाकर और 'निग्राभं च' बोलकर 'उपभृत्' को कुछ नीचे करके 'ब्रह्मदेवा अवीवृधन्' इस मन्त्र से जुहू का पूर्व की ओर अपसारण करदे, और 'अथा'''व्यस्यताम्' इस मन्त्र से 'उपभृत्' का पश्चिम की ओर अपसारण कर दें ।

अन्नस्य[1] इति । अन्न की उत्पत्ति का हेतु[2] जो मुष्टि से जुहू का ऊपर उठाना[3] है, उससे—इन्द्र ने—मुझको इस लोक से ऊपर उठाया । और उपभृत् का जो जुहू से—नीचे ग्रहण करना है, उससे इन्द्र[4] ने मेरे शत्रुओं को नीचे किया—ऊपर उठने से रोका । परब्रह्म ने और देवताओं ने मेरा उत्कर्ष और शत्रुओं का अपकर्ष बढ़ाया । अब इन्द्र और अग्नि मेरे शत्रुओं को इस प्रकार विशेष रूप से प्रेरित करें । जिससे कि वे स्थान भ्रष्ट होकर (अपना स्थान छोड़कर) इधर उधर भाग जावें ।

एतन्मन्त्र इति । तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस[5] मन्त्र के व्याख्यान से पहले इडाभक्षण आदि का विधान किया गया है, कारण कि इडाभक्षण आदि कर्म स्रुग्व्यूहन् से पहले करने का है ।

तत्र इति । वहाँ (इडाभाग भक्षण प्रकरण में) इडा भाग को पुरोडाश से विभक्त करने का विधान है—**'धिष्णिया वा एते''न प्रमायुको भवति'** इति । ये जो यज्ञ में ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, अग्नीध् (आग्नीध्र) और यजमान नियुक्त किये जाते हैं, ये धिष्णिय हैं—'धिष्णिय' देवताओं के सदृश हैं । यदि इनके बीच से कोई (अध्वर्यु) संचरण करेगा तो वह यजमान के प्राणों को खींचेगा, यजमान मृत्यु का ग्रास बनेगा । इसलिए अध्वर्यु इडा से पुरोडाश को पृथक् करके संचरण

---

१. यहां से मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ होता है ।

२. 'अन्न की उत्पत्ति का हेतु' यह 'वाजस्य प्रसवेन' का अर्थ है ।

३. 'ऊपर उठाना' और 'नीचे ग्रहण करना' यह क्रमशः 'उद्ग्राभ' और निग्राभ' शब्द का अर्थ है । 'उत्' और 'नि'पूर्वक 'ग्रह्' धातु से ये दोनों शब्द बने हैं, वेद में 'ह्' और 'ग्रह्' धातु के 'ह्' को 'भ्' हो जाया करता है ।

४. यद्यपि मन्त्र में उद्ग्रहण का कार्य कोई नहीं बताया गया है, तथापि निग्रहण के मन्त्र में निग्रहण का कर्ता 'इन्द्र' शब्दतः उपात्त है, अतः यहाँ भी वही कर्ता माना गया है । भट्ट भास्कर ने 'उदग्रभीत्' और 'अधराँ अकः' में लोट् के अर्थ में 'लुङ्' माना है, अतः उनके मत से उपर्युक्त शब्दों का अर्थ क्रमशः 'उद्गृह्णातुः ऊपर उठावे' 'अधरान् करोतु= निकृष्ट बनावे' होता है ।

५. 'वाजस्य'''नान्व्यस्यताम्' इस मन्त्र को यह मन्त्र स्रुग्व्यूहन् का है । स्रुग्व्यूहन् से पहले इडा भक्षण होता है । अतः ब्राह्मण ने पहले इडा भक्षणादि सम्बन्धी कृत्य-बताकर, फिर स्रुग्व्यूहन् मन्त्र की व्याख्या की है ।

पुरोडाशमपगृह्य संचरत्यध्वर्युः। यजमानायैव तल्लोकꣳशिꣳषति। नास्य प्राणान्त्संकर्षति। न प्रमायुको भवति" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति।

धिष्णियनामकाः केचन देवाः सोमरक्षकाः। तथा च श्रूयते—"धिष्णिया वा अमुष्मिँल्लोके सोममरक्षन्" (तै० सं० ६।३।१) इति। ते च धिष्णियाः सोमयागे वेदिकासदृशा मृन्मया[1] आम्नायन्ते। "चात्वालाद्धिष्णियानुपवपति" (तै० सं० ६।३।१) इति श्रुतेः। तेषां च धिष्णियानामतिक्रमणं तत्रैव निषिद्धम्—प्राणा वा एते यद्धिष्णिया यदध्वर्युः प्रत्यङ्धिष्णियानतिसर्पेत्प्राणान्त्संकर्षेत्" (तै० सं० ६।३।१) इति। तद्वदत्रापीडाभागभक्षणाय वेद्या उत्तरभागे स्थितानां ब्रह्मादीनां मध्ये संचारे प्राणापहारं बाधकमुपन्यस्य तत्परिहाराय भक्ष्यं पुरोडाशभागमपच्छिद्य तेभ्यः प्रदानाय हस्ते धृत्वा संचरेदिति विधीयते। तेन यज्ञविघ्नाभावाद्यजमानस्य स्वर्गं लोकमवशेषयति। इह लोकेऽपि प्राणबाधो न भवति।

करे[1]। ऐसा करके वह यजमान के लिए ही उस लोक (स्वर्गलोक) को अवशेषित करता है—बचाता है और इसके (यजमान के) प्राणों को खींचता भी नहीं—अर्थात् यजमान का प्राण संकट भी उपस्थित नहीं होता। यजमान मरेगा नहीं।

धिष्णिय इति। धिष्णिय नाम के कोई सोमरक्षक देव विशेष हैं। श्रुति में ऐसा ही कहा गया है—'धिष्णिया··· अरक्षन्'—उस लोक में (तृतीय-द्युलोक में) धिष्णिय नाम के देवताओं ने ही सोम की रक्षा की। वे धिष्णिय देवता सोमयाग में वेदि के समान मृन्मय बताए गए हैं। जैसा कि 'चात्वालात्······उपवपति—चात्वाल से[2] धिष्णिय देवताओं का उपवाप[3] करे' इस श्रुति में कहा गया है। और वहीं इन धिष्णिय देवताओं के अतिक्रमण का निषेध किया गया है—'प्राण वा··· संकर्षेत्' इति। ये जो धिष्णिय हैं, ये प्राण स्वरूप हैं, यदि अध्वर्यु पश्चिम की ओर धिष्णियों का अतिक्रमण करेगा तो प्राणों का संकर्षण करेगा—अर्थात् यजमान के लिये प्राण संकट उपस्थित करेगा। उसी[4] के समान यहाँ भी इडाभाग का भक्षण करने के लिए वेदि के उत्तर भाग में अवस्थित ब्रह्मा-आदि ऋत्विजों के बीच में संचरण करने में प्राणापहरण रूप बाधक बताकर उससे बचने के लिए भक्षणीय पुरोडाश को—इडा से विभक्त करके उन्हें (ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को) देने के लिए—अपने-हाथ में रखकर संचरण करे—ऐसी विधि है। ऐसा करके अध्वर्यु यज्ञ में विघ्न से बचते हुए यजमान के लिए स्वर्ग को बचा लेता है। इस लोक में भी प्राण बाधा नहीं होती।

---

१. ख. न्मयाः क्रिय।

---

१. 'धिष्णिया···' इत्यादि पूर्वोक्त ब्राह्मण में 'पुरोडाशमपगृह्य संचरत्यध्वर्युः' इतना अंश तो विधि याग है, शेष अर्थवाद है।
२. भूमि में एक गढ़ा बनाया जाता है, जिसका उपयोग उत्तर वेदि के निर्माण में किया जाता है, उसका नाम चात्वाल है।
३. चात्वाल से मिट्टी लेकर एक स्थान पर रख दी जाती है, यही धिष्णियों का उपवाप है।
४. जैसे धिष्णियों के अतिक्रमण में प्राणापहार रूप बाधा उपस्थित होती है, उसी प्रकार ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के मध्य में संचरण करने से प्राणापहार रूप संकट उपस्थित होता है। क्योंकि ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को भी धिष्णिय देवताओं के समान कहा गया है।

अत्र सूत्रम् —"इडापात्रं[1] उपस्तीर्य सर्वेभ्यो हविर्भ्य इडामवद्यति" (आप० श्रौ० ३।१।६) इति।

अवान्तरेडां विधत्ते—"पुरस्तात्प्रत्यङ्ङासीनः। इडाया इडामादधाति। हस्त्याᳪहोत्रे। पशवो वा इडा। पशवः पुरुषः। पशुष्वेव पशून्प्रतिष्ठापयति। इडायै वा एषा प्रजातिः। तां प्रजातिं यजमानोऽनु प्रजायते" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति। पात्रस्थितायाः इडायाः पूर्वभागे प्रत्यङ्मुख उपविश्य सर्वसाधारण्या इडायाः सकाशाद्धोत्रे विभज्य प्रदातुं तद्धस्तयोग्यामल्पामिडामवदाय होतृहस्त आदध्यात्।

अत्र इति। इस[1] विषय में सूत्र[2] है—'इडापात्र'''इडामवद्यति' इति। इडापात्र[3] में उपस्तरण[4] करके सब हवियों से इडा का अवदान[5] करे।

अवान्तरे इति। ब्राह्मण वाक्य अवान्तर[6] इडा का विधान करता है—'पुरस्तात्'''अनुप्रजायते' इति। पात्र[7] स्थित इडा के पूर्व की ओर पश्चिमाभिमुख बैठकर सर्व साधारण इडा से विभक्त करके होता को देने के लिए, जितना उसके[8] हाथ में आ सके उतना थोड़ा सा इडा भाग काटकर (लेकर) होता के हाथ में रख दे। 'गौर्वा'''शरीरम्—गौ इस इडा का शरीर है' इस प्रकार इडाभिमानी देवता का—गोरूप स्वरूप श्रुति में बताया गया है, अतः इडा पशुरूप है। नरमेध में पुरुष भी आलम्भनीय होता है, अतः वह भी पशु है। महान्[9] (बड़ी) इडा से ही यह अवान्तर इडा उत्पन्न हुई है। इससे यजमान की संतति होती है[10]। इस अवान्तर इडा के विषय में सूत्र[11] है—'पुरस्तात्'''अवद्यति' इति। पूर्व की ओर पश्चिमाभिमुख बैठकर इडा से, होता के हाथ में रखने के लिए अवान्तर इडा का अवदान करे।

---

१. क. त्रमुप।

---

१. इडा से पुरोडाश को विभक्त करने के संबन्ध में।
२. आपस्तम्ब श्रौत सूत्र प्र. ३ कण्डि. १. सू. ६।
३. कोहनी से बीच की उंगली के सिरे तक (एक हाथ) लम्बा, चार अङ्गुल अथवा छ अङ्गुल चौड़ा वारण वृक्ष के काष्ठ से बना हुआ यज्ञ पात्र 'इडा पात्र' कहलाता है, इसको पकड़ने की मूंठ (दण्ड) चार अङ्गुल लम्बी होती है, एक विशेषता इस पात्र की यह भी है कि इसकी कमर (मध्य भाग) कुछ संकुचित अर्थात् पतली होती है।
४. घृत डालकर।
५. यह 'अवदान' शब्द 'दो अवखण्डने' धातु से बना है, अतः इसका अर्थ है—काटकर।
६. होता के द्वारा हाथ में गृहीत इडा भाग ही 'अवान्तर इडा' है। सूत्र दीपिका के अनुसार इडा का एक देश अवान्तर इडा है। 'अवान्तर इडा' का विस्तृत स्वरूप तो भली प्रकार किसी अग्निहोत्री की दर्शपौर्णमासेष्टि में उपस्थित होकर ही जाना जा सकता है। या फिर थोड़ा बहुत 'श्रौतपदार्थनिर्वचन' आदि ग्रन्थों को देखकर समझा जा सकता है।
७. इडा पात्र में स्थित।
८. होता के।
९. सर्व साधारण इडा को ही यहाँ महान् इडा कहा है।
१०. मूलोक्त 'पुरस्तात् प्रत्यङ्ङासीनः''' इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ की व्याख्या भाष्यकार ने स्वयं की है, उसका ही अनुवाद हमने कर दिया है,—'पात्र स्थित' से लेकर 'संतति होती है' यहाँ तक वह अनुवाद ग्रन्थ है। ब्राह्मण वाक्य का पृथक् अनुवाद व्यर्थ ग्रन्थ विस्तार के भय से हमने नहीं किया।
११. आपस्तम्ब श्रौत सूत्र प्र. ३. कण्डि० २. सू० ५।

"गौर्वा अस्यै शरीरम्" (तै० सं० १।७।२) इतीडाभिमानिदेवतारूपश्रवणात्पशुत्वम् । नरमेधे पुरुषस्याऽऽलभ्यत्वात्सोऽपि पशुः। महत्या इडाया एषाऽवान्तरेडा प्रजाता। ततो यजमानस्य प्रजा भवति। अत्र सूत्रम्—"पुरस्तात्प्रत्यङ्ङासीन इडाया होतुर्हस्तेऽवान्तरेडामवद्यति" (आप० श्रौ० ३।२।५) इति ।

होतुः प्रदेशिन्या द्वयोः पर्वणोराज्येनाञ्जनं विधत्ते—"द्विरङ्गुलावनक्ति पर्वणोः । द्विपाद्यजमानः प्रतिष्ठित्यै" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति । द्वाभ्यां पादाभ्यां स्थैर्येणावस्थानं प्रतिष्ठितिः ।

अवान्तरेडायां प्रकारविशेषं विधत्ते—"सकृदुपस्तृणाति । द्विरादधाति । सकृदभिघारयति । चतुः संपद्यते । चत्वारि वै पशोः प्रतिष्ठानानि । यावानेव पशुः। तमुपह्वयते" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति। प्रतिष्ठानं पादः । अनेन चतुरवत्तेन तं चतुष्पादं पशुमुपह्वयते । इडाभागभक्षणायानुज्ञापितवान्भवति ।

अत्र चतुरवत्तं पुरोडाशभागं होता हस्ते धृत्वा भक्षणानुज्ञार्थं हौत्रकाण्डे पठितमनुवाकमुपहूतꣳ रथंतरम्" (तै० सं० ३।५।८) इत्यादि पठेत् ।

होतुरिति । होता की तर्जनी (अँगूठे के समीप-की) उँगली की दो पोरियों को घी के द्वारा आँजने[1] का विधान ब्राह्मण वाक्य करता है —'द्विरङ्गुला ''प्रतिष्ठित्यै' इति । उँगली में दो बार—उसकी—दो पोरियों को—घृतसे—अञ्जित करे। यजमान दुपाया द्विपाद् है, उसकी प्रतिष्ठा के लिए ही यह अञ्जन कर्म है। दो पाओं से स्थिरता के साथ अवस्थित रहना ही प्रतिष्ठिति-प्रतिष्ठा है ।

ब्राह्मण वाक्य अवान्तर इडा में प्रकार विशेष का विधान करता है—'सकृद् ''तमुपह्वयते' इति। एक बार उपस्तरण करे, दो बार आधान करे, एक बार अभिघारण करे, इस प्रकार चार बार[2] क्रिया की अभ्यावृत्ति हो जाती है। चार ही पशु के पाँव होते हैं। **अर्थात् चार** पाओं के कारण ही वह चतुष्पाद् पशु कहलाता है, ये उपस्तरण आदि चार क्रियाएँ ही उसके चार **पाँव** हैं। अतः यह अवान्तर इडा जितनी भी है उतनी पशु स्वरूप ही है, उसका अध्वर्यु उपह्वान करता है। अर्थात् उससे अनुज्ञा प्राप्ति के लिए उसे संबोधित करता है। 'प्रतिष्ठान'[3] शब्द का अर्थ है पाँव। इस चार बार किये हुए अवदान से उस चौपाए[4] पशु का उपह्वान करता है—इडाभाग को खाने के लिए उससे अनुज्ञा प्राप्त करता है।

यहाँ चार बार गृहीत पुरोडाश भाग को होता हाथ में रखकर उसे—खाने की अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए—

---

१. यह अङ्गुलिपर्वाञ्जन कर्म अवान्तर इडावदान के बाद होता है।

२. यद्यपि एक ही क्रिया की अनेक बार आवृत्ति को अभ्यावृत्ति कहते हैं, और अभ्यावृत्ति की गणना में ही 'कृत्व सुच्' और 'सुच्' प्रत्यय होते हैं, यहाँ एक ही क्रिया की चार बार आवृत्ति नहीं हुई है, इसलिये मूल में (चतुः संपद्यते में) 'चतुः' शब्द में 'सुच्' प्रत्यय युक्त नहीं है, तथापि यहाँ क्रियात्व सामान्य को लेकर एक ही क्रिया की आवृत्ति कही जा सकती है। ॒सरे वेद में तो दृष्टानुविधि होती है।

३. मूल भाष्य में उद्धृत 'चत्वारि वै पशोः प्रतिष्ठानानि' इस ब्राह्मण संदर्भ में आए हुए 'प्रतिष्ठान' शब्द का। 'प्रतितिष्ठन्त्येभिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार।

४. इडा रूप चौपाए पशु का। 'पशवो वा इडा' इस श्रुति वाक्य के अनुसार।

तन्मध्येऽध्वर्युर्यजमानश्च प्रत्युपह्वानरूपं मन्त्रान्तरं पठेत् । तदिदं विधत्ते—"मुखमिव प्रत्युपह्वयेत । संमुखानेव पशूनुपह्वयते" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति । होतुर्मुखमेवाभिवीक्ष्य पठेदित्यर्थः ।

अध्वर्युयजमानयोर्होतृहस्तगतेडास्पर्शनं विधत्ते—"पशवो वा इडा । तस्मात्साऽन्वारभ्या । अध्वर्युणा च यजमानेन च" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति । पाठ्यं मन्त्रान्तरमुत्पादयति—"उपहूतः पशुमानसानीत्याह । उप ह्येनौ ह्वयते होता । इडायै देवतानामुपह्वे" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति । अहमध्वर्युर्देवैरनुज्ञातस्तत इडाभक्षणेन पशुमान्भवानि । यजमानेऽप्येवं योज्यम् । कस्मिन्कालेऽयं मन्त्रपाठः ? इडार्थं देवतानामनुज्ञापने होत्रा क्रियमाणे सति तन्मध्य एनावध्वर्युयजमानौ यदोपह्वयते तदा पठेत् ।

"दैव्या अध्वर्यव उपहूताः……" उपहूतोऽयं यजमानः (तै० ब्रा० ३।५।८) इति मन्त्रावयवाभ्या-

---

संहिता के-होत्र[1] काण्ड में पढ़े गए 'उपहूतं-रथन्तरम्' इत्यादि अनुवाक[2] को पढ़े ।

तन्मध्ये इति । होता के इडोपह्वान के (बदले-के उपह्वान के) रूप में दूसरा मन्त्र पढ़े । इस प्रत्युपह्वान का विधान ब्राह्मण वाक्य करता है—'मुखमिव ·· पशूनुपह्वयते' इति । 'होता के मुख की ही ओर देखकर मन्त्र पाठ करे'—यह ब्राह्मण वाक्य का तात्पर्य है ।

ब्राह्मण वाक्य अध्वर्यु और यजमान के द्वारा, होता के हाथ में रक्खी हुई इडा के स्पर्श का विधान करता है—'पशवो वा···यजमानेन च' इति । इडा पशु स्वरूप है, इसलिए अध्वर्यु और यजमान उसका (इडा का) स्पर्श करे । ब्राह्मण वाक्य-अध्वर्यु और यजमान के द्वारा पठनीय मन्त्रान्तर[3] की कल्पना[4] करता है —'उपहूत···देवतानामुपह्वे' इति । मैं[5] अध्वर्यु, देवताओं से अनुज्ञा प्राप्त करके तदनन्तर इडा भक्षण के द्वारा पशुमान् बन जाऊँ । यजमान[6] पक्ष में भी इसी प्रकार मन्त्रार्थ की योजना करे । यह मन्त्र पाठ किस समय होना चाहिये ? इसका उत्तर देते हैं—**इडार्थम्** इति । जब होता इडाभक्षण के लिए देवताओं से अनुज्ञा ले रहा होता है, और उसके बीच में ही जब वह (होता) इन दोनों अध्वर्यु और यजमान का उपह्वान करता है, उस[7] समय इस मन्त्र को पढ़े ।

दैव्या इति । दैव्या अध्वर्यव उपहूताः - देव संबंधी अध्वर्युओं का उपह्वान हो चुका है, 'उपहूतोऽयं यजमानः

---

१. जिस काण्ड में होतृ – पठनीय मन्त्रों का संग्रह है, वही भाष्योक्त हौत्रकाण्ड (होता संबन्धी-काण्ड) है ।

२. यह अनुवाक तैत्तिरीय संहिता के दूसरे काण्ड के छठे प्रपाठक का सातवाँ है, इसका नाम 'इडोपाह्वान' है ।

३. 'उपहूतः पशुमान् भवानि' इस मन्त्र की ।

४. यह मन्त्र संहिता में उपलब्ध नहीं है, केवल ब्राह्मण में ही उपलब्ध है, इसीलिए भाष्यकार ने 'मन्त्रान्तरमत्पादयति' ऐसा कहा ।

५. यहाँ से 'उपहूत···' इत्यादि मन्त्र का अर्थ प्रारम्भ होता है ।

६. यह मन्त्र यजमान के द्वारा भी पढ़ा जाता है—इसलिए यजमान पक्ष में इसका अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—मैं यजमान देवताओं से अनुज्ञा लेकर तदनन्तर इडा भक्षण के द्वारा पशुमान् हो जाऊँ ।

७. उपह्वान के अनन्तर ।

माभ्यां तयोरुपह्वः। तदनन्तरं पठेदित्यर्थः।

तद्वेदनं प्रशंसति—"उपहूतः पशुमान्भवति य एवं वेद" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति। अवान्तरेडाया अवदानं तदुपाह्वानं च वाक्प्राणदेवतयोः प्रियमिति स्तौति—"यां वै हस्त्यामिडामादधाति। वाचः सा भागधेयम्। यामुपह्वयते। प्राणानाꣳ सा। वाचं चैव प्राणाꣳश्चावरुन्धे" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति।

पुरोडाशस्य बर्हिषिस्थापनं विधातुं प्रस्तौति "अथ वा एतर्ह्युं हूतायामिडायाम्। पुरोडाशस्यैव बर्हिषदो मीमाꣳसा" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति।

इडावदानानन्तरं होत्रा तस्यामिडायामुपहूतायां सत्यामवशिष्टस्य पुरोडाशस्यैतस्मिन्नेव काले बर्हिस्थापनसंबंधिनी काचिन्मीमांसा भवति। किं पुरोडाशो बर्हिषि स्थापनीयो न वेति। तत्र प्रयोजनाभावादस्थापनमिति प्राप्ते प्रयोजनं देवतानां सभागत्वमिति मत्वा विधत्ते—"यजमानं देवा अब्रुवन्। हविर्नो निर्वपेति। नाहमभागो निर्वप्स्यामीत्यब्रवीत्। न मयाऽभागयाऽनुवक्ष्यथेति वागब्रवीत्। नाहमभागा पुरोऽनुवाक्या भविष्यामीति पुरोऽनुवाक्या। नाहमभागा याज्या भविष्यामीति याज्या। न मयाऽभागेन

इस यजमान का भी उपह्व हो गया है' इन दो मन्त्रावयवों के द्वारा—क्रमशः—उनका (अध्वर्यु और यजमान का) उपह्व होता है। इस उपह्व के अनन्तर—अध्वर्यु और यजमान 'उपहूतः पशुमान् असानि' इस मन्त्र को पढ़े, यह तात्पर्य है।

तद्वेदनम् इति। ब्राह्मण वाक्य उसके[1] ज्ञान की स्तुति करता है—'उपहूतः···य एवं वेद' इति। जो इस प्रकार जानता है कि अनुमति लेकर इडा भक्षण करना चाहिये वह पशुमान् होता है। अर्थात् उसके घर बहुत पशु होते हैं।

अवान्तरे इति। अवान्तर इडा का अवदान और उसका उपह्वान दोनों क्रमशः वाग्देवता और प्राणदेवता को प्रिय हैं—ऐसा कहकर ब्राह्मण वाक्य उन दोनों[2] की स्तुति करता है—'यां वै···चावरुन्धे' इति। हाथ में अपने योग्य जिस इडा[3] को होता के हाथ में रखता[4] है, वह वाग्देवता का भाग है, जिस इडा का उपह्वान करता[5] है वह प्राणों का भाग है। ऐसा करके वह वाक् और प्राणों का अर्जन करता है। अर्थात् यजमान को वाग्मी और प्राणवान् बनाता है।

पुरोडाशस्य इति। पुरोडाश को कुश के ऊपर रखने का विधान करना है, इसके लिए ब्राह्मण वाक्य—एक विचार—प्रस्तुत करता है—'अथवा···मीमांसा' इति।

इडावदाना इति। इडावदान के अनन्तर जब होता के द्वारा उस इडा का उपह्वान हो चुका हो तो इसी समय अवशिष्ट पुरोडाश को कुश के ऊपर रखने के संबन्ध में कुछ विचार होता है कि पुरोडाश को कुश पर रखना चाहिये कि नहीं? उसमें पूर्वपक्ष यही है कि निष्प्रयोजन होने के कारण—पुरोडाश को कुश पर—नहीं रखना चाहिये। उत्तर पक्ष यह है कि देवताओं का सभागत्व अवशिष्ट पुरोडाश को कुश पर रखने का प्रयोजन है। तात्पर्य यह है कि यदि अवशिष्ट पुरोडाश

---

१. अनुमति लेकर इडा भक्षण के ज्ञान की।
२. अवान्तर इडा का अवदान और उसका उपह्व इन दोनों की।
३. इडा के भाग को।
४. अध्वर्यु रखता है।
५. होता उपह्वान करता है।

वषट् करिष्यथेति वषट्कारः । यद्यजमानभागं निधाय पुरोडाशं बर्हिषदं करोति । तानेव तद्भागिनः करोति" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति ।

यजमानवागाद्यभिमानिदेवता भागरहिताः स्वस्वव्यापारं न कुर्वन्ति । ततो यजमानस्यैकं पुरोडाशभागं पृथङ्निधायावशिष्टं पुरोडाशं बर्हिषि स्थापयेत् । तेन स्थापनमात्रेण वयं भागिन इति देवानां तुष्टिर्भवति ।

स्थापितस्य विभागं विधत्ते—"चतुर्धा करोति । चतस्रो दिशः । दिक्ष्वेव प्रतितिष्ठति" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति । पुनः पूर्वविधिमनूद्य प्रशंसति—"बर्हिषदं करोति । यजमानो वै पुरोडाशः ।

को कुश के ऊपर रक्खा जाएगा तो देवता भी उसमें भागी बन सकेंगे । इसी विचार से ब्राह्मण वाक्य कुशों पर पुरोडाश को रखने का—विधान[1] करता है— 'यजमानं देवा अब्रुवन्'''तद्भागिनः करोति' इति ।

यजमान[2] इति । यजमान[3] वाक् आदि अभिमानी (अधिष्ठातृ) देवता यदि भाग रहित हैं तो वे अपना-अपना काम नहीं करते । इसलिए पुरोडाश से यजमान का एक भाग—निकालकर—पृथक् रख दे । और शेष को कुश पर स्थापित कर दे । इस स्थापना मात्र से 'हम भी इसमें हिस्सेदार हैं' ऐसा समझकर देवताओं की तुष्टि होती है ।

स्थापितस्य इति । ब्राह्मण वाक्य कुश पर स्थापित पुरोडाश के विभाग का विधान करता है—'चतुर्धा[4]'''

---

१. इस ब्राह्मण संदर्भ में 'पुरोडाशं बर्हिषदं करोति' इतना अंश विधि है, शेष अर्थवाद है ।

२. यहाँ से 'यजमानं देवा'''' इत्यादि ब्राह्मण संदर्भ का भाष्यकृत तात्पर्य निरूपण प्रारम्भ होता है ।

३. भाष्यकार ने अत्यन्त सुगम होने के कारण अति संक्षेप में उपर्युक्त ब्राह्मण संदर्भ का तात्पर्य मात्र बताया है, उसकी व्याख्या नहीं की है, तथापि हम यहाँ उसका अक्षरशः अनुवाद दे रहे हैं । 'देवताओं ने यजमान से कहा—हमारे लिए हवि का निर्वाप करो, यजमान ने कहा—कि यदि उसमें मेरा भाग नहीं होगा तो मैं हवि निर्वाप नहीं करूँगा, वाक् ने कहा यदि उसमें मेरा भाग नहीं होगा तो मैं तुम्हारा अनुवचन नहीं करूँगी, पुरोनुवाक्या ने कहा यदि मेरा भाग नहीं होगा तो मैं पुरोनुवाक्या नहीं बनूंगी । याज्या ने भी कहा कि मैं भाग रहित होकर याज्या नहीं, वषट्कार ने कहा कि यदि मेरा भाग नहीं होगा तो मैं तुम्हारे लिए वषट्कार नहीं करूँगा, यह जो यजमान का भाग पृथक् रखकर पुरोडाश को कुश के ऊपर रखता है, ऐसा करने से वह उन्हें ही (यजमान-आदि अधिष्ठातृ देवताओं को ही) उसमें (पुरोडाश में) भागी (हिस्सेदार) बनाता है ।' उपर्युक्त ब्राह्मण में 'अनुवाक्या' 'याज्या' आदि शब्द आए हैं, इनके विषय में पहले भी कुछ लिखा जा चुका है, यहाँ भी थोड़ा बहुत परिचय करा देते हैं । 'पुरः=यागात् पूर्वम्, देवतामनुकूलयितुं या ऋग् उच्यते-सा पुरोनुवाक्या ।' यह पुरोनुवाक्या शब्द की व्युत्पत्ति है । 'पुरोनुवाक्या' उस ऋचा का नाम है जो याग से पूर्व अध्वर्यु के प्रैष के बाद होता के द्वारा बोली जाती है, इसके अन्त में चतुर्मात्र प्रणव (ॐ) जोड़ा जाता है । उदाहरणार्थ जैसे 'राकाया अनुब्रूहि' इस प्रकार होता के प्रति अध्वर्यु का प्रैष हो जाने पर अध्वर्यु अनुवाक्या पढ़ता है—

'राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतुत्मना । सीव्यत्वपः सूच्याऽच्छिद्यमानाया ददातुवीरं शतदायमुक्थ्यो३म्' इति । जिस मन्त्र के आदि में 'ये ३ यजामहे' बोला जावे और अन्त में 'वौषट्' कहा जावे उसे याज्या कहते हैं । 'वौषट्' शब्द का उच्चारण ही 'वषट्कार' कहलाता है ।

४. 'चतुर्धा करोति' इतना अंश विधि है । शेष अर्थवाद है ।

प्रजा बर्हिः। यजमानमेव प्रजासु प्रतिष्ठापयति। तस्मादस्थ्नाऽन्याः प्रजाः प्रतितिष्ठन्ति। माꣳसेनान्याः" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति।

यस्मात्कठिनस्य बर्हिषि स्थापितस्य पुरोडाशस्य मृदुनो बर्हिषश्च संयोगस्तस्मात्कृशदेहाः काश्चित्कठिनेनास्थ्ना प्रतितिष्ठन्ति स्थूलकायास्तु मांसेन।

प्रकारान्तरेण तमेव विधिं प्रशंसन्ति—"अथो खल्वाहुः। दक्षिणा वा एता हविर्यज्ञस्यान्तर्वेद्यवरुध्यन्ते। यत्पुरोडाशं बर्हिषदं करोति" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति।

पुरोडाशहविष्को हविर्यज्ञः। तस्य बर्हिषि पुरोडाशस्थापनं यत्, एतास्त्वृत्विजां वेदिमध्ये दक्षिणा एवावरुद्धाः। विध्यन्तरमनूद्य प्रशंसति—"चतुर्धा करोति। चत्वारो ह्येते हविर्यज्ञस्यार्त्विजः। ब्रह्मा होताऽध्वर्युरग्नीत्" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति।

तत्तद्भागस्य निर्देशं विधत्ते—"तमभिमृशेत्। इदं ब्रह्मणः। इदꣳहोतुः। इदमध्वर्योः। इदमग्नीध इति। यथैवादः सौम्येऽध्वरे। आदेशमृत्विग्भ्यो दक्षिणा नीयन्ते। तादृगेव तत्"। (तै० ब्रा०

प्रतितिष्ठति' इति। पुरोडाश के चार भाग करे, चार दिशाएँ हैं, पुरोडाश के चार भाग करके चारों दिशाओं में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। ब्राह्मण वाक्य पुनः पूर्वविधि[1] का अनुवाद करके उसकी प्रशंसा करता है—'बर्हिषदं करोति···मा सेनान्याः' इति। पुरोडाश को कुशस्थ बनाये, अर्थात् पुरोडाश को कुश के ऊपर रक्खे। यजमान पुरोडाश है, और प्रजा कुश है, पुरोडाश को कुश पर रखकर अध्वर्यु यजमान को प्रजा में प्रतिष्ठित करता है। इसीलिए कोई लोग हड्डी के सहारे रहते हैं और कोई माँस के।

यस्मात् इति। क्योंकि कुश पर स्थापित कठिन (करारे) पुरोडाश का और कोमल कुश का संयोग होता है इसलिए कृश शरीर वाले कुछ लोग कठिन अस्थि के (हड्डी के) सहारे जीवित रहते हैं और दूसरे स्थूल शरीर वाले मांस के सहारे।

प्रकारान्तर से उसी विधि की (कुश पर पुरोडाश के रखने के विधान की) स्तुति करते हैं—'अथो···बर्हिषदं करोति' इति।

पुरोडाश[2] इति। जिस यज्ञ में पुरोडाश रूप हवि हो उसे हविर्यज्ञ कहते हैं। पुरोडाश की कुश पर स्थापना मानो ऋत्विजों के लिए वेदि के मध्य में उस हविर्यज्ञ की दक्षिणाओं का ही संपादन है। दूसरी विधि का ('चतुर्धा करोति इस विधि का) अनुवाद करके उसकी प्रशंसा करते हैं—'चतुर्धा···यज्ञस्यर्त्विजः' इति। पुरोडाश के चार भाग करता है, ये चार ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और अग्नीध् (आग्नीध्र) हविर्यज्ञ के ऋत्विज् हैं। अर्थात् पुरोडाश के चार भाग इन चार ऋत्विजों के लिए हैं।

तत्तद् इति। ब्राह्मण वाक्य प्रत्येक भाग के निर्देश करने का विधान करता है—अर्थात् चतुर्धा विभक्त पुरोडाश का कौन सा भाग किसके लिए है, यह स्पष्ट रूप से नाम लेकर बताने की आज्ञा देता है—'तमभिमृशेत्···इदमग्नीध'

---

१. पुरोडाश को कुश पर रखने का विधान विचार पूर्वक पहले किया जा चुका है। यहाँ उसकी स्तुति करने के लिए 'बर्हिषदं करोति' से उसका अनुवाद हुआ है।

२. यहाँ से 'अथो' इत्यादि भाष्योद्धृत ब्राह्मण वाक्य का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

३।३।८) इति ।

यथा सोमयागे माध्यंदिनसवने दक्षिणार्थानि द्रव्याणि वेद्यां कृष्णाजिने प्रसार्य इदमस्येदमस्येत्यादिश्य दक्षिणा नीयन्ते, तद्वदिदं निर्देशनं द्रष्टव्यम् ।

निर्दिष्टानां भागानां यौगपद्यनिवारणाय क्रमं विधत्ते—"अग्नीधे प्रथमायाऽऽदधाति । अग्निमुखा ह्यृद्धिः । अग्निमुखामेवर्द्धि यजमान ऋध्नोति" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति । अग्निः कृत्स्नयागहेतुत्वात्समृद्धिहेतुः । तमग्निमिन्ध इत्यग्नीत् । ततोऽस्य प्राथम्यं युक्तम् । आग्नीध्रस्य हस्ते भागाधानप्रकारं विधत्ते—"सकृदुपस्तीर्य द्विरादधत् । उपस्तीर्य द्विरभिघारयति । षट् संपद्यन्ते । षड्वा ऋतवः ऋतूनेव प्रीणाति" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति ।

अस्य विधेस्तात्पर्यं बौधायन एकप्रकारेणाऽऽह—"उपहूतायामिडायामग्नीध आदधाति षडवत्त-

---

इति । 'यथैवादः—तादृगेव तत्' इति । उस भाग को स्पर्श करके कहे—यह ब्रह्मा का भाग है, यह होता का है, यह अध्वर्यु का है, और यह आग्नीध्र का है ।

यथा इति । जैसे सोमयाग में माध्यन्दिन[1] सवन में दक्षिणार्थ द्रव्यों (वस्तुओं) को वेदि पर कृष्णाजिन के ऊपर फैलाकर 'यह अमुक के लिए है, यह अमुक के लिए है' इस प्रकार कहकर दक्षिणाओं का नयन (निर्देशन) होता है, उसी प्रकार का यह (पुरोडाश भाग संबन्धी) निर्देशन भी समझिये ।

निर्दिष्ट भागों का—वितरण—एक साथ न हो—किन्तु क्रमशः हो—इसलिए श्रुति क्रम का विधान करती है—'अग्नीधे···ऋध्नोति' इति । पहले अग्नीध् को देवे, क्योंकि अग्नि के द्वारा ही ऋद्धि प्राप्त होती है, यजमान अग्नि द्वारा प्राप्त ऋद्धि से ही समृद्धिमान् होता है । भाष्यकार उक्त ब्राह्मण श्रुति का तात्पर्य बताते हैं—**अग्निः** इति । सकल याग का हेतु होने के कारण अग्नि समृद्धि का हेतु है । उस अग्नि को अग्नीध् इद्ध (दीप्त) करता है, इसलिए उसे अग्नीध् (अग्नि[2] + इध्) कहते हैं । अतः उसकी (अग्नीध् की प्रथमता) युक्तियुक्त है । हवि वितरण के समय यदि पहला स्थान आग्नीध्र को दिया जाता है तो वह उचित ही है – **यह तात्पर्य है** । आग्नीध्र के हाथ में हविर्भाग रखने का प्रकार श्रुति बताती है—'सकृत···द्विरभिघारयति' इति । एक बार उपस्तरण करे—घृत चुवावे, दो बार करके हवि को आग्नीध्र के हाथ में रक्खे, फिर घृत चुवावे, दो बार अभिघारण करे—अर्थात् आग्नीध्र के हाथ पर रक्खी हुई हवि को दो बार घृत से सिक्त करे । इस प्रकार छ संख्या संपन्न[3] हो जाती है, छः ही ऋतुएँ होती हैं, ऐसा करके (उपर्युक्त सख्या के अनुसार—उपस्तरण आदि करके) अध्वर्यु ऋतुओं को (ऋतुओं की अधिष्ठात्री देवताओं को) तृप्त करता है ।

इस (उपर्युक्त ब्राह्मण प्रतिपादित) विधि का तात्पर्य बौधायन इस प्रकार बताता है—**उपहूतायाम्** इति । इडा

---

१. 'माध्यन्दिन सवन' एक कर्म विशेष है; इसका विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए 'श्रौत पदार्थनिर्वचनम्' यह पुस्तक देखिये । 'यथैवादः···' इत्यादि ब्राह्मण संदर्भ में 'आदेशम्' यह णमुलन्त पद है ।

२. 'ञिइन्धी दीप्तौ' इस रुधादिगण के धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'अग्नीध्' शब्द बनता है—अग्निम् इन्धे = दीपयति-इति अग्नीद् ।

३. एक बार उपस्तरण, दो बार हवि स्थापन, फिर एक बार उपस्तरण और अन्त में दो बार अभिघारण—इस प्रकार छः संख्या बनती है ।

मुपस्तृणात्यादधात्यभिघारयति" (बौ० श्रौ० १।१८) इति । आपस्तबस्त्वन्यथा ब्रूते—"द्विरुपस्तृणाति। द्विरादधाति। द्विरभिघारयति" (आप० श्रौ० ३।३।७) इति।

विधत्ते—"वेदेन ब्रह्मणे ब्रह्मभागं परिहरति। प्राजापत्यो वै वेदः। प्राजापत्यो ब्रह्मा। सविता यज्ञस्य प्रसूत्यै" (तै०ब्रा० ३।३।८) इति। परिहारः प्रदानम्। यथा प्रजापतिरन्तर्यामितया प्रेरक एवं ब्रह्माऽपि तदा तदाऽनुज्ञया यज्ञस्य प्रवर्तक इति ब्रह्मणः प्राजापत्यत्वम्।

का उपूह्य करने के अनन्तर आग्नीध्र के हाथ पर षडवत्त[1] हवि रक्खे, उपस्तरण, आधान और अभिघारण करे। किन्तु आपस्तम्ब दूसरे[2] ही प्रकार से—उपर्युक्त ब्राह्मण प्रतिपादित—विधि का तात्पर्य लिखता है—द्विरूप इति। दो बार उपस्तरण करे, दो बार आधान करे (आग्नीध्र के हाथ पर हवि रक्खे), और दो बार अभिघारण[3] करे।

ब्रह्म का भाग ब्रह्मा को किस प्रकार दिया जाय इसका विधान श्रुति करती है—'वेदेन···प्रसूत्यै' इति। वेद से (कुशमुष्टि से) ब्रह्मा के भाग को—उठाकर—ब्रह्मा को देवे। वेद का अधिष्ठातृ देवता प्रजापति है। ब्रह्मा भी प्रजापति[4] के

---

१. पहले एक (१) उपस्तरण, फिर हवि के कुछ अंश का आग्नीध्र के हाथ में स्थापन, (२) तदनन्तर हवि का अभिघारण (३) (घृत से सेचन), फिर एक बार उपस्तरण, (४) फिर आग्नीध्र के भाग से बची हुई हवि को उसके हाथ पर रखना, (५) फिर एक बार अभिघारण (६) इसी को 'षडवत्त' कहते हैं।

२. आपस्तम्ब ने 'द्विरुपस्तृणाति···' इत्यादि सूत्र विकल्प में लिखा है, आपस्तम्ब का मूल सूत्र 'अपि वा' शब्द से आरम्भ होता है, जिससे स्पष्ट है कि यह पक्षान्तर है। मुख्य पक्ष उनका ब्राह्मणोक्त ही है। क्योंकि उन्होंने (आपस्तम्ब ने) ब्राह्मणोक्त वाक्य को ही ज्यों का त्यों अपने ग्रन्थ में प्रथम पक्ष के रूप में लिखा है—देखो आ० श्रौ० सू० प्रश्न ३, कण्डिका ३, सूत्र ६। इसका स्पष्टीकरण श्री रुद्रदत्त ने इस प्रकार किया है—आग्नीध्र के हाथ में पहले उपस्तरण करे, फिर हवि के दो भाग करके, एक आग्नीध्र के हाथ में रख दे, फिर उपस्तरण करे, तदनन्तर हवि का दूसरा भाग आग्नीध्र के हाथ में रखे, सर्वान्त में दो बार अभिघारण करे।

३. इस पक्ष में उपस्तरण आदि क्रमशः दो दो बार होंगे। बौधायन के सूत्र से भी षडवत्तता का क्रम स्पष्ट नहीं होता। उसकी व्याख्या भी हमें कोई नहीं मिली 'श्रौतपदार्थनिर्वचन' के आधार पर हमने बौधायनोक्त सूत्र का क्रम लिखा है। यद्यपि निर्वचनकार ने भी बौधायन के नाम का उल्लेख नहीं किया है तथापि आपस्तम्ब से भिन्न होने के कारण हमने उसे यहाँ बौधायन का मत मान लिया है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का व्याख्यान रुद्रदत्तातिरिक्त व्याख्याताओं ने कुछ और तरह से किया है—'कस्मिंश्चित् पात्रे सकृदुपस्तीर्य, आग्नीध्र भागं द्वेधा कृत्वा, एकं भागं पात्रेऽवधाय, पुनरुपस्तीर्य, अपरमवधाय, द्विरभिघारणं कृत्वा प्रयच्छति पात्रमग्नीधे, इति।' रुद्रदत्त के मतानुसार आग्नीध्र के हाथ में हवि रक्खी जाती है, यहाँ किसी पात्र में। और वह पात्र ही आग्नीध्र को दिया जाता है। यही दोनों व्याख्याओं का अन्तर है। देखो मैसूर मुद्रित आ० श्रौ० सू० प्रश्न ३, पटल १, कण्डिका ३, सूत्र ६ की ४ अङ्क वाली टिप्पणी।

४. वेद को भी 'प्राजापत्य' कहा गया है और ब्रह्मा को भी। 'प्राजापत्य' शब्द का साधारण अर्थ है—प्रजापति सम्बन्धी। वेद के साथ प्रजापति का सम्बन्ध है—स्व स्वामिभाव—इसलिए 'प्राजापत्यो वेदः' का अर्थ हमने किया कि 'वेद का अधिष्ठातृ देवता प्रजापति है।' ब्रह्मा के साथ प्रजापति का सम्बन्ध है—सादृश्य, इसलिए 'प्राजापत्यो ब्रह्मा' का अर्थ हमने किया 'प्रजापति सदृश'। सादृश्य प्रयोजक धर्म ऊपर अनुवाद में ही देखो।

वेदव्यतिरिक्तसाधनेन येन केनापि प्रक्रान्तपात्रेण भागान्तरं देयमित्याह "अथ काममन्येन" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति। होतुर्ब्रह्मानन्तर्यं विधत्ते—"ततो होत्रे। मध्यं वा एतद्यज्ञस्य यद्धोता। मध्यत एव यज्ञं प्रीणाति" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति।

सामिधेनीरारभ्योपरिष्टादेव होतुर्व्यापाराद्यज्ञमध्यत्वम्। अध्वर्योर्होत्रानन्तर्यं विधत्ते—"अथा- ध्वर्यवे। प्रतिष्ठा वा एषा यज्ञस्य। यदध्वर्युः" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति। प्रतिष्ठा समाप्तिः।

सदृश ही है, क्योंकि वह यज्ञ का प्रवर्तक है। वेद द्वारा ब्रह्मा के भाग को समर्पण करना प्रजापति की अभ्यनुज्ञा प्राप्ति के लिए है। श्रुति वाक्य में 'परिहरति' पद सूचित परिहार का तात्पर्य है—प्रदान करना, देना। जैसे प्रजापति अन्तर्यामी होने के कारण प्रेरक है, इसी प्रकार ब्रह्मा भी यज्ञ में—समय समय पर अनुज्ञा द्वारा यज्ञ का प्रवर्तक है। इसीलिए ब्रह्मा को प्राजापत्य कहा गया।

ब्रह्मा को उसका भाग कुशमुष्टि (वेद) के द्वारा दिया गया शेष भाग उनके भागियों को किस पात्र के द्वारा दिया जाय, यह बताने के लिए भाष्यकार कहते हैं—**वेद व्यतिरिक्त** इति। दूसरे भागों को वेद से अतिरिक्त जिस किसी भी प्रक्रान्त[1] पात्र से दे देवे—ऐसा श्रुति कहती है—'अथ[2] काममन्येन[3]' इति। ब्रह्मा के बाद होता को देवे—ऐसा श्रुति विधान करती है—'ततो होत्रे···प्रीणाति' इति। ब्रह्मा के बाद होता को देवे, होता यज्ञ का मध्य है, मध्य[4] से ही यज्ञ[5] की तृप्ति होती है।

सामिधेनीरिति। सामिधेनियों का आरम्भ करके उसके आगे ही होता का व्यापार (काम) होता है, इसीलिए होता को यज्ञ का मध्य कहा। तात्पर्य यह है कि आघार[6] नामक यज्ञ करने से पहले अग्नि को प्रदीप्त करना पड़ता है, अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए आहवनीय कुण्ड में पन्द्रह समिधाएँ डाली जाती हैं, उससे पूर्व अध्वर्यु होता के प्रति 'अग्नये समिध्य-मानायानुब्रूहि' यह प्रैष करता है, इसके अनन्तर होता 'सामिधेन' ऋचाओं का पाठ करता है, मन्त्रों के उच्चारण काल में अग्नि में समिधाएँ (ईंधन) डाली जाती हैं, तब प्रदीप्त अग्नि में ही आघार नामक यज्ञ होता है। प्रकृत में 'सामिधेनियों का आरम्भ करके' से तात्पर्य यह है कि 'सामिधेनी ऋचाओं के उच्चारण के लिए होता के प्रति प्रैष का आरम्भ करके'। प्रैष और आघार याग के मध्य में ही होता का कार्य होता है, इसीलिए उसे यज्ञ का मध्य कहा गया। होता के बाद अध्वर्यु की

---

१. यज्ञ में विद्यमान पात्र ही 'प्रक्रान्त पात्र' हैं। यज्ञिय पात्रातिरिक्त किसी लौकिक पात्र की यहाँ आवश्यकता नहीं है। होता को उसका भाग स्रुव से देवे।

२. 'अथ' शब्द का 'अनन्तर' अर्थ है, ब्रह्मा को देने के बाद।

३. 'कामम्' का अर्थ है—'अपनी इच्छा के अनुसार' किसी भी दूसरे यज्ञ पात्र से।

४. आदि में तृप्ति का आरम्भ होता है, तृप्ति की पूर्णता का आरम्भ मध्य से होता है।

५. यज्ञ की तृप्ति का तात्पर्य है यज्ञ की सम्पन्नता। अथवा 'यज्ञ की तृप्ति' से यज्ञाधिष्ठातृ देवता की तृप्ति समझिये। जिसके उद्देश्य से यज्ञ किया जा रहा है, वही यज्ञाधिष्ठातृ देवता है।

६. देखो बारहवें अनुवाक का प्रारम्भिक सायण भाष्य।

समिष्टयजुर्होमपर्यन्तं यज्ञमध्वर्युः समापयति ।

आग्नीध्रमारभ्याध्वर्युपर्यन्तं क्रममन्वाहार्यादिदक्षिणायामतिदिशति—"तस्माद्धविर्यज्ञस्यैतामेवाऽऽवृतमनु । अन्या दक्षिणा नीयन्ते । यज्ञस्य प्रतिष्ठित्यै (तै० ब्रा० ३।३।८) इति । आवृत्प्रकारः ।

बारी है--इसका विधान श्रुति करती है— 'अथाध्वर्यवे···यदध्वर्युः' इति । होता के बाद अध्वर्यु अपना[1] भाग ग्रहण करे। अध्वर्यु यज्ञ की प्रतिष्ठा है। प्रतिष्ठा का अर्थ यहाँ 'समाप्ति'[2] है। 'समिष्टयजुर्होम' तक सारा यज्ञ अध्वर्यु ही समाप्त (सम्पन्न) करता है। 'समिष्टयजुर्होम' एक कर्म विशेष है, अध्वर्यु दाहिने पाँव को वेदि के मध्य में रखकर ध्रुवा से मन्त्र पूर्वक आहुति देता है। आहुति जिस मन्त्र से दी जाती है, उसे 'समिष्ट यजुः' कहते हैं। कर्म का नाम 'समिष्टयजुर्होम' है।

आग्नीध्र इति। आग्नीध्र से लेकर अध्वर्यु पर्यन्त—हविर्भाग प्रदान का जो क्रम पहले बताया गया है—उसी क्रम का अतिदेश, श्रुति अन्वाहार्य[3] आदि दक्षिणा में भी करती है—अर्थात् ऋत्विजों को जिस क्रम से हविर्भाग दिया गया है, उसी क्रम से उन्हें दक्षिणा भी दी जानी चाहिये—ऐसा श्रुति कहती है—'तस्माद्धवि··प्रतिष्ठित्यै' इति। इसलिए हविर्यज्ञ के इसी प्रकार[4] (इसी रीति) का अनुकरण करके—ऋत्विजों को—अन्य दक्षिणाएँ दी जाती हैं, यज्ञ[5] की प्रतिष्ठा के लिए। 'आवृत्'[6] शब्द का अर्थ है—प्रकार, अर्थात् रीति या विधि।

---

१. यद्यपि श्रुति में 'अध्वर्यवे' यह चतुर्थ्यन्त पाठ है, इसके आगे 'परिहरति ददाति' का अध्याहार करने से यह प्रतीत होता है कि अध्वर्यु को उसका भाग देने वाला कोई दूसरा व्यक्ति है। परन्तु बात ऐसी नहीं यहाँ तो अध्वर्यु अपना भाग स्वयं जुहू द्वारा ले लेता है। आपस्तम्बीय दर्श, पौर्ण पद्धति में लिखा है—'स्रुवेण होतुर्भागं होत्रे प्रयच्छेत्, तथा स्वभागं जुह्वा स्वस्मै प्रयच्छेत् ।' होता का उसका भाग स्रुव से देवे और अपने भाग को जुहू द्वारा अपने लिए देवे।

२. वस्तुतः 'प्रतिष्ठा' का तात्पर्य यहाँ, 'स्थिति हेतुत्व' से है, अथवा 'यज्ञ स्वरूप निर्मातृत्व' से है। अध्वर्यु ही मुख्य रूप से यज्ञ की स्थिति का हेतु है, वही यज्ञ स्वरूप का निर्माता है। यज्ञ की समाप्ति तक स्तोत्र शास्त्र पाठ के अतिरिक्त सारा काम अध्वर्यु और उसका सहायक 'अग्नीध्' ही करते हैं।

३. 'अन्वाहार्य' शब्द का अर्थ है—दक्षिणाग्नि में अच्छी तरह पका हुआ भात। यह भात ऋत्विजों को दक्षिणा के रूप में दिया जाता है। 'अनु=यागानन्तरम्, ऋत्विग् भोजनार्थम् आह्रियते' इति अन्वाहार्यम्। यह अन्वाहार्य शब्द की व्युत्पत्ति है।

४. हविर्यज्ञ में पुरोडाश के चार भाग करके पहले 'अग्नीध्' को हविर्भाग दिया जाता है, तदनन्तर ब्रह्मा को, ब्रह्मा के बाद होता को, होता के अनन्तर अध्वर्यु को। यही हविर्दान के क्रम का प्रकार है -रीति। इसी प्रकार का (क्रम का) अनुसरण दक्षिणा देने के समय भी करना चाहिये।

५. गीता के १७ वें अध्याय के १३वें श्लोक में दक्षिणा रहित यज्ञ को तामस यज्ञ कहा गया है, 'अदक्षिणो हतो यज्ञः' इत्यादि वाक्य भी दक्षिणा रहित यज्ञ को हत=असम्पन्न या असफल बताते हैं, सफलता ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है।

६. यह 'आवृत्' शब्द भाष्योद्धृत 'तस्माद्धविर्यज्ञस्य···' इत्यादि ब्राह्मण श्रुति में आया है।

आग्नीध्रं प्रति प्रैषमुत्पादयति—"अग्निमग्नीत्सकृत्सकृत्संमृड्ढीत्याह। पराङिव ह्येतर्हि यज्ञः" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति। वीप्सया परिधिसंमार्जनमपि लभ्यते। अस्मिन्काले समाप्तप्रायत्वाद्यज्ञः पराङ्मुख इव वर्तते। ततः सकृत्संमार्जनं पर्याप्तिम्।

अथ होतारं प्रत्यस्ति कश्चित्प्रैषमन्त्रः—"इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय सूक्ता ब्रूहि" (बौ० श्रौ० १।१९, द्र० श० ब्रा० १।९।१।१) इति। भद्रं फलं तस्य वाच्यं वचनं तदर्थमग्निर्होता (तै० आ० ३।३) इत्यादिश्रुतिसिद्धा दैव्या होतारः परमेश्वरेण प्रेषिताः। इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत् (तै० आ० ३।३) इत्याद्यनुवाकः सूक्तं, तस्य वाको वचनं, तदर्थं मानुषो होता प्रेषितः। अतो हे होतस्त्वं तत्सूक्तं ब्रूहि।

तमिमं मन्त्रमुत्पाद्य तत्रेषितपदस्य भद्रवाच्यायेति पदस्य च तात्पर्यं व्याचष्टे—"इषिता दैव्या होतार इत्याह। इषितꣳहि कर्म क्रियते। भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय सूक्ता ब्रूहीत्याह। आशिषमेवैतामाशास्ते" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति।

ऋषि आग्नीध्र के प्रति प्रैष वाक्य की कल्पना करता है—'अग्निमग्नीत्···यज्ञः' इति। हे अग्नीद्! तुम एक एक बार अग्नि का संमार्जन करो। क्योंकि इस समय यज्ञ पराङ्मुख जैसा हो रहा है—अर्थात् समाप्त हो रहा है। वीप्सा[1] से ('सकृत्' शब्द का प्रयोग दो बार करने से) परिधियों[2] का संमार्जन भी प्राप्त हो जाता है। इस काल में यज्ञ समाप्त प्रायः होने के कारण पराङ्मुख जैसा हो रहा है। इसलिए एक बार ही संमार्जन पर्याप्त है।

अथ इति। होता के प्रति भी कोई प्रैष मन्त्र—उच्चारणीय—होता है, वह है—'इषिता···सूक्ताब्रूहि' इति। 'भद्र'[3] का अर्थ है फल, उसका वाच्य=कथन उसके लिए अर्थात् फलोक्ति[4] के लिए अग्निर्होता···' इत्यादि श्रुति से सिद्ध देव सम्बन्धी होताओं को परमेश्वर ने भेजा, 'इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्' इत्यादि अनुवाद ही सूक्त है, उसका वाक=वचन, अर्थात् सूक्तोच्चारण, उसके[5] लिए मनुष्य होता भेजा गया है, अतः, हे होता! तुम उस सूक्त का उच्चारण करो।

तमिमम् इति। इस[6] प्रैष मन्त्र की कल्पना करके, उसमें[7] आए हुए 'इषिताः' इस पद का और 'भद्रवाच्याय' इस पद का तात्पर्य ब्राह्मण श्रुति बताती है—'इषिता···ब्रूहीत्याह···आशास्ते' इति। 'इषिता दैव्या होतारः' यह इसलिए कहते हैं कि 'इषित' अर्थात् परमेश्वर अथवा ब्रह्मा के द्वारा अनुज्ञात कर्म ही किया जाता है। 'भद्रवाच्याय···' इत्यादि प्रैष मन्त्र बोलकर भद्रवचन रूप और सूक्तोच्चारण रूप मनोरथ की ही यजमान कामना करता है।

---

१. द्विरावृत्ति का नाम ही वीप्सा है। यदि अनेकों का संमार्जन बतलाया जाता तब तो 'सकृत् सकृत्' यह वीप्सा ठीक थी, परन्तु यहाँ तो केवल अग्नि का ही संमार्जन कहा गया है, अतः वीप्सा अनुपपन्न है, अतः यह वीप्सानुपपत्ति ही बताती है कि अग्नि से अन्य किसी दूसरी वस्तु का भी संमार्जन करो, वह संप्रदायानुसार परिधि का ही होता है।

२. यहाँ 'परिधि' शब्द से वे तीन काष्ठ लिए गए हैं जो आहवनीय के पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में स्थापित किये जाते हैं। इनका वर्णन पहले भी आ चुका है।

३. यहाँ से प्रैष मन्त्र का प्रारम्भ होता है।

४. 'फलोक्ति के लिए' यह 'भद्रवाच्याय' पद का अर्थ है।

५. सूक्तोच्चारण के लिए। यह 'सूक्तवाकाय' पद का अर्थ है।

६. भाष्योद्धृत 'इषिता दैव्या होतारः···' इत्यादि प्रैष मन्त्र की।

७. कल्पित प्रैष मन्त्र में।

अस्ति होतारं प्रत्यपर: प्रैषमन्त्रः—"स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शंयोर्ब्रूहि" (बौ० श्रौ० १।१९, शब्रा० २।६।१।४७) इति। दैव्यानां होतृणामयं यज्ञःस्वाधीनो मानुषेभ्यो होतृभ्यः स्वस्त्यस्तु। हे होतस्त्वं शंयुदेवस्य संबन्धिनं "तच्छंयोरावृणीमहे" (तै० ब्रा० ३।५।११) इत्यनुवाकं ब्रूहि। अस्मिन्मन्त्रे स्वगाशब्दस्वस्तिशब्दशंयुशब्दानामभिप्रायं क्रमेण दर्शयति—"स्वगा दैव्या होतृभ्य इत्याह। यज्ञमेव तत्स्वगा करोति। स्वस्तिर्मानुषेभ्य इत्याह। आशिषमेवैतामाशास्ते। शंयोर्ब्रूहीत्याह। शंयुमेव बार्हस्पत्यं भागधेयेन समर्धयति" (तै० ब्रा० ३।३।८) इति। शंयुर्बृहस्पतेः पुत्रः।

इत्थमिडाभागाद्यनुष्ठानं विधायास्मिन्काण्ड आम्नाताभ्यां "वाजस्य मा" (तै० सं० १।१।१३) इत्येताभ्यामृग्भ्यां स्रुग्व्यूहनं विधत्ते—"अथ स्रुचावनुष्टुग्भ्यां वाजवतीभ्यां व्यूहति। प्रतिष्ठा वा अनुष्टुक्। अन्नं वाजः प्रतिष्ठित्यै। अन्नाद्यस्यावरुद्धयै" (तै० ब्रा० ३।३।९) इति।

अस्ति इति। होता के प्रति दूसरा भी एक प्रैष मन्त्र है—'स्वगा···ब्रूहि' इति। देव सम्बन्धी होताओं का यह यज्ञ स्वाधीन है, मानुष होताओं का कल्याण हो। हे होता, तुम 'शंयु' देवता सम्बन्धी 'तच्छंयोरावृणीमहे' इस अनुवाक को पढ़ो। इस[1] मन्त्र में आए हुए 'स्वगा' 'स्वस्ति' और 'शंयु' शब्दों का अभिप्राय क्रमशः ब्राह्मण-श्रुति बताती है—'स्वगा··· समर्धयति' इति। 'स्वगा दैव्या होतृभ्यः' ऐसा कहकर यज्ञ को स्वाधीन बनाता है, 'स्वस्तिर्मानुषेभ्यः' कहकर मानव होता के कल्याण की कामना करता है, 'शंयोर्ब्रूहि' ऐसा कहकर बृहस्पति के पुत्र शंयु को ही उसके भाग से समृद्ध करता है। शंयु बृहस्पति का पुत्र है।

इत्थमिति। इस प्रकार इडा भाग आदि कृत्यों के अनुष्ठान का विधान करके इस काण्ड में पढ़े गए 'वाजस्य मे' इन दो ऋचाओं के द्वारा स्रुग्व्यूहन् का विधान[2] श्रुति करती है—'अथ···अवरुद्धयै' इति। अनन्तर[3] स्रुचों का (जुहू और उपभृत् का) वाजशब्द युक्त दो अनुष्टुभ्[4] ऋचाओं से व्यूहन् करे। अनुष्टुभ् प्रतिष्ठा[5] है, वाज अन्न है, प्रतिष्ठा के लिए—अनुष्टुभ् छन्द से व्यूहन् करता है, अन्न आदि (खाद्य पदार्थ) के संपादन के लिए वाजवती ऋचाओं से व्यूहन् करता है।

चतुर्भिः[6] इति। गौ आदि पशु चार पाओं से प्रतिष्ठित हैं, उन्हीं के समान अनुष्टुभ् छन्द के भी चार पाद होते हैं,

---

१ क. यं स्वा।

---

१. 'स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः, शंयोर्ब्रूहि' इस मन्त्र में।

२. यद्यपि १३वें अनुवाक के आरम्भ में ही स्रुग्व्यूहन् की विधि बता दी गई है, तथापि वह सूत्रानुसार थी, वह सौत्र विधि श्रुति सम्मत है यह दिखाने के लिए यहाँ साक्षात् श्रुति वाक्य से स्रुग्व्यूहन् का विधान बताया गया है।

३. स्रुचों के यथा स्थान सादन के अनन्तर।

४. 'अनुष्टुभ्' के लिए वेद में 'अनुष्टुच्' शब्द भी आता है; पहला 'स्तुभ्' धातु से बनता है दूसरा 'ष्टुच्' से। मूलोक्त विधि में 'अनुष्टुच्' का ही प्रयोग हुआ है।

५. 'प्रतिष्ठा' का तात्पर्य आगे भाष्यकार स्वयं बताएँगे।

६. यहाँ से मूलोक्त स्रुग्व्यूहन् विधि के अर्थवाद का व्याख्यान प्रारम्भ होता है। 'अथ' से 'व्यूहति' तक विधि है, 'प्रतिष्ठा' से समाप्ति तक अर्थवाद है।

चतुर्भिः पादैर्गत्वादीनां प्रतिष्ठितत्वात्तद्वदनुष्टुभः प्रतिष्ठाहेतुत्वम् । वाजशब्दस्यान्नवाचित्वात्तद्वत्या-वृचावत्तुं योग्यस्यावरोधाय भवतः । सामान्याकारेण विहितं स्रुग्व्यूहनं विशेषाकारेण विशदयति—"प्राचीं जुहूमूहति । जातानेव भ्रातृव्यान्प्रणुदते । प्रतीचीमुपभृतम् । जनिष्यमाणानेव प्रतिनुदते । स विषुच एवापोह्य सपत्न्यान्यजमानः । अस्मिंल्लोके प्रतितिष्ठति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति । वैरिणः परस्पर-वियुक्ता विविधदिक्पलायिता एव यथा भवन्ति तथा तानपोह्य प्रतितिष्ठति ।

वाजवतीभ्यामिति द्विवचनार्थमनूद्य प्रशंसति—"द्वाभ्याम् । द्वि प्रतिष्ठो हि" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति । द्वाभ्यां पादाभ्यां प्रतिष्ठा यस्यासौ द्विप्रतिष्ठः ।

वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वाऽऽदित्येभ्यस्त्वा

वसुभ्य इति । कल्पः—"जुह्वा परिधीननक्ति वसुभ्यस्त्वेति मध्यमं, रुद्रेभ्यस्त्वेति दक्षिणम्, आदित्येभ्यस्त्वेत्युत्तरम्" (बौ० श्रौ० १।१६) इति । त्रिष्वप्यनज्मीत्यध्याहारः । स्पष्टार्थतां दर्शयति—वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वाऽऽदित्येभ्यस्त्वेत्याह । यथायजुरेवैतत्" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति ।

अतः वह प्रतिष्ठा का हेतु है । वाज-शब्द अन्न का वाचक है, अतः 'वाज' शब्द युक्त दोनों ऋचाएँ अदनीय (भोज्य भक्ष्य लेह्य चूष्य) सब प्रकार की वस्तुओं के सम्पादन के लिए होती हैं । सामान्य रूप से विहित स्रुग्व्यूहन को श्रुति विशेष रूप से स्पष्ट करती है—'प्राचीम्···प्रतितिष्ठति' इति । जुहू का व्यूहन पूर्वदिशा की ओर करे, ऐसा करने से वह पैदा हुए शत्रुओं को दूर भगा देता है, उपभृत् का व्यूहन पश्चिम की ओर करे, ऐसा करके वह भविष्य में पैदा होने वाले शत्रुओं को नष्ट करता है । जिस[1] प्रकार शत्रु एक दूसरे से बिछड़कर भिन्न-भिन्न दिशाओं में पलायित हो सकें उस प्रकार उन्हें भगाकर ही यजमान इस लोक में प्रतिष्ठित[2] होता है ।

वाजवतीभ्यामिति । 'वाजवतीभ्याम्' इस द्विवचन के अर्थ का अनुवाद करके उसकी (द्विवचनार्थ की) प्रशंसा करता है—'द्वाभ्याम्···हि' इति । दो ऋचाओं से स्रुग्व्यूहन करे, क्योंकि वह[3] द्वि प्रतिष्ठ है—दो पाओं से जिसकी स्थिति है, उसे द्विप्रतिष्ठ (द्विपाद) कहते हैं ।

वसुभ्य इति । **कल्प** इति । कल्प[4] सूत्र कहता है कि जुहू द्वारा परिधियों[5] को घी से आँजे । 'वसुभ्यस्त्वा' इस मन्त्र से मध्यम (बीच की) परिधि को, 'रुद्रेभ्यस्त्वा' इस मन्त्र से दक्षिण दिशा की परिधि को और 'आदित्येभ्यस्त्वा'

---

१. भाष्यकार ने 'प्राचीं जुहूमूहति···' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य उद्धृत किया है, उसका 'स विषूच···प्रतितिष्ठति' इतना अंश जरा कठिन है, इसलिए भाष्यकार ने 'वैरिणः परस्पर वियुक्ताः···' इत्यादि से उसका स्पष्टीकरण स्वयं किया है, उसका ही हिन्दी अनुवाद 'जिस प्रकार···' इत्यादि से हमने किया है ।
२. कविवर माघ ने कहा है 'विपक्षमखिली-कृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा' शत्रु का मान-मर्दन किये बिना प्रतिष्ठा दुर्लभ है । वेद का भी यहाँ यही अभिप्राय है ।
३. अध्वर्यु अथवा यजमान; यज्ञ में अध्वर्यु यजमान के प्रतिनिधि के रूप में ही कार्य करता है ।
४. बौधायन कल्पसूत्र ।
५. परिधियों का वर्णन पहले कई बार किया जा चुका है ।

ऽक्तᳪरिहा॑णा वि॒यन्तु॒ वयः॑ । प्र॒जां योनिं॒ मा निर्मृ॑क्षम॒

अक्तमिति। बौधायनः—"स्रुक्षु प्रस्तरमनक्त्यक्तᳪ रिहाणा इति जुह्वामग्राणि, वियन्तु वय इत्युपभृति मध्यानि, प्रजां योनिं मा निर्मृक्षमिति ध्रुवायां मूलानि" (बौ० श्रौ० १।१६) इति। आपस्तम्ब-स्त्वाद्यद्वितीयमन्त्रावेकीकृत्याऽऽह—"अक्तᳪरिहाणा वियन्तु वय इति जुह्वामग्रं, प्रजां योनिं मा निर्मृक्ष-मित्युपभृति मध्यमाप्यायन्तामाप ओषधय इति ध्रुवाया मूलम्" (आप० श्रौ० ३।६।१) इति।

पक्षिण आज्येनाक्तं प्रस्तराग्रं लेलिहाना विविधं मार्गं गच्छन्तुः अहं तु प्रजां तत्कारणं च मा विनाशयामि। आज्यरूपा आपः प्रस्तरमूलरूपा ओषधीराप्यायन्तु।

इस मन्त्र से उत्तर दिशा की परिधि को आँजे।

त्रिष्व इति। तीनों मन्त्रों में 'अनज्मि'[1] पद का अध्याहार कर लेना चाहिये। ब्राह्मण वाक्य मन्त्र की स्पष्टार्थता को प्रकट करता है—'वसुभ्यस्त्वा···यथा [2]यजुरेवैतत्' इति।

अक्तमिति। बौधायन कहते हैं—स्रुचों में (जुहू, उपभृत् और ध्रुवा में) प्रस्तर (कुशमुष्टि) को आँजे। 'अक्तं रिहाणा' इस मन्त्र से प्रस्तर के अग्रभागों को जुहू में आँजे। 'वियन्तु वयः' इस मन्त्र से प्रस्तर के मध्य भागों को उपभृत् में आँजे, 'प्रजां योनिं मा निर्मृक्षम्' इस मन्त्र से ध्रुवा में प्रस्तर के मूलों (निचले भागों) को आँजे। किन्तु आपस्तम्ब मुनि प्रथम और द्वितीय मन्त्रों को एक मन्त्र मानकर कहते हैं—'अक्तं रिहाणा वियन्तु वयः' इस मन्त्र से जुहू में प्रस्तर के अग्रभाग को, 'प्रजां योनिं मा निर्मृक्षम्' इस मन्त्र से उपभृत् में मध्य भाग को और 'आप्यायन्ताम् आप ओषधयः' इस मन्त्र से ध्रुवा में मूल को आँजे।

पक्षिण[3] इति। पक्षी घृताक्त प्रस्तर के अग्रभाग को चाटकर विविध मार्गों में (इधर-उधर) चले जावें (उड़ जावें)। मैं प्रजा और उसके कारण का विनाशक नहीं बनता[4] हूं। आज्यरूप जल प्रस्तर मूलरूप ओषधियों को आ-प्यायित करें।

---

१. 'अनज्मि' पद का अध्याहार केवल मन्त्रार्थ करते समय करना चाहिये, प्रयोग में तो जैसा संहिता में लिखा है वैसा ही बोलना उचित है। मैं वस्तुओं के लिए तुझको घृताक्त कर रहा हूं, इसी प्रकार रुद्रों और बसुओं के लिए भी।

२. ब्राह्मण भी मन्त्र की व्याख्या करता है, परन्तु जहाँ मन्त्रार्थ सरल होता है वहाँ वह व्याख्यान न करके कह देता है 'यथा यजुरेव एतत्।' अर्थात् यजुर्मन्त्र में जो कुछ कहा गया है वह वैसा ही है, उसमें विशेष वक्तव्य नहीं है।

३. यहाँ से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है। भाष्यकार ने तीनों चारों मन्त्रों को मिलाकर एक रूप में व्याख्यान किया है।

४. 'मा निर्मृक्षम्' का अर्थ भाष्यकार ने 'मा विनाशयामि' ऐसा किया है, तदनुसार ही हमने भी अनुवाद किया है, वस्तुतः यहाँ 'माङ्' के योग में लुङ्लकार है, अतः इसका लोट् जैसा ही अर्थ होना चाहिये था—'मैं विनाश न करूँ' भट्ट भास्कर ने 'वयः' का अर्थ प्रजननशील 'आदित्यरश्मियाँ' किया है, उनके मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार है—'घृताक्त प्रस्तर को चाटती हुई प्रजननशील (गर्भग्रहण स्वभाव वाली) आदित्य रश्मियाँ इस लेहन के (चाटने के) द्वारा वृष्टि के लिए गर्भधारण करें – अथवा वृद्धि के लिए गर्भधारण करें। और मैं प्रजा को और उसके कारणभूत अन्नादिक को नष्ट न करूँ। मैं तो उसको बढ़ाने की इच्छा करता हूं।,'वयः' वी धातु से इण् प्रत्यय करने पर बनता है, इण् ङित्त्व मानकर 'टि' का लोप हो जाता है। 'वी' धातु का अर्थ है—'वी-गति-प्राप्ति-प्रजन-कान्त्यसन खादनेषु'। इन अर्थों में 'प्रजन' भी है, जिसका तात्पर्य होता है गर्भग्रहण।

विधत्ते—"स्रुक्षु प्रस्तरमनक्ति। इमे वै लोकाः स्रुचः। यजमानः प्रस्तरः। यजमानमेव तेजसाऽनक्ति। त्रेधाऽनक्ति। त्रय इमे लोकाः। एभ्य एवैनं लोकेभ्योऽनक्ति।

"अभिपूर्वमनक्ति। अभिपूर्वमेव यजमानं तेजसाऽनक्ति" (तै० ब्रा० ३।३।९) इति। अभिमुखमग्रं पूर्वं यथा भवति तथा प्रस्तरमञ्ज्यात्। यजमानोऽपि मुख एव सभासु वक्तृत्वेन तेजस्वी भवति।

मन्त्रगतस्याक्तशब्दस्याभिप्रायमाह—"अक्त ँ रिहाणा इत्याह। तेजो वा आज्यम्। यजमानः प्रस्तरः। यजमानमेव तेजसानक्ति" (तै० ब्रा० ३।३।९) इति। विशब्दसूचितं दर्शयति—"वियन्तु वय इत्याह। वय एवैनं कृत्वा। सुवर्गं लोकं गमयति" (तै० ब्रा० ३।३।९) इति। मन्त्रे प्रथमाबहुवचनान्तो विशब्दः पक्षिवाची ब्राह्मणे तु द्वितीयैकवचनान्तो वयः शब्दः। मा निर्मृक्षमित्येतस्याभिप्रायमाह—"प्रजां

विधत्ते इति। श्रुति प्रस्तराञ्जन का विधान करती है—'स्रुक्षु···सानक्ति'। स्रुचों[1] में प्रस्तर को घृताक्त करे। स्रुच् पृथिव्यादि लोकत्रय स्वरूप हैं, प्रस्तर यजमान स्वरूप है, प्रस्तर को स्रुचों में घृताक्त करना यजमान को ही तेज से (पृथिवी आदि में स्थित अग्नि आदि देवों के तेज से) अञ्जित करना है। तीन प्रकार से—प्रस्तर को—घृताक्त करे। ये तीन लोक हैं, इन्हीं तीन लोकों के लिए (इनमें स्थित अग्नि आदि तीनों देवताओं की तृप्ति के लिए) प्रस्तर को घृताक्त करता है। पहले प्रस्तर के अग्रभाग को घृताक्त करे। ऐसा[2] करने से यजमान के अग्रभाग को ही, अर्थात् उसके मुख को ही—तेज से अञ्जित करता है।

अभि इति। ब्राह्मण श्रुति में 'अभिपूर्वम्' शब्द आया है, उसका अर्थ है—मुखरूप अग्रभाग को पहला स्थान जिस प्रकार मिले उस प्रकार प्रस्तर को घृताक्त करे। अर्थात् 'अभिपूर्वम्' शब्द 'अनक्ति' क्रिया का विशेषण है। यजमान भी सभाओं में वक्तृता के द्वारा मुख पर ही तेजस्वी होता है—अर्थात् वक्तृता के कारण उसका मुख-मण्डल ही तेजस्वी दीखता है।

ब्राह्मण श्रुति मन्त्रगत 'अक्त' शब्द का अभिप्राय बताती है—'अक्तम्...अनक्ति' इति। आज्य (घृत) तेजः-स्वरूप है, प्रस्तर यजमान स्वरूप है, यजमान[3] को ही तेज से अञ्जित (युक्त) करता है। ब्राह्मण श्रुति मन्त्रगत वि (वयः) शब्द से सूचित अर्थ को बताती है—'वियन्तु···गमयति' इति। 'वियन्तु वयः' ऐसा बोलकर यजमान को पक्षी बनाकर ही स्वर्गलोक में पहुंचाता है। [मन्त्र[4] में 'वयः' यह शब्द पक्षिवाची 'वि' शब्द का प्रथमा बहुवचन का रूप है, परन्तु ब्राह्मण[5] में 'वयः'[6] यह शब्द द्वितीया का एकवचन है। 'मा निर्मृक्षम्···' इस मन्त्र का

---

१. 'स्रुक्षुप्रस्तरमनक्ति' इतना अंश विधि है, शेष अर्थवाद है। इसी प्रकार 'त्रेधा अनक्ति', 'अभिपूर्वमनक्ति' ये भी विधि वाक्य हैं, इनके आगे के वाक्य इनके स्तावक हैं—अर्थवाद हैं।

२. प्रस्तर के अग्रभाग का पहले अञ्जन करने से।

३. क्योंकि प्रस्तर को यजमान-स्वरूप कहा गया है, अतः प्रस्तर को घृताक्त करना यजमान को ही घृत स्वरूप तेज से युक्त करना है।

४. 'वियन्तु वयः' इस मन्त्र में।

५. 'वयं एवैनं कृत्वा...' इस ब्राह्मण वाक्य में।

६. 'वि' शब्द की तरह 'वयस्' शब्द भी पक्षिवाचक है, और वह नपुंसकलिङ्ग है, वयः, वयसी, वयांसि—इस प्रकार उसके रूप चलते हैं। द्वितीया के एक वचन में उक्त 'वयस्' शब्द का 'वयः' ऐसा ही रूप बनता है।

योनिं मा निर्मृक्षमित्याह । प्रजायै गोपीथाय" (तै० ब्रा० ३।३।९) इति । ओषधय इत्यत्र द्वितीया विवक्षितेत्याह—"आप्यायन्तामाप ओषधय इत्याह। आप एवौषधीराप्याययेति" (तै० ब्रा० ३।३।९) इति । अत्र बहुवचनं द्रष्टव्यम् ।

ऽऽप्यायन्तामाप ओषधयो मरुतां पृषतयः स्थ दिवम् (१) गच्छ ततो नो वृष्टिमेरय ।

आप्यायन्तामिति । बौधायनः—"तमुपरीव प्रहरति नात्यग्रं प्रहरति न पुरस्तात्प्रत्यस्यति न प्रतिशृणाति न विष्वञ्चं वियौत्यूर्ध्वमुद्योत्याप्यायन्तामाप ओषधयो मरुतां पृषतयः स्थ दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमेरयेति" (बौ० श्रौ० १।१९) इति ।

अभिप्राय ब्राह्मण श्रुति बताती है—'प्रजां···गोपीथाय' इति । 'प्रजां···मा निर्मृक्षम्' इस मन्त्र का उच्चारण प्रजा[1] की रक्षा के लिए करता है । 'ओषधयः' इस शब्द में द्वितीया विभक्ति विवक्षित है—अर्थात् यह द्वितीया विभक्ति का बहुवचन है, इस बात को ब्राह्मण श्रुति स्पष्ट[2] करती है—'आ...ओषधीराप्याययति' इति। जल ही ओषधियों का (धान, जौ, गेहूं आदि का) आप्यायन (वृद्धि) करता है। यहां 'आप्याययति' में बहुवचन समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि 'आप एवौषधीराप्याययति' इस श्रुति में 'आपः' शब्द ही कर्तृवाचक पद है, जो कि 'अप्[3]' शब्द का बहुवचन का रूप है, उसके अनुरूप ही क्रिया वाचक पद को भी 'आप्याययन्ति' इस प्रकार बहुवचन होना चाहिये था, परन्तु है नहीं, प्रत्युत एक वचन है। उसका समाधान करने के लिए भाष्यकार ने 'अत्र बहुवचनं **द्रष्टव्यम्**' ऐसा कहा। अर्थात् यहां वचन व्यत्यय[4] हुआ है, बहुवचन के अर्थ में एक वचन हुआ है। वेद में विधिमात्र का ही व्यत्यय देखा जाता है।

आप्यायन्ताम् इति । बौधायन कहते हैं कि अध्वर्यु 'आप्यायन्तां...वृष्टिमेरय' इस मन्त्र को पढ़कर प्रस्तर को ठीक अग्नि के (आहवनीय अग्नि के) ऊपर डाल दे। प्रस्तर को अग्नि में डालते समय यह ध्यान रहे कि प्रस्तर का अग्रभाग अग्नि के बाहर न रहे। आहवनीय के पूर्व की ओर प्रस्तर का प्रक्षेप न करे। प्रस्तर[5] की हिंसा न करे। कुशों

१. ब्राह्मण के 'प्रजायै गोपीथाय' इस वाक्य में 'प्रजायै' यह षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी है। इसीलिए हमने 'प्रजा की' ऐसा अनुवाद किया।
२. 'आप्यायन्ताम् आप **ओषधयः**' इस मन्त्र का व्याख्यान ब्राह्मण श्रुति ने 'आप **एवौषधी**राप्याययति' इस प्रकार किया है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्र में 'ओषधयः' यह शब्द 'ओषधीः' इस द्वितीया बहुवचन के अर्थ में है।
३. 'अप्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है ।
४. कोई कहते हैं यहां व्यत्यय की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वेद में जल के अर्थ में 'अप्' शब्द की तरह 'आपस्' शब्द का भी प्रयोग होता है, और वह नपुंसक लिङ्ग है और नित्य बहुवचनान्त नहीं है, उस 'आपस्' शब्द का ही यहां एक वचन में प्रयोग हुआ है, तदनुसार 'आप्याययति' यह एक वचन ठीक ही है। जैसे 'वय एवैनं कृत्वा' में विभक्ति व्यत्यय और वचन व्यत्यय न मानकर पक्षिवाचक सकारान्त 'वयस्' शब्द का प्रयोग स्वीकार करके समाधान किया गया है, वैसा ही यहां भी हो सकता है।
५. बौधायनसूत्र में 'न प्रतिशृणाति' यह वाक्य है, उसका ही यह अनुवाद है। प्रतिशरण (हिंसा) का तात्पर्य भाष्यकार स्वयं आगे लिखेंगे। आपस्तम्ब श्रौ० सू० के टिप्पणी कर्त्ता ने लिखा है कि इस तरह प्रहरण करे कि प्रस्तर से दबकर अंगारे चुर न जावें, अंगारों का चुर जाना ही उनकी हिंसा है । धूर्तस्वामी ने भी '**प्रतिशरण-मङ्गारेषु कुट्टनम्**' यही लिखा है, अंगारों का कुट पिस जाना ही उनका प्रतिशरण या हिंसा है।

आपस्तम्बः—"अनूच्यमाने सूक्तवाके मरुतां पृषतयः स्थेति सह शाखया प्रस्तरमाहवनीये प्रहरति" (आप० श्रौ० ३।६।६) इति।

अत्र प्रस्तरप्रहृतौ नात्यग्रमित्यादयो नियमविशेषाः। आहवनीयात्ययः प्रस्तराग्रस्य न कार्यः। प्रस्तरस्य पुरस्तादन्यत्किमपि न प्रक्षिपेत्। दर्भस्य कस्यचिच्छेदरूपा हिंसा न कार्या। दर्भाणां परस्पर-वियोगो न कार्यः। किंतु कृत्स्नं प्रस्तरमुद्यच्छेत्। आपस्तम्बस्य तु मरुतामिति प्रस्तरमन्त्रादिः सह शाखया वत्सापाकरणहेतुभूतया।

को चारों ओर बखेरे नहीं—उनकी मुष्टि बंधी रहने दे। प्रस्तर को ऊपर उठा ले।

परन्तु आपस्तम्ब कहते हैं—जब सूक्तवाक[1] पढ़ा जा रहा हो तब अध्वर्यु 'मरुतां पृषतयः स्थ' इस मन्त्र से शाखा[2] के साथ प्रस्तर को आहवनीय में डाल दे। भाष्यकार भाष्य में उद्धृत बौधायनसूत्र के कुछ वाक्यों का तात्पर्य स्वयं बताते हैं—अत्र इति। इस प्रस्तर प्रहरण कर्म में 'नात्यग्रं प्रहरति' इत्यादि कुछ विशेष नियम बताए गए हैं! जैसे कि—प्रस्तर के अग्रभाग के द्वारा आहवनीय का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। अर्थात् प्रस्तर अग्नि के बीच में ही पड़े, उसका कोई भी भाग—विशेष रूप से अग्रभाग—अग्नि के बाहर न रहे। प्रस्तर[3] के पूर्व में और कोई वस्तु न डाले। किसी भी कुश की छेदरूपा हिंसा नहीं की जानी चाहिए—किसी कुश को तोड़े मोड़े नहीं। कुशों को एक दूसरे से वियुक्त न करे—उनकी मुष्टि (गड्डी) बनी रहने दे, किन्तु सारे प्रस्तर को—एक साथ - उठा ले। आपस्तम्ब के मत में प्रस्तर प्रहरण का मन्त्र 'मरुताम्'[4] से प्रारम्भ होता है। 'सह शाखया' का तात्पर्य है—'वत्सापाकरणार्थ[5] पलाश शाखा के साथ'।

---

१. 'इदं द्यावा पृथिवीभद्रमभूत्' इत्यादि अनुवाक ही सूक्तवाक है। 'श्रौत-पदार्थ निर्वचन' में लिखा है कि होता के प्रति अध्वर्यु के प्रैष के अनन्तर होता जिस मन्त्र को पढ़ता है वह मन्त्र ही 'सूक्तवाक' है, तात्पर्य में कोई भेद नहीं है।

२. भाष्यकार ने 'शाखा' का अर्थ 'वत्सापाकरणार्थं पलाशशाखा' लिखा है। धूर्तस्वामी के अनुसार यहां शाखा से तात्पर्य 'त्रिवृत् पवित्र' से है। देखो आप० श्रौ० सू० प्रश्न ३, पटल १, सू० ६।

३. यह वाक्य भाष्योद्धृत बौधायन सूत्र के 'नपुरस्तात् प्रत्यस्यति' इस वाक्य के भाष्यकार कृत व्याख्यान का अनुवाद है। भाष्यकार के व्याख्यान में 'प्रस्तरस्य, अन्यत्, किमपि' ये चार शब्द और जोड़े गए हैं। इनका तात्पर्य हम नहीं समझ सके। भाष्यकार ने 'पुरस्तात्' का संबंध 'आहवनीय' के साथ न करके प्रस्तर के साथ किया है, जो कि बिल्कुल ठीक नहीं बैठता प्रस्तर के पूर्व में किसी का भी प्रक्षेप प्राप्त नहीं है, शायद भाष्यकार का अभिप्राय यह हो कि 'प्रस्तर से पहले आहवनीय में कोई वस्तु न डाले'। इस अर्थ के लिए भी 'प्रस्तरात् प्राक् अन्यत्...' ऐसा पाठ होना चाहिए था। धूर्तस्वामि कृत भाष्य की अग्निचिद् वृत्ति में तो यही तात्पर्य बताया है कि आहवनीय की पूर्वदिशा में प्रक्षेप न करे। हमें भी 'न पुरस्तात् प्रत्यस्येत्' इस बौधायन वाक्य का अग्निचिद् वृत्ति में लिखित तात्पर्य ही ठीक जंचता है।

४. इसी तेरहवें अनुवाक को देखो।

५. वत्सापाकरण का तात्पर्य है 'बछड़े को गौ के समीप जाने से रोकना'। उसके लिए पलाश वृक्ष से एक शाखा तोड़ ली जाती है, उसी से बछड़े को हटाया जाता है। प्रथम अनुवाक में इसकी चर्चा विशेष रूप से हो चुकी है।

हे प्रस्तरावयवा दर्भा यूयं वायुप्रेरितवृष्टिजन्यतया वायूनां बिन्दवः स्थ। हे प्रस्तर त्वं दिवं गत्वा वृष्टि प्रेरय। व्याचष्टे—"मरुतां पृषतयः स्थेत्याह। मरुतो वै वृष्टया ईशते। वृष्टिमेवावरुन्धे। दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमेरयेत्याह। वृष्टिर्वै द्यौः। वृष्टिमेवावरुन्धे"। (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

आयुष्पा अग्नेऽस्यायुर्मे पाहि चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि

आयुष्पा इति। कल्पः—"अथोपोत्थायाऽऽहवनीयमुपतिष्ठते—आयुष्पा अग्नेऽस्यायुर्मे पाहि चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहीति" (बौ० श्रौ० १।१६) इति।

आयुश्चक्षुषोः पालनीयतां दर्शयति—"यावद्वा अध्वर्युः प्रस्तरं प्रहरति। तावदस्याऽऽयुर्मीयते। आयुष्पा अग्नेऽस्यायुर्मे पाहीत्याह। आयुरेवाऽऽत्मन्धत्ते। यावद्वा अध्वर्युः प्रस्तरं प्रहरति। तावदस्य चक्षुर्मीयते। चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहीत्याह। चक्षुरेवाऽऽत्मन्धत्ते" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

हे[1] इति। प्रस्तर (कुश मुष्टि) के अवयवरूप, हे कुशो! तुम वायु प्रेरित वृष्टि के द्वारा पैदा होने के कारण वायुओं की बूंदें हो। हे प्रस्तर! तू द्युलोक में जाकर वृष्टि को हमारे लिए—प्रेरित कर।

व्याचष्टे इति। ब्राह्मण श्रुति मन्त्र का व्याख्यान करती है—'मरुताम्...अवरुन्धे' इति। मरुतों का ही वृष्टि पर प्रभुत्व है, 'मरुताम्···' इत्यादि मन्त्र पढ़कर अध्वर्यु वृष्टि का ही सम्पादन करता है। द्युलोक ही वृष्टि है, 'दिवं गच्छ···' इत्यादि मन्त्र को पढ़कर अध्वर्यु वृष्टि का ही संपादन करता है।

आयुष्पा इति। कल्पसूत्र कहता है कि प्रस्तर प्रहरण के अनन्तर अग्नि के समीप ही खड़े होकर आहवनीय का उपस्थान (स्तुति) करे। 'आयुष्पा[2]...पाहि' यह मन्त्र बोले। हे अग्नि! तुम आयु के रक्षक हो, मेरी आयु की रक्षा करो। हे अग्नि! तुम नेत्र-रक्षक हो मेरे नेत्रों की रक्षा करो। ब्राह्मणश्रुति आयु और नेत्रों की रक्षणीयता बताती है—'यावद्[3] वा...धत्ते' इति। तात्पर्य यह है कि प्रस्तर को अग्नि में डालने से अध्वर्यु की आयु और नेत्र क्षीण होते हैं। वे क्षीण न हों, इसलिए वह (अध्वर्यु) 'आयुष्पा...' इस मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करता है। उपस्थान से वह अपने में आयु और नेत्र (दृष्टि-शक्ति) का धारण पोषण करता है।

---

१. यहां से मन्त्र व्याख्यान प्रारम्भ होता है। यद्यपि बौधायन के मत से प्रस्तर प्रक्षेप का मन्त्र 'आप्यायन्ताम्' से प्रारम्भ होता है, तथापि आपस्तम्ब ने 'आप्यायन्ताम् ओषधयः' इतने अंश का विनियोग प्रस्तर मूलाञ्जन में माना है, प्रस्तरमूलाञ्जन कर्म प्रस्तर प्रहरण से पहले होता है, जो पहले बताया जा चुका है, भाष्यकार ने मन्त्र की व्याख्या भी वहीं की है। शेष अंश का व्याख्यान यहां किया गया है।

२. यह मन्त्र अति सरल है, अतः भाष्यकार ने इसकी व्याख्या नहीं की। हमने मन्त्र का हिन्दी अनुवाद दे दिया है।

३. इस ब्राह्मण श्रुति में 'मीयते' पद आया है, जिसका अर्थ है नष्ट होना या क्षीण होना। यह मीङ् या मीञ् धातु से बना है। धात्वर्थ हिंसा है।

ध्रुवाऽसि

ध्रुवेति । कल्पः—"ध्रुवाऽसीत्यन्तर्वेदि पृथिवीमभिमृशति" (आप० श्रौ० ३।७।७) इति। व्याचष्टे—"ध्रुवाऽसीत्याह प्रतिष्ठित्यै" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव पणिभिर्वीयमाणः। तं त एतमनु जोषं भरामि नेदेष त्वदपचेतयातै यज्ञस्य पाथ उप समितम्॥

यं परिधिमिति। कल्पः—"मध्यमं परिधिमनुप्रहरति यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव पणिभिर्वीयमाणः। तं त एतमनु जोषं भरामि नेदेष। त्वदपचेतयाता इत्यथेतरावुपसमस्यति। यज्ञस्य पाथ उपसमितमिति" (बौ० श्रौ० १।१९) इति।

भो अग्ने देव, स्तुतिभिः प्राप्यमाणस्त्वं स्वयं यं मध्यमपरिधिं पश्चिमे भागे स्थापितवानसि। तवानुकूलतया प्रियं तमेतं परिधिं त्वयि भरामि। एष त्वत्तोऽपरक्तो नैव। हे दक्षिणोत्तरपरिधी यज्ञस्य फलरूपमन्नं युवामुपसंप्राप्नुतम्।

ध्रुवेति। कल्पसूत्र कहता है—'ध्रुवासि' इस मन्त्र से वेदि के मध्य में पृथिवी का स्पर्श करे। हे पृथ्वी ! तू ध्रुव है—मुझे[1] भी ध्रुव बना। ब्राह्मण श्रुति 'ध्रुवासि' इस मन्त्र पाठ का प्रयोजन बताती है—'ध्रुवा...प्रतिष्ठित्यै' इति। ध्रुवासि यह मन्त्र पाठ स्थिरता के लिए है।

यं परिधिमिति। कल्पसूत्र[2] कहता है—'यं परिधिम्...त्वदपचेतयातै' इस मन्त्र को पढ़कर मध्यम परिधि को अग्नि में डाले। इसके अनन्तर दूसरी दोनों परिधियों को 'यज्ञस्य...उपसमितम्' इस मन्त्र को पढ़कर अग्नि में डाल दे।

भो[3] इति। हे अग्निदेव ! तुम—हमें—स्तुतियों से ही प्राप्त होते हो, तुमने स्वयं जिस मध्यम परिधि को अग्नि के—पश्चिम भाग में स्थापित किया था, वह तुम्हें प्रिय है, क्योंकि वह तुम्हारे अनुकूल है। उस परिधि को मैं अर्पित करता हूं—डालता हूं। यह परिधि तुमसे विरक्त नहीं है। हे दक्षिण[4] और उत्तर की परिधियो ! यज्ञ के फल रूप अन्न को तुमने प्राप्त कर लिया[5]।

---

१. यह तात्पर्यार्थ है, जो कि आगे कहे जाने वाले 'प्रतिष्ठित्यै' इस ब्राह्मण वचन के आधार पर है।

२. बौधायन क० सू०।

३. यहां से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है।

४. ये परिधियां क्रमशः आहवनीय के पश्चिम दक्षिण और उत्तर में स्थापित की गई थीं।

५. भट्ट भास्कर ने 'पणिभिर्वीयमाणः' को परिधि का विशेषण माना है। जो परिधि पणि नामक असुरों के द्वारा वेष्टित हो रही थी, उन असुरों को हटाने के लिए ही तुमने उसका परिधान किया। 'भरामि' का अर्थ है 'हरामि' प्रक्षिपामि। 'हृ' को 'भृ' हो गया है, 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' श्री सायण के मत में 'पणिभिः' शब्द स्तुत्यर्थक 'पण्' धातु से बना है।

पर्यधत्था इत्येतत्सत्यमित्याह—"यं परिधिं पर्यधत्था इत्याह। यथायजुरेवैतत्" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। परिधावग्नेः प्रीत्युत्पादनायाग्निसंबोधनमित्याह—"अग्ने देव पणिभिर्वीयमाण इत्याह। अग्नय एवैनं जुष्टं करोति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। अनुशब्देन ज्ञातीनामनुरक्तत्वं सूच्यत इत्याह—"तं त एतमनु जोषं भरामीत्याह। सजातानेवास्मा अनुकान्करोति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

अपरागनिषेध आनुकूल्यार्थं इत्याह—"नेदेष त्वदपचेतयाता इत्याहानुख्यात्यै" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। अनेकयोः परिध्योः सह कथनं बहुदिव्यानुकूल्यायेत्याह—"यज्ञस्य पाथ उपसमितमित्याह। भूमानमेवोपैति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। विधत्ते - "परिधीन्प्रहरति। यज्ञस्य समिष्टयै" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। समिष्टिः संपूर्तिः।

पर्यधत्था इति। मन्त्र में 'यं परिधिं पर्यधत्थाः—जिस परिधि को तुमने स्थापित किया' यह जो कहा गया, यह सत्य ही है—इस बात को ब्राह्मण श्रुति कहती है 'यं परिधिम् ..यथा यजुरेवैतत्' इति। परिधि के विषय में अग्नि का प्रेम उत्पन्न करने के लिए अग्नि को 'अग्ने देव पणिभिर्वीयमाणः' ऐसा कहकर संबोधित किया गया है—यह बात ब्राह्मण श्रुति बताती है—'अग्ने...जुष्टं[1] करोति' इति। 'अनु'[2] शब्द के द्वारा जातियों का (जाति भाइयों का—परिधियों[3] का) अग्नि के प्रति—अनुराग सूचित किया गया है—'तं त...अनुकान् करोति' इति।

अपराग (निरक्ति) का निषेध 'अनुकूलता' बताने के लिए है—'नेदेष...अनुख्यात्यै'[4] इति। अनेक परिधियों का एक साथ कथन अनेक देवताओं की अनुकूलता के लिए है—यह ब्राह्मण श्रुति कहती है—'यज्ञस्य...भूमानमेवोपैति'। तात्पर्य यह है कि दक्षिण और उत्तर की दो परिधियां एक साथ डाली गई हैं, जिस मन्त्र से वे डाली जाती हैं, उसमें 'उपसमितम्' यह द्विवचन है, जो अनेकों को एक साथ बताता है, इस तरह अनेकों का एक साथ कथन करने से वह वस्तु बहुत्व को प्राप्त होती है जिसे अनेक देवता भी ग्रहण कर लेते हैं। ब्राह्मण श्रुति परिधि-प्रहरण का विधान[5] करती है—'परिधीन्...समिष्टयै' इति। यज्ञ की संपूर्णता के लिए परिधियों का प्रहरण करे। 'समिष्टि' शब्द का अर्थ है संपूर्ति भली प्रकार-पूर्णता।

---

१. सारा वाक्य है—'अग्नय एवैनं जुष्टं करोति—इस परिधि को अग्नि के लिए ही प्रिय बनाता है'।

२. 'अनु जोषं भरामि' इस मन्त्रांश में हुआ 'अनु' शब्द।

३. परिधियों को अग्नि का जाति भाई इसलिए कहा कि जल से शान्त होने वाला अग्नि काष्ठ में ही निवास करता है, तभी तो अरणि मन्थन से अग्नि प्रकट होती है। इसीलिए कहा जाता है 'काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानात्' ब्राह्मण गत अनुक (अनुकान्) शब्द का अर्थ है—'अनुकूल' तात्पर्यार्थ है 'अनुरक्त' अनुकार्यान्ति इति अनुकाः, 'कै गै शब्दे' से बना है। अनुकूल शब्द करने वाले या हां में हां मिलाने वाले।

४. 'अनुख्याति' का अर्थ है अनुकूलता।

५. यद्यपि आप० श्रौ० सू० और बौधायन श्रौत सूत्र दोनों ने ही परिधि प्रहरण की विधि लिखी है, तथापि वह श्रुति सम्मत है यह दिखाने के लिए श्रुत्युक्त परिधि प्रहरण विधि का साक्षात् उल्लेख किया गया है।

स॒ꣳस्रावभागाः स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठा बर्हिषदश्च (२) देवा इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्व ।

सꣳस्रावेति । कल्पः—"अथैनान्सꣳस्रावेणाभिजुहोति । जुह्वामुपभृतं सꣳस्रावयति सꣳस्रावभागाः स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठा बर्हिषदश्च देवा इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वमिति"[1] (बौ० श्रौ० १।१६) इति ।

हे विश्वे देवा यूयं संस्रावभागाः स्थ । जुहूपभृद्भ्यां सिच्यमान आज्यशेषः संस्रावः । स एव भागो येषां ते संस्रावभागाः । कीदृशा देवास्तं भागं लब्धुमिच्छावन्तो बृहन्तो महान्तः सर्वैराराधनीयाः । तत्र केचित्प्रस्तरमुष्टौ तिष्ठन्ति । अन्येत्वास्तीर्णे बर्हिषि सीदन्ति । अस्माभिः क्रियमाणामिमां स्तुतिमभिवीक्ष्य[2] समीचीनेयमिति गृणन्तो यूयमस्मिन्यज्ञ उपविश्य हृष्टा भवत ।

१ च. यध्वꣳस्वाहेति । २. ख. भिलक्ष्य ।

संस्रावेति । कल्पसूत्र[1] कहता है—जुहू में उपभृत् का संस्रावण[2] करे, उसके अनन्तर इन विश्वेदेवों को उद्देश्य करके उस संस्राव का 'संस्राव भागाः ···मादयध्वम्' इस मन्त्र से अग्नि में होम कर[3] दे ।

हे इति । हे विश्वेदेवो ! तुम 'संस्रावभाग' हो, जुहू और उपभृत् के द्वारा सिच्यमान (अग्नि-में डाला जाने वाला) घृत का बचा हुआ अंश 'संस्राव' कहलाता है, वह (संस्राव) ही जिनका भाग है वे 'संस्रावभाग' कहलाते हैं। कैसे वे देव हैं ? उस संस्रावरूप भाग को लेने की इच्छा वाले हैं, महान् हैं—सबके द्वारा आराधनीय हैं, उनमें कोई प्रस्तर मुष्टि पर स्थित हैं, और कोई बिछाए हुए कुशों पर बैठे हुए हैं। हे देवो ! आप हमारे द्वारा की जा रही इस स्तुति की ओर देखकर 'यह स्तुति समीचीन है—भली है, युक्त है' ऐसा बोलते हुए इस यज्ञ में बैठकर प्रसन्न होओ ।

विधत्ते इति । ब्राह्मण श्रुति संस्राव होम का विधान करती है—'स्रुचौ [4]संप्रस्रावयति···करोति' इति दोनों (जुहू और उपभृत्) स्रुचों को अग्नि में संप्रस्रावित करे—अर्थात् दोनों में बचा हुआ जो घृत है उसे अग्नि में चुआ दे—अग्नि में उसकी आहुति दे दे । परिधि प्रहरण में जो दोष था, उसका इस संस्रव होम से शमन करता है। जुहू में उपभृत् का संस्रावण करे। जुहू का देवता यजमान है, उपभृत् का देवता भ्रातृव्य (शत्रु) है। जुहू में उपभृत्

१. बौधायन क० सू० ।
२. 'उपभृत्' में बचे हुए घी के अंश को उपभृत् से ही जुहू में डाल देने का नाम यहां 'संस्रावण' है ।
३. यह कर्म 'संस्रवण होम' या 'संस्राव होम' कहलाता है ।
४. 'संस्रावयति' ऐसा भी कहीं पाठ है, रामाग्निचित् ने 'स्रुचौ-संस्रावयतीति विधाय' ऐसा लिखा है। तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। यद्यपि 'स्रुचौ संप्रस्रावयति' इस विधि में 'स्रुचौ' इस द्विवचन का उपादान होने से यही प्रतीत होता है कि यह संस्राव होम 'जुहू और उपभृत्' दोनों से किया जाता है। कात्या० श्रौ० सू० (अ० ३, कं. ६) में भी 'स्रुचौ प्रगृह्णाति...संस्रवाज्जुहोति' इस सूत्र की व्याख्या में 'उभयसंलग्नमाज्यं ताभ्यामेव जुहुयात्—दोनों में संश्लिष्ट आज्य की दोनों से आहुति देवे। ऐसा ही लिखा है। परन्तु मूलोद्धृत तैत्तिरीय ब्राह्मण से प्रतीत होता है—कि जुहू से ही दोनों की आहुति दे। उपभृत् का घृत जुहू में डाले ।

विधत्ते—"स्रुचौ संप्रस्रावयति। यदेव तत्र क्रूरम्। तत्तेन शमयति। जुह्वामुपभृतम्। यजमानदेवत्या वै जुहूः। भ्रातृव्यदेवत्योपभृत्। यजमानायैव भ्रातृव्यमुपस्तिं करोति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

व्याचष्टे—"संस्रावभागाः स्थेत्याह। वसवो वै रुद्रा आदित्याः सꣳस्रावभागाः। तेषां तद्भागधेयम्। तानेव तेन प्रीणाति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। अस्मिन्मन्त्रे देवतासंबन्धमृचश्छन्दोविशेषं च प्रशंसति—"वैश्वदेव्यर्चा। एते हि विश्वे देवाः। त्रिष्टुग्भवति। इन्द्रियं वै त्रिष्टुक्। इन्द्रियमेव यजमाने दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। एते वस्वादिरूपाः।

मग्नेर्वामपन्नगृहस्य सदसि सादयामि सुम्नाय सुम्निनी सुम्ने मा धत्तं धुरि धुर्यौ पात-

अग्नेरिति। बोधायनः—"अथ प्रदक्षिणमावृत्य प्रत्यङ्ङुद्रुत्य धुरि स्रुचौ विमुञ्चत्यग्नेर्वामपन्नगृहस्य सदसि सादयामि सुम्नाय सुम्निनी सुम्ने मा धत्तं धुरि धुर्यौ पातमिति" (बौ० श्रौ० १।१६) इति।

हे जुहूपभृतौ, युवामविनश्वरगृहस्य पृथिव्यभिमानिनो वह्नेः स्थ ने शकटरूपे यजमानस्य

का संस्रावण करके अध्वर्यु शत्रु को यजमान के अधीन बनाता है, अथवा शत्रु को यजमान से छोटा या निम्नकोटि का बनाता है।

ब्राह्मण श्रुति 'संस्रावभागाः...स्थ...' इस मन्त्र का व्याख्यान करती है—'संस्राव...प्रीणाति' इति। वसु[1], रुद्र और आदित्य ही 'संस्राव भाग' कहलाते हैं, क्योंकि संस्राव उन्हीं का भाग है। संस्राव होम से अध्वर्यु उन्हीं को तृप्त करता है। इस[2] मन्त्र में देवता संबन्ध की और ऋचा के विशेष छन्द की ब्राह्मण श्रुति प्रशंसा करती है—'वैश्वदेव्यर्चा...दधाति' इति। उक्त मन्त्र[3] (ऋचा) 'वैश्वदेव्य' है—अर्थात् उक्त मन्त्र के साथ 'विश्वे देव' हैं। मन्त्र[4] का (ऋचा का) छन्द त्रिष्टुक्[5] (त्रिष्टुभ्) है। इन्द्रिय ही 'त्रिष्टुक्' है। त्रिष्टुक् छन्द का उच्चारण करके अध्वर्यु यजमान में इन्द्रिय की ही पुष्टि करता है। ब्राह्मण श्रुति में जो 'एते' यह सर्वनाम आया है, उसका अर्थ है—'वस्वादि रूपाः'। अर्थात् 'एते' इस सर्वनाम से वसु, रुद्र आदि देवता लिये जाते हैं।

अग्नेरिति। बौधायन कहते हैं कि संस्रव होम के अनन्तर प्रदक्षिणा क्रम से आवृत्ति कर पश्चिम से उठाकर शकट के धुरे पर स्रुचों (जुहू और उपभृत्) को 'अग्नेर्वाम...पातम्' इस मन्त्र से रख दे।

हे[6] इति। हे जुहू! हे उपभृत्! मैं तुम दोनों को, जिसका घर अविनाशी है, उस पृथिव्यभिमानी (पृथिवी

---

१. यद्यपि मन्त्र में विश्वेदेवों को 'संस्रावभाग' कहा गया है, तथापि वे विश्वेदेव वसु, रुद्र, आदित्य ही हैं। यह बात आगे स्पष्ट हो जाएगी।

२. 'संस्रावभागाः स्थ...' इस मन्त्र में।

३. 'संस्रावभागाः स्थ...' यह मन्त्र।

४. मन्त्र में जिसकी स्तुति हो, जिसकी चर्चा हो वही मन्त्र का देवता माना जाता है—यह देवता के सम्बन्ध में सामान्य परिभाषा है।

५. 'त्रिष्टुभ्' के लिए वेद में 'त्रिष्टुच्' शब्द का भी प्रयोग होता है। त्रिष्टुभ् छन्द में ४४ अक्षर होते हैं

६. यहां से मन्त्रार्थ प्रारम्भ होता है।

सुखाय स्थापयामि। हे सुखवत्यौ, सुखे मां स्थापयतं यज्ञभारवाहिनावेतौ दंपती रक्षतम्। यथोक्तं मन्त्रार्थं दर्शयति—"अग्नेर्वामपन्नगृहस्य सदसि सादयामीत्याह। इयं वा अग्निरपन्नगृहः। अस्या एवैने सदने सादयति। सुम्नाय सुम्निनी सुम्ने मा धत्तमित्याह। प्रजा वै पशवः सुम्नम्। प्रजामेव पशूनात्मन्धत्ते। धुरि धुर्यौ पातमित्याह। जायापत्योर्गोपीथाय" (तै० ब्रा० ३।३।९) इति। अत्राऽऽपस्तम्बो मन्त्रभेदमाश्रित्याग्नेर्वामिति शकटस्य पूर्वभागे स्रुचौ सादयित्वा धुरि धुर्याविति युगधुरोः प्रोहेदिति मन्यते। (आप० श्रौ० ३।४।९)।

अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो पाहि माऽद्य दिवः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्यै पाहि दुश्चरितादविषं नः पितुं कृणु सुषदा योनिꣳस्वाहा

अग्न इति। कल्पः—"अपरं चतुर्गृहीतं गृहीत्वाऽन्वाहार्यपचन एवेध्मप्रव्रश्चनान्यभ्याधाय फलीकरणानोप्य फलीकरणाञ्जुहोत्यग्नेऽदब्धायोऽशीततनो पाहि माऽद्य दिवः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्यै पाहि दुश्चरितादविषं न पितुकृणु सुषदा योनिꣳस्वाहेति" (बौ० श्रौ० १।२०) इति।

के अधिष्ठाता) अग्नि देवता के शकट रूप स्थान में यजमान के सुख के लिए स्थापित करता हूं। हे सुख-युक्त जुहू ! और उपभृत् ! तुम दोनों मुझे सुख में प्रतिष्ठित करो—सुखी बनाओ, और यज्ञभार का वहन करने वाले इस यजमान दम्पती की रक्षा करो। ब्राह्मण श्रुति भी उक्त मन्त्रार्थ को दरसाती है—'अग्नेर्वाम्...गोपीथाय' इति। यह अग्नि ही ऐसी है जिसका घर नष्ट नहीं होता। इसी के घर में (शकट रूप घर में) इन दोनों—जुहू और उपभृत्—को स्थापित करता है। प्रजारूप पशु ही सुम्न (सुख) है। 'सुम्नाय सुम्निनी[1] सुम्ने मा धत्तम्' ऐसा कहकर अध्वर्यु अपने में ही प्रजारूप पशुओं की स्थापना और पुष्टि करता है। यजमान दम्पती की रक्षा के लिए ही अध्वर्यु 'धुरि धुर्यौ पातम्' ऐसा कहता है। यहां आपस्तम्ब[2] दो मन्त्र मानकर 'अग्नेर्वाम्...धत्तम्' इस—पहले—मन्त्र से शकट के पूर्वभाग में स्रुचों का सादन (स्थापन) करके 'धुरि...पातम्' इस—दूसरे—मन्त्र से जुए और धुरे में उनका[3] प्रोहण करे, ऐसा मानता है।

अग्न इति। कल्पसूत्र कहता है कि दूसरी बार जुहू में—[4]चतुर्गृहीत—आज्य-लेकर काष्ठ[5] के छिलकों को

---

१. 'सुम्निनी' का अर्थ है—'सुखवत्यौ' जुहू और उपभृत् का विशेषण है।

२. 'अग्नेर्वामपन्नस्य सदसि सादयामि इति कस्तम्भ्यां स्रुचौ सादयित्वा 'धुरि धुर्योः पातम्' इति युगधुरोः प्रोहति। यह आप. श्रौ. सू. है।

३. स्रुचों का विनियोग संग्रहकार ऐसा ही मानता है।

४. भाष्य में 'कल्पः' कहकर जो सूत्र उद्धृत किया गया है, वह बौधायन कल्पसूत्र का है, परन्तु भाष्योद्धृत सूत्र में और 'एशियाटिक सोसायटी' द्वारा मुद्रित बौधायन श्रौतसूत्र के पाठ में कुछ अन्तर है—भाष्योद्धृत सूत्र का पाठ 'फलीकरणाञ्जुहोति' और सोसायटी द्वारा मुद्रित सूत्र का पाठ है 'फलीकरण होमं जुहोति'। तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। चार बार करके लिया हुआ हवि 'चतुर्गृहीत' कहलाता है।

५. भाष्योद्धृत कल्पसूत्र में 'इध्म प्रवश्चनानि' पद आया है उसी का अर्थ है 'काष्ठ के छिलकों को'। काष्ठ को छीलते समय छोटे छोटे काष्ठ के टुकड़े इधर उधर बिखर जाते हैं—उन्हीं का नाम 'इध्म-प्रवश्न है।

तण्डुलेषु गृहे क्रियमाणेष्वपनेया मालिन्यांशाः फलीकरणाः। हेऽग्ने, मां दिवः पाहि द्युलोकवासिनो देवा मय्यपराधं यथा न गृह्णन्ति तथा कुरु। अदब्धायोऽहिंसितजीवित। अशीततनो, उष्णशरीर, प्रसित्यै प्रकृष्टाद्बन्धात्फलविघ्नात्पाहि। दुरिष्ट्यै दुष्टादयथाशास्त्रानुष्ठानात्पाहि। दुरद्मन्यै यागाधिकारविरोधिदुष्टवस्तुभोजनात्पाहि। दुश्चरितान्निषिद्धाचरणात्पाहि। पितुमन्नमस्मदीयमविषममृतं कुरु। सुषदा सुखोपवेशनेननिमित्तेन योनिं स्थानं कुरु। इदं फलीकरणद्रव्यं तुभ्यं स्वाहा हुतमस्तु।

दक्षिणाग्नि[1] में डालकर फलीकरणों[2] को—जुहू में स्थित आज्य के ऊपर—रख कर उनकी (फलीकरणों की) आहुति दे दे, 'अग्नेऽदब्धायो...स्वाहा' इस मन्त्र से आहुति देवे।

तण्डुलेषु इति। घर में धानों को ओखल में कूटकर जब चावल निकाले जाते हैं तब शूर्प से उन्हें छड़कर भूसा पृथक् कर दिया जाता है, उसी भूसे को 'फलीकरण' कहते हैं, भाष्यकार ने उस भूसे को यहां 'मलिन्यांश—मैला भाग' कहा है।

हे इति। हे अग्निदेव! द्युलोक से मेरी रक्षा-करो—ऐसा करो जिससे द्युलोकवासी देव मुझ में कोई अपराध न देखें अर्थात् मुझे अपराधी न समझें। हे अदब्धायु[3]! हे अग्निदेव! तुम्हारा जीवन अहिंसित है - तुम अविनाशी हो चिरजीवी हो, हे अशीततनो! हे अग्निदेव! तुम्हारा शरीर उष्ण है, तुम मुझे महान् बन्धन से बचाओ—यज्ञ का फल जो स्वर्ग-प्राप्ति है, उसमें होने वाले विघ्नों से मेरी रक्षा करो, यज्ञफल में होने वाले विघ्न ही महान् बन्धन हैं। दुरिष्टि से—शास्त्र के प्रतिकूल दुष्ट अनुष्ठान से—मुझे बचाओ, अर्थात् यज्ञ में मेरे द्वारा अशास्त्रविहित कोई काम न हो। यागाधिकार विरोधी जिनके करने से यज्ञ करने का अधिकार नहीं रहता—ऐसे दुष्ट वस्तु के भोजन आदि से मुझे बचाओ। निषिद्ध[4] आचरण से मेरी रक्षा करो—अर्थात् मैं बुरे काम (शास्त्र द्वारा निषिद्ध काम) न करूं। हमारे पितु—अन्न—को अमृत[5] बनाओ। सुख[6] - पूर्वक बैठने के हेतु—हमारे लिए—स्थान बनाओ। यह फलीकरण[7] द्रव्य तुम्हारे

---

१. सूत्र में 'अन्वाहार्यपचन' शब्द आया है, उसका अर्थ यहां 'दक्षिणाग्नि' है। शूर्पाकार अग्निकुण्ड में स्थापित अग्नि को 'दक्षिणाग्नि' कहते हैं।

२. फलीकरण शब्द का अर्थ आगे भाष्यकार स्वयं लिखेंगे।

३. 'अदब्धायु' और 'अशीततनु' ये अग्नि के विशेषण हैं।

४. याज्ञवल्क्य महर्षि ने 'विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्। अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति' इस वचन के द्वारा कहा है कि विहित कर्म के न करने से और निषिद्ध (निन्दित) कर्म के आचरण से मनुष्य का पतन होता है। उनका यह कथन उक्त प्रकार के मन्त्रों के आधार पर ही है।

५. मन्त्र में 'अविषम्' पद है, जिसका अर्थ है 'विष से भिन्न'। विष से भिन्न 'अमृत' ही है, 'नञ्' स्वभावतः विपरीत अर्थ को बताता है। विष से विपरीत 'अमृत' ही होता है।

६. 'सुख पूर्वक बैठने के हेतु' यह 'सुषदा' पद का अर्थ है। मूल शब्द 'सुषद्' है, 'मुद्' धातु से भाव में क्विप् हुआ है, हेतु अर्थ में तृतीया विभक्ति है।

७. शूर्प में फटकने से पृथक् होने वाला भूसा। मन्त्र में 'अद्य' पद आया है उसका अर्थ 'आज, इस समय' है।

मन्त्रव्याख्यानपूर्वकं होमं विधत्ते—"अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो इत्याह। यथा यजुरेवैतत्। पाहि माऽद्य दिवः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्टयै पाहि दुरद्मन्यै पाहि दुश्चरितादित्याह। आशिषमेवैतामाशास्ते। अविषं नः पितुं कृणु सुषदा योनिꣳस्वाहेतीध्मसंवृश्चना'न्यन्वाहार्यपचनेऽभ्याधाय फलीकरणहोमं जुहोति। अतिरिक्तानि वा इध्मसंवृश्चनानि। अतिरिक्ताः फलीकरणाः। अतिरिक्तमाज्योच्छेषणम्। अतिरिक्त एवातिरिक्तं दधाति। अथो अतिरिक्तेनैवातिरिक्तमाप्त्वाऽवरुन्धे" (तै० ब्रा० ३।३।९) इति। इध्मे शास्त्रोक्तप्रमाणेनच्छिन्ने सति तच्छेषकाष्ठानीध्मसंवृश्चनानि[१]। तानि दक्षिणाग्नौ प्रक्षिप्य तेषामुपरि जुहूगताज्ये स्थापितान्फलीकरणाञ्जुहुयात्। यज्ञोपयुक्तद्रव्यादधिकत्वमतिरिक्तत्वम्। अधिकद्रव्यहोमेनाधिकं फलं प्राप्य तत्स्वाधीनं करोतीत्यर्थः।

इत्थं फलीकरणहोमे निष्पन्ने सत्यनन्तरं पत्न्याः समीपे वेदप्रासनं विधातव्यम्। तद्विधौ बुद्धिस्थे सति तत्प्रसङ्गाद्वेदस्य प्रशंसकः कश्चिन्मन्त्र उत्पाद्यते। स च प्रदेशान्तरविषयतया विनियुज्यते—"वेदिर्देवेभ्यो निलायत। तां वेदेनान्वविन्दन् वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीम्। सा पप्रथे पृथिवी पार्थिवानि। गर्भं बिभर्ति भुवनेष्वन्तः। ततो यज्ञो जायते विश्वदानिरिति पुरस्तात् स्तम्बयजुषो वेदेन वेदिꣳसंमाष्ट्यर्नु-

१ ख. संव्रश्च। २ ख. संव्रश्च।

लिए हुत (स्वाहा) हो।

ब्राह्मण श्रुति भी मन्त्र व्याख्यान पूर्वक फलीकरण होम का विधान करती है—'अग्नेऽदब्धायो...अवरुन्धे' इति। 'अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो' इस मन्त्रांश का अर्थ स्पष्ट[१] है। 'पाहि माद्य दिवः' से लेकर 'पाहिदुश्चरितात्' तक मन्त्रांश में यजमान के मनोरथ ही बताये गए हैं, जिनकी वह अग्निदेव से आशा करता है। 'अविषम्' से लेकर 'अवरुन्धे' तक के ब्राह्मण भाग का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं—'इध्मे...करोतीत्यर्थः' इति। शास्त्रोक्त प्रमाण के अनुसार काष्ठ से छीले जाने पर जो काष्ठ के टुकड़े (इधर-उधर बिखरे हुए) बच रहते हैं, उन्हें 'इध्म संवृश्चन'[२] कहते हैं, उनको दक्षिणाग्नि में डाल कर, उनके ऊपर, जुहू में स्थित आज्य पर रक्खे हुए फलीकरणों की आहुति दे दे। यज्ञ में जिनका उपयोग हो चुका है, उनसे बचे हुए अधिक द्रव्य (इध्म संवृश्चन, फलीकरणसंस्राव आदि) 'अतिरिक्त' कहलाते हैं। अधिक द्रव्य (अतिरिक्त द्रव्य) के होम से अधिक फल प्राप्त करके उसको (फल को) यजमान[३] अपने अधीन कर लेता है—यह तात्पर्य है।

इत्थमिति। इस प्रकार फलीकरण होम के सम्पन्न हो जाने पर, तदनन्तर पत्नी के अङ्क में वेद-प्रासन[४] का विधान करना चाहिये। वेद-प्रासन विधि के विचारस्थ रहते हुए ही उसके[५] प्रसङ्ग से—ऋषि द्वारा—वेद के प्रशंसक किसी

१. ब्राह्मण गत 'यथा यजुरेवैतत्' का अर्थ है—'यह मन्त्र या मन्त्रांश स्पष्टार्थ है'।
२. कहीं 'संव्रश्चन' ऐसा पाठ है, वही हमें ठीक प्रतीत होता है, किन्तु आदि संप्रसारण का कारण यहाँ नहीं है।
३. यद्यपि होम अध्वर्यु करता है, तथापि दक्षिणाक्रीत अध्वर्यु द्वारा किये गए होम आदि का फल यजमान को ही मिलता है।
४. फलीकरण होम के अनन्तर वेद (कुशमुष्टि) को यजमान की पत्नी के अङ्क (गोद) में फेंक दिया जाता है, इसी का नाम 'वेद प्रासन-वेद का प्रक्षेप या फेंकना' है। 'असु क्षेपणे' से 'प्रासन' बना है।
५. वेद (कुशमुष्टि) के।

वित्त्यै । अथो यद्वेदश्च वेदिश्च भवतः। मिथुनत्वाय प्रजात्यै" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति । केनापि कारणेन देवेभ्यस्तिरोहितां वेद्यभिमानिदेवतां वेदाभिमानिदेवतामुखेन देवा अलभन्त। तमेतं वेदस्य महिमानं वेदेनेत्यादिको मन्त्रः प्रकाशयति।

अस्यायमर्थः—असुरैर्दत्तां पृथिवीं देवाः पूर्वोत्तरभागाभ्यां संस्कृत्य वेदिमकुर्वन्। तां च वेदिं देवाः पुनर्वेदेनालभन्त। सा च वेदिः पृथिवीरूपा सती पार्थिवानि[1] व्रीह्यादीनि विस्तारितवती। किंच सा पृथिवीदेवता सर्वेषु भुवनेष्वन्तरुदरान्तर्यं (रे) गर्भं बिभर्ति। तस्मात् गर्भात्सर्वस्य फलस्य दाता यज्ञपुरुष उत्पन्न इति। अनेन मन्त्रेणाष्टमानुवाकोक्तात्पुरोडाशनिष्पादनादूर्ध्वं नवमानुवाके वक्ष्यमाणात्स्तम्बयजुर्हरणात्पुरस्तात् दर्भमयेन वेदेन वेदिस्थानं संमृज्यात्। तच्च वेदिलाभाय किंच वेदवेदिरूपं मिथुनं प्रजननाय भवति।

प्रासङ्गिकं समाप्य प्रकृतमनुसरति—"प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि । यद्वेदः। पत्निया

१ क. ग. नि द्रव्यादी।

मन्त्र की उद्‌भावना की जाती है और किसी दूसरे स्थल में कर्मान्तर[1] में उसका विनियोग किया जाता है—"वेदिर्देवेभ्यः... प्रजात्यै" इति। इस ऋषि वाक्य का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं करते हैं—**केनापि** इति। किसी कारण से देवों से तिरोहित (छिपी हुई) वेदि की अभिमानिनी (अधिष्ठात्री) देवता को देवों ने वेदाभिमानी देवता के द्वारा प्राप्त किया। वेद की इस महिमा को 'वेदेन[2]...'इत्यादि मन्त्र प्रकाशित करता है।

इसका अभिप्राय यह है—देवताओं ने असुरों के द्वारा दी गई पृथ्वी का पूर्वोत्तर भाग द्वारा (पूर्वपरिग्राह[3] और उत्तर परिग्राह द्वारा) संस्कार करके वेदि की रचना की। और उस वेदि को देवताओं ने पुनः वेद[4] द्वारा प्राप्त किया। वह वेदि पृथ्वी स्वरूप थी, उसने पृथिवी के विकार-स्वरूप व्रीहि आदि धान्यों को विस्तारित किया—बहुतायत से उत्पन्न किया। इसके अतिरिक्त वह पृथिवी देवता सब भुवनों में अपने उदर में गर्भधारण करती है। उस गर्भ से सब फलों का दाता **यज्ञपुरुष** उत्पन्न हुआ।

अनेन इति। इस[5] मन्त्र से, आठवें अनुवाक में वर्णित पुरोडाशनिष्पत्ति के अनन्तर नवम अनुवाक में बताए जाने वाले स्तम्बयजुहरण से पूर्व कुशमय वेद के द्वारा वेदिस्थान का सम्मार्जन करे। यह सम्मार्जन कर्म वेदि लाभ[6] के लिए होता है। इसके अतिरिक्त वेद और वेदि का मिथुन (संयोग) संतानोत्पत्ति के लिए होता है।

प्रासङ्गिकम् इति। इस प्रकार ऋषि प्रासङ्गिक बात को समाप्त करके—प्रकृत विषय का अनुसरण

१. पुरोडाश निष्पत्ति और स्तम्बयजुर्हरण के मध्य में होने वाले वेदि सम्मार्जन कर्म में।
२. 'वेदेन वेदिम्...विश्वदानिः' यह पूर्ण मन्त्र है।
३. पूर्वपरिग्राह और उत्तरपरिग्राह का स्वरूप नवम अनुवाक के साथ बताया गया है, वहीं देखो।
४. कुशमुष्टि द्वारा।
५. 'वेदेन वेदिं विविदुः पृथिवीम्...विश्वदानिम्' इस मन्त्र से।
६. 'वेदिर्देवेभ्यो निलायत...' इस ब्राह्मण वाक्य में 'अनुवित्त्यै' शब्द आया है, उसका ही तात्पर्य 'वेदि लाभ के लिए वेदिलाभाय' इस शब्द से बताया गया है।

उपस्थ आस्यति। मिथुनमेव करोति। विन्दते प्रजाम्" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति। पत्नीसमीपे प्राप्तस्य वेदस्य पुनरास्तरणं विधत्ते—"वेदᳲहोताऽऽहवनीयात्स्तृणन्नेति। यज्ञमेव तत्संतनोत्योत्तरस्मादर्धमासात्। तᳲसंततमुत्तरेऽर्धमास आलभते। तं कालेकाल आगते यजते" (तै० ब्रा० ३।३।६) इति।

वेदस्य बन्धनं विमुच्य गार्हपत्यमारभ्याऽऽहवनीयपर्यन्तास्तरणेनाऽऽगामिपर्वपर्यन्तं यज्ञः संततो भवति। पुनः पर्वण्यन्वाधानादिकं कृत्वा प्रतिपदि तं संततं यज्ञं कर्तुमारभते। एवं पुनः पुनस्तत्काले समागते सति यजत इत्यविच्छिन्नो यज्ञो भवति।

करते हुए कहता है—'प्रजापतेर्वा...विन्दते प्रजाम्' इति। यह जो वेद है, यह प्रजापति का श्मश्रू (मूंछ दाढ़ी) है। अध्वर्यु इसको (वेद को) पत्नी के अङ्क में फेंककर मिथुन (संयोग) का संपादन करता है, जिससे यजमान को संतति लाभ होता है। ब्राह्मण श्रुति पत्नी के अङ्क में फेंके हुए वेद के आस्तरण[1] का विधान करती है—'वेदम्...जयते' इति। होता[2]—गार्हपत्य से लेकर—आहवनीय तक वेद[3] का आस्तरण[4] करते हुए आता है, ऐसा[5] करके वह आगे आने वाले अर्धमास[6] तक (पर्व तक) यज्ञ को ही विस्तृत करता है। उस विस्तृत यज्ञ को वह—पुनः आगामी अर्धमास में (पर्व के दिन) प्रारम्भ करता है। उसी संतत यज्ञ को वह बार बार उसका समय उपस्थित होने पर करता ही रहता है।

वेदस्य[7] इति। वेद का (कुशमुष्टि का) बन्धन खोलकर गार्हपत्य से प्रारम्भ करके आहवनीय तक वेदास्तरण द्वारा आगामी पर्व तक यज्ञ संतत (अनुवर्तमान) रहता है। पर्व के उपस्थित होने पर पुनः अन्वाधान[8] आदि करके प्रतिपदा के दिन उस संतत (अनुवृत्त) यज्ञ को प्रारम्भ करता है। इस प्रकार बार बार यज्ञ का उपस्थित होने पर वह यज्ञ करता है—इस तरह यज्ञ अविच्छिन्न रहता है—उसका तांता टूटने नहीं पाता।

---

१. वेद अनेक कुशों की एक मूली सी है, उसे खोल लिया जाता है और उसके कुशों को बिछाया जाता है। इसी का नाम 'वेद का आस्तरण' है।

२. यहां से 'वेदं होता...' इस ब्राह्मण श्रुति का अनुवाद प्रारम्भ होता है।

३. वेद में बंधी हुई कुशों का।

४. बिछाते हुए।

५. वेदगत कुशों का आस्तरण करके।

६. मास में दो ही पर्व होते हैं—एक दर्श (अमावस्या) दूसरा पौर्णमासी। आधे आधे मास के बाद ये दोनों पर्व हैं। यदि दर्श से यज्ञ प्रारम्भ हो तो आगामी पर्व पौर्णमामी होती है। यदि पौर्णमासी से प्रारम्भ हो तो आगामी पर्व अमावस्या होती है। तैत्तिरीय शाखियों का पर्व दर्श से ही प्रारम्भ होता है। यह भी एक कारण है कि तैत्तिरीय शाखा को कृष्णयजुर्वेद कहते हैं, क्योंकि दर्श प्रकाशशून्य होने से कृष्ण है।

७. यहां से 'वेदं ..यजते' इस ब्राह्मण श्रुति का सायण कृत व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

८. समिधा डालकर अग्नि को प्रदीप्त करना ही 'अन्वाधान' है।

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित मनसस्पत इमं नो देव देवेषु यज्ञꣳस्वाहा वाचि स्वाहा वाते धाः (३) ।

देवा इति । बौधायनः—"अथोत्थाय दक्षिणेन पदा वेदिमवक्रम्य ध्रुवया समिष्टयजुर्जुहोति[1] देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित मनसस्पत इमं नो देव देवेषु यज्ञꣳस्वाहा वाचि स्वाहा वाते धाः स्वाहेति" (बौ० श्रौ० १।२१) इति ।

आपस्तम्बः—"देवा गातुविद इत्यन्तर्वेद्यूर्ध्वस्तिष्ठन्ध्रुवया समिष्टयजुर्जुहोति मध्यमे स्वाहाकारे

देवा इति । बौधायन कहते हैं कि इसके[1] अनन्तर खड़े होकर दाहिने पांव से वेदि को आक्रान्त करके (वेदि पर दाहिना पांव रखकर) 'देवा गातुविदो···स्वाहा' इस मन्त्र को बोलकर ध्रुवा से 'समिष्ट[2] यजु होम' करे ।

आपस्तम्ब[3] इति । आपस्तम्ब कहते हैं—वेदि के मध्य में सीधे खड़े होकर ध्रुवा से समिष्टयजुर्होम करे । होम 'देवा गातुविदो···' इस मन्त्र से करे । मध्यम[4] स्वाहाकार में ('वाचि स्वाहा' इस मन्त्रांश के अन्त में) कुशों को अग्नि में

१ ख. ति मध्यमे स्वाहाकारे बर्हिरनुप्रहरति दे ।

१. बौधायन के अनुसार 'बर्हिः प्रहरण' के अनन्तर । देखो बौधायन श्रौतसूत्र प्रथम प्रश्न का अन्तिम भाग ।

२. वेदि के मध्य में दाहिना पाँव रखकर ध्रुवा से जो होम किया जाता है उसे 'समिष्टयजुर्होम' कहते हैं । देखो 'श्रौतपदार्थनिर्वचनम्' । जिस मन्त्र से 'समिष्टयजुर्होम' किया जाता है उसका नाम 'समिष्टयजुः' है । समिष्टयजुर्होम में अवशिष्ट सब कुशों को अग्नि में डाल दिया जाता है ।

३. भाष्योद्धृत आपस्तम्ब श्रौ.सू. का आदि भाग है 'पूर्ववद् ध्रुवामाप्याय्य ।' 'ध्रुवामाप्याय्य' से तात्पर्य है— ध्रुवा में आज्यस्थाली से घी डालकर ।

४. यद्यपि 'देवा गातुविदो···' इस मन्त्र में 'स्वाहा' शब्द दो बार ही आया है मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' शब्द नहीं है । अतः 'मध्य में स्वाहाकारे बर्हिरनुप्रहरति' यह कहना असङ्गत है—'वाचि स्वाहा' यह मध्यम स्वाहाकार नहीं माना जा सकता, तथापि यह समिष्टयजुर्होम मन्त्रान्त में 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके ही किया जाता है, इसलिए 'वाचिस्वाहा' को 'मध्यम स्वाहाकार' कह सकते हैं । अन्त में 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके ही 'समिष्टयजुर्होम' होता है—इसमें प्रमाण है धूर्तस्वामी का यह वचन 'समिष्टयजुरित्येकवचनाद् अन्त एव होमः स्वाहाकारेण' इति । वृत्तिकार ने इस वचन का व्याख्यान इस प्रकार किया है—'न प्रतिस्वाहाकारमन्त्रभेदः, कृत्स्नमन्त्रान्ते स्वाहाकारं कृत्वा होमः' इति । इसका तात्पर्य यह है कि 'समिष्टयजुः' यह एक वचन है, इससे सिद्ध है कि 'समिष्टयजुः' यह एक मन्त्र है । अतः मन्त्रान्त में 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके 'समिष्टयजुर्होम' करना चाहिये । यदि 'समिष्टयजूंषि' इस प्रकार का बहुवचन होता तो प्रत्येक 'स्वाहा' शब्द के अन्त तक एक-एक मन्त्र मानकर तीन मन्त्र माने जाते । और तीन बार समिष्टयजुर्होम होता । 'मध्य में स्वाहाकारे' ऐसा कहने से ही यह सिद्ध है कि मन्त्रान्त में ('वातेधाः' के अन्त में) स्वाहाकार आवश्यक है, अन्यथा 'वाचि स्वाहा' को मध्यमत्व प्राप्त नहीं होगा । प्रायः मन्त्रान्त का 'स्वाहा' शब्द ही त्यागार्थक होता है, कहीं-कहीं आदि का भी । मध्यगत 'स्वाहा' शब्द कभी त्यागार्थक नहीं होता । अतः 'मध्य में स्वाहाकारे बर्हिरनुप्रहरति' से 'बर्हिःप्रहरण' का (अग्नि में बर्हिप्रक्षेप का) कालमात्र बताया गया है । 'बर्हिः प्रहरण' समिष्टयजुर्होम नहीं है । यदि 'बर्हिः' समिष्टयजुर्होम का अङ्ग होता तो उसका भी प्रक्षेप अन्तिम स्वाहाकार के अन्त में ही होता । बर्हिः प्रहरण तो प्रतिपत्ति कर्म है । चरितार्थ बर्हिओं को अग्नि में डाल देना ही उनकी प्रतिपत्ति है । 'मध्यमे स्वाहाकारे···' से उसी प्रतिपत्ति का काल बताया गया है ।

बर्हिरनुप्रहरति" (आप० श्रौ० ३।१३।२-३) इति।

अन्तेऽपि बौधायनेन स्वाहाकारस्याध्याहृतत्वात्तेनावशिष्टं सर्वं होतव्यमिति लभ्यते। जुह्वादीनि तु यजमानेन यावदायुः संभा[1]र्याणि[2]। "तमाहिताग्निमग्निभिर्दहन्ति यज्ञपात्रैश्च" (द्र० वैखा० श्रौ० सू० २।१।६) शास्त्रात्।

हे गातुविदो मार्गविदो देवाः पूर्वं यं गातुं मार्गं लब्ध्वा समागताः पुनः प्रतिनिवृत्य तं गातुं मार्गं

१ ख. संधार्या। २ क. ङ. च. णि। तं यजमानं यज्ञपात्रैर्दहन्तीति।

डाल दे।

अन्तेऽपि इति। बौधायन ने मन्त्र के अन्त में भी स्वाहाकार का अध्याहार[1] किया है, जिससे प्राप्त होता है कि अवशिष्ट सबका (बचा-कुचा सबका) होम कर दे। 'अवशिष्टं सर्वं होतव्यम्' भाष्यकार के वाक्य में 'अवशिष्टम्' शब्द का तात्पर्य है—'जुहू आदि यज्ञ के पात्रों को छोड़कर जो कुछ शेष है, उसको।' क्योंकि जुहू आदि पात्र तो यजमान को आयु भर रखने ही पड़ते हैं। कारण कि "तम् आहिताग्निम्···यज्ञपात्रैश्च-उस आहिताग्नि को मृत्यु के अनन्तर-आहवनीय आदि-अग्नियों और यज्ञ पात्रों से जला दे" ऐसी विधि[2] है।

हे[3] इति। हे गातुविदः —हे मार्ग जानने वाले देवताओ, आप लोग पहले, यं गातुम्=जिस मार्ग को, प्राप्त करके आए थे, लौटकर[4] फिर उसी मार्ग पर चले जाइये, हे मनसस्पते देव=हे मन के स्वामी,[5] देव !, आपने जिन देवताओं

१. संहिता में 'देवागातु···' इत्यादि मन्त्र 'वातेधाः' इस वाक्य के साथ समाप्त हो जाता है। वहाँ 'वातेधाः' के बाद 'स्वाहा' शब्द नहीं है। परन्तु बौधायन ने स्वाहा शब्दान्त मन्त्र का निर्देश किया है। इसका अभिप्राय भाष्यकार ने यह समझा है कि बौधायन स्वाहा शब्द का सम्बन्ध 'वातेधाः' के साथ भी मानते हैं, और उससे यह कल्पना करते हैं कि बचा-कुचा सब कुछ (यज्ञ पात्रों को छोड़कर) होम कर दे। भाष्यकार ने यहाँ बौधायन के मत पर अच्छी तरह प्रकाश नहीं डाला 'देवागातु··' मन्त्र का जो अर्थ भाष्यकार ने किया है उसको ध्यान में रखते हुए भाष्यकार का क्या अभिप्राय है, वे बौधायन का क्या आशय समझते हैं—यह अपनी समझ के अनुसार हम आगे लिखेंगे। वस्तुतस्तु बौधायन का अभिप्राय तो बौधायनानुसारी अग्निहोत्री ही बता सकेंगे।

२. आहिताग्नि का जब देहान्त हो जाता है तब उसके देह को यज्ञपात्रों के साथ आहवनीयादि अग्नियों से जला देना चाहिये, ऐसी शास्त्रीय विधि है, जिसका उद्धरण भाष्यकार ने किया है। यदि समिष्टयजुर्होम के समय पात्रों की भी आहुति दे दी जायगी, तो देहान्त के बाद आहिताग्नि की देह को पात्रों के साथ जलाने का अवसर कैसे हो सकता है, क्योंकि पात्र तो है ही नहीं, उनका तो पहले ही होम हो चुका है। अतः पात्रों को छोड़कर शेष कुश आदि का ही होम होता है।

३. यहाँ से मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

४. कर्म समाप्ति के बाद लौटकर।

५. मन को भी प्रेरणा देने वाले सब भूतों के अन्तरात्मा।

गच्छत। हे मनसस्पते देव भवतोक्तेषु देवेष्विमं नो यज्ञं निधेहि। इदमाज्यं हुतमस्तु। सर्वक्रियाप्रवर्तके वायौ निधेहि। इदमाज्यं हुतमस्तु।

वायुविषयेणानेन मन्त्रेण यज्ञसमाप्तिमुपपादयति—"ब्रह्मवादिनो वदन्ति। स त्वा अध्वर्युः स्यात्। यो यतो यज्ञं प्रयुङ्क्ते तदेनं प्रतिष्ठापयतीति। वाताद्वा अध्वर्युर्यज्ञं प्रयुङ्क्ते। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमितेत्याह। यत एव यज्ञं प्रयुङ्क्ते। तदेनं प्रतिष्ठापयति। प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिर्यजमानः" (तै० ब्रा० ३।३।९) इति। योऽध्वर्युर्यस्माद्देवाद्यज्ञमुपक्रमते तस्मिन्नेव देवे यदि यज्ञं समापयेत्तर्हि स एव

की चर्चा की है, उनमें हमारे इस यज्ञ को स्थापित[1] कर दो—हमारे इस यज्ञ को उन तक पहुँचा दो। यह आज्य=अग्नि में—हुत हो। सब क्रियाओं के प्रवर्तक वायु में—हमारे इस यज्ञ को—स्थापित करो, यह आज्य—अग्नि में—हुत हो। भाष्यकार ने या तो सुगम समझकर 'वाचि स्वाहा' इस वाक्य का भाष्य नहीं किया, या यह किसी भी कारण उनसे छूट गया, अथवा अक्षर योजकों के अनवधानवश किया हुआ भी भाष्य मुद्रण होने से रह गया, सर्वथा 'वाचि स्वाहा' का भाष्य कम से कम आनन्दाश्रम मुद्रित तैत्तिरीय संहिता के सायण भाष्य में अनुपलब्ध है। हम भट्टभास्कर के आधार पर उपर्युक्त वाक्य का अर्थ लिख देते हैं—वाचि=वाग्देवता में अथवा=शब्द ब्रह्म में हमारे इस यज्ञ को स्थापित करो। 'स्वाहा' का अर्थ सायण के मत से 'यह आज्य-अग्नि में-हुत हो' यही है। परन्तु भट्टभास्कर के मत से 'स्वाहा' का अर्थ है—'एवं हि सरस्वत्याह-सरस्वती ऐसा ही कहती है।' सु+आह=स्वाहा, अकार को छान्दस दीर्घ हो गया 'द्व्यचोऽतास्तिङः' सूत्र से। सायण भाष्य को देखकर यही प्रतीत होता है कि भाष्यकार यहाँ स्वाहान्त तीन मन्त्र मानते हैं, बौधायन का भी यही अभिप्राय समझते हैं, 'समिष्टयजुः' उनके मत से जाति में एकवचन है, भट्टभास्कर ने भी 'समिष्टयजूंषि जुहोति' लिखकर मन्त्र का व्याख्यान प्रारम्भ किया है।

वायुविषयेण इति। वायु-विषयक इस मन्त्र से यज्ञ की समाप्ति का उपपादन ब्राह्मणश्रुति स्वयं करती है—'ब्रह्मवादिनो···यजमानः' इति। इस[2] ब्राह्मणश्रुति का तात्पर्य संक्षेप में भाष्यकार स्वयं लिखते हैं—योऽध्वर्युः इति। जो अध्वर्यु जिस देवता से यज्ञ का प्रारम्भ करता है, यदि वह उसी देवता में यज्ञ की समाप्ति करे तो वही मुख्य अध्वर्यु होता है—यह ब्रह्मवादियों[3] का कथन है। यहाँ भी (प्रकृत में भी) अध्वर्यु सर्वक्रियाप्रवर्तक वायुदेवता से ही यज्ञ का उपक्रम करता है, क्योंकि वह (अध्वर्यु) अच्छिद्रकाण्डपठित 'देवा[4] गातु विदो' वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्' इस वायु विषयक

१. यह भाष्योक्त 'निधेहि' पद का अर्थ है। यद्यपि मूल में 'निधेहि' पद नहीं है, तथापि मन्त्रान्त में आए 'धाः' पद का संबन्ध 'यज्ञम्' के साथ होता है। 'धाः' यह 'दुधाञ्धारणपोषणयोः' के लेट् का रूप है, बाहुलकात् 'शप्' का लुक् हो गया है। 'धाः' का ही अर्थ भाष्यकार ने 'निधेहि' लिखा है। 'यज्ञम्' पद का संबंध देवेषु, वाचि, और वाते इन तीनों के साथ होता है।

२. 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति···' इत्यादि ब्राह्मण वाक्य का।

३. वेदवादी ऋषियों का।

४. इस मन्त्र का अर्थ है—'हे मार्ग जानने वाले देवताओ! तुम यज्ञ में जाने के लिए मार्ग प्राप्त करो, मन के अधिष्ठातृ देवता के साथ वायु देवता से ही यज्ञ का प्रारम्भ करो'।

मुख्योऽध्वर्युः स्यादिति ब्रह्मवादिनामुक्तिः। अत्राप्यध्वर्युः सर्वक्रियाप्रवर्तकाद्वायोरेव यज्ञमुपक्रमते। "देवा गातुविदो गातुं यज्ञाय विन्दत। मनसस्पतिना देवेन वाताद्यज्ञः प्रयुज्यताम्" (तै० ब्रा० ३।७।४) इत्येतस्याच्छिद्रकाण्डगतस्य मन्त्रस्य प्रथमं जपितत्वात्। अतः समाप्तावपि देवा गातुविद इत्येष वायुविषयो मन्त्रो युक्तः।

यद्यप्येतावता त्रयोदशानुवाकोक्तानां मन्त्राणां व्याख्यानं समाप्तं तथाऽपि दशमानुवाके पत्नीसंनहनप्रसङ्गेन पत्नीविषयौ द्वौ मन्त्रावाम्नातौ। तदानीमनुपयोगाद् ब्राह्मणेन तौ तत्र न व्याख्यातौ। उपवेषत्यागार्थं मन्त्रोत्पत्तिरिति कर्तव्येति तदुभयमत्र व्याक्रियते।

मन्त्र को पहले (यज्ञ के प्रारम्भ में) जप चुका है। इसलिए समाप्ति में भी 'देवागातु[1] विदः···' यह वायुविषयक मन्त्र युक्तियुक्त है।

यद्यपि जो कुछ लिखा जा चुका है उतने से-प्रकृत-तेरहवें अनुवाक के मन्त्रों का व्याख्यान समाप्त हो जाता है, परन्तु दसवें अनुवाक में 'पत्नीसन्नहन'[2] कर्म के प्रसङ्ग से पत्नीविषयक दो मन्त्र[3] पढ़े गए हैं, वहाँ उस समय[4] उपयोग न होने से ब्राह्मण ने उन दोनों का व्याख्यान नहीं किया। उपवेष[5]-त्याग के लिए मन्त्रोद्भावन भी करना है, अतः ये दोनों[6] बातें यहाँ की जा रही हैं।

---

१. 'देवा गातुविदो···वातेधाः स्वाहा' यह मन्त्र।

२. दसवें अनुवाक में 'अथैनां पत्नीम्, अन्तरेण वेद्युत्करौ प्रपाद्य जघनेन, दक्षिणेन गार्हपत्यम् उदीचीनमुपवेश्य योक्त्रेण संनह्यति' इस कल्पसूत्र से योक्त्र द्वारा पत्नी सन्नहन का विधान किया गया है।

३. पहला मन्त्र है—'इमं विष्यामि वरुणस्य पाशम्···स्योनं मे सह पत्न्या करोमि' इति, दूसरा है—'समायुषा संप्रजया···समात्मा तनुषा मम' इति, देखो दसवाँ अनुवाक।

४. ये दोनों मन्त्र क्रमशः योक्त्र खोलने और योक्त्र सहित पत्नी की अञ्जलि में पूर्ण पात्र रखते समय जपने के हैं। जैसा कि इस कल्पसूत्र से प्रकट है—'इमं विष्यामीति पत्नीयोक्त्रपाशं मुञ्चते, तस्याः स योक्त्रेऽञ्जलौ पूर्णपात्रमानयति, समायुषा संप्रजयेत्यानीयमाने जपति' इति। देखो दसवें अनुवाक में 'इममिति' इस प्रतीक से प्रारम्भ होने वाला सायणभाष्य। योक्त्रबन्धन के समय योक्त्र खोलने का और खुले हुए योक्त्र को पत्नी की अञ्जलि में रखकर उस पर पूर्णपात्र रखने (उदक डालने) और मन्त्र जपने आदि का कोई प्रसङ्ग नहीं है, अतः ब्राह्मणश्रुति ने योक्त्रबन्धन के अवसर पर प्रसङ्गवश कहे गए उक्त दोनों मन्त्रों की व्याख्या नहीं की। फलीकरण होम के अनन्तर उनका (योक्त्र मोचन आदि का) प्रसङ्ग आता है, प्रकृत तेरहवें अनुवाक में फलीकरण होम बता दिया गया है, अतः फलीकरण होम के अनन्तर किये जाने वाले योक्त्र मोचनादि मन्त्रों का व्याख्यान अवसर प्राप्त है, अतः यहाँ (तेरहवें अनुवाक के व्याख्यान अवसर पर) उनका भी व्याख्यान किया जा रहा है।

५. वत्सापाकरणार्थ ली गई पर्णशाखा के मूल का प्रादेशमात्र भाग, जो गार्हपत्य के अङ्गारों को इधर-उधर करने के उपयोग में आता है, उसको 'उपवेष' कहते हैं। पहले भी इसका वर्णन आ चुका है।

६. योक्त्र, योक और जप के मन्त्रों का व्याख्यान और उपवेष त्यागार्थ मन्त्र का उल्लेख ये दोनों बातें।

प्रथमं तावद्योक्त्रविमोकमन्त्रस्य पूर्वार्धं व्याचष्टे—"यो वा अयथा देवतं यज्ञमुपचरति । आ देवताभ्यो वृश्च्यते । पापीयान्भवति । यो यथा देवतम् । न देवताभ्य आवृश्च्यते । वसीयान्भवति वारुणो वै पाशः । इमं विष्यामि वरुणस्य पाशमित्याह । वरुणपाशादेवैनां मुञ्चति । सवितृप्रसूतो यथा देवतम् । न देवताभ्य आवृश्च्यते । वसीयान्भवति" (तै० ब्रा० ३।३।१०) इति । योक्त्रपाशस्य वरुणो देवता, तद्-बन्धस्य च सविता देवता । ततो वरुणस्य पाशं यमबध्नीत सविता (तै० सं० १।१।१०) इति पदाभ्यां यथा-देवतं यज्ञोपचारान्न देवताभ्य आवृश्च्यते न विच्छिन्नो भवति । नापि दरिद्रो भवति । सवितृप्रसूतो यथा-देवतमुपचरतीति शेषः ।

तृतीयपादे पदार्थवाक्यार्थौ दर्शयति—"धातुश्च योनौ सुकृतस्य लोक इत्याह । अग्निर्वै धाता । पुण्यं कर्म सुकृतस्य लोकः । अग्निरेवैनां धाता । पुण्ये कर्मणि सुकृतस्य लोके दधाति" (तै० ब्रा० ३।३।१०) इति ।

प्रथमम् इति । ब्राह्मणश्रुति पहले योक्त्रविमोक मन्त्र के पूर्वार्ध[1] का व्याख्यान करती है—'यो वा अयथा-देवतम्'''वसीयान् भवति' इति । भाष्यकार इस ब्राह्मणश्रुति का आशय स्वयं लिखते हैं—'योक्त्रपाशस्य' इति । योक्त्रपाश का देवता वरुण है, और योक्त्रबन्धन क्रिया का देवता सविता है, इसलिए 'वरुणस्य[2] पाशं यमबध्नीत सविता' इन दोनों[3] पदों (पादों) के द्वारा देवतानुसार (देवता का अतिक्रमण न करके ही) यज्ञानुष्ठान संबन्धी व्यवहार हुआ है, फलतः यजमान पत्नी देवता से विच्छिन्न (अलग) नहीं होती, और दरिद्र भी नहीं होती । भाष्योद्धृत ब्राह्मणश्रुति में 'सवितृप्रसूतो-यथादेवतम्' यह वाक्य अधूरा है । उसको पूरा करने के लिए भाष्यकार कहते हैं—**सवितृप्रसूत** इति । अर्थात् 'सवितृ[4]प्रसूतो यथा देवतम्' के आगे 'उपचरति' पद का अध्याहार[5] करलो उससे वाक्य पूरा हो जायगा ।

तृतीयपादे इति । ब्राह्मणश्रुति योक्त्रविमोक मन्त्र के तृतीयपाद में पदार्थ और वाक्यार्थ को स्पष्ट करती है—'धातुश्च योनौ'''लोके दधाति' इति । 'धातुश्च योनौ सुकृतस्य लोके' यह मन्त्र का तृतीयपाद है । अग्नि ही धाता है—और पुण्य कर्म ही सुकृत का लोक है । अग्नि रूप धाता=ब्रह्मा ही इस यजमान-पत्नी को सुकृत के लोक स्वरूप पुण्यकर्म में स्थापित करता है ।

---

१. 'इमं विष्यामि वरुणस्य पाशं यमबध्नीत सविता सुकेतः' योक्त्र विमोक मन्त्र का पूर्वार्ध है ।

२. 'वरुणस्य' के पहले 'इमं विष्यामि' इतना और जोड़ लो, इसी प्रकार 'सविता' के अन्त में 'सुकेतः' और जोड़ लो, इस तरह दो पाद पूरे होते हैं ।

३. 'पद' शब्द का प्रयोग 'पाद' के अर्थ में भी होता है—'गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति' इस निरुक्तोद्धृत ब्राह्मण वाक्य से यह स्पष्ट है ।

४. सविता से प्रेरित होकर—'सवितृप्रसूतः' का अर्थ है ।

५. इसी प्रकार उक्त ब्राह्मणश्रुति में 'यो यथाऽदेवतम्' यह वाक्य भी अधूरा ही है, उसमें भी 'उपचरति' का अध्याहार कर लेना । 'वसीयान्' का अर्थ है अधिक धनवान् । अतिशयेन वसुमान् इति वसीयान्-इस विग्रह के अनुसार 'वसुमत्' शब्द से ईयसुन् प्रत्यय हुआ है, 'मतुप्' और 'टि' का लोप हो गया है ।

दुःखनाशाय सुखप्राप्तये च चतुर्थपादोक्तिरित्याह—"स्योनं मे सह पत्न्या करोमीत्याह। आत्मनश्च यजमानस्य चानात्यै संत्वाय" (तै० ब्रा० ३।३।१०) इति। पत्न्याः पूर्णपात्रविमोकोर्थो यो मन्त्रस्तं व्याचष्टे—"समायुषा सं प्रजयेत्याह। आशिषमेवैतामाशास्ते पूर्णपात्रे" (तै० ब्रा० ३।३।१०) इति। समानीयमान इति शेषः।

मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति—"अन्ततोऽनुष्टुभा चतुष्पद्वा एतच्छन्दः। प्रतिष्ठितं पत्नियै पूर्णपात्रे भवति। अस्मिँल्लोके प्रतितिष्ठानीति। अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति" (तै० ब्रा० ३।३।१०) इति। पत्नीकर्तव्यस्यावसाने विहितं यदिदं पूर्णपात्राभिमन्त्रणमनुष्टुभा क्रियते तदिदं छन्दः पादचतुष्टयोपेतत्वाद्गौरिव प्रतिष्ठितं भवति। कस्मिन् विषये। पत्न्याः संबन्धिनि पूर्णपात्रे विषये। मन्त्रं जपन्त्याः कोऽभिप्रायः इह लोके प्रतिष्ठिता स्यामित्यभिप्रायः। तत्र मन्त्रसामर्थ्यात्सा प्रतितिष्ठत्येव।

दुःख इति। दुःख विनाश और सुख प्राप्ति के लिए चतुर्थपाद[1] की उक्ति है—इस बात को ब्राह्मणश्रुति कहती है—'स्योनं[2]···संत्वाय' इति। पत्नी की अञ्जलि में पूर्णपात्र[3] रखने का जो मन्त्र है, उसका तात्पर्य ब्राह्मणश्रुति इस प्रकार बताती है—'समायुषा···पूर्णपात्रे' इति। अर्थात् इस मन्त्र के द्वारा यजमान-पत्नी, 'मैं आयुष्मती होऊँ, प्रजावती बनूं, पातिव्रत्यरूप तेज मुझमें हो' इत्यादि आशीर्वादों की कामना करती है। ब्राह्मण वाक्य में 'पूर्णपात्रे' शब्द के आगे 'समानीयमाने' इस पद का अध्याहार करो। तात्पर्य यह है कि जब पूर्णपात्र का जल पत्नी की अञ्जलि में डाला जा रहा हो उस समय[4] यह आशीर्वादात्मक मन्त्र बोला जाता है।

ब्राह्मणश्रुति मन्त्र के छन्द की प्रशंसा करती है—'अन्ततोऽनुष्टुभा···प्रतितिष्ठति' इति। भाष्यकार उक्त ब्राह्मणश्रुति का तात्पर्य बताते हैं—पत्नीकर्तव्यस्य इति। पत्नी कर्तव्य[5] के अन्त में विहित यह जो अनुष्टुभ्-छन्द-युक्त मन्त्र से पूर्णपात्र का अभिमन्त्रण किया जाता है, वह छन्द, चतुष्पाद् होने के कारण गौ के[6] समान प्रतिष्ठित होता है। किस विषय में—प्रतिष्ठित होता है? पत्नी संबन्धी पूर्णपात्र[7] के विषय में। 'समायुषा···' इत्यादि मन्त्र का जप करने वाली—यजमान पत्नी का क्या अभिप्राय होता है? मैं इस लोक में प्रतिष्ठित होऊँ—यह अभिप्राय होता है। मन्त्र के प्रभाव से उसकी (यजमान पत्नी की) प्रतिष्ठा होती ही है।

---

१. योक्त्र विमोक मन्त्र का चौथा पाद।
२. इस श्रुति में 'अनात्यै' का अर्थ है—अदुःखाय:-दुःखाभाव के लिए। 'आर्ति' शब्द का अर्थ है दुःख। 'सन्त्वाय' का अर्थ है—सुखाय—सुख प्राप्ति के लिए।
३. पूर्णपात्र का जल अञ्जलि में डालने।
४. 'समायुषा···' इत्यादि मन्त्र। हार्दिक अभिप्राय यह है कि इस मन्त्र में जो कामना की गई है, वह अपने विषय में है न कि पूर्णपात्र के विषय में। इसीलिए भाष्यकार ने कहा कि 'पूर्णपात्रे' के आगे 'समानीयमाने' का अध्याहार करो।
५. योक्त्र विमोक के अन्त में।
६. जैसे बैल अपने चार पाँवों पर पूर्णतया प्रतिष्ठित (खड़ा) रहता है, इसी तरह चतुष्पाद् (अनुष्टुप्) छन्द से किया जाने वाला अभिमन्त्रण भी प्रतिष्ठित (स्थिर प्रभाव पैदा करने वाला) होता है।
७. पूर्णपात्र का जल पत्नी की अञ्जलि में डाला जाता है, वस्तुतः उसी जल का अभिमन्त्रण होता है, अभिमन्त्रण से उस जल की ही प्रतिष्ठा होती है।

प्रकारान्तरेण प्रशंसति—"अथो वाग्वा अनुष्टुप् । वाङ्मिथुनम् । आपो रेतः प्रजननम् । एतस्माद्वै मिथुनाद्विद्योतमानः । स्तनयन्वर्षति । रेतः सिञ्चन् । प्रजाः प्रजनयन्" (तै० ब्रा० ३।३।१०) इति । न केवलमनुष्टुभश्छन्दो रूपत्वं किंतु वाग्रूपत्वमप्यस्ति । सा च वाग्योषिच्छन्दो रूपेण पुरुषेण सह मिथुनं संपद्यते । यास्तु पूर्णपात्रगता आपस्ताः प्रजोत्पत्तिसाधनं रेतः । एतस्मादेव यागानुष्ठानगतान्मिथुनादुत्पन्न आदित्यप्रेरितो मेघो वृष्टिद्वारेण प्रजोत्पत्तौ पर्यवस्यति ।

तथा च स्मर्यते—

"अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः" (मनु० ३।७६) इति ॥

विमुक्तयोक्त्रस्य पूर्णपात्रोदकस्य च सहकारः पत्न्या कर्तव्य इत्याह—"यद्वै यज्ञस्य ब्रह्मणा युज्यते। ब्रह्मणा वै तस्य विमोकः । अद्भिः शान्तिः । विमुक्तं वा एतर्हि योक्त्रं ब्रह्मणा । आदायैनत्पत्नी सहाप उपगृह्णीते शान्त्यै" (तै०ब्रा० ३।३।१०) इति । यथा मन्त्रेणोपहितानां कपालानां मन्त्रेणैव विमोकः कर्तव्यस्तथा योक्त्रस्यापि योगविमोकवत्या रज्ज्वा कृतस्योपद्रवस्याद्भिः शान्तिर्युक्ता । योक्त्रं चेदानीं मन्त्रेण मुक्त-

---

ब्राह्मणश्रुति प्रकारान्तर से अनुष्टुप् छन्द की प्रशंसा करती है—'अथो वाग् वा···प्रजाः प्रजनयन्' इति । अनुष्टुभ्[1] केवल छन्द ही नहीं है किन्तु वाग्रूप भी है, वह वाक् रूप योषित (स्त्री) छन्द रूप पुरुष के साथ मिलकर मिथुन (जोड़ा) बन जाती है, और जो पूर्णपात्रस्थ जल है, वह प्रजोत्पत्ति का साधन 'रेत' (वीर्य) है । यागानुष्ठान में विद्यमान इसी[2] मिथुन (युगल) से उत्पन्न होने वाला मेघ आदित्य से प्रेरित होकर वृष्टि के द्वारा प्रजोत्पत्ति में पर्यवसित होता है—प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है । जैसा कि स्मृति[3] में भी लिखा गया है—'अग्नौ···प्रजाः' इति । अग्नि में भली भाँति डाली हुई आहुति आदित्य लोक में पहुँचती है, आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है, और उससे (अन्न से) प्रजा उत्पन्न होती है ।

खोले हुए योक्त्र का और पूर्णपात्र के जल का संयोग पत्नी को करना चाहिये—इस बात को ब्राह्मणश्रुति कहती है—'यद् वै···शान्त्यै' इति । इस ब्राह्मणश्रुति का तात्पर्य भाष्यकार स्वयं लिखते हैं—यथा इति । जैसे मन्त्र[4] से उपहित कपालों का मन्त्र से ही विमोक[5] होता है, इसी प्रकार योक्त्र का[6] भी । बँधी हुई और खुली हुई रज्जु (योक्त्र) के द्वारा किये गए उपद्रव की शान्ति जल के द्वारा उचित है । अब मन्त्र द्वारा योक्त्र खोल दिया गया है अतः उस योक्त्र को

---

१. यहाँ से भाष्यकार कृत, ब्राह्मणश्रुति के व्याख्यान का अनुवाद प्रारम्भ होता है ।
२. वाक् और छन्द के मिथुन से ।
३. मनुस्मृति में ।
४. 'पुरोडाश' निर्माण के लिए अग्नि में मन्त्रपूर्वक, एक दूसरे से संयुक्त करके कपाल रक्खे जाते हैं, पुरोडाश सिद्धि के अनन्तर उन्हें मन्त्रपूर्वक ही एक दूसरे से पृथक् कर दिया जाता है । देखो सातवाँ, आठवाँ अनुवाक ।
५. पृथक्करण ।
६. योक्त्र भी मन्त्रपूर्वक ही बाँधा और खोला जाता है ।

मतोऽञ्जलौ तद्योक्त्रमादाय तेन सहापो गृह्णीयात्। तद्ग्रहणायाऽऽनयनं विधत्ते—"अञ्जलौ पूर्णपात्रमानयति। रेत एवास्यां प्रजां दधाति। प्रजया हि मनुष्यः पूर्णः" (तै० ब्रा० ३।३।१०) इति। शोभत इति शेषः। पूर्णपात्रोदकेन पत्न्या मुखप्रक्षालनं विधत्ते—'मुखं विमृष्टे। अवभृथस्यैव रूपं कृत्वोत्तिष्ठति" (तै० ब्रा० ३।३।१०) इति। उत्तिष्ठेदिति विधिः।

अथोपवेषो मन्त्रेण परित्यक्तव्योऽतः प्रस्तौति—"परिवेषो वा एष वनस्पतीनाम्। यदुपवेषः" (तै० ब्रा० ३।३।११) इति। पलाशशाखामूले त्यक्तो भाग उपवेषः। स च सर्वेषां वनस्पतीनां परितो

अञ्जलि में लेकर उसके साथ जल (पूर्णपात्रोदक) ग्रहण करे। जल ग्रहण के लिए उसके[1] आनयन का ब्राह्मण वाक्य विधान करता है —'अञ्जलौ··पूर्णः' इति। 'शोभते' इस पद का 'पूर्णः' इस शब्द के अन्त में अध्याहार कर लो, यजमान-पत्नी की अञ्जलि में पूर्ण पात्रोदक डाले। ऐसा[2] करके इसमें (यजमान पत्नी में) रेतो रूप प्रजा का ही आधान करता है। प्रजा (संतति) से ही मनुष्य पूर्णतया शोभित होता है। ब्राह्मण श्रुति कहती है कि पत्नी[3] पूर्ण पात्रोदक से अपने मुख का क्षालन[4] करे—'मुखं विमृष्टे···कृत्वोत्तिष्ठति' इति। मुख का मार्जन करे, और अवभृथ[5] (यज्ञान्त स्नान) जैसा करके उठे। 'उत्तिष्ठेत्'(उठे) यह विधि है। तात्पर्य यह है कि मूल ब्राह्मण श्रुति में 'उत्तिष्ठति' यह पाठ है, जो कि 'लट्' लकार जैसा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह विध्यर्थ में 'लेट्' लकार है।

अथो इति। इसके अनन्तर मन्त्र द्वारा उपवेष को छोड़ना[6] है। अतः ब्राह्मण वाक्य विशेष[7] रूप से उसकी स्तुति करता है—'परिवेषो···यदुपवेषः' इति। पलाश शाखा का निचला भाग जो उससे (शाखा से) पृथक् कर दिया गया है; 'उपवेष'

---

१. जल के।

२. पत्नी की अञ्जलि में जल डालकर।

३. यजमान पत्नी।

४. मुखक्षालन से यहाँ इतना ही तात्पर्य है कि अञ्जलि का जल नीचे गिराकर गीले हाथों को मुंह पर फेर ले। 'निनीय मुखं विमृज्योत्तिष्ठति' आप. श्रौ. सू प्र. ३ पट. ३ सू. ६। धूर्तस्वामी ने इसका व्याख्यान यों किया है—'निनीयोदकलिप्तेन मुखविमार्गः।' टिप्पणीकार ने इसकी व्याख्या यों की है—'तदुदकं भूमौ निनीय आर्द्रेण हस्तेन मुखं विमृज्य मन्त्रेणोत्तिष्ठति—उस जल को भूमि पर गिराकर गीले हाथ से मुख मार्जन करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक उठे।' सूत्र और उसके भाष्य को ध्यान में रखते हुए 'मुखं विमृष्टे' इस ब्राह्मण वाक्य में 'विमृष्टे' को 'मृजू शुद्धौ' धातु का ही रूप समझना उचित होगा। व्यत्यय से आत्मने पद हो गया।

५. ब्राह्मण वाक्य में 'अवभृथस्यैव रूपं कृत्वा' कहकर मुख मार्जन में अवभृथ की समानता बताई गई है। 'अवभृथ' यज्ञान्त स्नान को कहते हैं, जैसे यजमान, यज्ञ समाप्ति पर स्नान करके ही यज्ञ से छुट्टी प्राप्त करता है, उसी प्रकार पत्नी को भी मुख मार्जन के अनन्तर ही यज्ञ से अवकाश मिलता है।

६. उपवेष का कार्य जब समाप्त हो जाता है, तब उसे उत्कर में डाल देते हैं, यही उसका त्याग या छोड़ना है।

७. 'प्रस्तौति' शब्द में 'प्र' का अर्थ है—विशेष रूप से।

व्याप्नोति। वनस्पतिभिर्दुःसाध्यस्याङ्गारवियोजनतप्तकपालोपधानादेरनेन कृतत्वात्।

वेदनं प्रशंसति—"य एवं वेद। विन्दते परिवेष्टारम्" (तै० ब्रा० ३।३।११) इति। सेवकजनमित्यर्थः। मन्त्रोत्पादनपूर्वकमुपवेषत्यागं विधत्ते—"तमुत्करे। यं देवा मनुष्येषु। उपवेषमधारयन्। ये अस्मदपचेतसः। तानस्मभ्यमिहाऽऽकुरु। उपवेषोपविड्ढि नः। प्रजां पुष्टिमथो धनम्। द्विपदो नश्चतुष्पदः। ध्रुवाननपगान्कुर्विति पुरस्तात्प्रत्यञ्चमुपगूहति। तस्मात्पुरस्तात्प्रत्यञ्चः शूद्रा अवस्यन्ति" (तै० ब्रा० ३।३।११) इति। तमुत्कर उपगूहतीत्यन्वयः। यमित्यादिर्मन्त्रः।

यं पलाशशाखामूलभागं देवा मनुष्यसंबन्धियज्ञेषु कपालोपधानाद्युग्रकर्मकारिणमुपवेषमकल्पयन्, हे उपवेष स त्वं ये पुत्रभार्यादयोऽस्मत्तोऽपरक्तास्तानस्मदर्थमिहाऽऽनीयानुरक्तान्कुरु। हे उपवेषास्माकं समीपे प्रजादिकं विड्ढि व्याप्तं कुरु। मनुष्यान्पशूंश्च चिरजीविनो वियोगरहितांश्च कुरु। अनेन मन्त्रेण

कहलाता है। वह सब वनस्पतियों को सब ओर से व्याप्त[1] करने वाला है—अर्थात् उनका रक्षक या सेवक है। क्योंकि वनस्पतियों के द्वारा दुःसाध्य अङ्गार वियोजन और तप्तकपालोपधान आदि इसके (उपवेष के) द्वारा ही किए गए हैं।

'उपवेष' के इस महत्त्व को जानने की ब्राह्मण वाक्य प्रशंसा करता है—'य एवम्'''परिवेष्टारम्' इति। जो इस प्रकार उपवेष की महिमा को जानता है वह सेवकजन[2] को (भृत्यवर्ग को) प्राप्त करता है। भाष्यकार ब्राह्मणश्रुति में आए हुए 'परिवेष्टारम्' शब्द का अर्थ लिखते हैं—सेवक[3]जनमित्यर्थ इति। ब्राह्मणश्रुति मन्त्रोद्भावन[4] पूर्वक उपवेष के त्याग का विधान करती है—'तमुत्करे'''शूद्रा अवस्यन्ति। इस ब्राह्मण वाक्य का भाष्यकार स्वयं व्याख्यान करते हैं—तम् इति। 'तम् उत्करे' का अन्वय 'उपगूहति' इस क्रिया-पद के साथ[5] है। यम्[6] इत्यादि मन्त्र है।

यं पलाश[7] इति। देवताओं ने जिस पलाशशाखीय मूलभाग को मनुष्य संबन्धी यज्ञों में कपालोपधान अदि उग्र कर्म करने वाला उपवेष बनाया, वह तू हे उपवेष! जो पुत्र भार्या आदि हमसे विरक्त हो गए हैं, उन सबको हमारे लिए

---

१. ब्राह्मण वाक्य में 'उपवेष' को वनस्पतियों का 'परिवेष' कहा गया है। 'परिवेष' शब्द परिपूर्वक 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से बना है। जिसका अर्थ है—चारों ओर से व्याप्त करने वाला—घेरने वाला। परितो वेवेष्टि इति परिवेषः। सेवक या भृत्यवर्ग भी रक्षा के लिए स्वामी को घेरे रहता है। अतः यहाँ 'परिवेष' का अर्थ लक्षणा से रक्षक या सेवक हो जाता है। परिवेष का अर्थ भोजन परसना भी होता है, शाखाओं को उनके मूल के द्वारा ही उनका पोषक तत्त्व प्राप्त होता है, इसलिए भी परिवेष का अर्थ यहाँ रक्षक या सेवक किया जा सकता है।

२. उसके बहुत से नौकर चाकर होते हैं।

३. परिवेष्टा का अर्थ है सेवकजन।

४. जिस मन्त्र का उच्चारण करके उपवेष को उत्कर में डालना है, उस मन्त्र की कल्पना करके।

५. इस तरह 'तम् उत्करे उपगूहति—उस उपवेष को उत्कर में छिपा दे (डाल दे)' यह वाक्य बनेगा।

६. 'यम्' से लेकर 'ध्रुवाननपगान् कुरु' तक उपवेष त्याग का मन्त्र है।

७. यहाँ से भाष्यकार कृत मन्त्र व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

तमुवेषमुत्करे मृत्खननादिरूपे तृणादित्यागस्थाने पूर्वभागे प्रत्यङ्मुखं गूढं कुर्यात्। यस्मादेवं तस्माल्लोकेऽप्युपवेषवत्कर्मकराः शूद्राः स्वाम्यभिमुखाः स्वामिनः पुरस्तात्सर्वदाऽवतिष्ठन्ते।

निःशेषेण गूहनं विधत्ते—"स्थविमत उपगूहति। अप्रतिवादिन एवैनान्कुरुते" (तै० ब्रा० ३।३।११) इति। अग्रमुत्करे प्रवेश्य मूलं बहिर्नावशेषयेत्। किंतु स्थविष्ठान्मूलादारभ्य कृत्स्नं प्रवेशयेत्। तथा सत्येतान्भृत्यानप्रतिवादिन उक्तकारिणः कुरुते।

अभिचाराय मन्त्रान्तरमुत्पादयितुं प्रस्तौति—"धृष्टिर्वा उपवेषः। शुचर्तो वज्रो ब्रह्मणा

यहाँ लाकर हम पर अनुरक्त बना। हे उपवेष! हमारे समीप प्रजा आदि[१] को विशेष[२] रूप से प्राप्त करा (पहुँचा)। हमारे मनुष्यों (सेवकों) और पशुओं को चिरजीवी और वियोग रहित कर। इस[३] मन्त्र से उस उपवेष को उत्कर में—मिट्टी खोदकर बनाए गए गढ़े में, जो तृण आदि डालने का स्थान है, उसमें पूर्वभाग में पश्चिमाभिमुख करके डाल[४] दे। क्योंकि उपवेष को इस तरह[५] उत्कर में डाला जाता है, इसलिए लोक में भी उपवेष के समान काम करने वाले सेवक लोग सदा स्वामी के आगे उसकी[६] ओर मुंह करके खड़े रहते[७] हैं।

निःशेषेण इति। ब्राह्मण वाक्य पूर्णरूप से उपवेष के उपगूहन का विधान करता है—'स्थविमतः[८]···कुरुते' इति। उपवेष के अग्रभाग को उत्कर में डालकर उसके मूल भाग को भी बाहर बचा न रहने दे। किन्तु स्थूल मूलभाग से लेकर अन्त तक सब कुछ उत्कर में (गढ़े में) ठूंस दे। संक्षेप में तात्पर्य यह है कि उसको चूर मूर कर इस तरह उत्कर में डाले कि उसका कुछ भी अंश बाहर न बचे। ऐसा[९] होने पर—ऐसा करने से—अध्वर्यु सेवकों को प्रतिवाद न करने वाले आज्ञाकारी बनाता है।

अभिचारार्थ[१०] मन्त्रान्तर का उद्भावन करने के लिए ऋषि उपवेष की पुनः स्तुति करता है—'धृष्टिर्वा···,

---

१. 'आदि' शब्द से मन्त्रोक्त पुष्टि, और धन लेना।
२. मन्त्र में 'विड्ढि' पद का व्याख्यान 'व्याप्तं कुरु' ऐसा भाष्यकार ने लिखा है, उसी का यह हिन्दी अनुवाद है। 'विशेष रूप से प्राप्ति' ही यहाँ 'व्याप्ति' है।
३. 'यं देवा मनुष्येषु···ध्रुवाननपगान् कुरु' इस मन्त्र से।
४. यद्यपि 'उपगूहन' का 'छिपाना या सुरक्षित रखना' अर्थ है, तथापि वही वस्तु छिपाकर सुरक्षित रूप से रखी जाती है जिससे आगे काम लेना है, यहां तो अब उपवेष से कोई काम लेना नहीं है, जलते हुए अँगारों का इधर उधर करना अदि जो काम उससे लेना था, ले लिया गया, यह उपगूहन तो उसकी प्रतिपत्ति मात्र है, इसलिए हमने 'उपगूहन' का डाल देना—फेंक देना ही अर्थ किया है।
५. पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखा।
६. स्वामी की ओर।
७. मूल में 'यस्या देवम्···' इत्यादि वाक्य 'तस्मात् पुरस्तात् प्रत्यञ्चः···' इत्यादि ब्राह्मणोक्त वाक्य का व्याख्यान है, जो कि 'पुरस्तात् प्रत्यञ्चम् उपगूहति' इस विधि का अर्थवाद है।
८. 'स्थविमत्' शब्द का पञ्चमी का रूप है। 'स्थवि' का अर्थ है—स्थौल्य। मतुप् प्रत्यय हुआ है।
९. यह पूर्णतया उपगूहन की फलस्तुति है।
१०. मारण, मोहन आदि के लिए की जाने वाली क्रिया (अनुष्ठान) अभिचार कहलाती है।

सꣳशितः" (तै० ब्रा० ३।३।११) इति। अयमुपवेषः स्वत एव धाष्ट्र्ययुक्तोऽत ऊर्ध्वं वह्निसंतापेन युक्तः। पुनरपि मन्त्रेण तीक्ष्णीकृतत्वाद्वज्रः संपन्नोऽतोऽभिचारयोग्यः। तत्र मन्त्रमुत्पाद्य विनियुङ्क्ते—"योपवेषे शुक्। साऽमुमृच्छतु यं द्विष्म इति। अथास्मै नाम गृह्य प्रहरति" (तै० ब्रा० ३।३।११) इति। शुक्संतापः। अमुमित्यत्र यो द्वेष्यस्तस्य नाम गृहीत्वा तमुपवेषमग्नौ प्रहरेत्। पुनरप्यृचां त्रयमभिचारार्थमुत्पादयति—"निरमुं नुद ओकसः। सपत्नो यः पृतन्यति। निर्बाध्येन हविषा। इन्द्र एणं पराशरीत्। इहि तिस्रः परावतः। इहि पञ्चजनाꣳअति। इहि तिस्रोऽतिरोचना यावत्। सूर्यो असद्दिवि। परमां त्वा परावतम्। इन्द्रो नयतु वृत्रहा। यतो न पुनरायसि। शश्वतीभ्यः समाभ्य इति" (तै० ब्रा० ३।३।११) इति।

यः शत्रुर्युयुत्सति, अमुं स्व गृहात्त्वं निःसारय। निःशेषं जगद्बाध्यं येन तन्निर्बाध्यं तादृशं हवि-

---

संशितः' इति। यह उपवेष स्वतः ही धृष्टता से युक्त है—प्रगल्भ है, अतः अग्रभाग में अग्नि के संताप से युक्त है, इतना ही नहीं, यह तो मन्त्र द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ होने के कारण वज्र बन गया है, फलतः अभिचार के योग्य है। अब ऋषि मन्त्र[1] का उद्भावन करके उसका विनियोग बताता है—'योपवेषे[2]···प्रहरति' इति। उपवेष[3] में जो संताप (शोक) है, वह उसको प्राप्त हो जिसके प्रति हमारा द्वेष है। द्वेष्य का (शत्रु का) नाम लेकर उपवेष को अग्नि में डाल दे। मन्त्र में 'अमुम्'[4] इस पद के स्थान में, जो शत्रु है उसका द्वितीयान्त नाम बोलकर उस उपवेष को मन्त्रान्त में अग्नि में डाल[5] दे। अभिचार के लिए ऋषि पुनः तीन ऋचाओं की उद्भावना करता है—'निरमुं[6] नुद···शश्वतीभ्यः समाभ्यः' इति।

यः शत्रुः[7] इति। जो शत्रु युद्ध करना चाहता है, उसको तू अपने घर से निकाल दे। इन्द्र ने, निर्बाध्य जिसके द्वारा सारा जगत् बाधित हो सकता है ऐसे उपवेष रूप हवि के द्वारा इस शत्रु का पराभव कर दिया और इसकी हिंसा कर दी।[8] दूसरे[9] मन्त्र में 'परावत्' शब्द दूरदेश का वाचक है और स्त्रीलिङ्ग है।

---

१. अभिचार मन्त्र का।

२. 'योपवेषे शुक्···यं द्विष्मः' यही वह अभिचार मन्त्र है।

३. यह मन्त्रार्थ है।

४. मान लो कि शत्रु का नाम 'दुर्जन' है, तब मन्त्र इस प्रकार बोलेंगे 'योपवेषे शुक्, सा दुर्जनमृच्छतु यं द्विष्मः' इति।

५. ब्राह्मण वाक्य में 'अथास्मै···प्रहरति' यह विनियोग बोधक वाक्य है, भाष्य में 'अमुम् इत्यत्र' से 'प्रहरेत्' तक विनियोग वाक्य का व्याख्यान है। अनुवाद में 'मन्त्र में' यहाँ से लेकर 'अग्नि में डाल दे' तक व्याख्यान का हिन्दी अनुवाद है।

६. 'निरमुम्' से लेकर 'पराशरीत्' तक पहली ऋचा है। 'इहि' से लेकर 'असद्दिवि' तक दूसरी ऋचा है। 'परमाम्' से लेकर 'समाभ्यः' तक तीसरी ऋचा है।

७. यहाँ से प्रथम ऋचा का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

८. यहाँ प्रथम ऋचा का व्याख्यान समाप्त हो जाता है।

९. प्रथम 'इहि' से दूसरा मन्त्र प्रारम्भ होता है। 'परावत्' शब्द को स्त्रीलिङ्ग मानने का कारण है 'तिस्रः' यह उसका विशेषण है।

रुपवेषरूपं तेनेन्द्र एनं शत्रुं पराकृत्य हिंसितवान्। परावच्छब्दो दूरदेशवाची स्त्रीलिङ्गः।

हे शत्रो त्वं त्रिभ्यो लोकेभ्यो निर्गत्य त्रीन्दूरदेशान्ब्राह्मणादीनतिक्रम्य चाण्डालादिषु गच्छ। यावत्सूर्यो दिव्यस्ति तावन्तं कालमग्निसूर्यचन्द्ररूपास्तिस्रो दीप्तीरतिक्रम्य महत्यन्धकारे गच्छ। वृत्रहेन्द्रस्त्वामत्यन्तदूरदेशं नयतु। यस्माद्दूरदेशादनेकेभ्यः संवत्सरेभ्य ऊर्ध्वमपि न पुनरागमिष्यति।

एताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिरुपवेषं गृहाद्दूरतो निरस्यदित्येवं विधि (धिं) स्तावकेनार्थवादेनोन्नयति—"त्रिवृद्वा एष वज्रो ब्रह्मणा सꣳशितः। शुचैवैनं विद्ध्वा। एभ्यो लोकेभ्यो निर्णुद्य। वज्रेण ब्रह्मणा स्तृणुते" (तै० ब्रा० ३।३।११) इति।

मन्त्रत्रयेण तीक्ष्णीकृत एष उपवेषरूपो वज्रस्त्रिगुणो भवति। एतन्निष्ठेन शोकेनैनं वैरिणं लोकत्रयान्निसार्य मन्त्रात्मकेन वज्रेणाभिहिनस्ति[1]। त्रिर्भूमिं स्वात्वा तत्रोपवेषं प्रतिक्षेप्तुं यजुर्द्वयरूपं मन्त्रमुत्पाद-

१ क. ग. भितस्त्रिर्भू ।

हे[1] इति। हे शत्रु तू तीन लोकों से निकलकर तीन दूर देशों में चला जा और ब्राह्मण आदि पञ्चजनों[2] को अतिक्रमण करके अर्थात् उनसे पृथक् होकर चाण्डाल आदियों में जाकर बसु जब तक आकाश में सूर्य है तब तक तू अग्नि, सूर्य और चन्द्र रूप तीनों (प्रकाशों) को छोड़कर महान् अन्धकार में चला जा। वृत्र[3] को मारने वाला इन्द्र तुझको अत्यन्त दूर देश में ले जावे। जिस दूर देश से तू अनेक वर्षों के बाद भी फिर नहीं लौटेगा।

एताभिस् इति। 'इन[4] तीन ऋचाओं से उपवेष को घर से दूर फेंक दें' इस प्रकार के विधि वाक्य की कल्पना—सूत्रकार[5] आगे कहे गए स्तावक अर्थवाद के आधार पर कहता है—'त्रिवृद् वा··· स्तृणुते' इति।

तीन[6] मन्त्रों से तीक्ष्ण बनाया गया यह उपवेष रूप वज्र त्रिगुण (तिगुनी शक्ति वाला) होता है। इस उपवेष रूप

१. यहाँ से दूसरी ऋचा का व्याख्यान प्रारम्भ होता है। यहाँ भाष्यकार ने 'हे शत्रो त्वं त्रिभ्यो लोकेभ्यो निर्गत्य' इन छः पदों का अध्याहार किया है।

२. ब्राह्मण आदि चार वर्ण और निषाद पाँचवां ये पाँच पञ्चजन भाष्यकार को यहाँ विवक्षित हैं। ब्राह्मण पिता से शूद्रों।

३. यहां से तृतीय मन्त्र का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ होता है।

४. उपर्युक्त 'निरमुं नुद···' 'इहि तिस्रःपरावतः···' 'परमां त्वा परावतम्···' इन तीन ऋचाओं से।

५. आपस्तम्बमुनि। यद्यपि ब्राह्मण श्रुति में ऐसी कोई विधि नहीं है जिसमें यह कहा गया हो कि उपवेश को घर से बाहर कहीं दूर फेंक दे या भूमि में गाड़ दे, तथापि आपस्तम्ब श्रौत सूत्रकार आपस्तम्ब मुनि ने 'त्रिवृद् वा···' इत्यादि अर्थवाद वाक्य के आधार पर उक्त विधि की कल्पना की और लिखा कि 'पञ्चभिर्निरस्येद् निखनेद् वा' इति। क्योंकि अर्थवाद में 'एभ्यो लोकेभ्यो निर्णुद्यस्तृणुते-इन (तीनों) लोकों से निकालकर' हिंसा कर देता है ऐसा लिखा गया है, अतः घर से बाहर फेंकना या भूमि में गाड़ देना तो प्राप्त हो ही जाता है। इसलिए यह शङ्का करना सर्वथा अनुचित है कि आपस्तम्ब श्रौत सूत्रोक्त घर से बाहर उपवेष के निरसन की या निखनन की विधि अश्रौत है।

६. तीनों मन्त्र पहले बता दिये गए हैं।

यति—"हतोऽसाववधिष्मामुमित्याह स्तृत्यै" (तै० ब्रा० ३।३।११) इति। स्तृतिर्हिंसा। अत्र सूत्रम्—"पञ्चभिर्निरस्येन्निखनेद्वा" (आप० श्रौ० ३।१४।२) इति। उपवेषस्याग्नौ क्षेपणे दूरदेशे निरसने भूमौ खनने च ध्यानं विधत्ते—"यं द्विष्यात्तं ध्यायेत्। शुचैवैनमर्पयति" (तै० ब्रा० ३।३।११) इति।

अत्र विनियोग संग्रहः—

"वाजद्वाभ्यां स्त्रुचोर्व्यूहो वस्वञ्ज्यात्परिधींस्त्रिभिः।
अक्तमाप्या त्रिभिः स्त्रुक्षु प्रस्तराग्रादिकाञ्जनम्॥१॥
मरुं प्रस्तरहोमोऽयमायुरग्न्यभिमन्त्रणम्।
ध्रुवा भूमिं स्पृशेद्यं प मध्यस्य परिधेर्हुतिः॥२॥
यज्ञान्ययोर्द्वयोर्होमः संस्राव स्रावकाहुतिः।
अग्नेः स्त्रुचौ सादयित्वा धुरि ते प्रोहयेत्स्त्रुचौ॥३॥
अग्ने फलीकृतेर्होमो देवा इष्टयजुर्हुतिः।
वाचि बर्हिर्हुतिर्वाते सर्वहोमोऽत्र विंशतिः॥४॥

वज्र में स्थित शोक के द्वारा इस बैरी को तीनों लोकों से निकाल कर, मन्त्रात्मक बज्र के द्वारा इसकी (बैरी की) हिंसा कर देता है।

त्रिर्भूमिम् इति। तीन बार भूमि खोदकर उसमें उपवेष को फेंक देने के लिए दो यजुर्मन्त्रों[1] की कल्पना करता है—'हतोऽसौ'''स्तृत्यै' इति। 'बह शत्रु मार दिया गया', 'हमने उसे मार दिया' ऐसा शत्रु की हिंसा के लिए कहते हैं। ब्राह्मण वाक्य में जो 'स्तृति' शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ है—हिंसा[2]। इस विषय में सूत्र है—'पञ्चभिर्'''निखनेद्वा' इति। पांच[3] मन्त्रों से उपवेष को या तो घर से बाहर दूर फेंक दे या भूमि में गाड़ दे। ब्राह्मण श्रुति उपवेष को अग्नि में डालने, दूरवर्ती स्थान में फेंकने और जमीन में गाड़ने के समय ध्यान का विधान करती है—'यं द्विष्यात्'''मर्पयति' इति। जिसके प्रति द्वेष हो उसका ध्यान करे, ऐसा करके शोक के साथ ही इसका (शत्रु का) संबन्ध करता है।

अब विनियोग संग्रह लिखा जाता है—'**वाजद्वाभ्याम्**' इति। १, २-वाजद्वाभ्यां स्रुचौर्व्यूहः=वाजवती दो ऋचाओं से स्रुचों का व्यूहन होता है। ३, ४, ५—वस्वञ्ज्यात् परिधींस्त्रिभिः='वसुभ्यस्त्वा' 'रुद्रेभ्यस्त्वा' 'आदित्येभ्यस्त्वा' इन तीन मन्त्रों से परिधियों को अञ्जित करे। ६, ७, ८—अक्तमाप्यात्रिभिः स्रुक्षु प्रस्तराग्रादिकाञ्जनम्=अक्तरिहाणा वियन्तु वयः' 'प्रजां योनिं मा निर्मृक्षम्' 'आप्यायन्तामाप ओषधयः' इन तीन मंत्रों से प्रस्तर के अग्रभाग आदि का अञ्जन किया जाता है। ९—मरु प्रस्तर होमोऽयम्='मरुतां पृषतयःस्थ, दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमेरय' इस मन्त्र से प्रस्तर का होम होता है। १०—आयुरग्न्यभिमन्त्रणम्='आयुष्पा अग्ने'''चक्षुर्मे पाहि' इस मन्त्र से आहवनीय का अभिमंत्रण

---

१. दो यजुर्मन्त्रों में पहला मन्त्र है 'हतोऽसौ' और दूसरा है 'अवधिष्यामुम्'।

२. 'स्तृत्यै' में 'स्तृति' शब्द 'स्तृञ् आच्छादने' धातु से बना है। आच्छादन यहां हिंसा रूप ही है। जो वस्तु आच्छादित हो गई है, प्रकाश में नहीं आने वाली है, वह 'नष्ट' या 'हिंसित' के समान ही है।

३. तीन ऋचा और दो यजु मिलकर पांच मन्त्र हो जाते हैं।

अथ मीमांसा

दशमाध्यायस्य द्वितीयपादे चिन्तितम्—

"क्रयाय प्रतिपत्त्यै वा चमसेडादिभक्षणम्।
क्रयाय पूर्ववन्मैवं यागीये स्वत्ववर्जनात्।।
अक्रीतयजमानस्य भक्षसत्त्वाच्च तेन सा।
प्रतिपत्तिः संस्कृतित्वात्सत्रेषु न निवर्तते।।"

(जै० न्या० १०।२।११-१२) इति।

(उपस्थान) किया जाता है। ११—ध्रुवा भूमि स्पृशेत्='ध्रुवासि' इस मन्त्र से पृथिवी का स्पर्श करे। १२—'यं प मध्यस्य परिधेर्हुतिः=यं परिधिं पर्यधत्था त्वदपचेतयातै' इस मन्त्र से मध्यम परिधि का होम होता है। १३—यज्ञान्य-योर्द्वयोर्होमः='यज्ञस्य पाथ उपसमितम्' इस मन्त्र से शेष दो परिधियों का होम होता है। १४—संस्राव स्रावकाहुतिः='संस्रावभागाः'''मादयध्वम्' इस मन्त्र से संस्रव होम होता है। १५—अग्ने स्रुचौ सादयित्वा='अग्नेर्वामपन्न गृहस्य''' सुम्ने मा धत्तम्' इस मन्त्र से-शकट के पूर्वभाग में-स्रुचों का सादन (स्थापन) करके, १६—धुरि ते प्रोहयेत् स्रुचौ='धुरिधुर्यौपातम्' इस मन्त्र से उन स्रुचों का प्रोहण करे। १७—अग्ने फलीकृतेर्होमः='अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो'''सुषदा योनि स्वाहा' इस मन्त्र से फलीकरण होम होता है। १८—देवा इष्टयजुर्हुतिः='देवागातुविदो'''देवेषु यज्ञं स्वाहा' इस मन्त्र से समिष्टयजुर्होम होता है। १९—वाचिबर्हिर्हुतिः—'वाचि स्वाहा' इस मन्त्र से बर्हिर्होम होता है। २०—वाते सर्वहोमः='वातेधाः (स्वाहा)' इस मन्त्र से सर्वहोम होता है। अत्र विंशतिः=इस त्रयोदश (१३) अनुवाक में बीस मन्त्र हैं।

अथ मीमांसा

दशमा इति। मीमांसा दर्शन के दसवें अध्याय के दूसरे पाद में (नवम अधिकरण में) यह विचार किया गया है **कि यज्ञ** में जो चमस[1] इडादि (हवि) भक्षण ऋत्विजों को कराया जाता है क्या वह उनकी भृति[2] (उजरत) के रूप में है अथवा वह भक्षण प्रतिपत्ति रूप द्रव्य संस्कार मात्र है?—**क्रयाय**[3] इति।

---

१. चमस, इडा आदि पात्र विशेष हैं, इनमें रक्खा हुआ हवि भी इन्हीं के नाम से व्यवहृत होता है। जब हम कहते हैं 'चमस-भक्षणं कुरु' तो उसका तात्पर्य यही होता है कि चमसस्थ हवि का भक्षण करो।

२. 'भृति' का अर्थ है—मजदूरी या उजरत,। यज्ञ में काम करने वाले जो ब्राह्मण ऋत्विज् होते हैं, उन्हें दक्षिणा देने का नियम है, वह दक्षिणा कोई धर्मार्थ नहीं होती, किन्तु वह उन ऋत्विजों का पारिश्रमिक होता है। उसी को उर्दू-भाषा में या बोलचाल की भाषा में 'उजरत' या 'मजदूरी' कहते हैं। यह निर्णय मीमांसा दर्शन के दसवें अध्याय के दूसरे पाद के आठवें अधिकरण में किया गया है।

३. ये दोनों कारिकाएँ 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तर' की हैं। 'जैमिनीय न्यायमाला विस्तर' में मीमांसा दर्शन के सब अध्यायों के सब पादों के सब अधिकरणों का संक्षेप में छोटी-छोटी कारिकाओं के द्वारा निरूपण हुआ है, तैत्तिरीय यजुः संहिता के भाष्यकार ही उक्त ग्रन्थ के भी रचयिता हैं। इन कारिकाओं का व्याख्यान भाष्यकार स्वयं कर रहे हैं। उस व्याख्यान का अनुवाद ही हम करेंगे। व्याख्यान के अनुवाद के अन्त में कारिकाओं का भी सरल हिन्दी अनुवाद दे दिया जायगा। पहले अनुवाद देने का विचार हमने इस कारण छोड़ दिया कि वह समझ में नहीं आयेगा, विस्तार से लिखने का विचार इसलिए छोड़ा कि भाष्य का विस्तृत अनुवाद तो हमें करना ही है, उससे ही जब काम चल सकता है तो दो बार एक बात को लिखने में व्यर्थ ग्रंथ वृद्धि के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं।

अस्ति सोमे चमसभक्षः । अस्ति चेष्टाविडाप्राशित्रादिभक्षः । तत्र भक्षेण क्रीतानामृत्विजां स्वाधीनत्वसंभवात्। दक्षिणेव क्रयार्थं भक्ष इति पूर्वपक्षः। यागदेवतायै संकल्पिते द्रव्ये स्वत्वमलभमानो यजमानो न तेन क्रेतुं शक्नोति । किंच "यजमानपञ्चमाः समुपहूयेडां प्राश्नन्ति" (द्र० आप० श्रौ० ३।२।११) इत्यक्रीतस्यापि यजमानस्य भक्षः श्रूयते। तत्साहचर्यादृत्विजामपि भक्षणं न क्रयार्थमिति गम्यते। तस्मात्प्रतिपत्त्यर्थो भक्षः। तेन क्रयार्थत्वाभावेन परिशिष्यमाणा सा प्रतिपत्तिर्यागोपयुक्तद्रव्यसंस्कारत्वेन न बाध्यते।

अस्ति इति । सोमयाग में ऋत्विजों के द्वारा चमस भक्षण का विधान है। इष्टि में भी ऋत्विजों के द्वारा इडा प्राशित्र आदि के भक्षण का विधान है । यहां संदेह होता है कि यह हविर्भक्षण दक्षिणा की तरह ही क्या ऋत्विजों का पारिश्रमिक है ? अथवा द्रव्य संस्कार रूप **प्रतिपत्ति** कर्म है ? पूर्वपक्ष यह है कि यह हविर्भक्षण भी दक्षिणा की तरह ही ऋत्विजों का पारिश्रमिक है, क्योंकि हवि भक्षण रूप पारिश्रमिक द्वारा क्रीत ऋत्विज् अपने (यजमान के) अधीन रह सकते हैं । सिद्धान्त बताते हैं—**यागदेवतायै** इति । यज्ञ सम्बन्धी देवता के लिए संकल्पित द्रव्य (हवि) में यजमान का स्वत्व न रहने से उस—स्वत्वरहित-हवि के द्वारा यजमान ऋत्विजों को खरीद नहीं[1] सकता—नियुक्त नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त एक बात और भी है। 'यजमान पञ्चमाः समुपहूयेडां प्राश्नन्ति—यजमान-सहित चारों ऋत्विज् उपह्वान करके (ब्रह्मा से अनुज्ञा लेकर) इडा भक्षण करें।' इस श्रुति में यजमान द्वारा भी हविर्भक्षण बताया गया है, जबकि यजमान क्रीत नहीं है। यदि ऋत्विक्-क्रयणार्थ ही हविर्भक्षण होता तो ऋत्विजों के लिए ही हविर्भक्षण की विधि होती, यजमान के लिए न होती। यजमान के साहचर्य से ऋत्विजों का भी हविर्भक्षण क्रयार्थ नहीं है—यह स्पष्ट है। इसलिए हविर्भक्षण प्रतिपत्त्यर्थ है—अर्थात् प्रतिपत्ति[2] कर्म है। फलतः क्रयार्थ न होने के कारण यह (हविर्भक्षण रूप) प्रतिपत्ति पारिशेष्यात् याग से बचे हुए द्रव्य का संस्कार रूप है, अतः सत्रों में इसका बाध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि सत्रों में ऋत्विज् दक्षिणाक्रीत नहीं होते, वहां उन्हें कोई दक्षिणा नहीं दी जाती। यदि हविःशेष भक्षण दक्षिणारूप (क्रयार्थ) माना जाता तो सत्रों में वह (हविःशेष भक्षण) न होता। क्योंकि सत्रों में दक्षिणा[3] नहीं दी जाती, अतः दक्षिणा स्थानीय हविःशेषभक्षण भी वहां न हो सकता। परन्तु वहां हविर्भक्षण होता है, अतः वह ऋत्विक् क्रयार्थ नहीं है।

कारिकाओं का सरल हिन्दी अनुवाद

चमस इडा आदि का भक्षण ऋत्विक् क्रयार्थ है अथवा प्रतिपत्ति के लिए है—प्रतिपत्ति कर्म है ? पूर्वपक्ष है—

---

१. यजमान हवि को देवताओं के समर्पण कर चुका है, उस हवि में अब देवताओं का ही स्वत्व है, दाता यजमान का जरा भी स्वत्व उसमें नहीं रह गया है। दूसरे के द्रव्य से कोई वस्तु कैसे खरीदी जा सकती है। ऋत्विजों ने जो हवि खाई है, वह यजमान की अपनी नहीं है, किन्तु देवताओं की है। इसलिए हविर्भक्षण ऋत्विजों की 'उजरत' नहीं कहा जा सकता।

२. कस्यचिद् वस्तुनो जाते कार्ये विधिप्राप्तविनियोगकरणं प्रतिपत्तिकर्मेत्युच्यते। यज्ञ में किसी वस्तु का उपयोग हो जाने पर यदि उसमें से कुछ बच जाय अथवा उसका कोई उपयोग न रहे तो विधि विहित जो उसका विनियोग है उसको प्रतिपत्ति कर्म कहते हैं।

३. परिक्रयो न भक्षः स्यात्, न सत्रे वरणं भवेत्। सत्रेषु दक्षिणा न स्यात्—मीमांसानुक्रमणिका अध्या० १०, अधि० ९, १०, ११।

तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे चिन्तितम्—

"चतुर्धा कार्य आग्नेयः पुरोडाश इतीरितम्।
चतुर्धा करणं सर्वशेषो वाऽऽग्नेयमात्र'गम्॥
उपलक्षणताऽऽग्नेये युक्ताऽतः सर्वशेषता।
अग्नीषोमीय ऐन्द्राग्ने यतोऽस्त्याग्नेयता ततः॥
नाऽऽग्नेयत्वं तयोर्मुख्यं केवलाग्न्यनुपाश्रयात्।
तेनैकस्मिन्पुरोडाशे चतुर्धाकरणस्थितिः॥"

(जै० न्या० ३।१।३४-३६) इति।

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—"आग्नेयं चतुर्धा करोति" (तै० ब्रा० ३।३।८, आप० श्रौ० ३।३।२) इति। तत्राऽऽग्नेयवदैन्द्राग्नाग्नोषोमीययोरपि पुरोडाशयोरग्निसंबन्धादाग्नेयशब्देन पुरोडाशत्रयमुपलक्ष्यते। ततस्त्रयाणां शेष इति चेन्मैवम्। न ह्याग्नेय इत्ययं तद्धितः संबन्धमात्रेऽभिहितः। किन्तु देवता-संबन्धे। अग्निश्च केवलो द्विदेवत्ययोः पुरोडाशयोर्न देवता। अतो देवतैकदेशेन कृत्स्नदेवतोपलक्षणादाग्ने-

१. क. ख. ग. त्रगः। उ।

चमस इडा आदि का भक्षण क्रयार्थ है—ऋत्विक् क्रय के लिए है, क्योंकि इससे पहले अधिकरण में दक्षिणा को क्रयार्थ माना गया है, यह हविर्भक्षण भी दक्षिणा रूप ही है। यह ठीक नहीं, क्योंकि याग संबंधी हवि में यजमान का स्वत्व नहीं है। और अक्रीत यजमान के द्वारा भी हविर्भक्षण श्रुति में बताया गया है, अतः वह (हविर्भक्षण) प्रतिपत्ति है, जो कि द्रव्य संस्कार स्वरूप होने के कारण सत्रों में बाधित नहीं होती।

तृतीया इति। तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में (अन्तिम अधिकरण में १४) यह विचार किया गया है कि आग्नेय पुरोडाश का चतुर्धाकरण क्या ऐन्द्राग्न और अग्निषोमीय पुरोडाशों का भी अङ्ग है अथवा आग्नेय पुरोडाश का **ही**।

चतुर्धा इति। **दर्श** इति। दर्शपूर्णमास प्रकरण में विधि है कि 'आग्नेयं चतुर्धा करोति-अग्निदेवताक पुरोडाश के चार भाग करे।' यहां संदेह होता है कि यह चतुर्धाकरण ऐन्द्राग्न (इन्द्र और अग्नि दोनों जिसके देवता हैं) और अग्नी-षोमीय (अग्नि और सोम दोनों जिसके देवता हैं) पुरोडाशों का भी अङ्ग है? अथवा केवल आग्नेय (केवल अग्नि जिसका देवता है) पुरोडाश का ही? पूर्वपक्ष यह है कि जैसे आग्नेय पुरोडाश के साथ अग्नि का संबन्ध है इसी प्रकार 'ऐन्द्राग्न' और 'अग्नीषोमीय' पुरोडाश के साथ भी अग्नि का संबन्ध है, अतः 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' का 'आग्नेय'[1] शब्द अग्नि संबन्ध के कारण-पूर्वोक्त तीनों पुरोडाशों को उपलक्षित करता है। अतः चतुर्धाकरण तीनों पुरोडाशों का अङ्ग है—अर्थात् तीनों पुरोडाशों के चार भाग किये जाने चाहिए।

इति चेद् इति। यह सोचना ठीक नहीं, कारण कि 'आग्नेय' शब्द में तद्धित प्रत्यय केवल संबन्ध अर्थ में नहीं हुआ है, किन्तु 'देवता[2] संबन्ध' में हुआ है—अर्थात् 'आग्नेय' शब्द अग्नि संबन्ध मात्र का बोधक नहीं है अपितु 'अग्नि-

१. पूर्वपक्षी ने यह समझा है कि 'आग्नेय' में जो "ढक्' प्रत्यय हुआ है वह संबंध मात्र का बोधक है।

२. 'अग्नेर्ढक्' यह ढक् प्रत्यय विधायक सूत्र 'साग्य देवता' के अधिकार में है, अतः इसका विग्रह है 'अग्निर्देवता अस्य' स आग्नेयः। अतः केवल अग्नि देवता से संबंध रखने वाला ही पुरोडाश 'आग्नेय' कहला सकता है।

यत्वं तयोर्न मुख्यमिति मुख्य एवाऽऽग्नेये चतुर्धाकरणं व्यवतिष्ठते ।

तत्रैव चतुर्थपादे चिन्तितम्—

"इदं ब्रह्मण इत्युक्तिः क्रयार्था भक्षणाय वा ।
भक्षाश्रुतेः क्रयार्थाऽतो यथेष्टं तैर्नियुज्यताम् ॥
देवतायै समस्तस्य क्लृप्तत्वात्स्वामिता न हि ।
शेषस्य प्रतिपत्त्यर्थं भक्षणं तत्र युज्यते ॥"

(जै० न्या० ३।४।३७-३८) इति ।

चतुर्धाकृतस्य पुरोडाशस्य भागान्यजमान एवं निर्दिशेत्—"इदं ब्रह्मणः । इदꣳ होतुः । इदमध्वर्योः

देवता संबन्ध' का बोधक है । केवल अग्नि', दो जिनके देवता हैं ऐसे द्विदैवत (ऐन्द्राग्न और अग्निषोमीय) पुरोडाशों का देवता नहीं है । ऐन्द्राग्न और अग्नीषोमीय पुरोडाशों के साथ अग्नि का संबन्ध होते हुए भी क्रमशः इन्द्राग्नि समुदाय और अग्निसोम समुदाय ही उनका देवता है । अतः ऐन्द्राग्न और अग्नीषोमीय में अग्नि, मुख्य देवता (इन्द्राग्नि-समुदाय और अग्निसोम-समुदाय) का एक देश ही माना जायगा । फलतः एक देश को समुदाय का उपलक्षण मानकर ऐन्द्राग्न और अग्नीषोमीय में कथंचित् आग्नेयत्व होने पर भी वह आग्नेयत्व मुख्य नहीं होगा । ऐसी स्थिति में जब[2] गौण और मुख्य दोनों जगह कार्य प्राप्त हो तो मुख्य में ही कार्य करना चाहिये—इस न्याय से मुख्य आग्नेय पुरोडाश में ही चतुर्धाकरण (चार भाग करना) सिद्ध होता है, ऐन्द्राग्न और अग्नीषोमीय पुरोडाशों में नहीं ।

कारिकाओं का सरल हिन्दी अनुवाद

अग्नि देवताक (आग्नेय) पुरोडाश के चार भाग करने चाहिये (आग्नेयं चतुर्धा करोति) यह बात कही गई है । यह चतुर्धाकरण क्या सर्वशेष है (ऐन्द्राग्न, अग्नीषोमीय और आग्नेय इन तीनों पुरोडाशों का अङ्ग है) अथवा केवल आग्नेय पुरोडाश का ? आग्नेय शब्द अग्नि सम्बन्ध बोधक होने के कारण उपलक्षण है, अतः चतुर्धाकरण को सर्वशेष मानना ही ठीक है, क्योंकि आग्नेय की तरह अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न में भी आग्नेयता (अग्नि संबन्ध) है । यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि केवल अग्नि देवताक न होने के कारण ऐन्द्राग्न और अग्नीषोमीय पुरोडाशों में आग्नेयत्व मुख्य नहीं है । इसलिए केवल एक आग्नेयमात्र-पुरोडाश में चतुर्धाकरण की व्यवस्था है, ऐन्द्राग्नी में नहीं ।

तत्रैव इति । वहीं तृतीय अध्याय के चतुर्थपाद में (अन्तिम १७वें अधिकरण में) यह विचार किया गया है कि **चार भागों में** विभक्त पुरोडाश के संबंध में यजमान का यह निर्देश है कि यह ब्रह्मा का भाग है, यह होता का इत्यादि । यह ऋत्विजों को नियुक्त करने के लिए उनके पारिश्रमिक का निर्देश है अथवा प्रतिपत्ति रूप भक्षण मात्र के लिए यह निर्देश है ।

इदं ब्रह्मण इति । **चतुर्धा कृतस्य** इति । चार भागों में विभक्त पुरोडाश के भागों की ओर संकेत करके यजमान ही यह निर्देश करे कि यह ब्रह्मा का भाग है, यह होता का, यह अध्वर्यु का और यह आग्नीध् का । यह निर्देश भक्षणार्थ

---

१. जैसे एक दो नहीं हो सकता ऐसे ही दो भी एक नहीं हो सकता, उत्तर संख्या पूर्व संख्या की और पूर्व संख्या उत्तर संख्या की बाधक होती है ।

२. गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः ।

इदमग्नीधः (तै० ब्रा० ३।३।८) इति। सोऽयं निर्देशो न भक्षणार्थः। भक्षणस्याश्रुतत्वात्। ततो भृतिदानेन तानृत्विजः परिक्रेतुमयं निर्देशः। क्रयश्च तदङ्गीकारानुसारेण स्वल्पेनाप्युपपद्यते। तस्मात्स्वकीयभागास्तैरिच्छयोपयोक्तुं शक्या इति प्राप्ते ब्रूमः—"अग्नये जुष्टं निर्वपामि" (तै० सं० १।१।४) इति कृत्स्नस्य हविषो देवतार्थं सङ्कल्पितत्वेन तत्र यजमानस्य स्वामित्वाभावान्न युक्तः परिक्रयः। भक्षणं तु प्रतिपत्त्यर्थत्वाद्युक्तम्। अवशिष्टस्य यः कोऽप्युपयोगः प्रतिपत्तिः। पुरोडाशस्य भक्षणार्हत्वाद्भक्षणेन कर्मकराणामुत्साहजननाच्च तद्भक्षणार्थो निर्देशो युज्यते।

नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द द्वारा[1] भक्षण यहाँ नहीं बताया गया है। इसलिए यह निर्देश तो भृति (पारिश्रमिक) दान के द्वारा ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को नियुक्त करने के लिए है। तात्पर्य यह है कि वे जो पुरोडाश के चार भाग हैं, वे ब्रह्मा आदि चार ऋत्विजों के पारिश्रमिक रूप में हैं, प्रतिपत्तिरूप भक्षणार्थ नहीं हैं। यह बात पृथक् है कि वे भी उन भागों को खायेंगे[2] ही या किसी दूसरे को खिला देंगे, परन्तु हैं वे उनकी उजरत ही। कदाचित् कोई कहे कि पुरोडाश का चतुर्थांश तो बहुत स्वल्प है, उसकी तुलना में ऋत्विजों का कार्य कहीं अधिक होता है, अतः वह पुरोडाश भाग ऋत्विजों का पारिश्रमिक नहीं माना जा सकता, इसका उत्तर देते हैं—**क्रयश्च** इति। यदि नियोज्य व्यक्ति स्वीकार करले तो थोड़ी भृति से भी उसकी नियुक्ति हो सकती है। तात्पर्य यह है कि पारिश्रमिक का अल्पत्व उसके पारिश्रमिकत्व का बाधक नहीं होता हाँ, यदि नियोज्य स्वीकार न करे तो उसकी नियुक्ति में बाधक हो सकता है। इसलिए वे ऋत्विज् अपने भागों का यथेच्छ उपयोग कर सकते हैं। चाहे वे उसे खावें या और कुछ करें। इस पूर्वपक्ष के विपरीत हमारा यह कथन है—कि हविर्निर्वाप के समय यजमान 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि—मैं अग्नि के लिए प्रिय हवि का उसके उद्देश्य से निर्वाप कर रहा हूं' यह मन्त्र बोलकर हविर्निर्वाप करता है। इसलिए वह समग्र हवि देवतार्थ संकल्पित (दत्त-त्यक्त) हो जाता है, फलतः उसमें यजमान का स्वत्व नहीं रहता। अतः यजमान उसके ऋत्विजों का परिक्रय (खरीद-नियोग) नहीं कर सकता। अतः पारिशेष्यात् 'इदं ब्रह्मण.' इत्यादि यजमान का निर्देश प्रतिपत्त्यर्थ होने के कारण भक्षणार्थ ही है—यही मानना उचित है। अवशिष्ट वस्तु का जो कोई भी उपयोग बताया जाय वह प्रतिपत्ति कहलाता है। औचित्य के अनुसार ही प्रतिपत्ति हुआ करती है। पुरोडाशभक्षणयोग्य वस्तु है, अतः भक्षण ही उसकी प्रतिपत्ति है। उसके भक्षण से कर्म कर्ता ऋत्विजों में उत्साह पैदा होने से भी भक्षणार्थ ही निर्देश मानना उचित है।

कारिकाओं का सरल हिन्दी अनुवाद

यह ब्रह्मा का भाग है (इदं ब्रह्मणः) इत्यादि उक्ति, ऋत्विक् क्रयार्थ है अथवा (प्रतिपत्तिरूप) भक्षणार्थ है? भक्षण शब्दतः नहीं बताया गया है, अतः क्रयार्थ है, वे ऋत्विज् अपने इस (पुरोडाश अंश रूप) क्रय (मूल्य-पारिश्रमिक) का यथेच्छ उपयोग कर सकते हैं। यह पूर्वपक्ष है, सिद्धान्त बताते हैं—**देवतार्थे** इति। समस्त हवि देवता के लिये संकल्पित हो चुका है, अतः उसमें यजमान का स्वामित्व नहीं है। अतः शेष की (पुरोडाशरूपहवि के बचे हुए अंश की) प्रतिपत्ति अन्तिम उपयोग के लिए उसका[3] भक्षण ही युक्तियुक्त है।

---

१. यदि यह भक्षणार्थ निर्देश होता तो यों कहा जाता कि 'इदं ब्रह्मणो भक्ष्यम्' 'इदं होतुः' इत्यादि।

२. क्योंकि वह खाने की ही वस्तु है।

३. हविः शेष का।

तत्रैवाष्टमपादे चिन्तितम्—

"वाजस्य मेत्यमुं ब्रूयादेको द्वौ वा कृतार्थतः।
एकः काण्डद्वये पाठादध्वर्युस्वामिनावुभौ ॥"

(जै० न्या० ३।८।१९) इति।

दर्शपूर्णमासयोः "वाजस्य मा" (तै० सं० १।१।१३, १।६।४) इत्ययं मन्त्रोऽध्वर्युकाण्डे यजमानकाण्डे चाऽऽम्नातः। तत्रैकेन पठिते सति मन्त्रस्य चरितार्थत्वादितरस्तं न पठेदिति चेन्मैवम्। काण्डान्तरपाठवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तस्मादुभाभ्यां पठनीयः। तयोः पठतोराशयभेदोऽस्ति। अनेन मन्त्रेण प्रकाशितमर्थमनुष्ठास्यामीत्यध्वर्युर्मनुते। अत्र न प्रमदिष्यामीति यजमानः।

तत्रैव इति। तृतीय अध्याय के ही अष्टमपाद में विचार किया गया है कि जो मन्त्र अध्वर्यु काण्ड और यजमान काण्ड दोनों जगह पढ़े गए हैं, उनका प्रयोग एक को ही (अध्वर्यु को ही अथवा यजमान को ही) करना चाहिये या दोनों को।

वाजस्य इति। **दर्श** इति। दर्शपूर्ण मास प्रकरण में 'वाजस्य' मा प्रसवेन···'[1] यह मन्त्र अध्वर्यु काण्ड और यजमान काण्ड दोनों स्थानों पर पढ़ा गया है। वहाँ शङ्का होती है कि उक्त मन्त्र अध्वर्यु और यजमान में से किसी एक को ही पढ़ लेना चाहिये अथवा दोनों को ही पढ़ना चाहिये। पूर्वपक्ष यह है कि किसी एक को ही पढ़ लेना चाहिये। कारण कि एक के पढ़ने से ही मन्त्र[2] चरितार्थ हो जाता है। इसलिए दूसरा उसको न पढ़े।

इतिचेद् इति। यह सोचना ठीक नहीं। कारण कि ऐसा मानने[3] से काण्डान्तर में पाठ की व्यर्थता हो जायगी। अर्थात् यदि मन्त्र को केवल अध्वर्यु-पठनीय माना जायगा तो यजमान काण्ड में मन्त्र पाठ व्यर्थ होगा, यदि मन्त्र को यजमान पठनीय मानेंगे तो अध्वर्यु काण्ड का पाठ व्यर्थ होगा। विकल्पार्थ उभयत्र पाठ मानना भी ठीक नहीं, विकल्प मानने में आठ दोष आते हैं—देखो मीमांसा परिभाषा आदि ग्रन्थ। इसलिए दो जगह पाठ होने के कारण अध्वर्यु और यजमान दोनों को ही वह मन्त्र पढ़ना चाहिए। कोई कह सकता है कि जब प्रयोग समवेतार्थ स्मरणरूप मन्त्रोच्चारण का प्रयोजन एक के उच्चारण से ही सिद्ध हो जाता है, तो दूसरे के द्वारा उच्चारण की क्या आवश्यकता? इसका उत्तर देते हैं—**तयोरिति**। मन्त्रोच्चारण करने वाले दोनों व्यक्तियों का भिन्न-भिन्न अभिप्राय होता है। 'इस मन्त्र से प्रकाशित अर्थ का मैं अनुष्ठान करूँगा' यह अध्वर्यु का अभिप्राय होता है। 'इस विषय में प्रमाद नहीं करूँगा' यह यजमान का अभिप्राय होता है।

कारिका का सरल हिन्दी अनुवाद

'वाजस्य मा···' इस मन्त्र को एक ही (अध्वर्यु ही या यजमान ही) बोले, या दोनों बोलें? एक के बोलने से ही मन्त्र कृतार्थ (चरितार्थ) हो जाता है, अतः एक ही बोले। यह पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त है कि—दोनों काण्डों में (अध्वर्यु काण्ड और यजमान काण्ड में) पाठ होने से अध्वर्यु और यजमान दोनों को ही मन्त्रोच्चारण करना चाहिये।

---

१. पूरा मन्त्र इसी तेरहवें अनुवाक के प्रारम्भ में देखो।

२. प्रयोग समवेतार्थ स्मरण ही तो मन्त्रोच्चारण का मुख्य प्रयोजन है, वह एक के उच्चारण से भी हो जाता है।

३. 'एक के पढ़ने से ही मन्त्रचरितार्थ हो जाता है' ऐसा मानने से।

चतुर्थस्य द्वितीयपादे चिन्तितम्—

"प्रस्तर शाखया सार्धं प्रहरेत्प्रहृतिस्त्वियम्।
शाखाया अर्थकर्म स्यात्प्रतिपत्तिरुतोचिता ॥
प्रहृतिः प्रस्तरे यागः शाखायाः साहचर्यतः।
तथात्वादर्थकर्मत्वे हृतिः शाखां प्रयोजयेत् ॥
हरतिर्यागवाची नो प्रतिपत्तिस्ततो भवेत्।
पौर्णमास्यां ततो नैव हृतिः शाखां प्रयोजयेत् ॥"

(जै० न्या० ४।२।७-६) इति ॥

दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—"सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति" (आप० श्रौ० ३।६।६) इति। तत्र शाखाप्रहरणमर्थकर्म। कुतः? प्रहृतिशब्देन यागस्याभिधानात्।

एतच्च—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरतीत्येतद्वाक्यमुदाहृत्य चिन्तितम्। प्रस्तरप्रहरणस्य यागत्वे तत्साहचर्याच्छाखाप्रहरणमपि याग एवेत्यर्थकर्म स्यात्। अर्थाय क्रतुसाकल्यप्रयोजनाय क्रियमाणमर्थकर्म।

चतुर्थस्य इति। चतुर्थ अध्याय के द्वितीय पाद में (चौथे अधिकरण में) यह विचार किया गया है कि 'प्रस्तरं शाखया सार्धं प्रहरेत् प्रस्तर' को शाखा के साथ अग्नि में डाल दे' इस वाक्य में शाखा-प्रहरण अर्थ कर्म (यागाङ्ग संपादनोपयोगी कर्म) है अथवा प्रतिपत्ति है।

प्रस्तरम् इति। **दर्श** इति। दर्शपूर्णमास प्रकरण की श्रुति है—'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति शाखा के साथ प्रस्तर को अग्नि में डाल दें'। यहाँ सन्देह होता है कि शाखा-प्रहरण अर्थ कर्म है अथवा प्रतिपत्ति कर्म है? पूर्वपक्ष है कि—शाखा प्रहरण अर्थ कर्म है। कारण कि प्रहृति शब्द से याग का अभिधान होता है। यद्यपि श्रुति में 'प्रहृति' शब्द नहीं है, 'प्रहरति' शब्द है, तथापि वह 'प्रहरति' शब्द धात्वर्थ (प्रपूर्वक 'हृ' धातु के अर्थ) प्रहरण का ही मुख्य रूप से विधान करता है, उसी प्रहरण का बोधक 'प्रहृति' शब्द भी है, इसी कारण भाष्यकार ने 'प्रहृति शब्द से' ऐसा लिख दिया। भाष्यकार का हार्दिक अभिप्राय यह है कि 'प्रहरति शब्द प्रस्तर-प्रहरण रूप याग का बोधक है।' अब प्रश्न उपस्थित होता है कि 'प्रस्तर प्रहरण' को याग कैसे कहा जा सकता है? देवता[2] विशेष के उद्देश से द्रव्य त्याग को ही याग कहा जाता है, परन्तु प्रस्तर प्रहरण के साथ किसी भी देवता का सम्बन्ध नहीं बताया गया है।

इसका उत्तर देते हैं—**एतच्च** इति। 'प्रस्तर-प्रहरण याग है' यह निर्णय 'सूक्तवाकेन[3] प्रस्तरं प्रहरति-सूक्तवाक से प्रस्तर को अग्नि में डाले' इस श्रुति वाक्य को अधिकरण विषय के रूप में उपस्थित करके और इस पर विचार करके किया[4]

---

१. कुशमुष्टिः प्रस्तरः। प्रस्तर शब्द का विवरण पहले कई बार दिया जा चुका है।
२. 'त्यागः श्रुतोद्देशयुतो यजिः स्यात्' मीमांसानुक्रमणिका।
३. 'इदं द्यावा पृथिवी भद्रमभूत्...' इत्यादि मन्त्र ही सूक्तवाक है।
४. प्रस्तर-प्रहरण के यागत्व का निर्णय तृतीय अध्याय के दूसरे पाद के पाँचवें अधिकरण में हुआ है। देखो वहाँ के ११ से १४ तक के सूत्र। वहाँ का संक्षिप्त निर्णय यही है कि 'सूक्तवाकेन' इस तृतीया के द्वारा सूक्तवाक का प्रस्तर प्रहरण में विनियोग होता है। सूक्तवाक अग्न्यादि देवताओं का स्मरण कराता है और तद्देवता द्वारा सूक्तवाक का प्रस्तर-प्रहरण के साथ अन्वय बन जाता है। इस प्रकार देवता कल्पना द्वारा प्रस्तर प्रहरण में देवता संबंध भी सिद्ध हो जाता है। फलतः प्रस्तर प्रहरण की यागरूपता सिद्ध हो जाती है।

ततः प्रहरणेन पौर्णमास्यामपि पलाशशाखा प्रयुज्यत इति प्राप्ते ब्रूमः—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरतीत्यत्र हरतिधातोर्यागवाचित्वं नोक्तं, किन्तु मान्त्रवर्णिकदेवतामुपलभ्य द्रव्यदेवताभ्यां यागः कल्पितः। शाखा-प्रहरणे तु नास्ति देवता। ततो यागस्य कल्पयितुमशक्यतया हरतिधातुरत्र स्ववाच्यार्थ-परित्यागमेवाऽऽचष्टे। तथा सति वत्सापाकरण उपयुक्तायाः पलाशशाखाया उपयोगान्तराभावाद्यागदेशे अवकाशलाभाय यत्र क्वाप्यवश्यं परित्यागे प्राप्ते शास्त्रेणाऽऽहवनीये त्यागो नियम्यते। तेन च शास्त्रीय-त्यागेन शाखायाः प्रतिपत्तिर्भवति। प्रतिपत्तिर्नाम संस्काररूपो दृष्टार्थः। यथा राज्ञा चर्वितस्य ताम्बूलस्य सौवर्णे पतद्ग्रहे प्रक्षेपस्तद्वत्। ततः प्रहरणं प्रतिपत्तिकर्मतया तदभावे क्रतुवैकल्याभावात्पौर्णमास्यां स्व-सि[1]द्धचहेतुभूतां शाखां न प्रयोजयति।

१ ग. सिद्धिहे।

जा चुका है। प्रस्तर प्रहरण की यागता के कारण उसके[1] साहचर्य से शाखा-प्रहरण भी याग ही है। इसलिए वह[2] अर्थकर्म होगा। किसी अर्थप्रयोजन की सिद्धि के लिए जो कर्म होता है, उसे 'अर्थकर्म' कहते हैं, शाखा-प्रहरण भी क्रतुपूर्णता रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए किया जाता है, अतः वह अर्थकर्म है। इसीलिए प्रहरण पौर्णमास में भी पलाश शाखा[3] का प्रयोजक होगा।

इति प्राप्ते इति। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में हमारा निवेदन है कि 'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' यहाँ हृ धातु यागवाची है—ऐसा कभी नहीं कहा गया, किन्तु वहाँ मन्त्राक्षर प्रकाशित देवता संबंध जानकर देवता संबन्ध द्वारा याग की कल्पना की गई है। अर्थात् यह स्वीकार किया गया है कि बर्हि में प्रस्तर-प्रक्षेप देवता संबंध होने के कारण 'याग' है। किन्तु शाखा प्रहरण में देवता संबंध नहीं है, अतः वहाँ याग[4] की कल्पना नहीं की जा सकती, वहाँ तो 'हृ' धातु अपने वाच्यार्थ 'परित्याग' मात्र को बताती है। ऐसी स्थिति[5] में वत्सापाकरण के लिए उपयोग में आई हुई पलाश शाखा का जब कोई दूसरा उपयोग नहीं रहा तो याग स्थल में अधिक अवकाश प्राप्ति के लिए उसको किसी भी दूसरे स्थान में फेंक देना स्वतः प्राप्त है, शास्त्र उसको नियन्त्रित कर देता है—पलाश शाखा को आहवनीय में ही डालो। उस शास्त्रबोधित त्याग के द्वारा शाखा की 'प्रतिपत्ति'[6] हो जाती है। प्रतिपत्ति संस्कार[7] स्वरूप है और दृष्टार्थ है। जैसे राजा के द्वारा चर्वित पान को सोने के थूकदान (पीकदान) में थूक दिया जाता है, उसके समान। इन उपर्युक्त कारणों से

१. प्रस्तर-प्रहरण के।

२. शाखा प्रहरण।

३. पलाश शाखा का प्रहरण करना है, इसलिए पलाश शाखा का प्रयोजक प्रहरण है—ऐसा पूर्वपक्षी ने समझा है।

४. यद्यपि साधारण त्याग में और याग में त्याग अंश में समानता है तथापि देवतोद्देशेन त्याग याग कहलाता है, साधारण त्याग केवल त्याग है, जो याग प्रक्षेप सहित होता है वह होम कहलाता है। देवता संबंध याग और होम में समान है। होम में प्रक्षेप अधिक है।

५. देवता संबंध शून्य त्याग की स्थिति में।

६. चरितार्थ वस्तु का शास्त्रविहित विनियोग ही उसकी प्रतिपत्ति है।

७. यह संस्कार अवघात प्रोक्षणादि संस्कार के समान नहीं है, क्योंकि प्रतिपत्ति संस्कृत का कहीं विनियोग नहीं होता। जबकि अवहत प्रोक्षितादि का विनियोग होता है।

षष्ठाध्यायस्य प्रथमपादे चिन्तितम्—

"स्त्रिया नास्ति स्वामिभावः पुल्लिङ्गेन तदीरणात्।
प्रकृत्यर्थतया लिङ्गं संख्यावन्नाविवक्षितम्॥
अस्त्युद्देश्यगतत्वेन संख्यया सदृशत्वतः।
टाब्विभक्तिविकारादेरर्थस्तत्प्रकृतेर्न तु॥"

(जै० न्या० ६।१।६-७) इति॥

स्वर्गकामो यजेतेति पुल्लिङ्गशब्देनाधिकारिणो विधानात्सोऽधिकारः स्त्रिया नास्ति। न च ग्रहैकत्ववल्लिङ्गमविवक्षितमिति वाच्यम्। एकत्ववल्लिङ्गस्य प्रत्ययार्थत्वाभावात्प्रकृत्यर्थतया तु ग्रहत्ववद्विवक्षितं पुल्लिङ्गमिति प्राप्ते ब्रूमः—अस्ति स्त्रियाः कर्मस्वधिकारः। कुतः? पुल्लिङ्गस्याविवक्षितत्वात्।

शाखा-प्रहरण प्रतिपत्ति कर्म है—अर्थ कर्म नहीं, अतः शाखा प्रहरण के अभाव में क्रतु वैकल्य नहीं होता, फलतः वह प्रहरण पौर्णमास याग में स्वसिद्धि (प्रहरणसिद्धि) की हेतुभूत शाखा का प्रयोजक नहीं होता।

कारिकाओं का सरल हिन्दी अनुवाद

प्रस्तर का शाखा के साथ प्रहार (प्रक्षेप) कर दे। यह शाखा प्रहार अर्थ कर्म होगा या उसे प्रतिपत्ति मानना उचित होगा? प्रस्तर प्रहार को याग माना गया है, साहचर्यवश शाखा के प्रहार को भी याग ही मानना होगा। ऐसा होने से प्रस्तर प्रहरण के समान शाखा प्रहरण भी अर्थ कर्म ही माना जाना चाहिये. फलत. पौर्णमास में शाखा प्रहरण शाखा का प्रयोजक होगा। हृ धातु यागवाची नहीं है, इसलिए शाखा प्रहरण पौर्णमास में शाखा का प्रयोजक नहीं होगा।

षष्ठा इति। छठे अध्याय के प्रथम पाद में (दूसरे अधिकरण में) यह विचार किया गया है कि स्त्रियों का **यज्ञादि कर्म में अधिकार है या नहीं है।**

स्त्रिया इति। **स्वर्गकामो** इति। 'स्वर्गकामो यजेत-स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा रखने वाला यज्ञ करे' यह विधि वाक्य है, इसमें 'स्वर्ग कामः' यह पद अधिकारी का विशेषण है। पुल्लिङ्ग शब्द द्वारा अधिकारी का विधान करने के कारण वह अधिकार स्त्री को प्राप्त नहीं हो सकता। कदाचित् कहो कि जैसे 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' में 'ग्रहम्' यह एक वचन अविवक्षित है, इसी प्रकार 'स्वर्ग कामः' में पुंस्त्व अविवक्षित है—ऐसा क्यों न मान लिया जाय? ऐसा नहीं मान सकते, कारण कि एकत्व[1] की तरह लिङ्ग प्रत्ययार्थ नहीं है, लिङ्ग तो प्रकृत्यर्थ[2] है, इसलिए जैसे ग्रहत्व प्रकृत्यर्थ होने से विवक्षित होता है, इसी प्रकार पुंस्त्वादि लिङ्ग भी प्रकृत्यर्थ होने से विवक्षित ही रहता है।

इति प्राप्ते इति। इस पूर्वपक्ष के संबंध में हमारा उत्तर यही है कि स्त्री को कर्म में अधिकार है। क्योंकि

---

१. जैसे ही एकत्व प्रत्ययार्थ माना जाता है वैसे लिङ्ग प्रत्ययार्थ नहीं है। स्वादि प्रत्यय एकत्वादि की विवक्षा में ही होते हैं इसलिए वे प्रत्ययार्थ हैं।

२. लिङ्ग प्रत्ययार्थ नहीं है वह तो प्रातिपदिकार्थ है, इसीलिये वैयाकरण कहते हैं—त्रिकम् (स्वार्थ द्रव्य और लिङ्ग) प्रातिपदिकार्थः।

न ह्येकत्वस्य प्रत्ययार्थत्वमविवक्षायां निमित्तं किं तूद्देशगतत्वम् । इहापि यः स्वर्गकामः स यजेतेति वचनव्यक्तौ पुलिङ्गस्योद्देश्यगतत्वेनैकत्वसदृशत्वान्नास्ति विवक्षितत्वम् । न च प्रकृत्यर्थो लिङ्गम् । स्त्रीलिङ्गं तावट्टाबादिभिः स्त्रीप्रत्ययैरभिधीयते । पुल्लिङ्गं तु वृक्षानित्यस्मिन्द्वितीयाबहुवचने विभक्तिविकारेण नकारादेशलक्षणेनाभिव्यज्यते । एवं कुलमित्यस्मिन्प्रथमैकवचने नपुंसकाभिव्यक्तिः । तस्माल्लिङ्गस्य प्रकृत्यर्थत्वाभावादुद्देश्यगतत्वेनाविवक्षितत्वाच्च स्त्रिया अस्त्यधिकारः ।

'स्वर्गकामः' पद में पुलिङ्ग अविवक्षित है । यह कथन भी ठीक नहीं है कि 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' में एकत्व प्रत्ययार्थ होने के कारण अविवक्षित हो गया है, क्योंकि ग्रहगत एकत्व की अविवक्षा में उसका[1] प्रत्ययार्थ होना निमित्त नहीं है, किन्तु उसका उद्देश्यगतत्व[2] निमित्त है ।

इहापि इति । यहां भी 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य का 'यः स्वर्गकामोऽस्ति स यजेत-जो स्वर्ग प्राप्ति का इच्छुक है, वह यज्ञानुष्ठान करे' यह तात्पर्य है । इस तात्पर्य विवरण में स्वर्गेच्छा युक्त व्यक्ति (चाहे वह कोई भी हो—नर हो या नारी हो) को उद्देश्य मानकर यज्ञानुष्ठान की विधि प्रतीत होती है । अतः 'स्वर्गकामः' यह पद उद्देश्य बोधक है, अतः पुंस्त्व एकत्व[3] के सदृश उद्देश्यगत होने के कारण विवक्षित नहीं है । लिङ्ग (पुंस्त्वादि) प्रकृत्यर्थ[4] नहीं है । स्त्रीलिङ्ग (स्त्रीत्व) टाप् आदि स्त्री प्रत्ययों[5] के द्वारा बताया जाता है । किन्तु पुल्लिङ्ग (पुंस्त्व) 'वृक्षान्' इस द्वितीया बहुवचन में नकारादेश स्वरूप विभक्ति विकार के द्वारा अभिव्यक्त होता है । इसी प्रकार 'कुलम्' इस प्रथमा के एक वचन में-विभक्ति विकार से ही-नपुंसकत्व की अभिव्यक्ति होती है । सारार्थ यह निकला कि 'स्वर्गकामः' में लिङ्ग (पुंस्त्वादि) प्रकृत्यर्थ न होने के कारण और उद्देश्यगत होने के कारण सुतराम् अविवक्षित है, अतः स्त्री का यज्ञ आदि कर्मों में अधिकार है ।

कारिकाओं का सरल हिन्दी अनुवाद

'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधि बोध्य कर्मों में स्त्री का अधिकार (स्वामिभाव) नहीं है, क्योंकि वह अधिकार 'स्वर्गकामः' इस पुल्लिङ्ग निर्देश द्वारा बताया गया है । संख्या के समान लिङ्ग की अविवक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि लिङ्ग प्रकृत्यर्थ है (जबकि-संख्या प्रत्ययार्थ है) । यह पूर्वपक्ष है । सिद्धान्त है—स्त्रियों का कर्म में अधिकार है । क्योंकि उद्देश्यगत होने के कारण संख्या के समान ही लिङ्ग अविवक्षित है । लिङ्ग तो टाप्[6] और विभक्ति विकारादि का अर्थ है, प्रकृति का अर्थ नहीं है ।

---

१. एकत्व का

२. उद्देश्यगत संख्या की अविवक्षा हो जाती है ।

३. जैसे 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' में एकत्व ग्रहरूप उद्देश्यगत होने के कारण अविवक्षित है उसी प्रकार 'स्वर्ग कामो यजेत' में 'स्वर्ग काम' रूप उद्देश्यगत होने के कारण अविवक्षित है उसी प्रकार 'स्वर्ग कामो यजेत' में 'स्वर्गकाम' रूप उद्देश्यगत होने के कारण पुंस्त्व भी अविवक्षित है ।

४. जिससे प्रत्यय का विधान किया जाता है, वह शब्द 'प्रकृति' कहलाता है । मीमांसक लिङ्ग को प्रकृत्यर्थ नहीं मानते हैं, वैयाकरण मानते हैं ।

५. मीमांसकों के मत में 'स्त्रीत्व' टाप् आदि का वाच्य है । वैयाकरण उसे द्योत्य मानते हैं ।

६. तात्पर्य यह है कि लिङ्ग की प्रतीति तो टाप् आदि प्रत्ययों से और विभक्ति विकारों से होती है । 'लिङ्ग' प्रकृति का अर्थ नहीं है ।

तत्रैवान्यच्चिन्तितम्—

**"दंपतिभ्यां पृथक्कार्यं सह वाऽऽख्यातसंख्यया ।
पृथग्मैवमवैगुण्यात्कर्त्रैक्यं देवतैक्यवत् ॥"**

(जै० न्या० ६।१।८) इति ।

यजेतेत्याख्यातप्रत्ययगतायाः संख्याया उद्देश्यगतत्वाभावेन विवक्षाया वारयितुमशक्यत्वादेककर्तृत्वाय दंपतिभ्यां पृथगेव कर्मानुष्ठेयमिति चेन्मैवम् । वैगुण्यप्रसङ्गात् । कर्मणि तत्र तत्र पत्न्यवेक्षणं यजमानावेक्षणं चेत्युभयमप्याम्नातम् ।

तत्र यजमानप्रयोगे पत्न्यवेक्षणं लुप्येत पत्नीप्रयोगे यजमानावेक्षणं लुप्येतेत्यवैगुण्याय द्वयोः सहाधिकारः । न च यजेतेत्येकवचनं विरुद्धम् । अग्नीषोमौ देवतेत्यत्र यथा व्यासक्तयोर्देवत्वाद्देवतैक्यं तथा

तत्रैव इति । छठे अध्याय के प्रथमपाद में ही (चौथे अधिकरण में) यह भी विचार किया गया है—कि पति पत्नी अलग-अलग यज्ञादि कर्म कर सकते हैं अथवा इकट्ठे ही ।

दंपतिभ्याम् इति । **यजेते** इति । 'स्वर्गकामो यजेत'[1] में आख्यात प्रत्यय (तिङ्प्रत्यय) बोध्य संख्या एकत्व (संख्या) उद्देश्यगत नहीं है—किन्तु तिङ्प्रत्ययार्थ कर्ता का विशेषण है, अतः उसकी विवक्षा नहीं रोकी जा सकती, फलतः प्रत्ययार्थ भावना में एककर्तृकत्व होना अनिवार्य होगा । अतः पति पत्नी इकट्ठे यज्ञानुष्ठान नहीं कर सकते, ऐसा करने से द्विकर्तृकत्व हो जायगा, एक कर्तृकत्व के निर्वाह के लिए दम्पती को पृथक् पृथक् ही यज्ञ करना चाहिये ।

इतिचेद् इति । इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है—यदि पति पत्नी पृथक् पृथक् यज्ञ करेंगे तो कर्म विगुण हो जाएगा – विधिपूर्वक सम्पन्न नहीं होगा । क्योंकि कर्म में (यज्ञानुष्ठान में) तत्तत् स्थलों पर यजमान और पत्नी दोनों के द्वारा अवेक्षण का विधान किया गया है ।

ऐसी स्थिति में यदि यजमान ही अकेला यज्ञ करेगा तो वहां पत्नी के द्वारा अवेक्षण नहीं हो सकेगा, इसी प्रकार यदि पत्नी ही स्वतन्त्र रूप से कर्म करेगी तो यजमान के द्वारा अवेक्षण असंभव होगा । फलतः कर्म वैगुण्य-ग्रस्त हो जाएगा । इस वैगुण्य को दूर करने के लिए दम्पति का कर्म में सहाधिकार ही मानना चाहिए । रहा 'यजेत' इस एक वचन का विरोध, वह भी विचार करने पर नहीं रहता । जैसे 'अग्नीषोमौ-देवता-इस कर्म का अग्नि सोम युग्म देवता है' यहां 'देवता' शब्द में आपाततः एकवचन विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि देवता तो अग्नि और सोम दो हैं, तथापि देवतात्व अग्नि और सोम में व्यासज्य वृत्ति है, अर्थात् उस कर्म में न केवल अग्नि में देवतात्व है, न केवल सोम में किन्तु दोनों में मिलकर देवतात्व है दोनों मिलकर एक देवता बनते हैं, ऐसा मानने से 'देवता' शब्द में एकवचन[2] की उपपत्ति हो जाती है, इसी प्रकार दम्पती

---

१. 'यजेत' इस पद में दो भाग हैं, एक प्रकृति दूसरा प्रत्यय । यहां 'यज्' धातु प्रकृति है और 'त' यह आख्यात प्रत्यय है । 'यज्' का अर्थ है 'याग', 'त' के अनेक अर्थ हैं, पहला अर्थ है व्यापार, क्योंकि 'पचते' का अर्थ हम करते हैं 'पाकं कुरुते' । इसमें 'पाक' तो 'पच्' का विवरण है और व्यापारार्थक कृ धातुः (कुरुते) 'त' का विवरण है । दूसरा अर्थ है 'कर्ता' 'लः कर्मणि च भावे···' इस सूत्र से यहां 'कर्ता' अर्थ में 'त' प्रत्यय हुआ है । तीसरा अर्थ है एकत्व संख्या । 'तान्येकवचन द्विवचन···' इस पाणिनि सूत्र के अनुसार ।

२. काव्य प्रकाश के प्रथम उल्लास में काव्य का कारण बताते हुए 'शक्तिर्निपुणता लोक···' इस कारिका में शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों का नाम लेकर 'इति हेतुस्तदुद्भवे' ऐसा मम्मट ने लिखा है, वहां भी 'हेतुः' इस वचन की उपपत्ति सायणोक्तरीति से ही की गई है ।

दम्पत्योरेकमेव कर्तृत्वमित्यङ्गीकारात्। तस्माद्दम्पत्योः सहाधिकारः। तथा सति "ऊनेऽतिरिक्तं धीयाता" (तै० ब्रा० ३।३।५) इति वाक्येन कर्मणि न्यूनाङ्गपूरणं पत्न्या क्रियत इति यदुक्तं तत्सुस्थितम्।

अथ व्याकरणम्

वाजस्येत्यत्र "वज व्रज गतौ" इत्यस्माद्धातोरुत्पन्नः कर्मणि घञन्तः (वाजशब्दः) (पा० ३।३।१९)। ततो ञित्त्वादाद्युदात्तः (पा० ६।१।१९७)। प्रसवशब्दोऽप्प्रत्ययान्तः (पा० ३।३।५७)। ततस्तत्र थाथादिस्वरः (पा० ६।२।१४४)। एवं सर्वं यथायोग्यमुन्नेयम्।

में भी कर्तृत्व-व्यासज्य वृत्ति होने से-एक ही है ऐसा स्वीकार कर लेने से 'यजेत' में एकवचन सङ्गत हो जाता है। इसलिए पति पत्नी का कर्म में सहाधिकार ही है। ऐसा होने पर 'ऊनेऽतिरिक्तं धीयातै' इस श्रुति वाक्य से यह जो बताया गया है कि 'कर्म में न्यूनाङ्ग की पूर्ति पत्नी के द्वारा की जाती है' वह भी सुसङ्गत हो जाती है।

कारिका का सरल हिन्दी अनुवाद

क्या पति पत्नी को यज्ञादि कर्म पृथक् पृथक् करना चाहिए, अथवा साथ-मिलकर करना चाहिए? 'यजेत' इस आख्या बोध्य एकत्व संख्या के कारण-एक कर्तृकत्व के लिए-पृथक् पृथक् ही करना ठीक है।

मैवम् इति। यह पक्ष ठीक नहीं, वैगुण्य न हो इसलिए मिलकर ही करना उचित है। एक कर्तृकत्व का निर्वाह— 'अग्नीषोमौ देवता' में देवता के एकत्व-की तरह-व्यासज्यवृत्तिता मानकर-कर लेना चाहिए।

वाजस्ये इति। 'वाजस्य' इस षष्ठ्यन्त पद में 'वाज' शब्द 'वज व्रज गतौ' इस धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय करके बना है। फलतः यह ञिदन्तत्वाद् आद्युदात्त[1] है। शेष निघात से 'ज' अनुदात्त रहेगा, 'स्य' सुप् होने से स्वयम् अनुदात्त है। प्रारम्भिक स्वर स्थिति का स्वरूप ऐसा होगा—वा ज॒ स्य॒। 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' से 'ज॑' को स्वरित हो गया। और 'स्य' को स्वरित से परे रहने के कारण प्रचय हो गया। फलतः संहिता और पद पाठ में स्वर स्थिति एक सी रहेगी— वा ज॑ स्य।

प्रसव इति। **प्रसव शब्द 'अप्'** प्रत्ययान्त है। अतः थाथादि स्वर हुआ है। तात्पर्य यह है कि प्रसव शब्द में 'षूङ्'[2] धातु से ऋदोरप्' से अप् प्रत्यय हुआ है। आदि समास होने से 'समासस्य' से अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसको बाधकर 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' इत्यादि सूत्र से अव्यय पूर्वपद प्रकृति स्वर प्राप्त हुआ, उसको भी बाधकर 'गतिकारकोपपदात् कृत्' से कृदुत्तरपद प्रकृति स्वर प्राप्त हुआ, उसको भी बाधकर 'थाथ-घञ्-क्ताजबिज-काणाम्' इस सूत्र से 'प्रसव' शब्द के अन्तिम अकार को उदात्त हो गया शेष निघात व्यवस्था से 'प्र' और 'स' अनुदात्त हो गए। 'प्रसव' शब्द के आगे तृतीया विभक्ति का चिह्न 'इन'[3] है, जो सुप् (टा) स्थानिक होने से सुप् है और सुप्त्वाद् सर्वानुदात्त है। उसके इकार के साथ 'व' के अकार की गुण सन्धि होने से 'ए' बन गया, वह 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से उदात्त ही रहा फलतः 'प्रसवेन' पद में प्रारम्भिक स्वर

---

१. 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इस सूत्र से।

२. 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' अदादिगणस्थः। 'षूङ् प्राणिप्रसवे' दैवादिकः।

३. प्रसव शब्द से 'टा' विभक्ति आयी थी, उसको 'टाङसिङसाम् इनात् स्याः' 'इन' आदेश हो गया।

"इषे त्वाद्या यजुर्मन्त्राः काचित्काचिदृगीरिता[1]।
तासामृचां विविच्याथ वच्मिमच्छन्दोऽवबुद्धये ।।

"सावित्रियर्चा" (तै० ब्रा० ३।३।४) "अनुष्टुभर्चा" (तै० ब्रा० ३।३।२) "वैश्वदेव्यर्चा" (तै० ब्रा० ३।३।९) इति ब्राह्मणेन व्याख्यातत्वात्सर्वयजुषां मध्ये समाम्नाता ऋचः।

देवो वः सविता प्रार्पयत्विति द्विपदा विराड्गायत्री आप्यायध्वमिति मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुप्।

१. ख. ता। तां तामृचं वि।

स्थिति यों रही—प्र स वे न । संहिता में 'प्र स वे न' पद के आगे 'उद्' शब्द है, जो कि अनुदात्त है, 'न' के 'अ' की 'उद्' के 'उ' के साथ गुणसन्धि होने से 'ओ' बन गया। यह 'ओ' भी अनुदात्त स्थानिक होने से अनुदात्त ही रहेगा। उसको 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' से स्वरित हो गया। 'प्रसवेनो' इस पद से पहले संहिता में 'वा र्ज स्य मा'[1] ये दो पद हैं। स्वरित से परे रहने के कारण जैसे 'स्य' और 'मा' दोनों प्रचित हो गए, उसी तरह 'प्र स वेनो'' इस पद में 'प्र' को भी प्रचित हो गया। 'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्' इस सूत्र में 'अनुदात्तानाम्' यह बहुवचन पड़ा हुआ है, अतः स्वरित से परे जितने भी एक दो तीन आदि अनुदात्त होंगे सबको प्रचय हो जाता है। यद्यपि इस नियम से 'स' को भी प्रचय होना चाहिए। ठीक है, परन्तु 'उदात्त स्वरितपरस्य सन्नतरः' इस अपवाद सूत्र से 'स' को सन्नतर हो गया, क्योंकि उसके आगे 'वे' उदात्त है। फलतः संहिता में निश्चित स्वरक्रम यों रहेगा—प्रस वे नों। पद पाठ में— प्र स वेनेति' प्र स वे नं। 'ति' के आगे केवल 'प्र' में प्रचय हुआ, 'स' में नहीं हुआ, मुख्य कारण संहिता का अभाव है। अतः 'स' अनुदात्त ही रहा।

एवम् इति। इसी प्रकार सब जगह, जहां जैसा उचित हो स्वर संचार का समर्थन करना चाहिए।

अब भाष्यकार पूर्वोक्त तेरह अनुवाकों में छन्दो विचार प्रारम्भ करते हैं। **इषे** इति। **'इषे त्वा'** इत्यादि यजुः संज्ञक मन्त्र हैं। यद्यपि यह तैत्तिरीय संहिता यजुः संहिता ही है। इसमें छन्दो विचार सर्वथा अप्रासङ्गिक है। प्रश्लिष्ट पाठ रूप गद्य को ही 'यजुः' कहते हैं। छन्द तो वह कहलाते हैं जहाँ अक्षरों की संख्या का नियम होता है। जैसे छन्दःशास्त्र में कहा है 'गायत्र्या वसवः' 'त्रिष्टुभो रुद्राः' 'विराजो दिशः' 'जगत्या आदित्यः'। इति। गायत्री के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं, त्रिष्टुभ् के ग्यारह, विराट् के दस और जगती के बारह। तात्पर्य यह है कि नियत संख्याक अक्षरों से युक्त पादबद्ध रचना को ही छन्द कहते हैं। ये छन्द ऋचाओं में ही होते हैं। कृष्ण यजुः संहिता तो यजुर्मय है, अतः यहाँ छन्दो विचार सर्वथा अनवसर ग्रस्त है। ठीक है, इसी शङ्का को निवारण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं—**काचिद्** इति। यद्यपि 'इषेत्वा' आदि यजुर्मन्त्र हैं, तथापि इन यजुर्मन्त्रमय अनुवाकों में कोई कोई ऋचा भी है, उन ऋचाओं को यजुर्मन्त्रों से पृथक् करके मैं उनका छन्द बताता हूं जिससे कि वेदाध्ययन करने वालों को उनका ज्ञान हो जावे।

शङ्का—आपको यह कैसे विदित हुआ कि इन यजुर्मन्त्रमय अनुवाकों में कोई ऋचा बताई गई है? इसका उत्तर भाष्यकार लिखते हैं—**सावित्रियर्चा** इति। ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्र संहिताओं के व्याख्यान ग्रन्थ हैं। कृष्णयजुः संहिता के तैत्तिरीय ब्राह्मण ने यत्र तत्र मन्त्रों की व्याख्या करते हुए कहा है—इस सवितृदेवताक ऋचा से, इस अनुष्टुप् छन्दोबद्ध ऋचा से, इस विश्वेदेव देवताक ऋचा से। इससे सिद्ध है कि सब यजुओं के मध्य में यत्र तत्र ऋचाएँ पढ़ी गई हैं।

देवो वः इति। 'देवो[2] वः कर्मणे' इस ऋचा में 'द्विपदा[3] विराट् गायत्री' छन्द है। एकपादजगती का हो और

१. यह 'मा' निपात नहीं है, किन्तु 'माग्' के स्थान में आदेश 'मा' है। त्वामौ द्वितीयायाः।

२. यह मन्त्र और इसके आगे के दोनों मन्त्र जिनमें भाष्यकार ने छन्द का निर्णय किया है—तैत्तिरीय संहिता के प्रथम काण्ड प्रथम प्रपाठक प्रथम अनुवाक के हैं।

३. 'एक-द्वि-त्रि-चतुष्पाद् उक्तपादम्' ३।७ इस सूत्र के अनुसार गायत्री द्विपाद भी होती है।

दूसरा गायत्री का हो तो 'द्विपदा विराट् गायत्री' होती है। देखो पिङ्गल सूत्र-तृतीय[1] द्विपाज्जागतगायत्राभ्याम् ३।१६ यद्यपि 'जगती' और 'गायत्री' के एक एक पाद के अक्षरों की संख्या क्रमशः बारह और आठ[2] है जो मिलकर बीस होती है, परन्तु प्रकृत ऋचा में अट्ठारह ही अक्षर हैं, तथापि 'आद्यं चतुष्पाद ऋतुभिः'[3] ३।८ इस पिङ्गल सूत्र के अनुसार षडक्षर पाद वाली चतुष्पाद् गायत्री[4] भी होती है, तृतीयं 'द्विपाज्जागतगायत्राभ्याम्' ३।१६ इस सूत्र में सामान्य रूप से 'गायत्र' पाद लिया गया है, वह चतुष्पाद् गायत्री का षडक्षर पाद भी हो सकता है। अतः प्रकृत ऋचा में अट्ठारह अक्षर होने पर भी कोई दोष नहीं। यदि यह आग्रह ही हो कि पिङ्गलोक्त (३।१६) द्विपाद् विराड् गायत्री छन्द में गायत्री का अष्टाक्षर पाद ही विवक्षित है, तथापि प्रकृत मन्त्र को 'विराड् गायत्री' मानने में कोई रुकावट नहीं। दो अक्षर न्यून होने पर भी उक्त ऋचा विराड् गायत्री मानी जा सकती है। यास्क[5] मुनि ने 'विराट्' पद की व्युत्पत्ति (निर्वचन) तीन प्रकार से की है—विराड् विराजनाद् वा, विराधनाद् वा विप्रापणाद् वा इति। विराजते=विशेषेण शोभत इति विराट्। इस व्युत्पत्ति के अनुसार यथोक्त पूर्ण (२०) अक्षर वाली द्विपाद् गायत्री 'विराड्गायत्री' कहलाती है। पूर्णाङ्क व्यक्ति ही विशेष रूप से शोभित होता है। किन्तु जिसमें न्यून अक्षर हैं वह भी 'विराध्यति=अपराध्यतीवेति विराट्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'विराट्' ही है। कारण कि वह न्यूनाक्षर होने से अपराध सा करती है। जिसमें अपेक्षित से अधिक अक्षर हैं वह भी 'विराजते=विप्राप्नोतीति विराट्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'विराट्' ही है, कारण कि वह अधिक अक्षर होने के कारण अपने स्वरूप को लाँघ गई है, दुर्गाचार्य लिखते हैं—विप्लुतेन हि सा स्वरूपात्। निरुक्त अध्याय ७।खं१।

आप्यायध्वम् इति। 'आप्यायध्वम्'''माघशंसः' इस ऋचा में 'मध्ये ज्योतिः' नाम का त्रिष्टुभ् छन्द है। 'मध्येज्योतिर्मध्यमेन' ३।१६ इस पिङ्गल सूत्र के अनुसार जिसका मध्यम पाद त्रिष्टुभ् छन्द का (ग्यारह अक्षरों का) हो उसे 'मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुभ्' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि ऋचा में पाँच हों और मध्यवर्ती तीसरा पाद ग्यारह अक्षर का हो तो 'मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुभ्' होता है। यदि पाद चार ही हों तो बीच के दो पादों में से कोई भी (दूसरा या तीसरा) त्रिष्टुभ् का होना चाहिए, तब 'मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुभ्' होगा। मध्यमातिरिक्त पादों की अक्षर संख्या के संबंध में पिङ्गलाचार्य मौन हैं। हाँ वृत्तिकार हलायुध ने लिखा है कि शेष पाद गायत्री के होने चाहिये। हलायुध ने उक्त छन्द के उदाहरण पाँच पाद वाले ही दिये हैं। उसके अनुसार प्रकृत ऋचा में 'मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुभ्' नहीं माना जा सकता। भट्टभास्कर ने भी यहाँ 'मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुभ्' ही बताया है। और कहा है—इयं च भव[6]-वसु-रुद्रेशपादत्वाद् मध्ये त्रिष्टुभ् इति। अर्थात् इस ऋचा में प्रथम पाद ग्यारह अक्षर का है और दूसरा आठ अक्षर का है, तीसरा और चौथा ग्यारह ग्यारह अक्षरों के हैं।

---

१. तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में क्रमशः गायत्री, जगती, विराट् और त्रिष्टुभ् छन्दों के लक्षण बताए गए हैं। उनमें तीसरा 'विराट्' है, वही उक्त सूत्र में 'तृतीयम्' पद से लिया गया है। 'आद्यं चतुष्पाद ऋषिभिः' इस ३।८ सूत्र से 'आद्यम्' (गायत्री छन्द) पद की अथवा 'सापादनिचृत्' ३।१० से 'सा' (गायत्री) पद की अनुवृत्ति आ रही है।

२. 'गायत्र्या वसवः' के अनुसार गायत्री के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। परन्तु यह आठ अक्षरों का नियम त्रिपाद् गायत्री में ही है।

३. 'ऋतु' शब्दः षट्संख्याबोधकः।

४. चतुष्पाद् गायत्री का उदाहरण जैसे—दोषो गाय बृहद् (१) गायद्युमद्धे हि (२) आथर्वणः स्तुहि (३) देवं सवितारम् (४)। अथ० सं० कां ६, सूक्त १, मं. १।

५. 'विराजनात् पूर्णाक्षरा, विराधनाद् ऊनाक्षरा, विप्रापणाद् अधिकाक्षरा—निरुक्त अध्या. ७। खं. १३।

६. 'भव' 'रुद्र' और 'ईश' पद 'ग्यारह' संख्या के बोधक हैं। 'रुद्र' वाचक सब शब्द उक्त ११ संख्या के बोधक होते हैं। कारण कि 'रुद्र' संख्या में ग्यारह ही माने गए हैं।

रुद्रस्य हेतिरित्येकपदा त्रिष्टुप्। ध्रुवा अस्मिन्नित्यपि तद्वत्। प्रेयमगादिति त्रिष्टुप्। सहस्र-वल्शा इत्येकपदा त्रिष्टुप्। उर्वन्तिरिक्षमित्येकपदा गायत्री।

संपृच्यध्वमिति गायत्री। देवो वः सवितोत्पुनात्विति गायत्री। अवधूतमित्येकपदा गायत्री।

'रुद्रस्यहेति···वृणक्तु' यह एक[1] पदा त्रिष्टुभ् है। इसमें पूरे ग्यारह अक्षर हैं 'एक-द्वि-त्रि-चतुष्पाद् उक्तपादम्' इस पिङ्गल सूत्र (३।७) के अनुसार एकपाद् त्रिष्टुभ् भी होता है।

ध्रुवा इति। 'ध्रुवा···वह्नीः' यह भी पूर्ववत् एक पदा त्रिष्टुभ् है। इसमें भी पूरे ग्यारह अक्षर[2] हैं।

प्रेयम इति। 'प्रेयमगाद्[3]···बर्हिरासदे' यह त्रिष्टुभ् छन्द है। इसमें[4] यद्यपि समस्त अक्षर अधिक होने से भी यह ऋषि संप्रदायानुसार त्रिष्टुभ् ही मानी जाती है। 'ऊनाधिकेनैकेननिचृद्भूरिजौ ३।५९' इस पिङ्गल सूत्र के अनुसार यह भूरिक् त्रिष्टुभ् कहलायेगा।

सहस्रवल्शा इति। 'सहस्र···रुहेम' इस ऋचा में एकपदा त्रिष्टुभ् है। इसमें भी पूरे ग्यारह अक्षर हैं।

उर्व इति। 'उर्वन्तरिक्षमन्विहि' यह एकपदा गायत्री है। इसमें केवल आठ अक्षर हैं, जो कि एकपाद के लिए पूर्ण हैं। पिङ्गलानुसार यह 'प्राजापत्या'[6] गायत्री है।

संपृच्यध्वम्[7] इति। 'संपृच्य··· सातये' इस ऋचा में गायत्री छन्द है। इसमें पूरे चौबीस अक्षर हैं। पिङ्गला-नुसार[8] यह आर्षी गायत्री है।

देवो इति। 'देवो[9] वः···रश्मिभिः' इस ऋचा में गायत्री छन्द है। यह भी आर्षी गायत्री है, इसमें पूरे २४ अक्षर हैं।

अवधूतम्[10] इति। 'अवधूतम्···अरातयः' इति। यहां एकपदा गायत्री छन्द है। यद्यपि इसमें तेरह अक्षर हैं, एकपदा गायत्री में तो आठ ही अक्षर होते हैं, तथापि भाष्य में 'एकपदा' से पूर्व 'यजुरादिका' इतना और जोड़ लो। इस प्रकार भाष्य की पंक्ति का आकार यों होगा —'अवधूतमिति यजुरादिकैकपक्ष गायत्री' इति। अर्थात् 'अवधूतम्' इत्यादिक में 'यजुर्मन्त्रपूर्वक एकपदा गायत्री' छन्द है। तात्पर्य यह हुआ कि 'अवधूतं रक्षः' इतना अंश तो 'यजु' है, शेष एकपदा गायत्री' है। यद्यपि ऐसा मानने पर भी 'एकपदा गायत्री' नहीं बनती, क्योंकि शेष अक्षर सात ही हैं, आठ चाहियें, तथापि 'अवधूतं रक्षोऽवधूताः' में 'एङः पदान्तादति' से जो पूर्वरूप सन्धि हुई है, उसका रक्षस्+अवधूताः' इस प्रकार विच्छेद करके आठ अक्षर पूरे हो जाते हैं, इस प्रकार सन्धि विच्छेद करके छन्दों में अक्षरपूर्ति करना ऋषि सम्प्रदाय सिद्ध है। जैसा कि शौनक

१. पिङ्गलानुसार इसको 'याजुषी त्रिष्टुभ्' कहेंगे। देखो पि. सू. २।१२

२. यह भी पिङ्गलानुसार पूर्ववद् याजुषी त्रिष्टुभ् है।

३. यह ऋचा तैत्तिरीय संहिता काण्ड १। प्रपाठक १। अनुवाक २। की है।

४. त्रिष्टुभ् में।

५. पिङ्गलानुसार २।१२ यह भी याजुषी त्रिष्टुभ् है। यह भी तैत्तिरीय संहिता काण्ड १। प्रपाठक १। अनुवाक २। की ऋचा है।

६. देखो पिङ्गलसूत्र २।११।

७. यह ऋचा तै. सं. कां. १ प्र. १ अनु. ३ की है।

८. 'प्राग्यजुषामार्ष्यः' पि. सू. २।१६।

९. यह ऋचा तै. सं. कां. १, प्र. १, अनु. ५ की है।

१०. अगले दो मन्त्र अवधूतमित्यादि भी इसी अनुवाक के हैं।

परापूतमित्यपि दीर्घामन्वित्येकपदा त्रिष्टुप्। यानि धर्म इत्यनुष्टुप्।

ने और कात्यायन ने कहा है—

'व्यूहेद् एकाक्षरीभावान् पादेषूनेषु संपदे ।
क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः पदैः ।।

ऋ. प्रा. १७।३६।३७। 'पादपूरणार्थं तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरी भावान् व्यूहेत्' इति। सर्वानुक्रम १।३। इन वचनों की व्याख्या हम पहले विस्तार से कर चुके हैं। एकः पूर्वपरयोः (अष्टा. ६।१।८४) के अधिकार में जो संधियाँ बताई गई हैं, वे ही यहाँ 'एकाक्षरी' भाव पद से ली जाती हैं।

परा इति। 'परापूतम्'''अरातयः' यह भी 'यजुःपूर्वक एकपदा गायत्री' है। अर्थात् इसमे 'परापूतं रक्षः' इतना अंश यजु है, और शेष एकपदा गायत्री है।

दीर्घा इति। 'दीर्घाम्[१] ''धाम्' इस ऋचा में 'एकपदा त्रिष्टुभ्' है। इसमें ग्यारह अक्षर हैं, जो कि 'त्रिष्टुभ्' के एकपाद के लिए पूरे हैं।

यानि इति। 'यानि[२] धर्मे ''विमुञ्चताम्' इस ऋचा में अनुष्टुभ् छन्द है। अनुष्टुभ् छन्द में चारों पदों के मिलकर बत्तीस अक्षर होते हैं, अर्थात् प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर होते हैं। जैसा कि पिङ्गलाचार्य ने कहा है—अनुष्टुब्-गायत्रैः (३।२३)। इस सूत्र में 'चतुष्पाद्' पद की पूर्वसूत्र (३।२२) से अनुवृत्ति आती है। अतः सूत्रार्थ होता है गायत्री के अष्टाक्षर वाले चार पादों से अनुष्टुप् छन्द होता है। इसकी प्रत्येक अर्धाली में सोलह सोलह अक्षर होने चाहियें परन्तु यहाँ पन्द्रह पन्द्रह ही हैं। प्रत्येक अर्धाली एक एक अक्षर की न्यूनता है। इसकी पूर्ति के लिए भट्ट भास्कर ने लिखा है—प्रथम तृतीयौ (पादौ) यणाकरणेन पूरणीयौ। अर्थात् प्रथम और तृतीय पाद की पूर्ति यणादेश न करके पूरी कर लो। ऋचा का पहला पाद है 'यानि धर्मे कपाला' इसमें सात ही अक्षर हैं, एक अक्षर की कमी है। 'कपाला' के आगे 'न्युपचिन्वन्ति' पद है, उसमें 'कपालानि + उपचिन्वन्ति' ऐसी अवस्था में 'इको यणचि' ६।१।७७ से 'नि' के इकार को यण् हुआ है, यण् न करो तो पादपूर्ति हो जाएगी। यानि धर्मे कपालानि + उपचिन्वन्ति वेधसः—ऐसी स्थिति में पादपूर्ति[३] हो जाती है। इसी प्रकार तृतीय पाद में 'तान्यपि' में 'तानि + अपि' ऐसी अवस्था में यण् हुआ है, उसे न करो, तानि + अपि इस प्रकार सन्धिच्छेद कर लो, पादपूर्ति[४] हो जायगी। शौनक के मत से यकार वकार स्थल में सदृश[५] स्वर की कल्पना से छन्दःपूर्ति

१. यह ऋचा तै. सं. कां. १ प्र. १ अनु. ६ की है।

२. यह ऋचा तै. सं. कां. १ प्र. १ अनु. ७ की है।

३. आठ अक्षर पूरे हो जाते हैं।

४. 'क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात् सदृशैः 'स्वरैः'—यह शौनक का मत है य व र ल का वर्णान्तर संयोग ही क्षैप्रवर्ण संयोग है।

५. इस सूत्र में पूर्वसूत्र से ३/५९ 'ऊनाधिकेन' पद की अनुवृत्ति आती है, 'ऊनाधिकाभ्याम्' इस प्रकार विभक्ति विपरिणाम करके वह 'द्वाभ्याम्' का विशेषण बनता है, फलतः सूत्रार्थ यों होता है—यदि दो अक्षर न्यून हों या अधिक हों तो क्रमशः विराट् और स्वराट् छन्द होता है। यह नियम गायत्री आदि सब छन्दों के लिए है। अर्थात् यदि गायत्री में दो अक्षर कम हैं तो वह विराड् गायत्री होगी यदि दो अधिक हों तो स्वराड् गायत्री होगी। इसी प्रकार 'उष्णिक्' आदि छन्दों में भी समझिए। यह 'बृहती' छन्द सम विषम दोनों प्रकार का है यदि चारों पादों में नौ नौ हों तो सम पाद बृहती छन्द होता है। यदि न्यूनाधिकाक्षर वाले पाद हों तो विषम बृहती छन्द होता है। 'षड्गुरु शिष्य' कहते हैं बृहती छन्द का प्रयोग बहुत कम है।

समापो अद्भिरित्युपरिष्टाद्बृहती । अद्भ्यः परीत्येकपदा गायत्री । अन्तरितमित्येकपदा गायत्री । देवस्य सवितुः सव इति द्विपदा गायत्री ।

पुरा क्रूरस्येत्येकपदा त्रिष्टुप् । उदादायेति त्रिपदा त्रिष्टुप् । आशासाना सुप्रजसस्त्वेत्यनुष्टुभौ । इमं विष्यामीति त्रिष्टुप् । समायुषेत्यनुष्टुप् ।

की जाती है—अर्थात् 'कपालान्युपचिन्वन्ति' को यों पढ़ना चाहिये—'कपालानियुपचिन्वन्ति ।' उसी प्रकार 'तान्यपि' में 'तानि यपि' । शौनक का मत व्यापक है—'वरेण्यम्' इत्यादि स्थल में भी, जहाँ यणादेश नहीं हुआ है, काम चल जाता है, भट्ट भास्कर के मत में उक्त स्थल में शौनकव्यवस्था को ही स्वीकार करना पड़ेगा । पिङ्गलाचार्य के मत से उक्त अनुष्टुभ् को दो अक्षर न्यून होने के कारण विराडनुष्टुभ् कहा जाएगा । 'द्वाभ्यां विराट् स्वराजौ' ३।६० ।

समापो इति । 'समापो[1] ··सृज्यध्वम्' इस ऋचा में 'उपरिष्टाद् बृहती' छन्द है । बृहती छन्द में चारों पादों के सम्मिलित अक्षर छत्तीस होते हैं । यदि अन्तिम पाद में बारह अक्षर हों और शेष पाद आठ आठ अक्षर के हों तो उसे 'उपरिष्टाद् बृहती' कहते हैं । जैसा कि पिङ्गलाचार्य ने लिखा है –'उपरिष्टाद् बृहत्यन्ते' ३।३१ ।

अद्भ्य इति । 'अद्भ्यः परि···पृच्यध्वम्' यह 'एकपदा गायत्री' है । यद्यपि इसमें चौदह अक्षर हैं, यह एकपदा गायत्री नहीं हो सकती, तथापि भाष्य में 'एकपदा गायत्री' इस वाक्य से पूर्व 'यजुरन्त' पद का अध्याहार करो । इसलिए भाष्य की पंक्ति का स्वरूप अब यों बनेगा—'यजुरन्तैकपदा गायत्री' अर्थात् जिसके अन्त में 'यजु' का प्रयोग किया गया है ऐसी यह 'एकपदा गायत्री' है । तात्पर्य यह हुआ कि 'अद्भ्यः परि प्रजाताः स्थ' इतना अंश तो एकपदा गायत्री है, इसमें पूरे आठ अक्षर हैं । शेष 'समद्भिः पृच्यध्वम्' इतना अंश यजु है । इसीलिए भट्ट भास्कर ने लिखा है—अपःपरिप्लावयति अद्भ्य इति गायत्र्यैकपदया यजुस्तया इति ।

अन्तरितमिति । 'अन्तरितम्···अरातयः' इस ऋचा में एकपदा गायत्री छन्द है । यहाँ भी 'एकपदा गायत्री' इस वाक्य से पूर्व 'यजुरादिका' इस पद का अध्याहार कर लो । शेष 'अवधूतं रक्षोऽवधूताअरातयः' के समान समझो ।

देवस्य इति । 'देवस्य[2] सवितुः वेधसः' इस ऋचा में द्विपदा गायत्री छन्द है । इसमें पूरे सोलह अक्षर हैं । गायत्री के दो पादों की सम्मिलित अक्षर-संख्या सोलह ही होती है ।

पुरा इति । 'पुरा···विरप्शिन्' इस ऋचा में 'एकपदा त्रिष्टुभ्' छन्द है । इसमें पूरे ग्यारह अक्षर हैं ।

उदादा इति । 'उदादाय···यजन्ते' इस ऋचा में त्रिपदा त्रिष्टुभ् छन्द है । इसमें पूरे तैंतीस अक्षर हैं । 'पुरा क्रूरस्य' इत्यादि और 'उदादाय' इत्यादि दोनों ऋचाएँ तै. सं. कां. १ प्र. १ अनु. ९ की हैं ।

आशासना इति । 'आशासाना···सुकृतायकम्' इस ऋचा में अनुष्टुभ् छन्द है । आठ आठ अक्षर वाले चार पादों से अनुष्टुभ् बनता है । इसके द्वितीय पाद में केवल सात ही अक्षर हैं, तथापि 'इयादिपूरणः ३/२' के अनुसार 'सौभाग्यम्' पद में 'सौभागियम्' ऐसी कल्पना करके अक्षर संख्या पूर्ति कर लेनी चाहिए । पिङ्गलाचार्य के अनुसार इसको 'निचृत्' अनुष्टुभ् कहा जाएगा । 'ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भूरिजौ—३।५९' यह ऋचा तै. सं. कां. १ प्र. १ अनु. १० की है ।

---

१. यह ऋचा तै. सं. कां. १ प्र. १ अनु. ८ की है । इसके आगे की दो ऋचाएं भी 'अद्भ्यः परि' इत्यादि और 'अन्तरितम्' इत्यादि इसी अनुवाक की हैं ।

२. यह ऋचा तै. सं. कां. १ प्र. १ अनु. ९ की है । इससे अगली दो ऋचाएँ भी 'पुरा क्रूरस्य' इत्यादि और 'उदादाय' इत्यादि इसी अनुवाक की हैं ।

देवो वः सवितोत्पुनात्विति गायत्री। वीतिहोत्रमिति गायत्री। एता असदन्नित्येकपदा त्रिष्टुप्। अग्न यष्टरित्येकपदा गायत्री। पाहि माऽग्न इति द्विपदा गायत्री।

वाजस्य चोद्ग्राभं चेत्यनुष्टुभौ। यं परिधिमिति पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्।

सुप्रज इति। 'सुप्रजसस्त्वा अदाभ्यम्' यह ऋचा पूर्वोक्त अनुवाक की ही है। इसमें भी अनुष्टुभ् छन्द ही है। यद्यपि इसमें प्रथम और चौथे पाद में एक एक अक्षर कम होने से कुल तीस ही अक्षर हैं, दो अक्षरों की न्यूनता है, तथापि 'सुप्रजसस्त्वा' को 'सुप्रजस्तु वा' और 'अदाभ्यम्' को 'अदाभियम्' पढ़ने से दो अक्षरों की न्यूनता पूरी हो जाती है। 'इयादि पूरणः' में 'इयादि' 'उवादि' का उपलक्षक है। पिङ्गलाचार्य के अनुसार इस 'अनुष्टुभ्' का नाम 'विराड्अनुष्टुभ्' है। 'द्वाभ्यां विराट् स्वराजौ भवतः'—इति सूत्रार्थः।

इमम् इति। 'इमं विष्यामि'''पत्या करोमि' यह ऋचा भी पूर्वोक्त अनुवाक की ही है। इसमें त्रिष्टुभ् छन्द है। यद्यपि त्रिष्टुभ् में प्रत्येक पाद में ग्यारह अक्षर के हिसाब से कुल अक्षर चवालीस होने चाहियें, यहाँ तैंतालीस ही हैं, चौथे पाद में एक अक्षर कम है, तथापि पत्या को 'इयादि पूरणः' के अनुसार 'पतिया' पढ़ने से अक्षर संख्या पूर्ति कर लेनी चाहिये। यह एक अक्षर न्यून होने से 'निचृत् त्रिष्टुभ्' है।

समा इति। 'समायुषा'''तनुवा मम' यह ऋचा भी पूर्वोक्त अनुवाक की ही है। इसमें अनुष्टुभ् छन्द है। इसमें पूरे बत्तीस अक्षर हैं। छन्दःशास्त्रानुसार यह 'आर्षी अनुष्टुभ्' है।

देवो इति। 'देवो वः'''सूर्यस्य रश्मिभिः' यह ऋचा भी पूर्वोक्त अनुवाक की ही है। इसमें पूरे चौबीस अक्षर हैं, अतः यहाँ गायत्री छन्द है। पूर्णाक्षरा होने से यह 'आर्षी गायत्री' है। प्राग् यजुषाम् आर्ष्यः २।१६।

वीति इति। 'वीतिहोत्रं''बृहन्तमध्वरे' यह ऋचा तै. सं. कां. १. प्र. १. अनु. ११ की है। इसमें 'गायत्री' छन्द है। यद्यपि गायत्री छन्द में तीन पाद होते हैं, प्रत्येक पाद की अक्षर संख्या आठ होती है, इस प्रकार कुल अक्षर गायत्री के चौबीस होने चाहियें। परन्तु यहाँ बाईस ही अक्षर हैं, प्रथम और द्वितीय पाद में एक एक अक्षर कम हैं, तथापि 'इयादिपूरणः' के अनुसार प्रथम पाद में 'त्वा' को 'तुवा' पढ़ने से और द्वितीय पाद में 'समिधिमह्यग्ने' को 'समिधी महीयग्ने' ऐसा पढ़ने से अक्षर संख्या पूरी हो जाती है। छन्दःशास्त्रानुसार दो अक्षर न्यून होने से इसको विराड्गायत्री कहेंगे—द्वाभ्यां विराट् स्वराजौ, ३।६०।

एता इति। 'एता असदन्''' सुकृतस्य लोके' यह ऋचा उक्त अनुवाक की ही है। यह एकपदा त्रिष्टुभ् है। इसमें पूरे ग्यारह अक्षर हैं।

अग्ने इति। 'अग्ने'''नमः' यह ऋचा तै. सं. कां. १ प्र. १. अनु. १२ की है। इसमें एकपदा गायत्री छन्द है। पूरे आठ अक्षर हैं। छन्दःशास्त्रानुसार यह प्राजापत्या गायत्री है। 'प्राजापत्याऽष्टौ, २।५।'

पाहि इति। 'पाहि मा'''सुचरिते भज' यह ऋचा पूर्वोक्त अनुवाक की ही है। इसमें 'द्विपदा गायत्री' छन्द है। दो पादों के पूरे सोलह अक्षर इसमें हैं।

वाजस्य इति। 'वाजस्य मा'' ध्रुवं अकः' 'उद्ग्राभं च'''व्यस्यताम्' ये दो ऋचाएं तै. सं. का. १ प्र. १ अनु. १३ की है। इन दोनों में अनुष्टुभ् छन्द है। अनुष्टुभ् छन्द में प्रत्येक पाद के आठ अक्षर के हिसाब से कुल अक्षर बत्तीस होने चाहिये। परन्तु प्रथम ऋचा में तीस ही अक्षर हैं। दूसरे पाद में दो अक्षर न्यून हैं। तथापि 'प्रसवेनोद्ग्राभेणोद्ग्रभीत्' इस वाक्य में एकाक्षरी भाव संधि का व्यूहन करके 'वाजस्य मा प्रसवेन, उद्ग्राभेण उदग्रभीत्' इस प्रकार पढ़ने से अक्षर संख्या पूरी हो जाती है। जैसा कि कात्यायन ने कहा है—पादपूरणार्थन्तु क्षैप्रसंयोगैकाक्षरी भावान् व्यूहेत्। इति। इसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। दूसरी ऋचा में पूरे बत्तीस अक्षर हैं।

सᳫंस्रावभागा इति त्रिष्टुप्। नन्वितरेषामपि मन्त्राणामनेन न्यायेनाक्षरमात्रासंख्याविशेष-मुपजीव्य यत्किञ्चिच्छन्दः कल्प्यतामिति चेन्न।

यजुषां छन्दःकल्पने श्रुतविरोधप्रसङ्गात्। तथा च ब्राह्मणं पूर्वमेवोदाहृतम्—"तत्रोभयोर्मीमांसा। जामि स्यात्। यद्यजुषाऽऽज्यं यजुषाऽप उत्पुनीयात्। छन्दसाऽप उत्पुनात्यजामित्वाय" (तै० ब्रा० ३।३।४) इति। तत्र यजुर्निषेध्य छन्दोऽभिधीयते[1]। ततो यजुषां छन्दो न श्रुतेरभिमतम्। तथा सति स्वशक्त्या किञ्चिन्नूतनं छन्दः कल्पयितुं न शक्यते। किन्तु पूर्वसिद्धसम्प्रदायागतं छन्दोलक्षणं यत्र यत्रास्ति तस्यां तस्याम् चिच्छन्दो जानीयात्[2]। ऋचामेवच्छन्दोविधानात्।

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीय-संहिताभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके त्रयोदशोऽनुवाकः॥ १३॥

---

१ ख. न्दो विधि। २ क. ग. त्। इ।

यमिति। 'यं परिधिम्‌…चेतयातै' यह ऋचा पूर्वोक्त अनुवाक की ही है। इसमें 'पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुभ्' छन्द है। जैसा कि पिङ्गल सूत्र कहता है—'पुरस्ताज्ज्योतिः प्रथमेन' इति। इस सूत्र की कई व्याख्याएं हैं। भट्टभास्करानुसार प्रकृतानुकूल व्याख्या यही है कि यदि प्रथम पाद गायत्री (आठ अक्षर) का हो, शेष पाद त्रिष्टुभ् (११ अक्षर) के हों तो 'पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुभ्' होता है। 'यमिति त्रिष्टुभा पुरस्ताज्ज्योतिषा वसु-रुद्रेशभवाक्षर पदया' इति भट्टभास्करः।

संस्राव इति। 'संस्रावभागाः…मादयध्वम्' यह ऋचा भी पूर्वोक्त अनुवाक की ही है। इसमें 'त्रिष्टुभ्' छन्द है। यद्यपि त्रिष्टुभ् छन्द में ग्यारह ग्यारह अक्षर का एक एक पाद होता है, परन्तु प्रकृत ऋचा में पहला पाद दस ही अक्षर का है, तथापि 'स्थेषा' को 'स्थ इषा' ऐसा पढ़ने से एकाक्षर की न्यूनता नहीं रहती। इसको 'निचृत्', 'त्रिष्टुभ' कहेंगे।

नन्वितरे इति। शङ्का—जिन मन्त्रों में आपने छन्द बताया है, उनसे अतिरिक्त मन्त्रों में भी इस न्याय से अक्षरों और मात्राओं की संख्या को आधार बनाकर जैसे तैसे नये छन्द की कल्पना करें तो वह उचित नहीं होगा।

यजुषामिति। यजुष् (मन्त्रों) में नये छन्दस् की कल्पना करने में श्रुतिविरोध दोष आता है। प्रमाण में ब्राह्मण ग्रन्थ उद्धृत किया जा चुका है। तत्रोभयोर्मीमांसा इत्यादि के द्वारा बताया गया है कि यजुष् से आज्य का उत्पवन करे और छन्द से अप् (जल) का। यहाँ अप् के उत्पवन के लिए यजुष् का निषेध करके छन्दस् का अभिधान किया गया है। इस तरह सिद्ध है यजुष् को छन्दस् कहना श्रुति को अभीष्ट नहीं है। इस स्थिति में अपनी शक्ति के अनुसार किसी नूतन छन्द की कल्पना नहीं कर सकते। किन्तु पूर्वसिद्ध सम्प्रदाय से अनुमोदित छन्द का लक्षण जहाँ जहाँ समन्वित होता है, उस उस ऋचा में (वह) छन्द जानना चाहिए। क्योंकि ऋचाओं में ही छन्द का विधान किया गया है।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता के प्रथम काण्ड में प्रथमप्रपाठक के तेरहवें अनुवाक पर श्रीसायणाचार्यकृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

॥ श्रीः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयसंहिता

सायणभाष्यसहिता हिन्द्यनुवादसमेता च

प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके

चतुर्दशोऽनुवाकः

त्रयोदशमिति। त्रयोदशानुवाके[1] दर्शपूर्णमासमन्त्राः समाप्ताः। अथ तद्विकृतिमन्त्रा वक्तव्याः। विकृतिषु चाऽऽध्वर्यवमन्त्राणामतिदेशे वैधप्राप्तत्वाद्धौत्रा एवानुशिष्यन्ते। ततः प्रपाठकानामन्त्यानुवाकेषु काम्येष्टीनां याज्यापुरोनुवाक्याः क्रमेणोच्यन्ते। ताश्चेष्टयो द्वितीयकाण्डस्य द्वितीयतृतीयचतुर्थप्रपाठकेषु क्रमेण विधीयन्ते। तत्रास्मिन्ननुवाके द्वितीयकाण्डस्थद्वितीयप्रपाठकस्य सार्धप्रथमानुवाकोक्तकाम्येष्टीनां याज्यापुरोनुवाक्या उच्यन्ते। काम्या[2] याज्या इति याज्ञिकसमाख्याबलादिष्टिकाण्डस्य याज्याकाण्डस्य च परस्परं सम्बन्धः। इष्टिविशेषमन्त्रविशेषसम्बन्धस्तु लिङ्गक्रमाभ्यामवगन्तव्यः। यद्यप्येकैक एव मन्त्रः स्वस्वदेवताप्रकाशकस्तथाऽपि दर्विहोमत्वव्यावृत्तये प्रतीष्टि मन्त्रद्वयं प्रयोक्तव्यम्। एतच्च वास्तोष्प[3]तीय-

१. ख. दशभिरनुवाकैर्दर्श। २. क. ग. काम्यया। ३. क. ग. तीये हो।

चतुर्दश अनुवाक के सायणभाष्य का हिन्दी अनुवाद प्रारम्भ

त्रयोदशमिति। तेरहवें अनुवाक में दर्श[1] पौर्णमास[2] के मन्त्र समाप्त हुए। अब उनके विकृति मंत्र बताये जाते हैं। विकृति में आध्वर्यव जो मंत्र हैं उनका व्याख्यान क्रम प्राप्त होने से होत्र संबंधी विद्यमान मंत्र अवशिष्ट रह जाते हैं। तत्पश्चात् जो प्रपाठक हैं उनके अन्त्य अनुवाकों में काम इष्टियों के 'याज्या' और 'पुरोनुवाक्या' संज्ञक मन्त्रों को क्रमपूर्वक कहा जाता है। वे इष्टियाँ द्वितीय काण्ड के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ प्रपाठकों में क्रम से विहित की गयी हैं। उनमें इस अनुवाक के द्वितीय काण्ड में वर्तमान द्वितीय प्रपाठक के डेढ़ अनुवाक में वर्णित काम्य इष्टियों के याज्या पुरोनुवाक्या कहे जाते हैं। "काम्या-याज्या" इस प्रकार याज्ञिकों के कथनानुसार इष्टिकाण्ड और याज्याकाण्ड का परस्पर संबंध प्रतीत होता है। इष्टि विशेष और मन्त्र विशेष का सम्बन्ध लिङ्ग एवं क्रम के द्वारा जानना चाहिये। यद्यपि एक-एक ही मन्त्र अपने-अपने देवता का प्रकाशक होता है तथापि दर्विहोम के परिहार हेतु दो मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये। इस सम्बन्ध में वाष्तोष्पति होम के प्रकरण में कहा गया है—"यदेकया जुहुयाद् दर्विहोमं कुर्यात्, पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति सदेवत्वाय" इति। इनका लक्षण आज्यभाग ब्राह्मण में कहा गया है—"पुरस्तात् ''भ्रातृव्य[3] प्रतिनुदते"

१. अमावस्या तिथि की संज्ञा ही 'दर्श' है।

२. 'मास' चन्द्रमा का ही नाम है जब वह पूर्णरूप में होता है, उसी को पूर्ण अथवा पौर्णमास कहते हैं।

३. इससे शत्रु का बोध होता है।

होमप्रस्तावे समाम्नास्यते—"यदेकया जुहुयाद्दर्विहोमं कुर्यात्। पुरोनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति सदेवत्वाय" (तै० सं० ३।४।१०) इति। एतयोश्च लक्षणमाज्यभागब्राह्मणे पठिष्यते—"पुरस्ताल्लक्ष्मा पुरोनुवाक्या भवति। जातानेव भ्रातृव्यान्प्रणुदते। उपरिष्टाल्लक्ष्मा याज्या जनिष्यमाणानेव प्रतिनुदते" (तै० सं० २।६।२) इति। यस्या ऋचः पूर्वार्धे देवतालिङ्गं सा पुरोनुवाक्या। उत्तरार्धे तल्लिङ्गं चेद्याज्या सा भवति। एतस्य लक्षणस्य प्रदर्शनार्थत्वात्क्वचिदेतत् व्यभिचरति। तत्र सर्वत्राऽऽम्नानक्रमो नियामकः। पुरस्तादाम्नाताः पुरोनुवाक्याः, पश्चादाम्नाताः याज्याः। तस्मादिष्टिक्रमं मन्त्रक्रमं च परीक्ष्यैकैकस्यामिष्टावेकैकं मन्त्रयुग्मं प्रयोज्यम्। ननु यत्र युग्मादधिकस्तद्युग्मसमानलिङ्गको मन्त्र आम्नायते तत्र क्रमानुसारेणोत्तरेष्टौ मन्त्रयोजने लिङ्गं बाध्येत, पूर्वेष्टौ तद्योजने क्रमो बाध्येतेति चेन्न। बाध्यतां नाम क्रमोऽस्य[1] दुर्बलत्वात्। यदि न पूर्वेष्टौ तृतीयमन्त्रस्य पृथक्प्रयोजनता- तर्हि तत्र याज्या विकल्पताम्। यत्र तु युग्मान्तरं पूर्वयुग्मेन (ण) समानलिङ्गं तत्र याज्यापुरोनुवाक्यायुग्मस्यैव विकल्पोऽस्तु। यद्वदिष्ट्यैक्ये मन्त्रयुग्माधिक्ये युग्मविकल्पस्तद्वन्मन्त्रयुग्मस्यैकत्वे सति तदीयदेवताविषयाणामिष्टीनामाधिक्ये ता इष्टयोऽपि विकल्पन्ताम्। तद्यथा। इहैव तावत्तादृशमुपलभ्यते। 'उभा वामिन्द्राग्नी' इत्यादय इन्द्राग्निलिङ्गकाश्चत्वारो मन्त्राः। ऐन्द्राग्नेष्टयस्तु फलभेदेन षडाम्नाताः। तत्र प्रथममन्त्रयुग्मविषये तिस्र आद्या इष्टयो विकल्प्यन्ते।

१. ख. क्रमस्य।

इति, जिस ऋचा के पूर्वार्ध में देवता[1] का लक्षण कहा जाता है वह पुरोनुवाक्या कहलाती है तथा जिस ऋचा के उत्तरार्ध में देवता का लक्षण कहा जाय वह याज्या होती है। यह लक्षण प्रदर्शनमात्र होने से कहीं दोषयुक्त हो जाता है। सभी जगह आम्नायक्रम नियामक होता है। "श्रुति स्त्री वेद आम्नायः।" पूर्व में प्रतिपादित पुरोनुवाक्या और बाद में प्रतिपादित याज्या होती है। अतः इष्टिक्रम[2] और मन्त्रक्रम का भली भाँति परीक्षण कर एक इष्टि में एक-एक मन्त्र का जोड़ा (युग्म) प्रयुक्त करना चाहिये। इस स्थान में शङ्का होती है कि युग्म से अधिक उस युग्म के समान लिंग वाला मंत्र प्रयुक्त होता है वहाँ क्रमानुसार उत्तर इष्टि में मंत्र की योजना करने पर लिंग बाधित होगा, और पूर्वेष्टि में मंत्र की योजना करने पर क्रम बाधित होगा। क्या यह ठीक है ? नहीं, दुर्बल होने पर क्रमबाधित हो जाय तो कोई आपत्ति नहीं, यदि पूर्वइष्टि में तृतीय मन्त्र की अलग उपयोगिता नहीं है, तो वहाँ याज्या का विकल्प होगा, किन्तु यहाँ दूसरा युग्म पूर्वयुग्म से समान लिंग वाला हो वहाँ याज्या और पुरोनुवाक्या दोनों का ही विकल्प होना चाहिए। जिस प्रकार इष्टि की एकता में मन्त्रयुग्म के आधिक्य होने पर युग्म का विकल्प होता है उसी प्रकार मंत्रयुग्म की एकता होने पर उस मंत्र से संबंधित देवता भी इष्टियों की अधिकता में इष्टियों का विकल्प भी हो जायगा, जैसा कि इसी प्रकरण में प्राप्त होता है, 'उभावामिन्द्राग्नी' इत्यादि इन्द्राग्नी लिंगक चार मन्त्र हैं, इन्द्र और अग्निदेवता विषयक इष्टियाँ तो प्रयोजन के भेद से छः कही गयी हैं। उनमें प्रथम मन्त्रयुग्म से संबंधित आदि की तीन इष्टियाँ विकल्प से प्रस्तुत की गयी हैं।

१. विभिन्न वैदिक मंत्रों में देवता को जानने के लिए अनेक ग्रन्थों की संरचना हुई, तथापि वेद मंत्रों में देवता जानने के लिए शौनक ने "बृहद्देवता" नामक ग्रन्थ की संरचना की है।

२. यजमान सपत्नीक कामना-परक ऋत्विजों की सहायता से जो यज्ञ करता है, उसको इष्टि कहा जाता है।

तासु तिसृषु प्रथमामिष्टि विधातुं प्रस्तौति—"प्रजापतिः प्रजा असृजत ताः सृष्टा इन्द्राग्नी अपागूहता७सोऽचायत्प्रजापतिरिन्द्राग्नी वै मे प्रजा अपाघुक्षतामिति स एतमैन्द्राग्नमेकादशकपालमपश्यत्तं निरवपत्तावस्मै प्रजाः प्रासाधयताम्"[1] (तै० सं० २।२।१) इति। अपागूहतामाच्छादितवन्तौ। अचायदचिन्तयत्। प्रासाधयतां प्रकटीकृतवन्तौ। प्रस्तुतामिष्टि विधत्ते—

"इन्द्राग्नी वा एतस्य प्रजामपगूहतो योऽलं प्रजायै सन्प्रजां न विन्दत ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकाम इन्द्राग्नी एव स्वेन भागधेयेनोप धावति तावेवास्मै प्रजां प्र साधयतो विन्दते प्रजाम्" (तै० सं० २।२।१) इति।

यः पुरुषो यौवनादिना प्रजोत्पादनसमर्थोऽपि प्रजां न लभते तस्येन्द्राग्नी प्रतिबन्धकौ। तयोरुक्तः पुरोडाशो भागस्तेन तौ सेवते।

द्वितीयामिष्टिं विधत्ते—

"ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्स्पर्धमानः क्षेत्रे वा सजातेषु वेन्द्राग्नी एव स्वेन भागधेयेनोप धावति ताभ्यामेवेन्द्रियं वीर्यं भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते वि पाप्मना भ्रातृव्येण जयते" (तै० सं० २।२।१) इति।

१. क. ग. तामिन्द्रा।

उन तीनों इष्टियों में प्रथम इष्टि[1] का विधान प्रस्तुत किया जाता है—

प्रजापति इति। प्रजापति ने सृष्टि की, उस प्रजा को इन्द्राग्नी नामक देवताओं ने आच्छादित किया प्रजापति ने सोचा कि इन्द्राग्नी ने मेरी प्रजाओं को आच्छादित कर लिया है अतः उसने इन्द्राग्नी देवताक एकादश[2] कपाल इष्टि का यजन किया जिससे प्रसन्न होकर इन्द्राग्नी[3] ने प्रजाओं को पुनः प्रकट कर दिया। "अपागू७ हताम् आच्छादन किया," "आचायत्-अचितयत्, विचार किया," "प्रासाधयताम्-प्रकटी कृतवन्तौ, प्रकट किया।"

प्रस्तुत इष्टि का विधान करते हैं—**इन्द्राग्नी** इति। इन्द्राग्नी ने प्रजापति की प्रजा को छुपा लिया, जब प्रजापति ने अपनी शक्ति का प्रयोग किया तब भी प्रजाओं को प्राप्त नहीं किया जा सका, तब इन्द्राग्नी देवता को प्रसन्न करने के लिए प्रजा की कामना से एकादश कपाल इष्टि का संपादन किया। इन्द्राग्नी ने अपने (हवि) भाग को प्राप्त कर आच्छादित प्रजा को पुनः प्रकट किया। जो पुरुष युवावस्था से सम्पन्न होकर संतानोत्पत्ति में समर्थ होकर भी सन्तान प्राप्त नहीं कर पाता उसके लिए इन्द्राग्नी प्रतिबन्धक होते हैं उनके लिये पुरोडाश रूप में भाग देना चाहिये, जिससे वे प्रसन्न होते हैं और संतान उत्पत्ति में बाधक न होकर साधक सिद्ध होते हैं।

द्वितीय इष्टि का विधान बतलाते हैं—

"ऐन्द्राग्न''''' जयते" इति। एक परिवार के बन्धु-बान्धव आदि से स्पर्धा होने पर इन्द्राग्नी उनकी शक्ति को विलोपित कर उनके भाग को प्राप्त कराने में बाधक होते हैं अतः इस कार्य में सफलता हेतु इन्द्राग्नी को प्रसन्न करने

१. इसी अनुवाक के आरम्भ में स्पष्ट कहा जा चुका है।
२. दीक्षणीयेष्टि के अन्तर्गत एकादश कपालों का पुरोडाश दिया जाता है, उसी को एकादश कपाल कहते हैं।
३. इन्द्र एवं अग्नि।

सजाताः समानजन्मानो बन्धुभृत्यादयः। अचेतनं क्षेत्रविषयं, चेतनं भृत्यविषयं च वैरिणो यत्सामर्थ्यं तदुभयमिन्द्राग्नी बलाद्विनाशयतः। स्वयं तु पापिष्ठेनैव वैरिणा विरुध्यमानो जयं प्राप्नोति।

तृतीयामिष्टिं विधत्ते—

"अप वा एतस्मादिन्द्रियं वीर्यं क्रामति यः संग्राममुपप्रयात्यैन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्संग्राममुपप्रयास्यन्निन्द्राग्नी एव स्वेन भागधेयेनोप धावति तावेवास्मिन्निन्द्रियं वीर्यं धत्तः सहेन्द्रियेण वीर्येणोप प्र याति जयति तꣳसंग्रामम्" (तै० सं० २।२।१) इति। युद्धार्थं परसैन्यसमीपं प्रयास्यतो भयवेशाद्धस्तपादादीन्द्रियगता शक्तिरपक्रामति। इन्द्राग्नी तस्य धैर्यमुत्पाद्येन्द्रियशक्तिं समाधत्तः।

उ॒भा वा॑मिन्द्राग्नी आहु॒वध्या॑ उ॒भा राध॑सः स॒ह मा॑द॒यध्यै॑।
उ॒भा दा॒तारा॑वि॒षाꣳ र॑यी॒णामु॒भा वाज॑स्य सा॒तये॑ हुवे वाम्।

एतासु तिसृष्विष्टिषु पुरोनुवाक्यामाह—

उभेति। हे इन्द्राग्नी, युवामुभौ हुवे आह्वयामि। किमर्थम् ? आहुवध्यै साकल्येन होतुम्। न चात्राश्वमेधपुरुषमेधादावश्वादेरिव युवयोर्होमद्रव्यत्वं शङ्कनीयम्। अस्ति ह्यत्र राधःशब्दवाच्यं पुरोडाशद्रव्यरूपमन्नम्। तेनान्नेन युवामुभौ परस्परयुक्तौ हर्षयितुमाह्वयामि। हृष्टाभ्यामावाभ्यां किं तवेति चेत्। युवामुभावन्नानां धनानां च दातारावतोऽन्नस्य लाभाय युवामुभावाह्वयामि।

के लिए एकादश[1] कपाल पुरोडाश का विधान करना चाहिये जिससे अपने भाग को प्राप्त कर, इन्द्राग्नी प्रसन्न होकर यजमान को शत्रुपक्ष से बलवान् एवं समर्थ बनाकर उसको विजयी बनाती है तथा प्रतिपक्ष अपने (कालुष्य) पाप से स्वयं पराजित हो जाता है।

तृतीया इति। तृतीय इष्टि[2] का विधान प्रस्तुत करते हैं—"अप वा······संग्रामम्" इति। युद्ध के लिए शत्रु की सैना के समीप में जाने वाले की भय के कारण हाथ, पैर इत्यादि इन्द्रियों में निहित (विद्यमान) शक्ति दूर हो जाती है। इन्द्र एवं अग्नि उस (व्यक्ति) के धैर्य को उत्पन्न करके इन्द्रियों में शक्ति को समाहित कर देते हैं।

इन तीनों इष्टियों में पुरोनुवाक्या बताते हैं—

उभेति। हे इन्द्राग्नी, आप दोनों युवा हैं, मैं आपका आवाहन करता हूं क्योंकि, आपके बगैर मुझमें किसी प्रकार की शक्ति नहीं रह सकती है अतः शक्तिशाली बनने हेतु मैं पूर्णरूप से इष्टि करने के लिये आपका आवाहन करता हूं। अश्वमेध एवं पुरुषमेध इष्टियों के समान आपको इस इष्टि में कौनसा होमद्रव्य दिया जाय? यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'राधः' शब्दवाच्य पुरोडाश द्रव्यरूप अन्न है, उस अन्न से आप दोनों को एक साथ प्रसन्न करने के लिए मैं, आवाहन करता हूं। आपको प्रसन्न कर मुझको क्या प्राप्त होगा? इसका उत्तर यह है कि आप दोनों अन्न एवं धन के दाता हैं अतः अन्न और धन लाभ के लिए मैं आपका आवाहन करता हूं।

---

१. एकादश कपाल के सम्बन्ध में पूर्व में इसी अनुवाक में बतलाया जा चुका है।
२. यज्ञ का बोध कराता है।

अश्र्वं॒हि भूरि॑दाव॑त्तरा वां॒ विजा॑मातुरु॒त वा॑ घा स्या॒लात् ।
अथा॒ सोम॑स्य॒ प्रय॑ती यु॒वभ्या॒मिन्द्रा॑ग्नी॒ स्तोमं॑ जनया॒मि॒ नव्य॑म् ।

अश्रवमिति। अथ याज्यामाह—लोके हि स्वदुहितुरत्यन्तप्रियो विशिष्टो जामाता दौहित्रादिरूपाः प्रजा बह्वीर्ददाति, स्यालश्च स्वयं दक्षो भगिनीस्नेहेन गृहधनरक्षणाय दासदासीरूपाः प्रजाः बह्वीः प्रददाति । ताभ्यामपि वां भूरिदावत्तरावतिशयेन बहुप्रजाप्रदौ युवामित्यशृणवम् । अथाऽतो हे इन्द्राग्नी, युवाभ्यां सोमस्य प्रयती सोमसदृशस्य पुरोडाशस्य प्रदानेन भवदीये चित्ते नूतनं हर्षरूपचित्तवृत्तीनां स्तोमं[1] संपादयामि। अत्रोदाहृतयोराद्यो मन्त्रः पुरोनुवाक्या। यागात्पुरस्ताद्देवताह्वानायाध्वर्युप्रैषमनु होत्रा वक्तव्यत्वात् । 'इन्द्राग्निभ्यामनुब्रूहि' इत्येतादृशोऽध्वर्युप्रैषः। द्वितीयो मन्त्रो याज्या। इज्यतेऽनयेति तद्व्युत्पत्तिः। अत एवात्र यजेति प्रैषः पठयते।

उत्तरासु तिसृष्विष्टिषु प्रथमां विधत्ते—

"वि वा एष इन्द्रियेण वीर्येणर्ध्यते यः संग्रामं जयत्यैन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्संग्रामं जित्वेन्द्राग्नी एव स्वेन भागधेयेनोप धावति। तावेवास्मिन्निन्द्रियं वीर्यं धत्तो नेन्द्रियेण वीर्येण व्यृध्यते" (तै० सं० २।२।१) इति। युद्धश्रमेणेन्द्रियगतस्य वीर्यस्य व्यृद्धिः।

१. ख. मं सारं सं ।

अश्रवम् इति। संसार में अपनी लड़की से भी अत्यन्त प्रिय एवं विशिष्ट जामाता, दौहित्र आदि के रूप में बहुत सन्तान देता है और स्वयं समर्थ होने पर बहिन के प्रेम से गृह और धन की रक्षा के लिए दास-दासी के रूप में बहुत-सी सन्तान प्रदान करता है और बहुत सी प्रजा प्रदान करता है। उन दोनों से भी अधिक देने वाले आप दोनों हैं, ऐसा मैंने सुना है इसलिए हे इन्द्राग्नी ! युवा आप दोनों को सोम सदृश पुरोडाश के अर्पण द्वारा आपके चित्त में नवीन हर्षरूप चित्तवृत्ति को उत्पन्न करता हूं। इन दोनों उदाहरणों में पहला मन्त्र पुरोनुवाक्या है। क्योंकि याग से पूर्व देवता के आवाहन के लिये अध्वर्यु के प्रैष के बाद, होता के द्वारा कहा गया है। "इन्द्राग्निभ्यां······अनुब्रूहि" और दूसरा जो मन्त्र है वह "याज्या" है क्योंकि जिससे यजन किया जाय वह याज्या कहलाती है, "इज्यते अनया इति व्युत्पत्तेः" इसीलिये यहाँ "यज" ऐसा प्रैष कहा जाता है।

उत्तर की तीन इष्टियों में पहली इष्टि कही जाती है—

विवा इति। जो पुरुष संग्राम में विजय प्राप्त करता है और इन्द्रियों की शक्ति की वृद्धि प्राप्त करता है, वह भी इन्द्राग्नि देवता को प्रसन्न करने वाली एकादश[1] कपाल पुरोडाश संबंधी इष्टि का विधान करता है। अर्थात् इसके द्वारा मनुष्य संग्राम में विजय प्राप्त कर शत्रुओं पर अपना प्रभाव आरोपित करता है और इन्द्राग्नी की कृपा से अपने में इन्द्रियविषयिणी शक्ति प्राप्त कर विजयी होता है।

१. इस संबंध में आगे इसी अनुवाक में बताएंगे।

द्वितीयामिष्टिं विधत्ते—

"अप वा एतस्मादिन्द्रियं वीर्यं क्रामति य एति जनतामैन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेज्जनतामेष्यन्निन्द्राग्नी एव स्वेन भागधेयेनोप धावति तावेवास्मिन्निन्द्रियं वीर्यं धत्तः सहेन्द्रियेण वीर्येण जनतामेति" (तै० सं० २।२।१) इति। विजिगीषुकथासु स्वविद्याप्रकटनाय वा सभांजिगमिषोर्धैर्यभ्रंशरूपं वीर्यापक्रमणं भवति। तृतीया त्वैन्द्राग्नेष्टिः पौष्णचरुक्षैत्रपत्यचरुभ्यामुपरिष्टाद्विधास्यते।

इन्द्रा॑ग्नी नव॒तिं पुरो॑ दा॒सप॑त्नीरधूनुतम्। सा॒कमेके॑न॒ कर्म॑णा।

इन्द्राग्नी इति तासु तिसृष्विष्टिषु पुरोनुवाक्यामाह—**इन्द्राग्नी** इति। "दासाः प्रजानामुपक्षपयितारस्तस्करप्रभवस्ते पतयो यासां पुरीणां ता दासपत्न्यः"। हे इन्द्राग्नी तादृशीर्नवतिसंख्याकाः पुरो युगपदेकेनैव प्रहारकर्मणा युवां क्षपयतम्।

शुचिं॒ नु स्तोमं॒ नव॑जातम॒द्येन्द्रा॑ग्नी वृत्रहणा॒ जु॒षेथा॑म्। ॥१॥
उ॒भा हि वां॑ सु॒हवा॒ जोह॑वीमि॒ ता वाजं॑ स॒द्य उ॑श॒ते धेष्ठा॑।

शुचिमिति। याज्यामाह—हे वृत्रहणाविन्द्राग्नी अद्य स्तोमं जुषेथां सेवेताम्। कीदृशं? शुचिं निर्दोषं, नवैरन्नविशेषैर्जातं जन्म यस्य तं नवजातं सुहवा रोषगर्वादिरहिततया सुखेन होतुं शक्यौ युवामुभौ यस्माज्जोहवीम्याह्वयामि तस्मात्तावुभौ युवां कामयमानाय यजमानाय वाजं सद्या धत्तम्[1]। तदिदमुत्तरा[2]र्धोक्तमन्नं न स्तोत्रम्। यथोक्तकर्मप्रयोगान्तः पातिनमपरं यागं विधत्ते—"पौष्णं चरुमनुनिर्वपेत्पूषा वा

१. ख. धत्तं दत्तम्। २. ख. र्धोक्तं नूतनम।

दूसरी इष्टि का विधान बतलाते हैं—

अप वा इति। विजय की प्राप्ति के प्रसंग में अपनी विद्या के प्रकाशनार्थ सभा में प्रतिपक्षी विद्वानों को प्रभावित करने के लिए तथा उनके धैर्य को नष्ट करने हेतु (विजिगीषु) विजय प्राप्ति की इच्छा करने वाले को इन्द्राग्नी देवता विषयक एकादश कपाल पुरोडाश इष्टि का विधान करना चाहिये, इसके द्वारा यजमान इन्द्राग्नी[1] की कृपा से अपने अन्दर शत्रुविजयिनी शक्ति को प्राप्त करता है और शत्रुओं के धैर्य को नष्ट कर उनके बल का अपक्रमण करता है।

उन तीन इष्टियों में पुरोनुवाक्या बतायी जा रही है—

इन्द्राग्नी इति। "दासा प्रजानां···दासपत्न्यः" इति। हे इन्द्राग्नी! आप नब्बे (९०) दास पत्नियों को प्रसन्न होकर एक साथ, एक ही प्रहार से नष्ट करें।

अब याज्या[1] बतलाते हैं—**शुचिं** इति। वृत्रासुर को मारने वाले, हे इन्द्राग्नी! आप आज इस यज्ञ को प्रेम से स्वीकार करें। इस यज्ञ में पवित्र एवं नूतन 'अन्न विशेषों' से उत्पन्न इस हवि के द्वारा आप दोनों के निमित्त यज्ञ का सम्पादन कर, हम आपके द्वारा प्रभूत (अत्यधिक) अन्न की प्राप्ति करें। अर्थात् इन्द्र-अग्नि देवता विषयक इष्टि से विशुद्ध

१. इस संबंध में आगे इसी अनुवाक में बतायेंगे। १. ऐतरेय ब्राह्मण में "प्रतिपत्ति" कहा गया है।

इन्द्रियस्य वीर्यस्यानुप्रदाता पूषणमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवास्मा इन्द्रियं वीर्यमनु प्रयच्छति" (तै० सं० २।२।१) इति। वीर्यं प्रददानाविन्द्राग्नी अनु पूषा प्रयच्छति।

व॒यमु॑ त्वा पथस्पते॒ रथं॒ न वाज॑सातये। धि॒ये पू॑षन्नयुज्महि।

वयमिति। तत्र पुरोनुवाक्यामाह—हे सुमार्गपते पूषन्वयमेव त्वां रथमिव योजयामः। किमर्थम्? धिये धीयतेऽनुष्ठीयत इति धीः कर्म। कीदृश्यै धिये। वाजस्यान्नस्य सातिर्लाभो यस्याः सा वाजसातिस्तस्यै।

प॒थस्प॑थः॒ परि॑पतिं वच॒स्या कामे॑न कृ॒तो अ॒भ्या॑नड॒र्कम्।
स नो॑ रासच्छु॒रुध॑श्च॒न्द्राग्रा धियं॑ धियꣳ सीषधाति॒ प्र पू॒षा।

पथस्पथ इति। याज्यामाह—फलकामेन प्रेरितोऽहं तस्य तस्य मार्गस्य परिपालकं पूषापरपर्यायमर्कं स्तोत्ररूपेण वचसाऽभिव्याप्तवानस्मि। सोऽस्मभ्यं शोकनिरोधिकारासत्प्रयच्छतु। कास्ताः? चन्द्राग्राश्चन्द्रव[1]-दाह्लादनसाधनमग्रं यासां ता ओषधीः। किं च पूषाधियंधियं तत्तद्विषयां प्रज्ञां प्रसीषधाति प्रकर्षेण साधयतु।

इष्ट्यन्तरं विधत्ते—

"क्षैत्रपत्यं चरुं निर्वपेज्जनतामागत्येयं वै क्षेत्रस्य पतिरस्यामेव प्रतितिष्ठति" (तै० सं० २।२।१) इति। क्षेत्राणां भूभागत्वाद्भूमेः क्षेत्रपतित्वम्। अर्थवादगतप्रतिष्ठाकामोऽत्राधिकारी।

---

१ क. ख. दास्वाद।

एवं प्रभूत अन्न की प्राप्ति होती है। इन्द्राग्नी देवता को प्रसन्न करने के लिए सर्वप्रथम पूषा नामक देवता की इष्टि करना आवश्यक है, पूषा देवता को चरु नामक हव्य से प्रसन्न कर, उनकी कृपा से इन्द्राग्नी को प्रसन्न करना विहित है।

वहाँ पुरोनुवाक्या बताते हैं—**वयमिति**। हे पूषा देवता! सन्मार्ग के स्वामी, हम आपको रथ के समान नियोजित करते हैं क्योंकि आपके द्वारा हमको सभी कार्य करने में सफलता प्राप्त होती है और अन्न का लाभ होता है।

याज्या बताते हैं—**पथस्पथ** इति। फल की कामना से प्रेरित होकर मैं उस-उस (तत्तद्) मार्ग के परिपालक पूषा नामक देवता को अपनी स्तुतिमयी वाणी से प्राप्त हुआ हूं। वह पूषा हमारे शोक (सन्ताप) को नष्ट करने वाले कारण प्रदान करे, चन्द्र के समान आह्लादित करने वाली दिव्य औषधियाँ और तत्तद् कामनाओं की सिद्धि प्राप्त कराने वाली बुद्धि हमें प्रदान करें।

इष्टि का अन्तर बताते हैं—**क्षैत्रपत्यं** इति। क्षेत्र स्वामी बनने की इच्छा रखने वाला मनुष्य क्षेत्रपाल नामक देवता को प्रसन्न करने के लिये "क्षैत्रपत्यचरुद्रव्य" के द्वारा इष्टि का विधान करे। समस्त क्षेत्र भूमि पर आश्रित होने के कारण भूमि ही क्षेत्रपति है। जो व्यक्ति क्षेत्र का स्वामी अर्थात् भूमिपालक राजा अधिकारी बनना चाहे? उसको क्षैत्रपत्य नामक इष्टि का विधान करना चाहिये।

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि ।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नः (२) मृडातीदृशे ।

क्षेत्रस्येति। तत्र पुरोनुवाक्यामाह—हितेन पुत्रादिना यथा गवादिजयस्तथा क्षेत्रस्य पतिना गामश्वं पोषकमन्नादिकं च वयमासमन्ताज्जयामः। सः क्षेत्रस्य पतिरीदृशे गवादौ मां सुखयतु।

क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व ।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृडयन्तु ।

क्षेत्रस्य पत इति। याज्यामाह—हे क्षेत्रस्य पते धेनुः पय इव त्वमस्मासु माधुर्यरसोपेतमूर्मिवत्पुनः पुनरावृत्त्युपेतं द्रव्यान्तरेष्वपि स्वमाधुर्यस्राविणं घृतवत्पर्युषितत्वदोषाभावेन सुपूतं नालिकेरफलेक्षुखण्डगुडादिभोग्यपदार्थसमूहं धुक्ष्व। यज्ञस्य पतयोऽस्मान्मृडयन्तु।

अवशिष्टामैन्द्राग्नेष्टिं विधत्ते—"ऐन्द्राग्नमेकादशकपालमुपरिष्टान्निर्वपेदस्यामेव प्रतिष्ठायेन्द्रियं वीर्यमुपरिष्टादात्मन्धत्ते" (तै० सं० २।२।१) इति। क्षैत्रपत्यचरोरूर्ध्वमियमिष्टिः। अत्रापि वीर्यकामोऽधिकारी। जनतामागत्येति क्षैत्रपत्यस्य काल उपरिष्टादित्यस्य कालः। अत्र याज्यानुवाक्ये पूर्वमेवोक्ते।

इष्ट्यन्तरं विधत्ते—"अग्नये पथिकृते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद्यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यां वा पौर्णमासीं वाऽतिपादयेत्पथो वा एषोऽध्यपथेनैति। यो दर्शपूर्णमासयाजी सन्नमावास्यायां वा

पुरोनुवाक्या बताते हैं—**क्षेत्रस्य** इति। जिस प्रकार अपने हित का चिन्तन करने वाले पुत्र आदि के द्वारा गाय, भैंस आदि पशुओं के वशीकरण में मनुष्य समर्थ होता है उसी प्रकार क्षेत्रपति के द्वारा गाय-अश्व, पोषक अन्न आदि को हम पूर्णरूप से प्राप्त करें। क्षेत्रपति इष्टि के द्वारा प्रसन्न होकर सुख प्रदान करने वाले पशु तथा पोषक अन्नादि (पुरोनुवाक्या) हमें प्रदान करें।

याज्या बताते हैं—**क्षेत्रस्यपत** इति। हे क्षेत्रपति! गाय के दूध के समान आप हममें माधुर्यरस से भरे हुये लहरों से पूर्ण जल के समान दूसरे पदार्थों में भी अपने माधुर्य को व्याप्त करने वाले घृत के समान उच्छिष्ट दोष से रहित परिपक्व—नारियल का फल, गन्ना एवं गुड़ आदि सुमधुर भोज्य पदार्थों को हमें प्रदान करें। तथा यज्ञ के अधिष्ठाता हमें सुख प्रदान करें।

अवशिष्ट इति। क्षैत्रपत्य इष्टि के पश्चात् एकादश कपाल ऐन्द्राग्नी इष्टि का विधान करना चाहिये। इसके द्वारा मनुष्य में लोकातिशायिनी शक्ति का आधान होता है अर्थात् वीर्यकाम पुरुष ही इसका अधिकारी है। जनतामा······काल:" क्षैत्रपत्य का काल एवं उपरिष्ट का काल समान है। यहाँ पर याज्या एवं पुरोनुवाक्या का चिन्तन नहीं कर रहे, ये पूर्ववत् ही रहेंगी।

दूसरी इष्टि[1] कहते हैं—**अग्नये** इति। पथिकृत् अग्नि के लिए अष्टकपाल पुरोडाश निर्वाप करना चाहिये। जो दर्शपूर्णमासयाजी होते हुए अमावस्या अथवा पूर्णिमा को अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् उस दिन विहित इष्टि नहीं

---

१. यजमान के द्वारा संपादित कर्म के नाम अथवा लघुयाग को इष्टि कहते हैं। विशेष जानकारी के लिए देखें, ऐतरेय ब्राह्मण।

पौर्णमासीं वाऽतिपादयत्यग्निमेव पथिकृतꣳस्वेन भागधेयेनोप धावति स एवैनमपथात्पन्थामपि नयत्य-नड्वान्दक्षिणावही ह्येष समृद्धचै" (तै० सं० २।२।२) इति।

पर्वणि पर्वण्यप्रमादेन तदिष्टेरनुष्ठानं विद्यमानं पन्थाः। कस्मिंश्चित्पर्वणि प्रमादेनानुष्ठानाभावो-ऽपथः। अस्मिन् विषये प्रायश्चित्तरूपेयमिष्टिः। यस्मादेषोऽनड्वान्भारं वहति तस्मात्समृद्धचै भवति।

अग्ने नय॑ सुपथा॑ रा॒ये अ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्।
यु॒यो॒ध्य॑स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑उक्तिं विधेम।

अग्न इति। तत्र पुरोनुवाक्यामाह—हेऽग्ने त्वं दर्शपूर्णमासेष्टिफलरूपाय धनायास्मानतिपाद-दोषरहितेन सुमार्गेण नय। हे देव, त्वं विश्वान्मार्गान्वेत्सि। नरकहेतुत्वेन कुटिलमतिपादरूपं पापमस्मत्तो वियोजय। बहुतमां नमस्कारोक्तिं तव करवाम।

आ दे॒वाना॒मपि॒ पन्था॑मगन्म॒ यच्छ॒क्नवा॑म॒ तदनु॒ प्रवो॑ढुम्।
अ॒ग्निर्वि॒द्वान्त्स य॑जात् ॥३॥ सेदु॒ होता॒ सो अ॑ध्व॒रान्त्स ऋ॒तून्क॑ल्पयाति।

आ देवानामिति। तत्र याज्यामाह—यस्मात्पथो वयं पूर्वं भ्रष्टास्तमपि देवानां पन्थानमिदानी-मागताः। किं कर्तुं? यत्कर्मानुष्ठातुं शक्नुमस्तदनुक्रमेण प्रवोढुम्। अविच्छेदेनानुष्ठानं प्रवाहः। यद्यप्यहं न जानामि तथाऽप्ययं पथिकृदग्निरपराधं समाधातुं वेत्ति। अतः सोऽस्मदर्थं यक्ष्यति। स एव देवानामाह्वाता। स एवातिपन्नान्यज्ञानृत्वादिकालांश्च कल्पयिष्यति।

करता वह (मनुष्य) विपथगामी हो जाता है, दर्शपूर्णमासयाजी होते हुए जो (व्यक्ति) अमावस्या अथवा पूर्णिमा का अतिक्रमण कर जाता है, वह अपना हवि के साथ पथिकृत अग्नि के शरण में जाता है और वही (अग्नि) इस यजमान को अपथ में से पथ पर ले आता है। इस कर्म की समृद्धि के लिए दक्षिणा में "बैल" को बतलाया गया है।

पर्वणि इति। प्रत्येक पर्व पर प्रमाद से रहित होकर उस इष्टि के अनुष्ठान करने को "पन्था" कहते हैं। किसी पर्व पर (अर्थात् अमावस्या अथवा पूर्णिमा में) उसका अनुष्ठान प्रमादवश न करना ही अपथ है। इस विषय में प्रायश्चित्त रूप में ही इस इष्टि का विधान किया गया है। जब से वह बैल भार का वहन करता है तभी से उस यजमान की समृद्धि बतलाई गई है।

उस पुरोनुवाक्या को कहते हैं—**अग्न इति**। हे अग्ने! आप दर्शपूर्णमास के फलभूत धन के लिए हम लोगों को दोषरहित सन्मार्ग में ले जाएँ। हे देव! आप सभी मार्गों को भलीभाँति जानते हैं। नरक के कारणभूत कुटिल एवं अतिपाद रूप पाप को हम सभी से दूर करो। आपको हम सभी अजस्र नमस्कार करते हैं।

अब उस याज्या को बतलाते हैं—**आ देवानामिति**। जिस मार्ग से हम भ्रष्ट हो गये थे, देवताओं के उस मार्ग में, हम आ गये हैं। क्या करने के लिए? जिस कर्म को हम करने के लिए समर्थ हैं, उस कर्म को वहन करने हेतु। "अनवच्छिन्नतया" अनुष्ठान करने का नाम प्रवाह है। यद्यपि मैं, नहीं जानता तथापि यह पथिकृत् अग्नि मेरे द्वारा किए गए अपराध का समाधान करना जानते हैं इसीलिए वह हम सभी के कल्याण के लिए यज्ञ में पूजा जाता है और वही देवताओं का आवाहन करने वाला है। वही प्रमाद अथवा अज्ञानवश किये गये अनुष्ठान का समाधान करता है।

इष्ट्यन्तरं विधत्ते—"अग्नये व्रतपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद्य आहिताग्निः सन्नव्रत्यमिव चरेदग्निमेव व्रतपतिꣳस्वेन भागधेयेनोप धावति स एवैनं व्रतमा लम्भयति। व्रत्यो भवति" (तै०सं० २।२।२) इति।

अव्रत्यं यागव्रतविरोध्यनृतवादादिकं सोऽग्निरेवैनमव्रत्यचारिणं व्रतं प्रापयति। तत उत्तरेषु यागव्रतेषु योग्यो भवति। अत्र मन्त्रकाण्डे पथिकृल्लिङ्गकं[1] मन्त्रयुग्मं पूर्वमाम्नातमुदाहृतम्। व्रतलिङ्गमुपर्युदाहरिष्यते। मध्यवर्ति तु युग्मे विशेषलिङ्गाभावेऽप्युभयसाधारणात्[2]लिङ्गदर्शनात्पूर्वत्र विकल्पितमित्याहुः केचित्। अपरे तूत्तरत्र विकल्पितमिति मन्यन्ते। आचार्यास्तु पूर्वत्रैव स्विष्टकृतः संयाज्ये इति मन्यन्ते।

यद्वाहि॑ष्ठं॒ तद॒ग्नये॑ बृ॒हद॑र्च विभावसो। महि॑षीव॒ त्वद्र॒यिस्त्वद्वाजा॒ उदी॑रते।

यदिति। तत्र पुरोनुवाक्यामाह—यत्प्रायणीयं हविस्तदग्नये बृहद्भवतु। हे विभावसो, फलप्रदानेन मां पूजय। यथा महिषी मया दत्तं कार्पासबीजं तिलपिष्टादिकं भक्षयित्वा बहुक्षीरादिना पूजयति तद्वत्। तथा सति त्वदनुग्रहाद्धनं लभ्यतेऽन्नानि चोत्कर्षेण संपद्यन्ते।

---

१ ख. ङ्गकम्। २ ख. ग. रणाल्लिङ्ग।

इष्ट्यन्तर को बताते हैं—"**अग्नये······भवति**" इति। व्रतपति अग्नि के लिए जो अष्टकपाल पुरोडाश निर्वपण करता है, जो आहिताग्नि होते हुए भी अव्रती जैसे आचरण करता है वह व्रतपति अपने ही हवि से अग्नि को सन्तुष्ट करता है और वही अग्नि इस प्रमादी यजमान को व्रती बना देता है।

अव्रत्यमिति। अव्रत=यागविरोधी, मिथ्या संभाषण आदि पापों से अग्नि ही छुड़ाकर यजमान को व्रती बना देता है। तत्पश्चात् उत्तरकालिक यज्ञ-अनुष्ठान सम्पन्न करने का वह (यजमान) अधिकारी हो जाता है। इस मन्त्रकाण्ड में पथिकृत अग्नि संबंधी दो मन्त्र पहले कहे गये हैं। व्रत संबंधि मन्त्र आगे कहे जाएँगे। बीच के दो मन्त्र विशेष चिह्न के अभाव से सामान्य नियम से पूर्व (मन्त्र) के समान लिङ्ग वाले होंगे, इस प्रकार कुछ लोग कहते हैं। अन्य लोग तो उत्तरवर्ती (बाद के) मन्त्रलिङ्ग से अन्वित होंगे ऐसा कहते हैं। आचार्यों का तो कथन है कि पूर्ववत् स्विष्टकृत् संयाज के ही ये मंत्र होते हैं।

पुरोनुवाक्या को कहते हैं—**यदिति**। जो प्रायणीय इष्टि की हवि है, वह 'बृहन्' नामक अग्नि की हो। हे विभावसो! (यज्ञ) फल प्रदान से मुझको (लोक में) पूजित करो। जैसे—भैंस, कार्पास[1] बीज, तिल एवं आटा आदि भोज्य वस्तुओं को खाकर, अधिक दुग्ध देने के कारण प्रशंसा की पात्र है (पूजी जाती है) उसी प्रकार मुझे पूजनीय बना। ऐसा होने पर आपके अनुग्रह द्वारा (मुझको) धनादि लाभ से अन्न भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त हो जाएगा।

---

१. कपास के बीज। जिसकी प्रसिद्धि बिनौला के रूप में है।

अग्ने त्वं पारया नव्यो अस्मान्त्स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा ।
पूश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तोकाय तनयाय शं योः ।

अग्न इति । याज्यामाह—हेऽग्ने मदीयापराधपरिहारायेदानीं प्रवृत्तत्वान्नूतनस्त्वमस्मान्फल-पर्यन्तानां कर्मणां पारं नय । किं कृत्वा ? स्वस्तिभिर्यथाशास्त्रानुष्ठानैरतिपादरूपाण्यव्रत्यरूपाणि वा दुर्गाणि पापानि विश्वान्यतिक्रमय्य । किंचास्माकं निवासाय नगरी विस्तृता भवतु । सस्य संपत्त्यर्थमुर्वी बहुला भवतु । किंच त्वमस्मदीयाय पुत्राय दुहितृरूपापत्याय च सुखप्रदो भव ।

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ (४) मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः ।

त्वमिति । अथ व्रातपत्ययागस्यासाधारणे युग्मे पुरोनुवाक्यामाह—हेऽग्ने, त्वमागत्य मनुष्येषु व्रतपालकः देवोऽसि । **आ** समन्ताद्यज्ञेषु त्वं स्तुत्योऽसि ।

यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः ।
अग्निष्टद्विश्वमापृणाति विद्वान्येभिर्देवाꣳ ऋतुभिः कल्पयाति ।।४।।

यद्वा इति । याज्यामाह—

हे देवाः, विदुषां युष्माकं संबंधीन्यस्मदनुष्ठेयव्रतान्यत्यन्तमविद्वांसो वयं प्रकर्षेण विनाशयाम इति यत्तत्सर्वं विद्वानग्निरापूरयतु । यैर्ऋतूपलक्षितकालविशेषैर्देवान्हविर्भोक्तुं कल्पयति तैः कालविशेषैर्व्रतं पूरयतु ।

याज्या कहते हैं—**अग्न** इति । हे अग्नि ! मेरे अपराध की निवृत्ति हेतु सम्प्रति प्रवृत्त आप, फल प्रदान करने वाले हमारे कर्मों की निवृत्ति करो । अर्थात् यज्ञ (समाप्ति) पर्यन्त कर्मों को अविगुणित रूप से सम्पन्न करो । क्या करके ? शास्त्रोक्त वचनों के अनुसार अनुष्ठान से अतिपादरूप अव्रत को, दुःखों को, पापों को तथा सभी अनिष्टों को (मुझसे) दूर फेंक दो और हम सब के निवास के लिए नगर विस्तार हो । शोभन सम्पदा के लिए पृथ्वी बहुत हो । आप हमारे पुत्र एवं पौत्रादिकों के लिए सुखप्रद हों ।

अब व्रातपत्ययाग के दो असाधारण पुरोनुवाक्या कहते हैं—

हे **अग्ने** इति । हे अग्नि ! आप आकर के मनुष्यलोक में व्रतपालक देवता होते हो । यज्ञ में आप भलीभांति स्तुति को प्राप्त करते हो ।

याज्या[1] कहते हैं—**यद्व** इति । हे देव ! विद्वान् लोग आपसे संबंधित, हमारे द्वारा "अनुष्ठेयव्रत" अत्यन्त अविद्वान् (अज्ञानी) द्वारा सम्पादित, हम सभी का विनाश कर देता है, इस बात को जानकर ही, विद्वान् अग्नि उसे (आनुष्ठेय व्रत को) पूर्ण करे तत्तद् ऋतु उपलक्षित समय विशेषों से देवताओं के हवि ग्रहण के लिए यज्ञ का विधान किया जाता है, उन काल विशेषों से हमारे व्रत अर्थात् यज्ञ को पूर्ण करें ।

---

१. विशेष व्युत्पत्ति एवं जिज्ञासा हेतु देखें—ऐतरेय ब्राह्मण २.४० ।

अत्र विनियोगसंग्रहः—

"अन्त्यानुवाके याज्यानुवाक्याः काम्येष्टिसंगताः।
काण्डस्य तु द्वितीयस्य द्वितीये प्रश्न इष्टयः॥१॥
उभैन्द्राग्नत्रये युग्ममिन्द्रैन्द्राग्नत्रये तथा।
वयं पौष्णे चरौ क्षेत्र क्षेत्रपत्यचरौ तथा॥२॥
अग्ने पाथिकृते यद्वा व्रातपत्ये द्वियुग्मकम्।
विकल्पेनेति मन्त्राः स्युरनुवाके चतुर्दश"॥३॥

अथ मीमांसा

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयपादे चिन्तितम्—

"ऐन्द्राग्नादीष्टयः काम्या याज्या अप्युदिताः क्रमात्।
काण्डयोस्ता यथालिङ्गं संचार्या नियमोऽथ वा॥
लिङ्गं क्रमसमाख्याभ्यां प्रबलं तद्वशादमूः।
अकाम्यास्वपि संचार्या याज्याः सर्वत्र का क्षतिः॥
समाख्यानात्काण्डयोगः क्रमादिष्टिषु योजनम्।
अपेक्षते दै (दे) वमात्रसक्तिः[1] काम्यैकगास्ततः॥"

(जै० न्या० ३।२।१६-१८) इति॥

काम्येष्टयस्तत्काण्डे क्रमेणाऽऽम्नाताः—"ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद्यस्य सजाता वि (वी) युः" (मै० सं० २।१।१) इत्यादिना। सजाता ज्ञातयो वि (वी) युर्विमताः विप्रतिपन्ना इत्यर्थः। "इन्द्राग्नी रोचना" (मै०सं० ४।११।२) इत्यादिके मन्त्रकाण्डे याज्यानुवाक्याः क्रमेणाऽऽम्नाताः। तत्रेदं काम्ययाज्यानुवाक्याकाण्डमिति याज्ञिकानां समाख्ययाऽवगम्यते। तयोरिष्टिकाण्डमन्त्रकाण्डयोः प्रथमायामिष्टौ प्रथम-

१ ख. त्रशक्ति।

अत्र इति। चतुर्दश अनुवाक में आए हुए मन्त्रों का संक्षेप में विनियोग लिखते हैं—अन्तिम अनुवाक में याज्या एवं अनुवाक्या काम्य इष्टि से संगति बतलाई गयी है। दूसरे काण्ड के दूसरे अनुवाक में द्वितीय प्रश्न इष्टि बतलायी गई है। उभय इन्द्राग्नि के साथ याज्यानुवाक्या सहित युगल (इन्द्र-इन्द्राग्नी) बताए गये हैं। "वयं पौष्ण", एवं "क्षेत्रपति" चरु, पथिकृत्, अग्नि अथवा व्रातपति इन दोनों में से एक को विकल्पात्मक रूप से चौदहवें अनुवाक में वर्णित किया गया है।

अब मीमांसा लिखते हैं—**तृतीया** इति। तीसरे अध्याय के द्वितीय पाद में यह बतलाया गया है—"ऐन्द्राग्नादीष्टयः···काम्यैकगास्ततः" इति। 'जैमिनि न्यायमालाविस्तर' की इन कारिकाओं का व्याख्यान भाष्यकार ने स्वयं किया है, अतः उसके विस्तारपूर्वक अनुवाद से ही इन कारिकाओं का भी अनुवाद स्वतः हो जाता है इसलिए इनका अनुवाद पृथक् से नहीं किया गया।

पूर्वोक्त काण्ड में काम्येष्टि क्रम से कहे गये हैं- **ऐन्द्राग्नमिति**। इन्द्राग्नी एकादश कपाल का निर्वपण करे, जिसके जातिवर्ग विरुद्ध हों।

"इन्द्राग्नी रोचन" इस मन्त्रकाण्ड में याज्या एवं अनुवाक्या क्रम से कहे गये हैं। वहां पर ये काम्या, याज्या एवं अनुवाक्या काण्ड समझे, इस प्रकार याज्ञिकों की व्याख्या समझनी चाहिये। उन दोनों इष्टियों में मन्त्रेष्टिकाण्ड में से पहली

पठिते याज्यानुवाक्ये इत्यादिव्यवस्था। कर्मस्वरूपमात्रप्रकाशनं लिङ्गम्। न च तावन्मात्रेण मन्त्रकर्मणोऽङ्गाङ्गिभावः। ततः समाख्याबलान्मन्त्रकाण्डकर्मकाण्डयोः संबंधावगमेन सामान्येन मन्त्रकर्मणोः संबंधोऽवगम्यते। विशेषस्त्वस्मिन्प्रथमे कर्मण्ययं मन्त्र इति क्रमादवगम्यते। ऐन्द्राग्नेष्टावैन्द्राग्नमन्त्रो वैश्वानरेष्टौ वैश्वानरमन्त्र इत्येतादृशो विशेषो लिङ्गादवगम्यत' इति चेन्न। लिङ्गसाधारण्ये क्रमापेक्षणात्। "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद्भ्रातृव्यवान्" (मै० सं० २।१।१) इति द्वितीयेष्टिरपि। तत्रेन्द्राग्नी पठितौ। मन्त्रकाण्डेऽपीन्द्राग्नी नवति (मै० सं० ४।११।१) इत्यादिकमपरमैन्द्राग्नं याज्यानुवाक्यायुगलमाम्नातम्। न हि तत्र क्रममन्तरेण निर्णेतुं शक्यम्। न च क्रमेणैव तत्सिद्धेर्लिङ्गमप्रयोजकमिति वाच्यम्। क्वचिल्लिङ्गस्यैव व्यवस्थापकत्वात्। ऐन्द्राबार्हस्पत्येष्टिरेकैवाऽऽम्नाता—"यं कामयेत राजन्यमनपोब्धो जायेत वृत्रान्घ्नꣳश्चरेदिति तस्मा एतमैन्द्राबार्हस्पत्यं चरुं निर्वपेत्" (तै० सं० २।४।१३) इति। यं राजपुत्रं जायमानं राज्ञः पुरोहितस्य वा काम एवं भवति। अयं मातृगर्भे देवकृतविघ्नेन केनाप्यप्रतिबद्धो जायतां, जातश्च शत्रून्मारयन्संचरेदिति। तद्राजपुत्रार्थयमिष्टिः। मन्त्रकाण्डे तदिष्टिक्रमे याज्यापुरोनुवाक्ये ऐन्द्राबार्हस्पत्ये द्विविधे आम्नाते। "इदं वामास्ये हविः" (तै० सं० ३।३।११) इत्येकं युगलम्। "अस्मे इन्द्राबृहस्पती" (तै० सं० ३।३।११) इत्यादिकमपरम्। तयोः प्रथमयुगलस्य क्रमेण विनियोगेऽपि द्वितीययुगलं लिङ्गेनैव[1] विनियोक्तव्यम्। तस्मात्क्रमसमाख्या सह कृतेन लिङ्गेन काम्येष्टिष्वेवैता याज्या नियम्यन्ते।

१ ख. लिङ्गेनैवाव।

इष्टि में, पूर्वपठित दो मन्त्र याज्या एवं अनुवाक्या हैं, इस प्रकार की व्यवस्था बतलाई गई है। कर्म के स्वरूप को जो बतलाता है उसी का नाम लिङ्ग कहा गया है। केवल इतना कहने मात्र से ही मन्त्र एवं कर्म का अंगांगिभाव सिद्ध होता है। तत्पश्चात् समाख्या बल से मन्त्रकाण्ड एवं कर्मकाण्ड का सम्बन्ध ज्ञात होने पर सामान्यतया मन्त्र एवं कर्म का सम्बन्ध मालूम हो जाता है। विशेष बात तो यह है कि इस प्रथम कर्म में यह पहला मन्त्र है, इस कर्म से लिङ्ग ज्ञात हो जाता है। इन्द्राग्नि इष्टि में, इन्द्राग्नि मन्त्र, वैश्वानर इष्टि में वैश्वानर मन्त्र कहे गये हैं, इस प्रकार विशेष जानकारी तत्तत् लिंगों से हो जाती है ऐसा कहें तो, साधारण लिंग में भी क्रम की अपेक्षा से कही गई है। इन्द्राग्नि एकादश कपाल का निर्वपण करे "भ्रातृव्यवानिति",[1] तथा दूसरी इष्टि में भी शत्रुओं के विनाशार्थ (निर्वपण) करे। वहां इन्द्र एवं अग्नि पढ़े गये हैं। मंत्रकांड में भी इन्द्र, अग्नि आदि नौ अन्य इन्द्राग्नी, याज्यानुवाक्या को युगलरूप में कहा गया है। वहां क्रम के बिना निर्णय करना संभव नहीं है, ऐसा नहीं है कि क्रम से ही उसकी सिद्धि होने के कारण लिंग का कोई प्रयोजन नहीं है अपितु इस प्रकार क्रम के बिना भी निर्णय संभव है। कहीं कहीं तो लिङ्ग ही व्यवस्थापक होता है। ऐन्द्र एवं बार्हस्पत्य इष्टि को एक ही पढ़ा गया है—"यं कामये…निर्वपेत्" इति। राजा के कुल में उत्पन्न हुए राजपुत्र के जन्म से ही, राजा अथवा उसके पुरोहित की यह इच्छा होती है कि—यह माता के गर्भ में देवकृत् सभी प्रकार के अनिष्टों से प्रतिबद्ध होकर जन्म ले, तथा जन्म लेते ही शत्रुओं का संहार करता चले। उस राजपुत्र के लिए यह इष्टि वर्णित की गयी है। मन्त्रकाण्ड में उस इष्टि के क्रम में याज्या-पुरोनुवाक्या, ऐन्द्रबार्हस्पत्य को दो प्रकार से पढ़ा गया है। "इदं वामास्ये" इससे हवि प्रदान करनी चाहिए, यह एक पक्ष है। "अस्मे इन्द्राबृहस्पति" इत्यादि से हवि प्रदान करे, यह दूसरा पक्ष बताया गया है। इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष का क्रम तो विनियोग में भी बताया गया है। किन्तु द्वितीय पक्ष के लिए तो लिंग से ही विनियोग करना चाहिए। अतएव उस समाख्या के साथ ही लिंग के द्वारा काम्येष्टि में इन याज्याओं को नियुक्त किया जाता है।

---

१. 'भ्रातृवान्' का बोध कराता है जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है।

द्वादशाध्यायस्य चतुर्थपादे चिन्तितम्—

"इदं वां युग्मयोः किं स्यात्साहित्यं वा विकल्पनम् ।
साहित्यं पूर्ववन्मैवं देवताबोधनैक्यतः ।।

(जै० न्या० १२।४।२) इति ।

ऐन्द्राबार्हस्पत्ये कर्मणि "इदं वामास्ये हविः प्रियमिन्द्राबृहस्पती" (तै० सं० ३।३।११) इति याज्यानुवाक्ये द्विविधे आम्नाते। तयोः सारस्वत्यादिवत्समुच्चयः। यथा "सारस्वतीमनूच्य वाग्यन्तव्या, वैष्णवीमनूच्य वाग्यन्तव्या" (मै० सं० ३।६।८) इत्यत्रादृष्टार्थत्वात्समुच्चयस्तद्वदिति चेन्मैवम्। दृष्टप्रयोजनस्य देवताबोधनस्यैकत्वात्। तस्माद्विकल्पः।

तत्रैवान्यच्चिन्तितम्—

"पुरोनुवाक्यया याज्या विकल्प्या वा समुच्चिता ।
पुरेवाऽऽद्यः समाख्यानाद्वचनात्तु समुच्चयः" ।।

(जै० न्या० १२।४।३) इति ।

देवताप्रकाशनरूपकार्यस्यैकत्वाद्युग्मयोर्यथा न समुच्चयः, किन्तु विकल्प एव तथैवैकयुग्मगतयोरिति चेन्मैवम्। पुरोनुवाक्येति समाख्याया उत्तरकालीनयाज्या[1]मन्तरेणानुपपत्तेः। किञ्च "पुरोनु-

१ क. ग. यागम ।

द्वादश इति । बारहवें अध्याय के चौथे पाद में बताया गया है कि—"यह तुम दोनों का क्या है? साहित्य अथवा विकल्पनामात्र? साहित्य को तो पहले की तरह ही समझना चाहिये, इस प्रकार ऐक्यता से देवता का बोधन नहीं होता।

ऐन्द्र इति। ऐन्द्रबार्हस्पत्य कर्म में "इदं वामास्ये हविः", "प्रियमिन्द्रा बृहस्पतिः", को याज्या-पुरोनुवाक्या के क्रम से दो प्रकार से पढ़ा गया है। उन दोनों को सारस्वत्यादि की तरह ही ग्रहण किया जाएगा। जिस प्रकार सारस्वत मन्त्र को पढ़ने के उपरान्त मौन धारण किया जाता है उसी प्रकार (मन्त्र पठन के मध्य) वार्तालाप करने पर प्रायश्चित्त करने के लिए वैष्णवी मन्त्र का जप करके मौन धारण कर लेना चाहिए, इत्यादि पदों में दृढार्थ होने के कारण से समग्र होना चाहिए, इस प्रकार कहेंगे तो दृष्टप्रयोजन एवं देवता का बोध दोनों ही एकविषयक हो जाएंगे अतः विकल्परूप निश्चित होना चाहिए।

तत्रैव इति। अन्यत्र भी विचार किया गया है कि—"पुरोनुवाक्यया···समुच्चयः" पुरोनुवाक्या से याज्या अथवा सामूहिक विकल्पनामात्र से सर्वप्रथम 'पुर' शब्द के समाख्यान वचन से कहा गया यह समुच्चय है।

देवता इति। देवता प्रकाशन रूप कार्य का एकत्व होने के कारण से दोनों का जैसे समुच्चयपूर्वक अर्थ नहीं अपितु विकल्प ही है, उसी प्रकार युग्मगत का भी इसी प्रकार कहेंगे तो, युक्तिसंगत होगा कि नहीं? पुरोनुवाक्या समाख्या से उत्तरकालीन याज्या के बिना सिद्ध न होने के कारण से और पुरोनुवाक्या कथन के पश्चात् याज्या से हवन करना

वाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति" (तै० सं० ३।४।१०) इति प्रत्यक्षवचनेन देवतोपलक्षणहविःप्रदानकाय-भेदोक्तिपुरस्सरं साहित्यं विधीयते। तस्मात्समुच्चयः।

दशमाध्यायस्य चतुर्थपादे चिन्तितम् —

"पर्यायेणापि देवोक्तिर्वैधेनैव पदेन वा।
अर्थभेदादादिमोऽन्त्यः शब्दपूर्वान्वयित्वतः" ॥

(जै० न्या० १०।४।२२) इति।

दर्शपूर्णमासयोर्ये नियमास्तेष्वग्न्यादिदेवता किं पावकशुच्यादिना येन केनापि पर्यायेणाभि-धातव्याः किंवा तत्तद्विध्युद्देशगतेनाग्न्यादिपदेनैवेति संशयः। तत्र शब्दस्यार्थप्रत्यायनार्थत्वात्पर्यायाणां स्वरूपेण भेदेऽप्यर्थाभेदाद्येन केनाप्यभिधानमिति पूर्वपक्षः। यत्र ह्यर्थे कार्यमासाद्यते तत्र शब्दोऽर्थप्रत्याय-नार्थो भवति। यत्र पुनः शब्द एव कार्यं तत्र कार्यसंबन्धार्थे शब्द एव प्रत्याययितव्यः। तद्यथा—देवदत्ते गौरवातिशयमापादयितुं राजसभायामाचार्योपाध्यायादिशब्दैस्तं व्यवहरन्ति। पितृमातृमातुलादयश्च तत्त-संबंधविशेषवाचिशब्देन यथा तुष्यन्ति तथा न नामग्रहणेन। प्रत्युत कुप्यन्ति, तद्वदत्राप्यग्न्यादिर्वैधशब्द एव कार्यमासक्तविधिं विना यागदेवतयोः सम्बन्धाभावात्। विधिकृते तु तत्सम्बन्धे वैधशब्दस्य प्रयोजकत्वं दुर्वारम्। अत एवायाट्स्वाहाकारोज्जित्यादिनिगमेषु नियमेन वैधा एवाग्न्यादिशब्दाः प्रयुज्यन्ते "अयाडग्नेः प्रिया धामानि, अयाट्सोमस्य प्रिया धामानि" (तै० ब्रा० ३।५।७), "स्वाहाऽग्निꣳस्वाहा सोमम्" (तै० ब्रा० ३।५।६), "अग्नेरहमुज्जितिमनूज्जेषꣳसोमस्याहमुज्जितिमनूज्जेषम्" (तै० सं० १।६।४) इत्यादिना। तस्माद्वैधपदैरेव तत्तद्देवताभिधानम्।

चाहिए। इस प्रकार के प्रत्यक्ष वचन से देवता का उपलक्षण हवि प्रदान कर्म के भेद को प्रदर्शित करते हुए साहचर्य का विधान करते हैं अत एव (हवि प्रदान) समग्र ही होना चाहिए।

दशम इति। दसवें अध्याय के चौथे पाद में बताया गया है—पर्याय के द्वारा देवता की उक्ति, वेध अथवा पद से हो जाती है। अर्थभेद होने के कारण से प्रारम्भ का अन्त्य हो जाता है, अतएव शब्द का पूर्वान्वय करना चाहिये।

दर्शपूर्ण इति। दर्शपौर्णमास संबंधी जो नियम हैं उनमें कौन कौन से अग्न्यादि देवता का पावक शुचिता से, जिस किसी पर्याय से कथन युक्तिसंगत हो अथवा उस उस विधि उद्देश्य से प्राप्त अग्न्यादि देवता पद से यह संदेह होता है। वहां पर शब्द के अर्थ का स्वरूप बतलाने का सामर्थ्य होने के कारण से किसी भी शब्द के द्वारा हो सकता है। यह पूर्व पक्ष है। जहां पर, अर्थ में कार्य निहित होता है वहां शब्द के अर्थ को बतलाने के लिए ही होता है। जहां शब्द ही कार्यस्वरूप हो, तो वहां शब्दार्थ कार्य के लिए ही करना चाहिये। जैसे—'देवदत्त' में गौरव अतिशय का आधान करने के लिए राजसभा में 'आचार्य', 'उपाध्याय' आदि शब्दों से व्यवहार करते हैं। पिता, माता एवं मामा आदि संबंधीगण विशिष्ट शब्दों के संबोधन अथवा उच्चारण से जितना संतुष्ट होते हैं, उतना अपने नाम उच्चारण से संतुष्ट नहीं हो पाते। अपितु क्रुद्ध हो जाते हैं। उसी प्रकार यहां पर भी अग्न्यादि 'वैध' शब्द ही कार्यशक्ति विधि के बिना याग एवं देवता के संबंध का अभाव होने के कारण से तथा विधि से सम्बन्धित शब्द का वैधत्व अपरिहार्य है। इसीलिए 'आयाट्', 'स्वाहाकार' आदि मन्त्रों में वैधता ही अग्नि आदि शब्द प्रयोग किए जाते हैं। "अयाग्नेप्रिया'''मनूज्येषम्" इति। इसलिए वैध पदों से ही तत् तत् देवताओं के नामों का अभिधान करते हैं।

तत्रैवान्यच्चिन्तितम्—

"निगमे पावकाग्न्योः किमग्निः स्यादथवोभयम्।
अग्निश्चोदकतो मैवं वैधोऽग्निः सगुणो यतः"

(जै० न्या० १०।४।२४) इति।

आधाने श्रूयते—"अग्नये पवमानाय पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदग्नये पावकायाग्नये शुचये" (तै० सं० ५।२।४, तै० ब्रा० १।१।५) इति। तत्र गुणगुणिनोः पावकाग्न्योर्मध्येऽग्निशब्द एव निगमेषु प्रयोक्तव्यः। कुतः? तस्यैव चोदकप्राप्तमन्त्रपठितत्वात्। मैवम्। पावकगुणयुक्तस्याग्नेर्वैधत्वेन सर्वप्रयोगेषु तथैव प्राप्तत्वात्। तस्माच्छब्दद्वयं पठितव्यम्। अनेन न्यायेन प्रकृतेऽप्यैन्द्राग्नयाग इन्द्राग्निशब्देनैव निगदेषु देवताऽभिधातव्या। पाथिकृतयागत्यागे त्वग्निपथिकृच्छब्दद्वयेनेति द्रष्टव्यम्।

अथव्याकरणम्

उभेत्यत्र[1] पूर्वसवर्णैकादेशस्वरौ। इन्द्राग्निशब्दे त्वाष्टमिकामन्त्रितनिघातः (पा० ८।१।१९)।

---

१ ख. त्र टाप्स्वरैका।

तत्रैव इति। अन्यत्र भी बतलाया गया है—वेद में पावक, अग्नि इन दोनों से अग्नि है? अथवा दोनों? इस प्रकार उदक से अग्नि को नहीं समझना चाहिए, क्योंकि अग्नि सगुण है।

आधाने इति। आधान में सुनाई पड़ता है कि—"अग्नये···शुचये" इति। वहां पर बताया गया है, गुण-गुणी-पावकाग्नि के मध्य में अग्नि शब्द ही मन्त्र से प्रयुक्त करना चाहिए। क्यों? उसके प्रेरक मन्त्र पढ़े जाने के कारण, ऐसा नहीं, पावक गुण से युक्त अग्नि के वैधत्व होने के कारण से समस्त प्रयोगों में उसी प्रकार पाए जाते हैं। अत एव दो शब्द पढ़ने चाहिये, 'द्विशब्द' इस न्याय से प्रकृतिभूत् इन्द्राग्नियाग में इन्द्राग्नि शब्द के द्वारा मन्त्रों में देवता का अभिधान करना चाहिए। पथिकृत् याग के हविस्याग में तो अग्नि पथिकृत् दो शब्दों से ही होना चाहिए।

उभा इति। 'उभा' पद में पूर्वसवर्णैकादेश और स्वर[1] हुआ है। तात्पर्य यह है कि 'उभ' शब्द में सर्वनाम होने के कारण 'स्वाङ्गशिरामदन्तानाम्' से आद्युदात्तत्व प्राप्त होता है, तथापि 'घृतादीनां च' से अन्तोदात्तत्व हो जाता है। उसके आगे द्वितीया द्विवचन 'औ' है, उसको 'सुपां सुलुक्···' इत्यादि सूत्र से 'आ' हो गया। यह 'आ' सुप्स्थानिक होने से सुप् है और सुप्त्वादनुदात्त है। 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घः' से पूर्वसवर्णदीर्घ हो गया, जो कि 'एकादेश उदात्तेनोदातः' से उदात्त ही है। शेष निघात से उकार अनुदात्त है, अतः 'उ॒भा' पद में संहिता और पद पाठ में स्वर स्थिति एक जैसी ही रहेगी।

---

१. भाष्य में 'पूर्वसवर्णैकादेशस्वरौ' ऐसा पाठ है। इस पाठ में कौन-सा स्वर हुआ इसकी ओर कोई संकेत नहीं प्रतीत होता। यदि एकवचन निर्देश हो अर्थात् 'पूर्वसवर्णैकादेशस्वरः' ऐसा पाठ हो तो स्वर की ओर कुछ संकेत मिल जाता है। उस समय उक्त पंक्ति का अर्थ होगा कि 'उभा पद में पूर्वसवर्णदीर्घ के आधार पर स्वर होता है।' अर्थात् उभ शब्द का आकार 'घृतादीनां च' से उदात्त है, अनुदात्त विभक्ति के साथ एकादेश होने पर एकादेश भी उदात्त होगा। अतः 'उ॒भा' अन्तोदात्त पद है।

आहुवध्या इत्यर्थ तुमर्थे विहितस्य (पा० ३।४।९) कध्यैप्रत्ययस्याऽऽदिरकार उदात्तः। ततः समासे कृत्स्वरः (पा० ६।२।१३९)। एवं सर्वमुन्नेयम्।

अस्मिन्प्रथमप्रपाठके शब्दस्वरप्रक्रिया[1] लेशतः प्रदर्शिता। साकल्येन तु प्रकृतिप्रत्ययविकरणतत्तदादेशादिपरिज्ञानमन्तरेण दुर्बोधत्वात्तस्य च सर्वस्यास्माभिर्वैदिकशब्दप्रकाशे निरूपितत्वादत्रापि तन्निरूपणे ग्रन्थगौरवप्रसङ्गात्तत्रैव सर्वमवगन्तव्यम्। तदिदं याज्याकाण्डं वैश्वदेवम्। तथा चानुक्रमणिकायामुक्तम्—

१ क. ग. ब्द प्र।

इन्द्राग्नि इति। 'इन्द्राग्नी' पद में अष्टमाध्यायोक्त आमन्त्रित निघात हुआ है। इन्द्रश्चाग्निश्चेति इन्द्राग्नी। 'देवता द्वन्द्वे च' से पूर्वपद में आनङ् हुआ है। 'इन्द्राग्नी' संबोधनान्त पद है, यहाँ द्वन्द्व समास होने के कारण 'देवता द्वन्द्वे च' सूत्र से उभयपद प्रकृति स्वर प्राप्त था उसको बाधकर 'आमन्त्रितस्य च' से निघात हो गया। अतः प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों रही—इन्द्राग्नी। संहिता में 'इन्द्राग्नी' पद से पूर्व 'वाम्' पद है जो युष्मदादेश होने के कारण अनुदात्त है, उससे भी पूर्व 'उभा' पद का 'भा' है जो उदात्त है। उससे परे रहने के कारण 'वाम्' स्वरित हो गया, स्वरित से परे रहने के कारण 'इन्द्राग्नी' पद प्रचित हो गया। प्रचय का कोई चिह्न नहीं होता। स्वरित से परे निश्चिह्न अक्षरों को समझ लो कि ये प्रचित हैं। फलतः संहिता में 'इन्द्राग्नी' पद निश्चिह्न (प्रचित) ही रहेगा। परन्तु पद पाठ में—'इन्द्राग्नी इतीन्द्र-अग्नी' इस प्रकार स्वर स्थिति होगी। 'ती' के आगे 'न्द्र' को प्रचय हो गया। संहिता के अभाव से 'अग्नी' में प्रचय नहीं हुआ। 'इति' के 'इ' से पूर्व 'इन्द्राग्नी' द्विवचन है, अतः ईदन्तद्विवचन होने से प्रगृह्य संज्ञा हो गई, प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभाव हो गया, सन्धि नहीं हुई।

आहुवध्यै इति। 'आहुवध्यै' इस पद में तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में विहित 'कध्यै' प्रत्यय का आदि अकार उदात्त है। तदनन्तर समास में कृत्स्वर हो गया। तात्पर्य यह है कि 'आहुवध्यै' पद में आङ्पूर्वक[1] हुदानादनयोः' धातु से तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन् क्से कसेन···' इत्यादि सूत्र से 'कध्यै' (अध्यै) प्रत्यय हुआ है। 'अचिश्नुधातुभ्रुवाम्' इत्यादि सूत्र से 'उवङ्' हो गया है। प्रादि समास होने से 'समासस्य' सूत्र से अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था, परन्तु 'गतिकारकोपपदात्कृत्' से कृदुत्तर पद प्रकृति स्वर हो गया। कृदुत्तर प्रकृति स्वर यहाँ 'आद्युदात्तश्च' इस सूत्र से कध्यै (अध्यै) के अकार को होने वाला उदात्तत्व है। वही यहाँ शेष रहेगा। उसी के अनुसार शेष निघात व्यवस्था होगी। तदनुसार प्रारम्भिक स्वर स्थिति यों रही—आहुवध्यै। 'उदात्तादनुदात्तस्यस्वरितः' से 'ध्यै' को स्वरित हो गया।

यह हम पहले विस्तार से बता चुके हैं कि संहिता में पूर्वोत्तरवर्त्ती पदों के साथ प्रकृत पद का संबंध होने से उसमें (प्रकृत पद में) स्वर स्थिति बिल्कुल बदल जाती है। जैसा कि यहीं देखिये—'आहुवध्यै' यहाँ प्रकृतपद है। इससे पूर्वसंहिता में 'वां मिन्द्राग्नी' ये दो पद हैं। जिनमें 'वाम्' स्वरित है। स्वरित से परे जितने भी अनुदात्त अक्षरहैं (उदात्त स्वरित परक अक्षर को छोड़कर) वे सब प्रचित हो जाते हैं, तदनुसार 'इन्द्राग्नी' ये तीनों प्रचित हो गये 'इन्द्राग्नी' 'इ' के आगे एक और अनुदात्त है 'आ' जो प्रकृत पद का अवयव है, वह भी प्रचित हो गया। हाँ, 'हु' प्रचित नहीं हुआ, यद्यपि वह भी अनुदात्त है और स्वरित से परवर्ती अनुदात्त अक्षरों की पङ्क्ति में आता है। तथापि उसके आगे 'व' उदात्त है अतः उदात्तपरक

१. आ=समन्ताद्, होतुम् इस अर्थ में।

"राजसूयः सब्राह्मणः पशुबन्धः सहेष्टिकः।
उपानुवाक्यं याज्याश्च अश्वमेधः सब्राह्मणः॥
सत्रायणं च होमाश्च सूक्तानि च सहेष्टिभिः।
सौत्रामणी सहाच्छिद्रैः पशुर्मेधश्च षोडश॥"

(काण्डानुक्रमणी २।५-६) इति।

"अनुमत्यै पुरोडाशम्" (तै० सं० १।८) इत्यादिको मन्त्रकाण्डस्थोऽष्टमप्रपाठको राजसूयः। "अनुमत्यै" (तै० ब्रा० १।६।८) इत्यादिका विधिकाण्डस्थाः षष्ठसप्तमाष्टमप्रपाठकास्त्रयो राजसूयस्य ब्राह्मणम्। "वायव्यꣳश्वेतमालभेत" (तै० सं० २।१) इत्यादिप्रपाठकोक्ताः पशुबन्धाः। "प्रजापतिः प्रजा असृजत" (तै० सं० २।२-४) इत्यादिप्रपाठकत्रयोक्ता इष्टयः। प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेय" (तै० सं० ३।१-५) इत्यादिकमुपानुवाक्यम्। "उभा वामिन्द्राग्नी" (तै० सं० १।१।१४) इत्यादयो याज्याः। "जीमूतस्य" (तै० सं० ४।६।६) इत्यादिकस्तत्र तत्रोक्तोऽश्वमेधः। "सांग्रहण्येष्ट्या" (तै० ब्रा० ३।८।१) इत्यादिकं तद्ब्राह्मणम्। "प्रजननं ज्योतिः" (तै० सं० ७।१-५) इत्यादिप्रपाठकपञ्चकं सत्रायणम्। "जुष्टो दमूनाः" (तै० ब्रा० २।४-५) इत्यादिप्रपाठकद्वयोक्ता मन्त्रा होमाः। "पीवोऽन्नाꣳरयिवृधः सुमेधाः" (तै० ब्रा० २।८) इत्यादिसार्धप्रपाठकोक्तानि सूक्तानि। "अग्निर्वा अकामयत" (तै० ब्रा० ३।१।४-६) इत्याद्यर्धप्रपाठकोक्ता इष्टयः। "स्वाद्वीं त्वा स्वादुना" (तै० ब्रा० २।६, १।४।२; तै० सं० १।८।२१, तै० ब्रा० १।८।५-६) इत्यादिः सौत्रामणी। "सर्वान्वा एषोऽग्नौ कामान्प्रवेशयति" (तै० ब्रा० ३।७) इत्यादीन्यच्छिद्राणि। "अञ्जन्ति त्वाम्" (तै० ब्रा० ३।६) इत्यादिकः पशुः। "ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते" (तै० ब्रा० ३।४) इत्यादिर्मेधः[1]। अत्र[2] याज्यानां विश्वेदेवा ऋषयः। उभा वामिति द्वे त्रिष्टुभौ। इन्द्राग्नी नवतिमिति गायत्री। शुचिं नु स्तोममिति त्रिष्टुप्। वयमु त्वेति गायत्री। पथस्पथ इति त्रिष्टुप्।

१. ख. दिर्नरमेधः। २. क. ग. अतो।

होने से उसे प्रचय न होकर 'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' से सन्नतर (अनुदात्ततर) हो गया। 'आहुवध्यै' के आगे संहिता में 'उभा' का 'उ' अच् है, अतः अच् परे रहते 'ऐ' को 'आय्' हो गया और 'य' का लोप हो गया। 'आय्' आदेश स्वरित स्थानिक था इसलिए वह भी स्वरित ही रहा। फलतः संहिता में शब्दस्वरूप और स्वरक्रम उसमें इस प्रकार रहेगा— आहुवध्या। पदपाठ में आहुवध्यै'। इसी प्रकार सर्वत्र स्वर संचार प्रकार समझ लेना चाहिये।

अस्मिन्निति। इस पहले प्रपाठक में संक्षेप[1] से वैदिक शब्दों में स्वर संचार की रीति बतायी गई है, किन्तु पूर्णतया स्वर संचार प्रकार का ज्ञान शब्द के प्रकृति, प्रत्यय, विकरण और तत्तद् आदेश आदि के ज्ञान के बिना दुर्बोध है, अतः हमने उन सभी का निरूपण 'वैदिक शब्द प्रकाश' में किया है। यहाँ भी उसका निरूपण करने से व्यर्थ ग्रन्थ गौरव होता, अतः वहाँ ही (वैदिक शब्द प्रकाश में ही) सब कुछ समझने का यत्न करना चाहिये। इस प्रकार यह याज्याकाण्ड वैश्वदेव बताया गया है। और अनुक्रमणिका में भी कहा गया है—

राजसूय इति। "राजसूयः" षोडश" ब्राह्मण के साथ राजसूय, इष्टि के सहित पशुबन्ध उपानुवाक्य, याज्या

१. केवल प्रथम प्रपाठक के अनुवाकों के कुछ शब्दों में। वह भी पूर्णतया नहीं।

क्षेत्रस्य पतिनेत्यनुष्टुप्। क्षेत्रस्य पत इति तिस्रस्त्रिष्टुभः। यद्वाहिष्ठमित्यनुष्टुप्। अग्नेत्वमिति त्रिष्टुप्। त्वमग्ने व्रतपा इति गायत्री। यद्वो वयमिति त्रिष्टुप्। देवतास्तु तत्तन्मन्त्रव्याख्यानेनैव प्रकाशिताः। ता एता ऋषिच्छन्दो देवता अनुष्ठानकाले स्मरणीयाः।

इति श्रीमत्सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिताभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमप्रपाठके चतुर्दशोऽनुवाकः ॥१४॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन्।
पुमर्थांश्चतुरो देयात् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

एवं ब्राह्मण भाग के साथ अश्वमेध, सत्रायण, होमसूक्त इष्टियों के सहित तथा सौत्रामण अच्छिद्र प्रयोग के साथ, पशु एवं मेध इस प्रकार सोलह बताये गए हैं।

अनुमत्यै इति। अनुमति के लिये पुरोडाश इत्यादि मन्त्रकाण्ड में स्थित आठवां प्रपाठक राजसूय है। "अनुमत्या" इत्यादि का विधि काण्ड में स्थित छठा, सातवां एवं आठवां ये तीन प्रपाठक राजसूय (यज्ञ) के ब्राह्मण हैं। "वायव्य ९७···" इत्यादि प्रपाठक में उक्त मन्त्र पशुबन्ध के लिये हैं। "प्रजापति" प्रपाठक में कही गई इष्टियां हैं।" "प्रजापतिरकामयत···" इत्यादि उपानुवाक्य हैं। "उभा वा···" याज्या मन्त्र के रूप में बतलाये गए हैं। "जीमूत···" इत्यादि को वहां अश्वमेध बतलाया गया है। "सांग्रहण्य···" इत्यादि को उसका ब्राह्मण कहा गया है। "प्रजनन···" इत्यादि पांच प्रपाठक सत्रायण कहे गये हैं।

"जुष्टोदमूनाः" इत्यादि मन्त्रों में होम सम्बन्धी दो प्रपाठक बतलाये गए हैं। "पीवोऽन्ना" इत्यादि में सार्ध-प्रपाठक सूक्त कहे गये हैं। "अग्निर्वा" इसमें अर्धप्रपाठक इष्टि बतलाई गयी है। "स्वाद्वीं" में सौत्रामणी बतलाया गया है। "सर्वान्वा" इसमें अच्छिद्र (मन्त्र) कहे गये हैं। "अञ्जन्ति" इत्यादि को पशुवाक्य बतलाया है "ब्रह्मणे" आदि को नरमेधवाक्य कहा गया है। यहां पर याज्याओं का विश्वेदेवा ऋषि है। 'उभावा' पद से दो त्रिष्टुप्, इन्द्राग्नी के नौ मन्त्र गायत्री, 'शुचि नु' यह त्रिष्टुप्, 'वयमुत्वेति' यह गायत्री, 'पथस्पथ' यह त्रिष्टुप्, "क्षेत्रस्य पति" अनुष्टुप्, "क्षेत्रस्यपत" ये तीन मन्त्र त्रिष्टुभ्, "यद्वाहिष्ठ" यह अनुष्टुप्, "अग्नेत्वं" यह त्रिष्टुप्, "त्वमग्नेव्रतपा" यह गायत्री, "यद्वोवय" यह त्रिष्टुप् इस प्रकार देवता तो उन-उन मन्त्रों के व्याख्यान से ही स्पष्ट हैं। अतएव अनुष्ठान के समय में उपर्युक्त ऋषि, छन्द आदि का अवश्य ही स्मरण कर लेना चाहिए।

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता के प्रथम काण्ड में प्रथम प्रपाठक के चतुर्दश अनुवाक पर श्रीसायणाचार्य कृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ।

इस वेदार्थ के ज्ञान से हृदय के अन्धकार को दूर करते हुए विद्या के तीर्थ 'महेश्वर', पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष प्रदान करें।

इति श्रीमद्विद्यातीर्थमहेश्वरापरावतारस्य श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरस्य श्रीवीरबुक्कमहाराजस्याऽऽज्ञापरिपालकेन माधवाचार्येण विरचिते वेदार्थप्रकाशे कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिताभाष्ये प्रथमकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः ।।१।।

श्रीमद्विद्यातीर्थ महेश्वर के दूसरे अवतार, श्रीमान् राजाधिराज परमेश्वर,
श्रीबुक्कुमहाराज के आज्ञापालक, आचार्य माधव द्वारा विरचित
वेदार्थ प्रकाश में कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीय-संहिताभाष्य में,
प्रथमकाण्ड में प्रथम प्रपाठक
समाप्त ।

BVP - 231